पुस्तक का नाम
सद्धर्म मण्डनम्

लेखक
आचार्य श्री जवाहर

सम्पादक
मुनि श्रीमल्ल

प्रकाशक
श्री जवाहर विद्यापीठ भीनासर के लिये
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ द्वारा प्रकाशित

द्वितीय संस्करण
दिसम्बर १६६६

मूल्य
ग्यारह रुपये

मुद्रक
परमानन्द पोद्दार
सुनाइटेड कमर्शियल प्रेस
१ राजा गुरुदास स्ट्रीट, कलकत्ता-६

प्रकाशकीय एवं प्रस्तावना के मुद्रक
जैन आर्ट प्रेस
(श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित)
रागड़ी मोहल्ला, बीकानेर (राजस्थान)

प्रकाशकीय

श्रद्धेय आचार्य श्री जवाहरलालजी म विश्व-विभूतियो मे एक उच्चकोटि की विभूति थे। अपने युग के क्रातदर्शी, सत्यनिष्ठ तपोपूत सत थे। उनका स्वतन्त्र चिन्तन, वैराग्य से ओतप्रोत साधुत्व, प्रतिभा संपन्न वक्तृत्वशक्ति एव भक्तियोग से समन्वित व्यक्तित्व स्वपर-कल्याणकर था।

आचार्यश्री के विचारो मे मौलिकता तो थी ही, साथ ही उन्हे जन-जन के समक्ष रखने का भी साहस था। इसका पता इसी बात से लगता है कि वे अपने राष्ट्रऋण और राष्ट्रधर्म को साधुमर्यादा मे भी भूले नही थे, बल्कि खादी, अछूतोद्धार, देशभक्ति एव राष्ट्रप्रेम के विचारो को अपने प्रवचनो मे व्यक्त करते रहे। इतना ही नही, अल्पारम्भ-महारम्भ जैसे कूटप्रश्न को आपने तार्किक युक्तियो तथा आगम-प्रमाणो द्वारा यत्रनिष्पन्न वस्तुओ को प्रयोग मे लाने को महारम्भ एव मानवीय-श्रमनिष्पन्न वस्तु का उपयोग करने मे अल्पारम्भ सिद्ध किया था।

आचार्यश्री मानवता के परम पुजारी थे। मानवता आपकी दृष्टि मे सबसे बडा धर्म था। दया, प्रेम, करुणा, परस्पर सहानुभूति मानवता के स्वाभाविक गुण हैं और जो मत या सप्रदाय इनके विरुद्ध प्रचार करने के साथ-साथ आचारात्मक रूप मे अपनाने का दुराग्रह करता है, वह आपकी दृष्टि मे मानवता का रोग रहा। उसका प्रबलतम विरोध करना तथा उसे मिटा देना आप अपना कर्तव्य मानते थे।

आचार्यश्री की आगमो पर अटूट श्रद्धा थी। सर्वज्ञकथन मे अविश्वास करना अथवा यथेच्छा परिवर्तन करके स्वार्थपूर्ति के लिये माध्यम बनाना सह्य नही था। उनकी वाणी मे युगदर्शन की छाप थी, लेकिन प्रमाणभूत शास्त्रो से किंचिन्मात्र भी इधर-उधर नही होते थे। जितनी श्रद्धा अडिग थी, उतने ही आचार के प्रति सजग थे।

प्रस्तुत 'सद्धर्म मण्डनम्' इन्ही महामहिम की कृति है। कृति न कहकर यदि मानवता को विकृत करने वाले प्रयासो का और वह भी जैन धर्म, साहित्य को माध्यम बनाकर जनसाधारण को दिग्भ्रान्त करने वालो का यथार्थ चित्रण कहा जाये तो अत्युक्ति नही है।

जैन-परम्परा मे एक तेरहपथ परम्परा है, जो दया और दान मे धर्म नही, अधर्म स्वीकार करती है। उसकी मान्यता के अनुसार दान और दया धर्म के आधार नही, अधर्म के आधार हैं। भारतीय धर्म और दर्शनो मे तेरहपथ परम्परा के अतिरिक्त अन्यत्र कही पर भी दया और दान को पापमय बताने का दुस्साहस नही किया है।

इसी तेरहपथ परम्परा के आचार्य श्री जीतमलजी ने जैनधर्म के अहिंसा, दया, दान आदि सिद्धान्तो को विकृतरूप मे उपस्थित करने के लिये 'भ्रमविध्वंसन' नामक ग्रन्थ लिखा था। उक्त ग्रन्थ मे अपनी मान्यताओ का पोषण करने के लिये आगमो के पाठो को तोड़मरोड कर ऐसा विकृत बना दिया कि सहृदय पाठक सहसा

जैनधर्म मे घृणा कर सकता है ।

अतः इस भ्रम को दूर करने के लिये और जन-जन को सद्धर्म मे प्रवृत्त होने की प्रेरणा देने के लिये एक ऐसे तात्त्विक ग्रथ की आवश्यकता थी जो 'भ्रम-विध्वसन' की मान्यताओ के सम्बन्ध मे तर्कप्रधान, अनुभूतिप्रधान और शास्त्रीय आधार पर समाधान कर सके ।

इन सभी का सामूहिक रूप 'सद्धर्ममण्डनम्' है ।

तेरहपथ परम्परा अपनी मान्यताओ को पुष्ट करने के नाम पर आगम-साहित्य को विकृत करने के साथ-साथ अपनी मनोवृत्ति का यथार्थ रूप प्रगट करने वालो की निन्दा-तिरस्कार करने मे भी प्रवीण है । 'भिक्षुदृष्टान्त सग्रह' और 'तेरापथ का इतिहास' जैसी कृतिया इसकी साक्षी है । जिनमे स्थानकवासी जैन परम्परा के मूर्धन्य आचार्यों एव वरिष्ठ मुनिवरो का घोर अपमान एव तिरस्कार करने की वृत्ति को देखा जा सकता है ।

सद्धर्ममण्डनम्' का यह द्वितीय सस्करण है । इसको नव्यरूप देने का श्रेय सपादक स्व मुनिश्री श्रीमलजी को है । सपादन मे भाषा और शैली की दृष्टि से नवीनता का समायोजन करते हुए भी श्रद्धेय जवाहराचार्य के भावो का मूलरूप जैसा-का-तैसा रखा है ।

इस ग्रथ का प्रथम सस्करण वि स १९८८ मे श्री तनसुखदासजी फूसराजजी दूगड सरदारशहर की ओर से प्रकाशित हुआ था । उसके अप्राप्य हो जाने और पाठको के आग्रह से प्रस्तुत सस्करण धर्मनिष्ठ सुश्राविका बहिनश्री राजकुवरबाई मालू बीकानेर द्वारा साहित्य प्रकाशन के लिये श्री जवाहर विद्यापीठ भीनासर को प्रदत्त धनराशि से हो रहा है । सत्साहित्य के प्रसार-प्रचार के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा चिरस्मरणीय रहेगी ।

प्रस्तुत द्वितीय सस्करण मे प्रूफ सशोधन मे विशेष ध्यान रखा गया है, फिर भी त्रुटि असभव नही है । पाठको से निवेदन है कि त्रुटि को सुधार कर हमारा ध्यान आकर्षित करेंगे तो आगामी सस्करण मे उसे दूर करने का प्रयत्न करेंगे तथा इस सस्करण को सुन्दर, आकर्षक रूप मे प्रस्तुत करने मे जिन-जिन सज्जनो का सहयोग रहा, हार्दिक आभार मानते है । विज्ञेषु किमधिकम् ।

बीकानेर

निवेदक

जुगराज सेठिया, मन्त्री
सुन्दरलाल तातेड, सहमन्त्री, मोतीलाल मालू, सहमन्त्री
पीरदान पारख, सहमन्त्री, उगमराज मूथा, सहमन्त्री

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

प्रथम संस्करण की प्रस्तावना

यस्य ज्ञानमनन्तवस्तुविषय यः पूज्यते दैवतै
नित्य यस्य वचो न दुर्नयकृतैः कोलाहलै र्लुप्यते
रागद्वेषमुखद्विषा च परिषद् क्षिप्ता क्षणाद्येन सा
स श्री वीर विभु र्विधूत कलुषां बुद्धि विधत्तां मम ।।

अर्थः— जिनका ज्ञान अनन्त वस्तुओ को विपय करता है, देव जिनकी पूजा-उपासना करते है, जिनके वचन दुर्नयवादियो के द्वारा कृत कोलाहल मे लुप्त-विलुप्त नही होते, जिन्होने राग-द्वेष आदि प्रमुख शत्रुओ के समूह को-आन्तरिक दोषो को क्षण भर मे भगा दिया, नष्ट कर दिया, वे वीर प्रभु हमारी बुद्धि को निर्मल करे।

ससार मे धर्म के समान अन्य कोई भी वस्तु श्रेष्ठ और उपकारक नही है। धर्म ही प्राणीमात्र को विपत्ति के समय मे सहायता देने वाला एव पतन के गर्त मे गिरने से बचाने वाला सच्चा मित्र है। सभी सासारिक पदार्थ, यहां तक कि जीव के साथ रहने वाला शरीर भी आयुकर्म की समाप्ति होने पर यही रह जाता हैं. केवल धर्म ही जीव के साथ परलोक मे जाता है और उसे विपत्ति से बचाकर सुख-शान्ति प्रदान करता है। एक विचारक ने कहा भी है—

"धनानिभूमौ पशवश्च गोष्ठे, भार्य्यागृहद्वारि जनाः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोक मार्गे, धर्मानुगो गच्छति जीव एकः ।।"

अर्थ — मृत्यु के पश्चात धन पृथ्वी पर, पशु गोष्ठ मे, पत्नी घर के द्वार पर, बन्धु-बान्धव आदि परिजन एव स्नेही-साथी शव के साथ श्मशान तक जाते है और शव चिता पर जल कर भस्म हो जाता है। परन्तु एक धर्म ही जीव के साथ परलोक मे जाता है।

इसलिए जो मनुष्य धर्माचरण नही करता, महापुरुषो ने उसे मानव के रूप में पशु की उपमा दी है। क्योंकि पशु और मनुष्य मे प्रमुख अन्तर यही है—पशु धर्म का आचरण नही करता और मनुष्य धर्म को अपने जीवन मे, आचरण मे साकार रूप दे सकता है।

महान् ऋषि-महर्षियो ने एवं प्रबुद्ध सन्तों ने मानव के हित एव कल्याण के लिए धर्म का उपदेश दिया है, और धर्म की विशद व्याख्या की है। आगम, धर्म व्याख्या के कोष है। उनमे धर्म के विभिन्न प्रकार बताए हैं। परन्तु जीवरक्षा, अनुकम्पा या दया को धर्म का मूल कहा है। तीर्थंकरो के प्रवचन एव जैन आगम

के निर्माण का मूल प्राणीहित एव रक्षा ही रहा है। भगवान के प्रवचन देने के उद्देश्य को अभिव्यक्त करते हुए प्रश्न व्याकरण सूत्र के प्रथम सवरद्वार मे लिखा है—

"सव्व जगजीव रक्खण दयट्ठयाए पावयण भगवया सुकहियं"

भगवान ने प्राणी जगत के समस्त जीवो की रक्षा रूप दया के लिए प्रवचन दिया।

प्रस्तुत पाठ मे जैन आगमो की रचना का उद्देश्य जीवरक्षा रूप दया को बताया है। अत जीवरक्षा रूपधर्म जैनधर्म का प्रमुख अंग है। अत. जो व्यक्ति जीवरक्षा मे धर्म मानता है और उसका विधिवत पालन करता है, व, तीर्थंकर की आज्ञा का आराधक है। इसके विपरीत जो जीवरक्षा मे धर्म नही मानता, उसमे पाप एव अधर्म बताता है, वह वीतराग आज्ञा की अवलेहना करने वाला है।

जैन धर्म ही नही, अन्य धर्म भी जीव रक्षा को सर्व श्रेष्ठ एव प्रधान धर्म मानते है। महाभारत के शान्तिपर्व मे लिखा है—

"प्राणिनां रक्षणं युक्तं मृत्युभीता हि जन्तवः।
आत्मौपम्येन जानद्भिरिष्टं सर्वस्य जीवितम्॥"

जैसे मनुष्य को अपना जीवन इष्ट है उसी तरह सभी प्राणियो को अपना जीवन प्रिय है। सब जीव मरने से डरते हैं, अत सब को अपनी आत्मा के समान समझकर, उनकी प्राणरक्षा करनी चाहिए।

"दीयते मार्य्यमाणस्य, कोटि जीवितमेव वा
धनकोटिं परित्यज्य, जीवो जीवितु मिच्छति"

यदि मारे जाने वाले पुरुष को एक ओर करोडो रुपए का धन-वैभव दिया जाए और दूसरी ओर उसका जीवन, तो वह धन को त्याग कर जीवन ही चाहता है।

"जीवानां रक्षणं श्रेष्ठ जीवाः जीवितकांक्षिणः।
तस्मात्समस्तदानेभ्योऽ भयदानं प्रशस्यते" ॥

जीवरक्षा सबसे श्रेष्ठ धर्म है। क्योकि सभी जीव जीवित रहने की आकाक्षा करते हैं। इसलिए सब दानो मे अभयदान-जीवरक्षा प्रशस्त है।

"एकतः काञ्चनो मेरु र्बहुरत्ना वसुन्धरा।
एकतो भयभीतस्य प्राणिन. प्राणरक्षणम्" ॥

यदि एक ओर स्वर्ण का मेरुपर्वत, बहुत रत्नो से युक्त पृथ्वी रख दी जाय और दूसरी ओर मृत्यु के भय से त्रस्त व्यक्ति का प्राणरक्षण रूप धर्म रख दिया जाय तो प्राणरक्षण रूप धर्म ही श्रेष्ठ सिद्ध होगा।

इसी प्रकार विष्णु पुराण में भी लिखा है।

"कपिलानां सहस्राणि यो द्विजेभ्यः प्रयच्छति।
एकस्य जीवितं दद्यान्न च तुल्यं युधिष्ठिर॥"

हे युधिष्ठर! जो पुरुष ब्राह्मणो को हजार कपिला गायो का दान देता है। यदि वह एक प्राणी को जीवनदान दे, तो उसके इस कार्य की तुलना मे पहला कार्य नही आता है, अर्थात जीवनदान देना गोदान से भी श्रेष्ठ है।

इस तरह भारतीय सस्कृति के सभी धर्मो ने जीवरक्षा को सर्व श्रेष्ठ धर्म माना है। परन्तु १९ वी शताब्दी के प्रारम्भ मे श्वेताम्बर जैन समाज मे 'तेरहपन्थ' सम्प्रदाय का उदय हुआ। यह सम्प्रदाय जैनधर्म के मूल जीवरक्षा, दया या अनुकम्पा की भावना का जडमूल से उन्मूलन करना चाहता है। इसके द्वारा मान्य सिद्धान्तो के कुछ नमूने यहा बता रहा हू—

१ यदि गायो से भरे हुए बाडे मे आग लग जाए और कोई दयावान पुरुष उस वाड़े के द्वार को गायो के रक्षार्थ खोल दे, तो वह एकान्त (केवल) पापी है।

२ भार से भरी गाडी आ रही है और मार्ग मे कोई बालक खेल रहा है। उस समय उसे बचाने के लिए कोई दयावान व्यक्ति उस बालक को उठा ले, तो उसे एकान्त पाप लगता है।

३ यदि तीसरी मजिल या मकान के उपर से कोई बालक गिर रहा हो, उस समय कोई दयावान व्यक्ति उसे बीच मे झेलकर बचाले, तो उसे एकान्त पाप होगा।

४ यदि कोई दयालु पुरुष पंच महाव्रती साधु के गले में किसी दुष्ट द्वारा लगाई गई फासी को काट दे तो उसे एकान्त पाप होगा।

५ कसाई आदि हिंसक प्राणी के हाथ से मारे जाते हुए बकरे आदि जीवों की प्राणरक्षा के लिए यदि कोई उसे नही मारने का उपदेश दे तो उसे एकान्त पाप होगा।

६ यदि किसी गृहस्थ के पैर के नीचे कोई जानवर आ जाए, तो बताने वाले दया-निष्ठ व्यक्ति को एकान्त पाप होगा।

७ तेरहपन्थ के साधु के अतिरिक्त सब प्राणी कुपात्र हैं।

८ तेरहपन्थ के साधु के सिवाय अन्य को दान देना, मासभक्षण, मद्यपान, और वेश्यागमन के समान एकान्त पाप है।

९ पुत्र अपने माता-पिता की और पत्नी अपने पति की सेवा-शुश्रूषा करे, तो उसमे एकान्त पाप होता है।

१० यदि किसी गृहस्थ के घर मे आग लग जाए और द्वार बन्द होने के

कारग उसका परिवार बाहर नही निकल सकता हो, और प्रज्वलित घर मे मनुष्य, स्त्री और बच्चे आदि आर्त्तनाद कर रहे हो, तो उस समय उस घर के द्वार को खोलकर उनकी रक्षा करने मे एकान्त पाप होता है और द्वार नही खोलने मे धर्म।

कैसी विचित्र कल्पना है, इनके प्रथम आचार्य भीषणजी के शब्दो मे ही पढिए। वे लिखते हैं—

"गृहस्थ रे लागी लायो, घर बारे निकलियो न जायो।
बलतां जीव बिल-बिल बोले, साधु जाइ किवाड न खोले ॥"

—अनुकम्पाढाल २, कड़ी ५

इसके पूर्व के पद्य मे वे इस बात को स्पष्ट कर देते है कि साधु और श्रावक दोनो की अनुकम्पा एक-सी है। जैसे आग मे जलते हुए जीवो को बचाने के लिए साधु को द्वार नही खोलना चाहिए, वैसे श्रावक को भी नही खोलना चाहिए। क्योंकि श्रावक और साधु दोनो द्वारा की जाने वाली अनुकम्पा एक-सी है, उनमे किसी तरह का भेद नही है। अमृत सब के लिए समान है, अत इसे मानने मे किसी तरह की खेंचातान नही करनी चाहिए—

"साधु-श्रावक दोनों तणी एक अनुकम्पा जाण
अमृत सहुने सारखो, तिणरी मत करो ताण ॥"

—अनुकम्पाढाल २, कडी ३,

आचार्य भीषणजी तेरहपन्थ सम्प्रदाय के निर्माता है, प्रथम आचार्य हैं। इन के जीवन के सम्बन्ध मे मुनिश्री दीप विजय जी की चर्चा मे जो वर्णन दिया है, वह यह है—

"आचार्य भीषणजी का जन्म मरुधर देश-राजस्थान के कटालिया गाव मे हुआ था, वे ओसवाल सखलेचा थे। वि स १८०८ मे उन्होने स्थानकवासी सप्रदाय के आचार्य प्रवर श्री रघुनाथजी म. के पास दीक्षा ग्रहण की। उसके पश्चात आचार्य श्री रघुनाथजी म ने उन्हे मेडता मे भगवती सूत्र पढाना शुरू किया। उसमे उन्हे कुछ बातें जचती और कुछ नही। उनकी चेष्टाओ को देखकर वहा के श्रावक श्री समर्थमलजी घाडीवाल ने आचार्य श्री जी से निवेदन किया कि मुनि भीषणजी को भगवती सूत्र पढाकर सर्प को दूध पिला रहे है। ये भविष्य मे निन्हव होगे और उत्सूत्र परूपणा करेंगे। यह सुनकर आचार्य श्री ने फरमाया—भगवान महावीर ने गोशालक और जमाली को पढाया था और वे निन्हव हुए, यह उनके मोह कर्म का उदय, था, कर्मो का दोष था।

(इस प्रकार चातुर्मास मे सम्पूर्ण भगवती की वाचना दी और चातुर्मास

समाप्त होने पर आचार्यश्री ने भीषणजी से कहा कि विहार करते समय भगवती सूत्र यही रखकर जाना। परन्तु उन्होने आचार्यश्री की आज्ञा को नही माना। वे भगवती सूत्र साथ लेकर विहार कर गए। तब आचार्यश्री ने दो शिष्यो को भेजकर उनसे भगवती सूत्र वापस मगवाया। वही पर भीषणजी को आचार्यश्री पर क्रोध उत्पन्न हुआ और उन्होने निश्चय किया कि मैं नवीन मत निकाल कर आचार्यश्री रघुनाथजी म को अपमानित करूंगा।)

इस निश्चय के साथ मेडता से विहार करके उन्होने मेवाड़ प्रान्त के राजनगर गाँव मे चातुर्मास किया और वहा सूत्र वांचते हुए उन्होने यह प्ररूपणा की— "साधु को किसी त्रस-स्थावर जीव की हिंसा न करनी चाहिए, न करानी चाहिए और न हिंसा करते हुए व्यक्ति को अच्छा समझना चाहिए। उसे किसी प्राणी को बाधना बधाना एव बाधते हुए को अच्छा नही समझना चाहिए। किसी बाधे हुए जीव को रक्षार्थ छोडना भी नही चाहिए, छोडाना भी नही चाहिए और छोडते हुए को अच्छा भी नही समझना चाहिए। यह मुनिराज का आचार है। इस प्रकार श्रावक भी तीर्थंकर का लघुपुत्र है और देशव्रती है, इसलिए श्रावक को भी बाधे हुए प्राणी को छोडना एव छोडाना नही चाहिए और न छोडने वाले प्राणी को अच्छा समझना चाहिए।

(यदि कोई किसी जीव को मार रहा हो, तो उसे छोडाने मे अन्तराय कर्म लगता है और छोडाने के बाद वह जीव, जो हिंसा, मैथुन आदि पापकर्म करेगा, वह सब पाप बचाने वाले को लगेगा। यदि गाय-बैल आदि से भरे हुए बाडे मे आग लग जाय, तो उसके द्वार खोलकर उनकी रक्षा नही करनी चाहिए। क्योकि जीवित रहकर वे पशु हिंसा-मैथुन आदि जो पाप कर्म करेंगे, वह सब पापरक्षक को होगा। इस चातुर्मास में भीषणजी ने इस प्रकार की प्ररूपणा की।)

भीषणजी की इस प्ररूपणा में आचार्य श्री जयमल जी म. के तीन शिष्य श्री वक्तोजी, वत्सराजजी ओसवाल तथा लालजी पोरवाल भी साथ थे। आचार्य श्री रघुनाथजी म. ने यह बात सोजत के चातुर्मास मे सुनी और यह जान लिया कि इन चारो की श्रद्धा विपरीत हो गई है। चातुर्मास समाप्त होने पर भीषणजी आचार्यश्री के पास गए, परन्तु आचार्यश्री ने उन्हे उत्सूत्र प्ररूपक जानकर आदर नही दिया और आहार-पानी भी साथ नही किया। यह देखकर उन्होने आचार्यश्री से पूछा कि मैंने क्या अपराध किया है, जिससे आप नाराज हो गए।

आचार्यश्री ने कहा कि तुमने उत्सूत्र प्ररूपणा की है, यही अपराध है। फिर उन्हे सम्यक्तया समझाकर, षाण्मासिक प्रायश्चित्त देकर आहार-पानी शामिल किया। परन्तु भीषणजी के शिष्य भारमलजी ने अपनी मिथ्या श्रद्धा का त्याग नही किया। उसके अनन्तर आचार्यश्री ने भीषणजी से कहा कि तुमने आचार्यश्री जयमलजी म. के तीन शिष्यो और राजनगर के श्रावको को विपरीत श्रद्धा दी है, अतः

उन्हे समझाकर उनकी मिथ्या श्रद्धा को ठीक करो । आचार्यश्री की आज्ञा से वे पुनः राजनगर आए । वहाँ आने पर बक्तोजी ने उन्हे बहुत उपालभ दिया और कहा कि हम सब ने मिलकर एक नवीन पथ चलाने का सोचा था, परन्तु आप आचार्य श्री जी की सेवा मे जाकर उनसे मिल गए । इस तरह बक्तोजी आदि ने उनके मन को पुन बदल दिया । उनकी श्रद्धा पूर्ववत् ज्यो की त्यो बन गई । दो-तीन महिने के पश्चात वे पुन आचार्यश्री की सेवा मे गए । तब आचार्यश्री ने पुन उनका आहार-पानी अलग कर दिया । इसके बाद वे आचार्य श्री के गुरुभाई आचार्य श्री जयमलजी म के पास चले गए । इस कारण उभय गुरु-भाईयो मे मतभेद हो गया और वह ६ महिने तक चलता रहा । परन्तु भीषणजी ने अपनी मिथ्या श्रद्धा का परित्याग नही किया । अत. आचार्य श्री रघुनाथ जी म. ने वि स. १८१५ चैत्र सुदी ९ शुक्रवार को बगडीगाव मे गोशालक का दृष्टान्त देकर भीषण जी को अपने सघ से अलग कर दिया ।

(इसके अनन्तर भीषणजी, बक्तोजी, रूपचदजी, भारमलजी, गिरधरजी आदि तेरह व्यक्तियो ने मिलकर एक नये मत की स्थापना की । तेरह व्यक्तियो ने इसे चलाया था, इसलिए इसका 'तेरहपन्थ' नाम रखा । ये लोग गाव-गाव मे घूम-घूम कर अपने मत का प्रचार करने लगे और आगम के ६५ पाठो के अर्थ को बदल दिया । आगम मे यत्र-तत्र जीवरक्षा के पाठ को देखा, उसके अर्थ को दूसरा रूप दे दिया । इन सब ने यह प्ररुपणा की कि जीवरक्षा करने मे धर्म नही है । यह सब सासारिक कार्य है ।)

सर्वप्रथम आचार्य रघुनाथजी म ने उन्हे भगवती शतक १५ का उदाहरण देकर समझाया—जब वैश्यापायन बाल तपस्वी तेजोलेश्या के द्वारा गोशालक को जला रहा था, उस समय भगवान् महावीर ने गोशालक पर अनुकम्पा करके शीतल लेश्या के द्वारा उसे बचाया था । इसलिए आगम मे अनुकम्पा करना परमधर्म माना है, तुम उसे क्यों उत्थाप रहे हो ?

इसके उत्तर मे भीषणजी ने कहा—यदि वीर समझदार होते तो छद्मस्थपने मे गोशालक को दीक्षा क्यो देते ? उसे तिल क्यो बताते ? यदि उसे तिल नही बताते तो वह उस पौवे को क्यो उखाड फेंकता ? उसे तेजोलेश्या क्यो सिखाते ? उसे तेजोलेश्या सिखाने का ही फल है कि उसने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति को जला दिया और उसके ताप से स्वय वीर को ६ महीने तक रक्तव्याधि का सवेदन करना पड़ा । ऐसे बहुत से अनर्थकर कार्य हुए । यदि वीर समझदार होते, तो ऐसा अनर्थ क्यों करते । किन्तु वीर चूक गए, पथभ्रष्ट हो गए । क्योकि उनमे ६ लेश्या एव आठ कर्म थे । इस प्रकार अपने मत का हठ पकड कर भीषणजी भगवान का भी अवर्णवाद बोलने लगे ।

इसके अनन्तर आचार्यश्री ने समझाया—तीर्थंकर नीच कुल मे उत्पन्न नही

होते, उनके गर्भ का अपहरण नही होता, केवलज्ञान होने पर उनको उत्कृष्ट रक्त व्याधि नही होती । इस कालचक्र मे जो दस आश्चर्य हुए हैं, वे सदा नही होते, पर कभी-कभी किसी भावीयोग से होते हैं। गोशालक एव भगवान का पूर्वभव का वैर था, उस वैर के फल को भोगे विना वे मोक्ष कैसे प्राप्त करते । तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थान मे, चौदहवें गुणस्थान मे प्रवेश करने के पहले जव आयु, नाम और गोत्र इन तीन कर्म वर्गणाओ के पुद्गल कम होते हैं और वेदनीय कर्म के अधिक, तव उनमे सन्तुलन लाए विना चारो कर्मों का एक साथ क्षय नही किया जा सकता । इसलिए ऐसी स्थिति मे केवली केवल समुद्घात करके वेदनीय कर्म को आयु-कर्म के अनुपात मे लाकर वेदनीय आदि चारो भवोपग्राही कर्मो को क्षय करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं । अत गोशालक कृत वेदना का सवेदन किए विना वे मोक्ष कैसे जाते ? अस्तु यह भावी भाव था । इस प्रकार भगवान महावीर ने गोशालक को शिष्यरूप मे स्वीकार किया एव उस पर जो अन्य उपकार किए उसके लिए तुम भगवान को 'वीर भूले' चूकने (पथभ्रष्ट होने) शब्द का प्रयोग मत करो ।

अनुकम्पा का निषेध नही करने के विपय मे समझाते हुए आचार्यश्री ने कहा—उपासक दशाग सूत्र मे श्रेणिक राजा ने अनुकम्पा करके कसाईखाना वन्द करवाया था, जीवो को नही मारने का ढिंढोरा पिटवाया था। राजप्रश्नीय सूत्र मे वताया है कि प्रदेशी राजा ने वारह व्रत स्वीकार करने के वाद अपनी सम्पत्ति के चतुर्थ भाग का दान देकर दीन-हीन जीवों की अनुकम्पा करके उनके लिए दानशाला वनवाई थी । उत्तराध्ययन सूत्र मे वर्णन आया है कि नेमिनाथ भगवान ने विवाहार्थ जाते समय वहा पशुओ का वाडा भरा हुआ देखकर, उन पर अनुकम्पा करके उन्हे वन्धन से मुक्त करा दिया । ठाणाग सूत्र मे दस प्रकार के दान मे अनुकम्पा दान को भी स्थान दिया है । इस तरह आगम मे ६५ स्थानो पर अनुकम्पा के सवंध मे पाठ आए हैं उन सव को वताकर भीषणजी को समझाने का प्रयत्न किया परन्तु उन्होने अपने हठ का त्याग नही किया ।

आचार्य भीषण जी तेरहपंथ के प्रथम प्रर्वतक हैं । इनके विचार आगम से सर्वथा विरुद्ध थे, परन्तु जनजीवन में अज्ञान का प्रावल्य होने के कारण इनका सम्प्रदाय चल पड़ा और इससे कुछ लोगो के मन मे जीवरक्षा मे एकान्त पाप का विश्वास जम गया ।

इनके चतुर्थ पाट पर जीतमलजी आचार्य वने । इन्होने जन-मन मे से दया-दान का पूर्णत. उन्मूलन करने के लिए भ्रमविध्वसन ग्रथ की रचना की । इनकी श्रद्धा जहा-जहा आगम मे विरुद्ध सिद्ध होती थी, उन्होने उन पाठो के अर्थ वदल दिए और जहा अर्थ वदलना सभव नहीं हो सका, वहा का पाठ ही नही दिया । कही अपूर्ण पाठ लिखकर या उसका अधूरा अर्थ करके भ्रमविध्वसन के वहाने जन-जन के मन मे अधिक भ्रम फैलाने का प्रयत्न किया । आचार्य जीतमलजी ने इसमें

दया-दान का उन्मूलन करने का भरसक प्रयत्न किया। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से स्थली प्रान्त के ओसवाल समाज के मन मे दया-दान के विरोधी विचारों ने जड जमाना शुरु कर दिया। इस मिथ्या विचारधारा का प्रचार फैलते देखकर परमश्रद्धेय ज्योतिर्धर आचार्य प्रवर श्री जवाहरलालजी म. ने जनहितार्थ अथक परिश्रम करके सद्धर्ममण्डन की रचना की।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे आगमो के मूलपाठ, उनसे मिलती हुई टीका, भाष्य एव चूर्णी तथा मूलानुसारी टब्बा, अर्थ का आश्रय लेकर के तेरहपन्थ द्वारा प्रसारित भ्रातियो को दूर करने का तथा सत्यधर्म को प्रकट करने का पूरा प्रयत्न किया है। इसका मननपूर्वक अध्ययन करने से तेरहपन्थ का दया-दान विरोधी सिद्धान्त पूर्णत. मिथ्या एव आगमविरुद्ध परिलक्षित होता है और जीवरक्षा तथा दान आदि धर्म शास्त्रीय प्रमाणित होते हैं। अत सत्य-सिद्धात की जानकारी करने के इच्छुक व्यक्तियो और मुख्य रूप से स्थानकवासी समाज के लिए इसका अध्ययन करना आवश्यक है। यद्यपि तेरापथ के आगम विरुद्ध सिद्धान्तो का खण्डन करने के लिए अनेक मुनियो एवं विचारको ने कई ग्रन्थो की रचना की है। इसके लिए स्थानकवासी समाज ही नही बल्कि दयादान मे पाप नही मानने वाला समग्र मानव-समाज उनका आभारी है। तथापि उन ग्रन्थों की भाषा एव शैली पुरानी है दृष्टिदोष से प्रूफ की काफी अशुद्धियें रह गई हैं और उनमे अनेक स्थलो पर अशुद्ध टब्बा अर्थ भी छप गया है। इसलिए राष्ट्रभाषा मे इस ग्रन्थ का प्रकाशन करना आवश्यक समझा।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लिखने का मुख्य कारण यह रहा है कि इसके पूर्व लिखे गए ग्रन्थ भ्रमविध्वसन के प्रकाशन के पहले लिखे गए थे, इसलिए उनमे इसमे प्रयुक्त कुतर्कों का पूरा खण्डन नही हो पाया। इस कमी को पूरा करने के लिए सद्धर्म-मण्डन की रचना करना आवश्यक प्रतीत हुआ। किसी शुभ कार्य के लिए सुअवसर का मिलना सुलभ नही है। परन्तु सौभाग्यवश वि. सं. १९८४ मे श्रद्धेय आचार्य श्री जवाहरलालजी म का भीनासर मे चातुर्मास हुआ। श्रीसघ ने आचार्यश्री से प्रस्तुत ग्रन्थ लिखने के लिए प्रार्थना की और आचार्यश्री स्वय भी इस कार्य को करना चाहते थे, अत आपने भीनासर चातुर्मास मे इस ग्रन्थ का लेखन कार्य चालू कर दिया। चातुर्मास के समाप्त होने पर स्थलीप्रात के श्रावको की प्रार्थना से आचार्य श्री का विहार उस ओर हुआ और उस प्रान्त मे घोर अज्ञान के अन्धकार मे ठोकरें खाते हुए भव्य प्राणियो को देखकर आचार्यश्री के मन मे इस ग्रन्थ को शीघ्र समाप्त करने की प्रबल भावना उद्बुद्ध हुई। सरदारशहर चातुर्मास मे लेखनकार्य सुव्यवस्थित ढग से चलता रहा। परन्तु चातुर्मास के बाद गांवो मे विहार होता रहा, इसलिए लेखनकार्य बन्द रहा। उसके बाद चूरू-चातुर्मास मे कुछ काम हुआ, शेष वि. स. १९८७ मे बीकानेर के चातुर्मास मे यह ग्रन्थ पूर्णत. तैयार हो गया।

महावीर शासन की स्थिति

भगवान महावीर स्वामी से लेकर अब तक जितने आचार्य हुए है, किसीने भी जीवरक्षा मे पाप की प्ररूपणा नही की। सब ने जीवरक्षा मे धर्म बताया। परन्तु तेरहपथ सम्प्रदाय जीवरक्षा मे पाप मानता है। यह इनकी अपनी कपोल कल्पना मात्र है, आगम में जीवरक्षा मे कहीं भी पाप नही लिखा है। जब इनसे यह पूछा जाता है कि आचार्य भीषणजी के पूर्व किसी पूर्वाचार्य ने पहले कभी उनके जैसी प्ररूपणा की है? वे इसका यथार्थ उत्तर तो दे नही पाते, किन्तु भोले-भाले लोगो को बहकाने हेतु कहते हैं कि हमारी श्रद्धा ही सबसे पुरानी है और हमारा धर्म ही सच्चा एवं जिनभाषित धर्म है। परन्तु काल पाकर यह नष्ट हो गया है। उसके अनन्तर हमारे प्रथम आचार्य श्री भीषणजी ने इसका पुनरूद्धार किया। ऐसा कहकर वे अन्धश्रद्धालु लोगों को भ्रम मे रखने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु इनके इस कथन मे थोड़ा-सा भी सत्य नही है।

भगवान श्री महावीर स्वामी ने भगवती सूत्र मे बताया है कि मेरा तीर्थ या शासन—चतुर्विध संघ २१००० वर्ष तक चलेगा। वह पाठ यह है—

"जम्बुद्दीवेण भन्ते? दीवे भारहेवासे इमीसे ओसप्पिणीए देवाणुप्पियाणं केवतियं कालं तित्थे अणुसिज्जइ?

गोयमा! जम्बुद्दीवे दीवे भारहेवासे इमीसे ओसप्पिणीए मम एगविस वाससहस्साइं तित्थे अणुसिज्जिसइ"।

भगवतीसूत्र, श. २, उ. ६, सूत्र ६७९

अर्थ—हे भगवन्? जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में इस अवसर्पिणी काल मे आप का तीर्थ कितने समय तक निरन्तर चलता रहेगा?

हे गौतम! जम्बूद्वीप के भारतवर्ष मे इस अवसर्पिणी काल मे मेरा तीर्थ २१००० वर्ष तक अनवरत चलता रहेगा।

प्रस्तुत पाठ मे भगवान ने २१००० हजार वर्ष तक चतुर्विध संघ का निरंतर चलते रहना बताया है। अत तेरहपन्थियो का यह कथन नितान्त असत्य एव आगमविरुद्ध है—बीच मे भगवान के शासन का विच्छेद हो गया था, सघ टूट गया था।

प्रस्तुत पाठ में प्रयुक्त तीर्थ-शब्द का ये चतुर्विध सघ अर्थ नही करके, शास्त्र अर्थ करते हैं और कहते हैं कि भगवान ने २१००० हजार वर्ष तक आगम के चलते रहने की बात कही है। परन्तु तेरहपन्थियो का यह कथन भी सत्य नही है। क्योकि उक्त आगम मे इसके कुछ आगे तीर्थ शब्द का अर्थ-चतुर्विध सघ किया है—

"तित्थं भन्ते? तित्थं तित्थकरे तित्थ?

गोयमा ! अरहा ताव णियमं तित्थकरे तित्थपुण चाउव्वण्णाइण्णे समणसंघो, तंजहा—समणा, समणीओ, सावया, सावियाओ" ।

भगवती सूत्र श. २, उ. ६, सूत्र ६८१

अर्थ—हे भगवन् ! तीर्थ को तीर्थ कहते हैं, या तीर्थंकर को ?

हे गौतम ! अरिहन्त तो नियम से तीर्थंकर होते हैं, किन्तु चतुर्विध श्रमण संघ को तीर्थ कहते हैं—साधु-साध्वी, और श्रावक-श्राविका ।

इस पाठ में भगवान ने तीर्थ शब्द का साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका अर्थ किया है और इसी तीर्थ को २१००० हजार वर्ष तक निरन्तर चलना बताया है । अत. तीर्थ शब्द का आगम अर्थ करके चतुर्विध संघ बीच मे टूट गया, ऐसी प्ररूपणा करना सर्वथा असत्य है ।

इस सम्बन्ध मे तेरहपन्थी एक युक्ति यह भी देते हैं—कल्पसूत्र में भगवान महावीर के जन्म-नक्षत्र पर भस्मग्रह लगना बताया है, इस कारण भगवान द्वारा स्थापित सघ टूट गया, यह कथन भी केवल कपोल-कल्पना है । कल्पसूत्र मे सघ के टूटने का कही भी उल्लेख नही है । उसमे तो इतना ही लिखा है—

जप्पभिइ चण खुद्दाए भासरासी महग्गहे दोवाससहस्सठिइ समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्म नक्खत्तं सकेते तप्पाभिइं च णं समणाण निग्गथाण निग्गंथीणय नो उदिए-उदिए पूजा सक्कारे पवत्तइ" ।

कल्पसूत्र

अर्थ—श्रमण भगवान महावीर के जन्मनक्षत्र पर दो हजार वर्ष की स्थिति वाला भस्मराशि नामक महाग्रह जबसे लगेगा, तब से श्रमण-निर्ग्रन्थ एव निर्ग्रन्थियों का पूजा-सत्कार उदय-उदय नही होगा ।

प्रस्तुत पाठ मे भस्मग्रह के लगने से तीर्थ का विच्छेद होना नही बताया है, किन्तु साधु-साध्वियो की उदय-उदय पूजा होने का निपेध किया है । इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि कल्पसूत्र के अनुसार भस्मग्रह लगने पर भी भगवान का सघ सतत चलता रहा, टूटा नही । यदि सघ या तीर्थ ही नही रहेगा, तो उदय-उदय किसकी पूजा कम होगी । अत. संघ के विच्छेद होने की कल्पना करना आगम से सर्वथा विरुद्ध है ।*

---

*इस विपय में तेरहपन्थियो ने वङ्ग चूलिया नामक ग्रन्थ का जो प्रमाण दिया है, उसका इस ग्रन्थ की प्रथमावृत्ति मे खण्डन किया गया था । किन्तु इस आवृत्ति मे उसे अनावश्यक समझ कर निकाल दिया है । क्योकि वङ्ग चूलिया ३२ सूत्रो मे नही गिना जाता, इसलिए उसे न तो तेरहपथी ही प्रमाणिक मानते हैं और न हम लोग ही मानते हैं । ऐसी दशा मे तेरहपन्थियो का उस ग्रन्थ का प्रमाण देना और हमे उसका खण्डन करना, ये दोनो कार्य अनावश्यक हैं ।

तेरहपन्थ के आचार्यों एवं उनके अन्य विचारको द्वारा लिखे गये सब ग्रन्थो का एक ही उद्देश्य है—दया-दान को एकान्त पापमय सिद्ध करना। इन सब ग्रन्थो मे आचार्य जीतमलजी-द्वारा लिखित भ्रमविध्वंसन ग्रंथ मुख्य है। इसमे दया-दान का खण्डन करने का प्रयत्न किया है और इसके लिए भ्रमविध्वंसनकार ने अनेक स्थानो पर आगम-पाठो के सही अर्थ को विपरीत रूप दिया है। जैसे महाजन अपने बही-खाते मे एक जगह कुछ परिवर्तन करता है, तो उसे उस परिवर्तित असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिए बही मे प्रयुक्त अन्य आकडो को भी बदलना पडता है, उसी तरह दया-दान की आगमिक मान्यता के स्थान पर अपनी कपोल-कल्पित मान्यता को स्वीकार करने के कारण भ्रमविध्वंसनकार को भी आगम-विरुद्ध अनेक बातो को मान्य करना पड़ा है।

जैसे दर्शन का यह सर्व-मान्य सिद्धान्त है कि अनन्त ससार-भ्रमण का मूल कारण मिथ्यात्व है। सम्यक्त्व का उदय होने पर ससार अनन्त नही, परिमित हो जाता है। अत. मिथ्यात्व मोक्ष का अवरोधक है। इसलिए मिथ्यात्व एवं अज्ञान-पूर्वक की जानेवाली क्रिया से मोक्ष नही होता। उस क्रिया का कर्त्ता मोक्षमार्ग का आराधक नही होता। सम्यग्ज्ञानपूर्वक की जाने वाली क्रिया से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। तथापि दया-दान मे पुण्य एवं धर्म का सर्वथा निषेध करने के लिए भ्रम-विध्वंसनकार ने मिथ्यात्व एवं अज्ञानपूर्वक की जाने वाली मिथ्यात्वी की क्रिया को भगवान की आज्ञा मे स्वीकार किया।

जैन दर्शन एवं आगम मे तो क्या, जैनेत्तर विचारको ने भी अज्ञानी के द्वारा की जाने वाली क्रिया से मोक्षमार्ग की आराधना नही मानी है। इस विषय मे उपनिषदो मे लिखा है—

"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिंल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति"। बृहदारण्यक

अर्थ—हे गार्गी ? जो अविनाशी-आत्मा को जाने विना इस लोक में होम, यज्ञ एवं तप करता है, वह चाहे हजारो वर्षों तक इन क्रियाओ को करता रहे, पर ये सब ससार के लिए है।

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसोवाऽप्यलिंगात्
एतरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम"॥
मुण्डकोपनिषद्

तीर्थ के विच्छेद न होने का प्रमाण, भगवती सूत्र के मूलपाठ से दिया जा चुका है। ऐसे शास्त्रोक्त प्रमाण के विरुद्ध, तेरहपन्थियो का वङ्ग चूलिया का पाठ देना और अपनी सत्यता दिखाने का प्रयत्न करना, समय और शक्ति का दुरुपयोग मात्र है।

अर्थ—जिसमें आत्मबल नहीं है, वह पुरुष आत्म-स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता, और वह आत्म स्वरूप प्रमाद एवं लिंग-साधुत्वहीन तप से भी प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु जो साधक ज्ञानी बनकर आत्मबल, अप्रमाद एवं लिंगयुक्त तप आदि उपायों को आचरण मे उतारता है, वह ब्रह्मधाम—मोक्ष में प्रविष्ट होता है, मुक्ति को प्राप्त करता है।

"हिरण्मये परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम्
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदऽऽत्मविदोविदुः"।

अर्थ—सुनहरी परम कोष मे निर्मल एवं निरवय ब्रह्म—आत्मा है। वह शुभ्र है, ज्योतियो की ज्योति। जो स्व आत्मा को जानता है, वही उसे जान सकता है।

"यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति।
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदाशुचिः
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।"

कठोपनिषद्

अर्थ— जो ज्ञानवान् नहीं है, यथार्थ विचार नहीं कर सकता, वह सदा अपवित्र है। इसलिए वह मोक्ष नहीं पा सकता, प्रत्युत संसार में ही परिभ्रमण करता रहता है। परन्तु जो ज्ञानसम्पन्न है, यथार्थ विचार कर सकता है, वह सदा पवित्र है। वह ऐसे पद को प्राप्त करता है, जिससे पुनः कभी संसार में नहीं लौटना पड़ता।

प्राचीनकाल से लेकर अब तक प्रत्येक आस्तिक धर्म में आत्मा, आत्मा के बन्धन एवं उसके मोक्ष का वर्णन किया है। जैसे अहिंसा एवं दया को धर्म मानने मे सब धर्म एकमत हैं, उसी तरह इस सत्य को स्वीकार करने मे भी सब एकमत हैं—"सम्यग्ज्ञान के अभाव मे मोक्षमार्ग की आराधना—साधना नहीं हो सकती।

जब तक आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप, बन्ध का स्वरूप, बन्ध के कारण एवं उससे मुक्त होने के उपायों को सम्यक्तया नहीं जान लेता, तब तक उसके मन में न तो बन्धन से मुक्त होने की भावना ही उद्बुद्ध होती है और न वह उसके लिए प्रवृत्ति ही कर सकता है। जिस रोगी को यह ज्ञात ही नहीं है कि मेरा रोग क्या है? रोग से मुक्त होने का साधन क्या है? और निरोगता क्या है? वह रोग से मुक्त होने की ओर कैसे प्रवृत्त होगा?

इसलिए भारतीय-संस्कृति के सभी विचारको ने मुक्ति की साधना मे सम्यग्ज्ञान को प्रमुख साधन माना है। उपनिषद् साहित्य के उक्त प्रमाणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति का तप-जप ही मोक्ष का कारण हो सकता है, अज्ञान-युक्त तप-जप नहीं। कठोपनिषद् में अज्ञानी व्यक्ति को सदा-सर्वदा अपवित्र बताया है। इसमे प्रयुक्त 'सदा' शब्द से स्पष्ट कर दिया है कि अज्ञानी चाहे जब जो

क्रिया करें अज्ञान के कारण उसकी क्रिया कभी भी पवित्रता का कारण नही हो सकती। जैन आगम मे भी इस प्रकार का उल्लेख मिलता है—

"जेयाऽबुद्धा महाभागा वीरा असमत्त दंसिणो।
असुद्ध तेसि परक्कत सफल होई सव्वसो ॥
जेयबुद्धा महाभागा वीरा सम्मत दसिणो ।
सुद्ध तेसि परक्कत अफल होई सव्वसो ॥

सूयगडाग सूत्र, श्रु. १, अ ९, गाथा २२-२३

अर्थ— जो असम्यग्दृष्टि और अज्ञानी है, वह भले ही जगत मे महाभाग, पूजनीय एव महान वीर-योद्धा समझा जाता हो, परन्तु उसकी समस्त क्रियाएं अशुद्ध, अपवित्र एव ससार को बढाने वाली होती है।

जो सम्यग्दृष्टि और ज्ञानी हैं, उस महाभाग एव वीर पुरुष की दान तप अध्ययन, स्वाध्याय आदि सभी पारलौकिक क्रियाए शुद्ध, पवित्र एव मोक्ष का फल देने वाली है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुक्ति का साधन ज्ञान है, अज्ञान नही। बौद्ध दर्शन ने भी मुक्ति के आठ अग माने हैं—
१ सम्यग्दृष्टि, २ सम्यक् सकल्प, ३ सम्यक् वचन, ४ सम्यक् कर्म, ५, सम्यक् आजीविका, ६ सम्यक् व्यवसाय, ७ सम्यक् स्मृति और ८ सम्यक् समाधि। यहा सम्यक् दृष्टि का अर्थ दुख, दुख के हेतु, और उसे दूर करने के मार्ग को सम्यक्तया जानना बताया है।

'सम्यग्दृष्टि:, सम्यक् सकल्प., सम्यक्वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यगाजीव:, सम्यक् व्यवसाय:, सम्यक्: स्मृति:, सम्यक् समाधिश्च। तत्र सम्यग्दृष्टि दुख, तद्धेतु तन्निषेध मार्गाणा यथातथ्येन दर्शनम्"।

तत्वसग्रह प्रकरण पृष्ठ ५,

यहा सम्यग्दर्शन को सर्वप्रथम स्थान दिया है और सम्यक्चारित्र को चौथा क्योकि सम्यक्दर्शन के बिना सम्यक्चारित्र नही होता। चारित्र तो क्या, सम्यक् सकल्प भी नही हो सकता। अस्तु सम्यग्दर्शन के बाद ही सम्यक्सकल्प एव मोक्ष-प्राप्ति की प्रबल इच्छा होती है।

न्यायदर्शन मे मोक्ष-प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम सम्यग्ज्ञान को आवश्यक माना है। क्योकि सम्यग्ज्ञान के बिना अज्ञान का नाश नही होता और अज्ञान का नाश हुए बिना सासारिक सुखो का अनुराग नष्ट नही होता और इसके बिना मोक्ष की प्रप्ति नही होती। इसलिए गौतम मुनि ने स्पष्ट शब्दो मे कहा— सर्वप्रथम मिथ्याज्ञान का नाश होना आवश्यक है। क्योकि उसका नाश होने पर रागादि दोषों का नाश होगा। दोषो का नाश होने पर प्रवृति का नाश होगा। प्रवृति के

नष्ट होने से जन्म का नाश होगा और जन्म के नष्ट होने पर दुःखो का विनाश होगा। दुःखो का विनाश होने पर मुक्ति की प्राप्ति होगी "

"दुख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानानामुनरोत्तरापाये तदनंतरापायादपवर्गः"

न्यायसूत्र, अ. १,

वैशेषिक दर्शन मे भी सम्यग्ज्ञान के महत्व को स्वीकार करते हुए बताया है "आत्मसाक्षात्कार होने को तत्वज्ञान कहते है" । क्योकि इससे ही मिथ्याज्ञान का नाश होता है। अत तत्व ज्ञान होने पर ही मोक्ष होता है। आत्मप्रकाश के सिवाय मुक्ति का कोई दूसरा मार्ग नही है।

"तत्वज्ञानान्निः श्रेयसम्" वैशेषिक सूत्र

तत्वज्ञानमात्मसाक्षात्कार इह विवक्षितः तस्यैव सवासन मिथ्याज्ञानोन्मूलनक्षमत्वात्" । तमेव विदित्वातिम्मृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय"

कपिल ऋषि प्रणीत साख्य दर्शन मे इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"अथ त्रिविध दु.खात्यन्त निवृत्तिः परम पुरुषार्थः। न दृष्टात्तत्सिद्धि निवृत्तेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात्। प्रात्यहिक क्षुत्प्रतीकारवत् तत्प्रतिकार चेष्टनात्पुरुषार्थत्वम् सर्वासंभवात् सम्भवेऽपिसत्वासम्भवाद्धेयः प्रमाण कुशलैः। उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्ष श्रुतेः—

सांख्यदर्शन, सूत्र, १-५ तक

अर्थ—त्रिविध—आध्यात्मिक, आधिभौतिक, और आधिदैविक दुखो की आत्यन्तिक निवृत्ति होना अत्यन्त पुरुषार्थ मोक्ष—है।

दुखो की आत्यन्तिक निवृत्ति—मोक्ष लोक मे देखे जाने वाले धन एव प्रियजनों के सयोग आदि उपायो से नहीं हो सकता है।

जैसे भोजन करने पर भी सदा के लिए क्षुधा शान्त नही होती, उसी तरह लौकिक उपायो से सदा के लिए दुख दूर नही होते।

सासारिक उपायो मे दुख पूर्णत नष्ट नही होता, थोड़ा-बहुत होता है, तथापि वह विद्यमान रहता है।

लौकिक उपायो से उत्कृष्ट राज्य आदि लौकिक पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु इन से मोक्ष प्राप्त नही हो सकता। क्योकि वेद मे मोक्ष को इनसे भी उत्कृष्ट बताया है।

इसके अनन्तर एक प्रश्न किया गया—"यदि दृष्ट साधन से दुख का सर्वथा नाश नही होता, वे वेद विहित यज्ञ आदि कर्मो से हो जायगा? इसका उत्तर देते कपिल ऋषि ने यह कहा—

"अविशेषश्चोभयोः" सांख्यदर्शन, सूत्र ६

प्रस्तुत सूत्र के भाष्य का यह अर्थ है—दोनो का— दृष्ट, जो लोक मे दिखाई देता है और अदृष्ट, जो यज्ञ साधक धर्मफल देखने मे नही आता है, आत्यन्तिक दु.ख की निवृत्ति के साधन मे विशेष नही है, अर्थात दोनों एक से हैं। जैसे लौकिक उपायो से आत्यन्तिक दु.ख की निवृत्ति नहीं होती, उसी तरह यज्ञ आदि से भी नही होती। मोक्ष साधना मे विवेक सम्यग्ज्ञान ही प्रमुख उपाय है। विवेक के द्वारा अविवेक का नाश होने पर दु.ख मात्र का नाश होता है, अन्यथा नही।"

इस प्रकार विवेक-सम्यग्ज्ञान के अभाव मे मोक्ष होना असंभव है, इस विषय मे सूत्रकार ने स्पष्ट लिखा है—

"ज्ञानान्मुक्तिः"

"बन्धो विपर्य्ययात्"

सांख्यदर्शन, अ ३, सूत्र २४, २५

अर्थ— ज्ञान होने पर मुक्ति होती है।
अज्ञान से बन्ध होता है।

अस्तु सांख्यदर्शन के कथनानुसार भी यह सिद्ध होता है कि साधक भले ही यज्ञ, जप-तप आदि क्रियाए करता रहे, परन्तु जब तक उसे सम्यग्ज्ञान नही होता तब तक उसकी उक्त क्रियाए मोक्ष का कारण नही हो सकती।

महर्षि पतंजल ने इस विषय मे इस सत्य को स्वीकार किया है—

"तस्य हेतुरविद्या"

"तदभावात् सयोगाभावो हान तद्दृशेः कैवल्यम्"

योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र २४-२५

अर्थ—संसार का मूल कारण अविद्या है। अविद्या का अर्थ है-मिथ्याज्ञान। मिथ्याज्ञान का नाश होने से आत्मा को मोक्ष प्राप्त होता है। वही मोक्ष आत्मा का कैवल्य है। उसमे अन्य वस्तु का सयोग न होने से, वह आत्मा की शुद्ध-विशुद्ध निर्लिप्त अवस्था है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए आगे लिखा है—

"विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः"

योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र २६

भाष्य—"मिथ्याज्ञान वासनयाऽन्तराभिभवो विप्लवस्तद्रहितो विवेकतः पुरुषसाक्षात्कारो मोक्षोपायः सवासनाविद्योन्मूलन द्वारेत्यर्थः"।

अर्थ— मिथ्याज्ञान के सस्कारो से आत्मा में एक प्रकार का विप्लव होता रहता है। सम्यग्ज्ञान होने पर वह विप्लव नष्ट हो जाता है। वह सम्यग्ज्ञान आत्मा के सच्चे स्वरूप का अवलोकन—मोक्ष का उपाय है। यहा पर भी उपरोक्त सत्य ही दोहराया गया है।

उक्त सब उल्लेखो से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मोक्ष की सिद्धि के लिए सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान अनिवार्य है। उपनिषद्कारो एव भारतीय दार्शनिको ने सम्यग्ज्ञान, आत्मज्ञान या तत्वज्ञान से रहित जप–तप आदि क्रियाओ को मोक्ष का कारण नही माना है। जैनआगम एव जैनदर्शन भी सम्यग्दर्शन एवं ज्ञान को साधना का मूल मानता है। आगमिक परिभाषा मे विना ज्ञान के किए जाने वाले तप को "बाल तप" कहते हैं। और उसे मोक्ष का नही, ससार का कारण माना है।

उक्त विचारो का अध्ययन करने के वाद यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है— आचार्य भीषणजी ने अपनेकपोल कल्पित मत की सिद्धि के लिए आगम एव गुरु-आज्ञा की अवहेलना करके दया-दान मे पाप की प्ररूपणा करने की एक भूल की, परन्तु उसके वाद मिथ्यात्वी की क्रिया को आज्ञा मे मानने की दूसरी भूल क्यो की? और इसी साधारण-सी वात—जिसे जैनआगम एव अन्य दर्शन के ग्रन्थो मे मोक्ष-मार्ग मे सावक नही, वाधक वताया है, इतना महत्व क्यो दिया? और भ्रमविध्वसन-कार ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही एक विस्तृत अध्याय लिखकर इसे वीतराग आज्ञा मे प्रमाणित करने का असफल प्रयत्न क्यो किया? क्या मिथ्यादृष्टि जीवो के प्रति उनके मन में दया के भाव थे? या इसके पीछे कुछ और रहस्य रहा हुआ था?

वस्तुत: तेरहपन्थ के आद्यप्रवर्त्तक आचार्य भीषणजी एव भ्रमविध्वसनकार के हृदय मे मिथ्यादृष्टियो के प्रति कितनी दया एव सहानुभूति थी, इसका ज्वलन्त प्रमाण तो उसकी दया विरोधी प्ररूपणा से मिलता है। जो व्यक्ति आग मे जल रहे जीवो को दया करके बचाने मे एकान्त पाप कहता है, वह मिथ्यादृष्टि धर्म को अधर्म एव अधर्म को धर्म मानने वाले व्यक्तियो पर दया कर सकता है, यह तो खर-विषाणवत् असभव है।

(वस्तुत इस मान्यता के पीछ दया-भाव एव सत्यता नही, प्रत्युत अपनी विवशता अन्तर्निहित है। यह तो पहले स्पष्ट कर चुके है कि आचार्य भीषणजी एक नया पन्थ चलाना चाहते थे, और दया-दान आदि शुभ कर्मों मे एकान्त पाप वताकर केवल अपनी पूजा-प्रतिष्ठा बढाने की भावना रखते थे। इसलिए इन्होने प्राणीमात्र की दया-रक्षा करने तथा साधु के अतिरिक्त अन्य किसी को दान देने मे एकान्त पाप की प्ररूपणा की और साथ मे यह भी घोषणा करदी कि भगवान की आज्ञा बाहर के सर्व कार्य एकान्त पापमय है, उनमे थोडा सा भी पुण्य नही होता। आगमिक अध्ययन एव चिन्तन की कमी के कारण विना-सोचे विचारे घोषणा तो कर दी, परन्तु कुछ

उलझन भरे प्रश्न सामने आए, तो वे उनमे इतने उलझ गए कि बच निकलने को कही भी गली-कूचा दिखाई नही दिया। बात यह है कि ये भगवान की आज्ञा के बाहर की क्रिया से पुण्य-बन्ध नही मानते और मिथ्यादृष्टि आज्ञा बाहर है, तथापि वह मिथ्यात्वयुक्त भावो से बालतप आदि क्रियाए करके स्वर्ग मे जाता है। यदि आज्ञा बाहर की क्रिया से पुण्य नही होता, तब फिर वह स्वर्ग में कैसे जाता है ?

इस प्रश्न का वे क्या उत्तर देते ? यहा आचार्य भीपणजी को अपनी भूल महसूस भी हुई होगी। किन्तु अब अपनी मान्यता को कैसे छोड़ा जाए ? एक ओर सत्य-सिद्धात सामने था तो दूसरी ओर अपना पकड़ा हुआ मिथ्या आग्रह ? अब किसे निभाया जाए। उनके मन मे सत्य की अपेक्षा अपनी बात का अधिक आग्रह था। इसलिए उन्होने सत्य को त्याग कर आगमविरुद्ध मिथ्यात्वी की क्रिया को आज्ञा मे मान लिया। क्योकि वे आज्ञा बाहर की क्रिया से पुण्य होने का तो निषेध कर चुके थे। यदि वे यह मान लेते कि आज्ञा बाहर की क्रिया मे धर्म नही, पुण्य होता है तो दया-दान का सर्वथा निषेध कैसे कर पाते और उन्हे तो उनका पूर्णत उन्मूलन करना था, इसलिए जैनधर्म एव आगम के नही प्रत्युत सभी धर्मो की मान्यता के विरुद्ध मिथ्यात्वी एव अज्ञानी की मिथ्यात्व एव अज्ञानपूर्वक की जाने वाली अकाम निर्जरा की क्रिया को भगवान की आज्ञा मे मान लिया और उसे मोक्षमार्ग का देश-आराधक भी मान लिया। इस आगमविरुद्ध कपोलकल्पना को भोले-भाले लोगो के मन-मस्तिष्क मे सही कैसे जचाया जाए, इसके लिए भ्रमविध्वासनकार को इस विषय की इतनी विस्तृत चर्चा कर के इस नगण्य-सी बात को इतना महत्व देना पड़ा।

इस तरह भ्रमविध्वासनकार ने भ्रमविध्वसन के प्रथम प्रकरण मे आगम के पाठो को एव उनके अर्थो को तोड-मरोड कर मिथ्यादृष्टि की क्रिया को आज्ञा मे स्थापित करने का प्रयत्न किया। द्वितीय प्रकरण मे दान अधिकार मे हीन-दीन जीवो को दिए जाने वाले दान को एकान्त पापमय सिद्ध करने तथा तीसरे अनुकम्पा प्रकरण मे अनुकम्पा के दो भेद बताकर-सावद्य और निरवद्य, अनुकम्पापूर्वक दान देने एव जीवरक्षा करने मे एकान्त पाप की प्ररूपणा करने का प्रयत्न किया। भगवान महावीर ने गो शालक पर अनुकम्पा करके जगत मे जीव रक्षाका एक अनुपम आदर्श रखा था, इससे अनुकम्पा का समर्थन होते देख उन्होने यह घोषित करने मे भी सकोच एव शर्म महसूस नही की—गोशालक पर अनुकम्पा करने से महावीर चूक गए-पथभ्रष्ट हो गए। और इस पथभ्रष्ट होने की कल्पना को सत्य सिद्ध करने के लिए लब्धिलेश्या आदि प्रकरण लिखे।

उक्त आगमविरुद्ध विचारो से जन-मन मे फैली हुई भ्रान्ति को दूर करने के लिए ज्योतिर्धर आचार्य श्री जवाहरलाल जी म ने सद्धर्ममण्डन की रचना की। और उनकी सभी गलत तर्को का आगम प्रमाण के साथ निराकरण किया। यदि बुद्धिमान पुरुप भ्रमविध्वासन को सामने रखकर प्रस्तुत ग्रन्थ का अध्ययन एव चिन्तन-

मनन करेंगे, तो वे सहज ही सत्यासत्य को समझ सकेंगे। यदि महाकवि कालिदास के शब्दो मे कहूं—

"हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपिवा" वस्तुतः स्वर्ण विशुद्ध है या नही, यह बात तो उसे आग में रखने पर ही ज्ञात होती है।

अन्तिम निवेदन

परम श्रद्धेय ज्योतिर्धर आचार्य श्री जवाहरलालजी म ने इस ग्रन्थ को तैयार करके अपने एक सन्त से लिखवाया। उसके बाद पडित अम्बिकादत्त जी ओझा ने इसकी प्रेस कापी की। इसलिए पण्डित जी एव प्रेस के कपोजिटरो तथा प्रूफ सशोधक के दृष्टिदोष से ग्रन्थ मे कुछ त्रुटियो का रहना भी सभव है। अत पाठको से नम्र निवेदन है कि किसी त्रुटि के लिए वे सूचित करने का कष्ट करेंगे तो, हम उस पर सहर्ष विचार करके आगामी सस्करण मे उचित सशोधन करने का प्रयत्न करेंगे। अत. पाठको की ओर से प्राप्त सूचना का स्वागत करते हुए हम उनका आभार मानेंगे। क्योंकि छद्मस्थता के कारण स्खलन होना स्वाभाविक है—

"गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः
हसति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः"

निवेदक

तनसुखदास फूसराज दूगड़
सरदारशहर

आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज की जीवन-झांकी

जन्म-स्थान	—थादला (मध्य-प्रदेश)	
जन्म-दिन	—कार्तिक शुक्ला चतुर्थी	वि० सं० १९३२
पिता का नाम	— जीवराजजी कवाड	
माता का नाम	—नाथीवाई	
दीक्षा-तिथि	—मार्गशीर्ष शुक्ला द्वितीया	वि० सं० १९४८
गुरु का नाम	—श्री मगनलालजी म०	

प्रथम	चातुर्मास —	धार	(मध्य-प्रदेश)	सं० १९४९
२	" —	रामपुरा	(")	१९५०
३	" —	जावरा	(")	१९५१
४	" —	थादला	(")	१९५२
५	" —	शिवगढ	(")	१९५३
६	" —	सैलाना	(")	१९५४
७–८	" —	खाचरौद	(")	१९५५–५६
९	" —	महीदपुर	(")	१९५७
१०	" —	उदयपुर	(राजस्थान)	१९५८
११	" —	जोधपुर	(")	१९५९
	प्रत्युत्तर दीपिका का प्रकाशन			१९५९
१२	चातुर्मास —	ब्यावर	(")	१९६०
१३	" —	बीकानेर	(")	१९६१
१४	" —	उदयपुर	(")	१९६२
१५	" —	गगापुर	(")	१९६३
१६	" —	रतलाम	(मध्यप्रदेश)	१९६४
१७	" —	थादला	(")	१९६५
१८	" —	जावरा	(")	१९६६
१९	" —	इन्दौर	(")	१९६७
२०	" —	अहमदनगर	(महाराष्ट्र)	१९६८

सस्कृत शिक्षा की आवश्यकता समझकर पूज्य-गुरुदेव ने अपने दो शिष्यो—प० घासीलालजी म० एव आचार्य गणेशीलालजी म० को वैतनिक पण्डितो से पढाना शुरू किया ।

२१	चातुर्मास —	जुन्नर	(महाराष्ट्र)	१९६९
२२	" —	घोड़नदी	(")	१९७०
२३	" —	जामगांव	(")	१९७१
२४	चातुर्मास —	अहमदनगर	(")	१९७२
	लोकमान्य तिलक से मिलन			

२५ „ — घोडनदी (महाराष्ट्र) १९७३
२६ „ — मीरी („) १९७४
२७ „ — हिवडा („) १९७५

हिवडे से राजस्थान की ओर विहार करते समय रतलाम मे पू० श्री श्रीलालजी म० ने आपको युवाचार्य पद दिया।

२८ चातुर्मास — उदयपुर (राजस्थान) १९७६

आषाढ शुक्ला ३, स १९७७ को आचार्य श्री श्रीलालजी म० का स्वर्गवास हुआ और आपको भीनासर मे आचार्य पद की चद्दर ओढाई गई।

२९ चातुर्मास — बीकानेर (राजस्थान) १९७७
३० „ — रतलाम (मध्यप्रदेश) १९७८
३१ „ — सतारा (महाराष्ट्र) १९७९
३२ „ — घाटकोपर (बम्बई-महाराष्ट्र) १९८०
३३–३४ „ — जलगाव (महाराष्ट्र) १९८१–८२
३५ „ — ब्यावर (राजस्थान) १९८३
३६ „ — भीनासर („) १९८४

प० मदनमोहन मालवीय ने आपका प्रवचन सुना।

३७ „ — सरदारशहर (राजस्थान) १९८५
३८ „ — चूरू („) १९८६
३९ „ — बीकानेर („) १९८७
४० „ — दिल्ली („) १९८८
४१ „ — जोधपुर („) १९८९
४२ „ — उदयपुर („) १९९०
४३ „ — कपासन („) १९९१
४४ „ — रतलाम (मध्यप्रदेश) १९९२

५ नवम्बर १९३५ को रतलाम नरेश ने दर्शन किए एवं प्रवचन सुना।

४५ „ — राजकोट (सौराष्ट्र) १९९३

१३ अक्टूबर १९३६ को सरदार वल्लभभाई पटेल आपसे मिले।
२९ „ „ को महात्मा गाधी से मिलन हुआ।

५ अप्रेल, १९३७ को पट्टाभिसीतारमैया ने आपका प्रवचन सुना एव वार्तालाप किया।

४६ चातुर्मास — जामनगर (सौराष्ट्र) १९९४
४७ „ — मोरवी („) १९९५
४८ „ — अहमदाबाद („) १९९६
४९ „ — बगड़ी (राजस्थान) १९९७
५०–५१ „ — भीनासर („) १९९८–९९

आषाढ शुक्ला अष्टमी, वि. स० २००० को भीनासर मे स्वर्गवास हुआ।

अनुक्रमणिका

मिथ्यात्व अधिकार

दान-अधिकार

अनुकम्पा-अधिकार

लब्धि-अधिकार

प्रायश्चित-अधिकार

लेश्या-अधिकार

वैयावृत्य-अधिकार

विनय-अधिकार

पुण्य-अधिकार

आश्रव-अधिकार

तत्त्व-अधिकार

आगम-अध्ययन अधिकार

अल्प-पाप और बहु-निर्जरा

द्वार-उद्घाटन अधिकार

मिथ्यात्व-अधिकार

धर्म के भेद

सिद्धाणं नमो किच्चा संजयाणं च भावओ।
अत्थ धम्म गइं तच्चं अणुसिट्ठि सुणेह मे ।।
भव बीजाङ्कुर जनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ।।

"श्री सिद्ध और संयतियो को भावपूर्वक नमस्कार करके, हिताहित का ज्ञान देनेवाला सदुपदेश दिया जाता है, उसे सुनें।

भव-बीज के अंकुर उत्पन्न करने वाले राग-द्वेष आदि दोष जिसके क्षीण हो गए हैं, वह भले ही ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो या जिन हो, उसे मेरा नमस्कार हो।"

आगम मे दो प्रकार के धर्मो का वर्णन किया गया है—श्रुत धर्म और चारित्र धर्म अथवा विद्या और चारित्र। श्रुत या विद्या धर्म मे सम्यग् ज्ञान और दर्शन का समावेश हो जाता है। अत श्रुत और चारित्र को अथवा सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र को सद्धर्म कहते हैं। इस ग्रथ मे स्व—आत्म लाभार्थ तथा भव्य जीवो के हितार्थ उस सद्धर्म का मण्डन किया जाता है। इसलिए इस ग्रथ का नाम "सद्धर्ममण्डनम्" रखा है।

जो धर्म, श्री वीतराग देव की आज्ञा मे है, उसके शास्त्रकारो ने दो भेद बतलाये है।

"दुविहे धम्मे पण्णत्ते तं जहा—सुय-धम्मे चेव
चरित्त-धम्मे चेव।"

—स्थानाग २, १, ७२

"धर्म दो प्रकार का है—१ श्रुत धर्म और २ चारित्र धर्म।"

सम्यग् ज्ञान-दर्शन—आठ ज्ञानाचार और आठ सम्यक्त्व के आचार श्रुतधर्म मे माने जाते हैं। श्रमण धर्म एव श्रावक धर्म के मूल गुण तथा उत्तरगुण और आठ चारित्र के आचार, चारित्र धर्म में कहे गए हैं। इस प्रकार श्रुत और चारित्र ये दो धर्म ही वीतराग की आज्ञा मे है। इनसे भिन्न तीसरा कोई धर्म वीतराग द्वारा प्ररूपित या वीतराग की आज्ञा का धर्म नही है। अतः श्रुत और चारित्र धर्म का आराधक पुरुष ही वीतराग की आज्ञा का आराधक है।

वीतराग भगवान की इसी आज्ञा-आराधना के तीन भेद श्री भगवती सूत्र में कहे हैं—

"कति विहा णं भन्ते ! आराहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिविहा आराहणा पण्णत्ता तं जहा—नाणाराहणा, दंसणाराहणा, चरित्ताराहणा।

णाणाराहणा णं भन्ते ! कति विहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता तं जहा—उक्कोसिया, मज्झिमा, जहण्णा।

दंसणाराहणा णं भन्ते ?

एवं चेव तिविहावि, एवं चरित्ताराहणा वि।"

—भगवती सूत्र ८, १०

"हे भगवन् ! आराधना के कितने भेद होते हैं ?

हे गौतम ! आराधना के तीन भेद होते हैं—१ ज्ञानाराधना २ दर्शनाराधना ३ चारित्राराधना।

हे भगवन् ! ज्ञान आराधना कितने प्रकार की होती है ?

हे गौतम ! ज्ञान आराधना तीन प्रकार की होती है—१ उत्कृष्ट, २ मध्यम और ३ जघन्य। इसी तरह दर्शन और चारित्र आराधना के तीन-तीन भेद समझने चाहिए।"

यहाँ भगवान ने आराधना तीन प्रकार की कही है—ज्ञान आराधना, दर्शन आराधना और चारित्र आराधना। अतः इनका आराधक पुरुष ही मोक्षमार्ग एवं वीतराग-आज्ञा का आराधक समझा जाता है। परन्तु इस आराधना के अतिरिक्त आचरण करने वाला व्यक्ति मोक्षमार्ग एवं वीतराग-आज्ञा का आराधक नहीं है। क्योंकि सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र से रहित अन्य किसी तरह की साधना करने वाले व्यक्ति को आगम में न तो मोक्षमार्ग का आराधक ही कहा है और न उसे संसार विच्छेद करने वाला परित्त-संसारी। वस्तु आगम के प्रस्तुत पाठ में उत्कृष्ट, मध्यम एवं जघन्य आराधना के परिपालक को ही मोक्षमार्ग का आराधक कहा है और उसमें किस भेद का आराधक पुरुष कितने भव करके मोक्ष जाता है, यह निर्णय भी श्री भगवती सूत्र में इसी स्थान पर कर दिया है।

"उक्कोसिए णं भन्ते ! णाणाराहणं आराहेता कतिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झंति जाव अन्तं करेंति ?

गोयमा ! अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणे णं सिज्झंति जाव अन्तं करेंति। अत्थेगइए दोच्चेणं भवग्गहणे णं सिज्झंति जाव अन्तं करेंति। अत्थे गइए कप्पोवएसु वा कप्पातीएसु वा उववज्जंति।

उक्कोसिए णं भंते! दंसणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं ?

एवं चेव।

उक्कोसिए णं भन्ते ! चरित्ताराहणं आराहेत्ता ?

एवं चेव, णवरं अत्थेगइए कप्पातीए सु उववज्जति।

मज्झिमिय णं भंते ! णाणाराहण आराहेत्ता कतिहि भवग्गहणेहिं सिज्झंति जाव अन्तं करेति ?

गोयमा ! अत्थेगइए दोच्चेणं भवगहणेहि सिज्झइ जाव अन्त करेति, तच्चं पुण भवग्गहण नाइक्कमइ।

मज्झिमिय णं भन्ते! दसणाराहणं आराहेत्ता ?

एवं चेव, एवं मज्झिमिय चरित्ताराहणं वि।

जहन्निय णं भन्ते ! गाणाराहण आराहेत्ता कतिहि भवग्गहणेहिं सिज्झति जाव अन्तं करेति ?

गोयमा! अत्थेगइए तच्चेणं भवग्गहणेण सिज्झइ जाव अन्तं करेंति, सत्तट्ठ भवग्गहणाइ, पुण नाइक्कमइ। एव दसणाराहण वि, एवं चरित्ताराहणं वि।"

—भगवती सूत्र, ८,१०,३५५

"हे भगवन् ! उत्कृष्ट ज्ञान आराधना करने वाला व्यक्ति कितने भव करके सिद्ध-बुद्ध होता है, यावत् कर्मों का अन्त करता है ?

हे गौतम ! कुछ जीव उसी भव में सिद्ध होते हैं, यावत् कर्मों का अन्त करते हैं। कुछ साधक दो भव करके सिद्ध होते हैं, यावत् कर्मों का अन्त करते हैं। कुछ साधक सौधर्म आदि एवं नवग्रैवेयक, अनुत्तर विमान आदि देवलोको में उत्पन्न होते हैं।

हे भगवन् ! उत्कृष्ट दर्शन आराधना करनेवाले साधक कितने भव करके सिद्ध होते हैं, यावत् कर्मों का अन्त करते हैं ?

हे गौतम ! दर्शन आराधना के प्रश्न का उत्तर ज्ञान आराधना की तरह समझना। चारित्र आराधना का उत्तर भी इसी तरह समझना। इसमें विशेष वात यह है कि कई साधक अनुत्तर विमान आदि कल्पातीत देवताओ में ही उत्पन्न होते है, सौधर्म आदि कल्पोत्पन्न देवलोकों में उत्पन्न नहीं होते।

हे भगवन् ! मध्यम ज्ञान आराधना करनेवाला साधक कितने भव करके सिद्ध होता है, यावत् कर्मों का अन्त करता है ?

हे गौतम ! मध्यम ज्ञान आराधना करने वाले कुछ साधक दो भव करके सिद्ध होते है, यावत् कर्मों का अन्त करते हैं। कुछ साधक तीन भव करके सिद्ध होते हैं। उसके वाद पुनः संसार में जन्म ग्रहण नहीं करते।

हे भगवन ! मध्यम दर्शन आराधना करनेवाला साधक कितने भव करके सिद्ध होता है, यावत् कर्मों का अन्त करता है ?

हे गौतम ! मध्यम दर्शन आराधना के प्रश्न का उत्तर मध्यम ज्ञान आराधना की तरह समझना। इसी तरह चारित्र आराधना का उत्तर समझना।

हे भगवन् ! जघन्य ज्ञान आराधना करनेवाला साधक कितने भव करके सिद्ध होता है, यावत् कर्मों का अन्त करता है ?

हे गौतम ! जघन्य ज्ञान आराधना करनेवाले कई साधक तीन भव करके सिद्ध होते हैं। कुछ साधक सात-आठ भव करके सिद्ध होते हैं, यावत् कर्मों का अन्त करते हैं। उसके बाद वे पुनः संसार में जन्म ग्रहण नहीं करते। जघन्य दर्शन आराधना एवं चारित्र आराधना के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना।"

प्रस्तुत पाठ मे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की उत्कृष्ट आराधना करने वाले पुरुप को जघन्य एक भव अर्थात् उसी भव में और उत्कृष्ट दो भव कर के मोक्ष जाना कहा है। उत्कृष्ट ज्ञान और दर्शन की आराधना करनेवाले को कल्प और कल्पातीत नामक स्थानो में देवता होना तथा उत्कृष्ट चारित्र आराधना के आराधक को अनुत्तर विमान मे ही जाना कहा है। इसी तरह उक्त तीनो आराधनाओ के मध्यम आराधक को जघन्य दो और उत्कृष्ट तीन भव मे तथा इनके जघन्य आराधक को जघन्य तीन और उत्कृष्ट सात-आठ भव मे मोक्ष जाना बतलाया है। इस का स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार ने लिखा है—"जिस ज्ञान और दर्शन की जघन्य आराधना से उत्कृष्ट सात-आठ भव मे मोक्ष जाना इस पाठ मे बतलाया है, वह ज्ञान और दर्शन की आराधना चारित्र आराधना के साथ ही की जानेवाली समझनी चाहिए, चारित्र की आराधना से रहित जघन्य ज्ञान और दर्शन की आराधना नही। क्योंकि चारित्र की आराधना से रहित जघन्य ज्ञान और दर्शन की आराधना मे तथा श्रावकत्व—देश व्रत की आराधना मे उत्कृष्ट असंख्य भव भी होते हैं।" अस्तु जिस पुरुष मे चारित्र की आराधना नही है, किन्तु ज्ञान और दर्शन की जघन्य आराधना है, वह पुरुप तथा देश व्रती श्रावक जघन्य तीन और उत्कृष्ट असंख्य भव मे मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसलिए जो पुरुप वीतराग की आज्ञा के किसी भी भेद का आराधक है, वह उसी भव मे या दो-तीन भवो मे या असंख्य भवों मे अवश्य ही मोक्ष जाता है। परन्तु जो पूर्वोक्त आराधनाओं के किसी भी भेद का आराधक नहीं है, वह कभी भी मोक्ष नही जा सकता। वह अनन्त काल तक संसार में ही परिभ्रमण करता रहता है। अत मिथ्यादृष्टि पुरुप वीतराग की आज्ञा का किंचित् भी आराधक नहीं है। क्योंकि पूर्वोक्त पाठ एव टीका के अनुसार आज्ञा-आराधक पुरुप दो-तीन भव में अथवा उत्कृष्ट असख्य भव मे अवश्य ही मोक्ष जाता है, परन्तु मिथ्यादृष्टि नही जाता। इसलिए वह वीतराग की आज्ञा के किसी भी अंग का आराधक नही है। जो लोग मिथ्यादृष्टि को देश से मोक्षमार्ग का आराधक मानते हैं, उन्हें आगम का कोई प्रमाण प्रस्तुत करना चाहिए, जिसमे मिथ्यादृष्टि को उत्कृष्ट असख्य भव मे भी मोक्ष जाने की बात कही हो। यदि वे कोई प्रमाण नहीं दे सकते, तो फिर मिथ्यादृष्टि को वीतराग की आज्ञा का देश आराधक भी नहीं मान सकते। क्योंकि, जो व्यक्ति वीतराग आज्ञा की देश से भी आराधना करता हो, वह असख्य भव में मोक्ष मे न जाए, यह बात उक्त आगम एव उसकी टीका से विरुद्ध है।

उक्त त्रिविध आराधनाएँ श्रुत और चारित्र धर्म के ही अन्तर्गत हैं। ज्ञान के अभाव मे दर्शन और दर्शन के अभाव में ज्ञान नहीं होता। इसलिए ज्ञान और दर्शन ये दोनों श्रुत धर्म में

माने जाते है और चारित्र आराधना चारित्र स्वरूप है। इसलिए धर्म के मूल भेद दो ही है—श्रुत और चारित्र। दशवैकालिक सूत्र मे "अहिंसा, संजमो, तवो" यह कहकर अहिंसा, संयम और तप को जो धर्म कहा है, वह श्रुत और चारित्र को ही अहिंसा, संयम और तप कहकर बतलाया है। परन्तु श्रुत और चारित्र के अतिरिक्त अहिंसा, संयम और तप को धर्म नही कहा है। अत. उक्त गाथा की निर्युक्ति मे धर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"दुविहो लोगुत्तरियो सुय-धम्मो खलु चरित्त - धम्मो य"

"लोकोत्तर धर्म दो प्रकार का है—श्रुत धर्म और चारित्र धर्म। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रुत और चारित्र रूप लोकोत्तर धर्म को ही उक्त गाथा में अहिंसा, संयम और तप कहकर बतलाया है, किसी लौकिक धर्म को नहीं।"

इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र के २८वें अध्ययन मे मोक्षमार्ग बताते हुए लिखा है—

"नाणं च दसणं चैव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पन्नत्तो, जिणेहि वरदंसिहि ॥"

—उत्तराध्ययन २८, २

"तत्वदर्शी जिनवरो ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्ष का मार्ग बतलाया है।"

प्रस्तुत गाथा मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये चार मोक्ष के मार्ग कहे है। ये चारो ही श्रुत और चारित्र धर्म के भेद है। ज्ञान और दर्शन श्रुत के अन्दर है तथा चारित्र और तप चारित्र के अन्तर्गत। अत इस गाथा मे कथित ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—श्रुत एव चारित्र के अन्तर्गत है। क्योकि उक्त गाथा की 'पाई' टीका मे तप के विषय मे लिखा है—

"तपो बाह्यभ्यन्तरभेदभिन्न यदर्हद्वचनानुसारि तदेवोपादीयते।"

"बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से भिन्न अर्हद् वचनानुसार जो तप है, उसी को इस गाथा में ग्रहण किया है।"

यहाँ टीकाकार ने वीतराग भाषित तप को ही मुक्ति का मार्ग बतलाकर इसमे उसीका ग्रहण होना बतलाया है। परन्तु अज्ञानयुक्त तप को मुक्ति का मार्ग नहीं कहा हैं। अत वीतराग की आज्ञा मे होनेवाला यह तप, चारित्र का ही भेद है। फिर भी प्रस्तुत गाथा मे तप को चारित्र से पृथक् लिखने का प्रयोजन बताते हुए टीकाकार ने लिखा है—

"इह च चारित्र भेदत्वेऽपि तपसः पृथगुपादानमस्यैव क्षपणं प्रत्यसाधारण हेतुत्वमुपदर्शयितुम्।"

"तप चारित्र का ही भेद है, तथापि कर्म क्षय करने मे यह सब से प्रधान है, यह बतलाने के लिए प्रस्तुत गाथा में तप को चारित्र से अलग कहा है।"

यहाँ टीकाकार ने स्पष्ट लिखा है कि तप चारित्र का ही भेद है। इससे सिद्ध हुआ कि ऊपर लिखी हुई गाथा मे श्रुत और चारित्र धर्म को ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप कहकर बतलाया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रुत और चारित्र धर्म से भिन्न कोई तीसरा धर्म वीतराग की आज्ञा में नही है। श्रुत और चारित्र धर्म के अन्दर जिस धर्म का जो समावेश हो सकता है, वही मोक्ष मार्ग का धर्म है। किन्तु धर्म का जो भेद श्रुत और चारित्र धर्म मे

समाविष्ट न हो सके अथवा न तो उसे श्रुत धर्म ही और न चारित्र धर्म ही कहा जा सके, वह धर्म वीतराग की आज्ञा-आराधन रूप धर्म नही है।

स्थानाग सूत्र मे विद्या और चारित्र के द्वारा ससार-सागर से पार होना कहा है। वह विद्या और चारित्र भी श्रुत और चारित्र धर्म ही है, इनसे पृथक् नही।

"दो हि ठाणेहिं अणगारे सम्पन्ने अणादिय अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरत संसार कंतारं वीत्तिवत्तेज्जा, त जहा–विज्जाए चेव चरणेण चेव।"

–स्थानाग २, १, ६३

"दो स्थानो से सम्पन्न अणगार चार गतिरूप अनादि अनन्त दीर्घ ससार अटवी का अतिक्रमण करता है। वे दो स्थान हैं—विद्या-ज्ञान और चारित्र।"

प्रस्तुत पाठ मे विद्या और चारित्र के द्वारा ही ससार-सागर से पार होना कहा है। मूल पाठ मे विद्या और चरण शब्द के साथ 'एवकार' लगाकर भव-सागर को पार करने के लिए; इसके अतिरिक्त अन्य उपाय का निषेध किया है। अत मोक्ष प्राप्ति के लिए विद्या और चरण ये दो ही कारण सिद्ध होते है, इनसे भिन्न कोई तीसरा कारण नही। यहाँ विद्या शब्द से ज्ञान और दर्शन का और चरण शब्द से चारित्र का ग्रहण है। इसलिए इस पाठ मे विद्या और चरण कह कर श्रुत और चारित्र को ही बतलाया है। इस पाठ से यही सिद्ध होता है कि श्रुत और चारित्र धर्म ही मोक्ष प्राप्ति के कारण हैं, इनसे भिन्न कोई अन्य कारण नही है।

कोई यह शका करे कि विद्या शब्द तो केवल ज्ञान अर्थ में ही प्रसिद्ध है, उससे ज्ञान और दर्शन इन दोनो का ग्रहण कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि इस पाठ की टीका मे विद्या शब्द से ज्ञान और दर्शन दोनो का ग्रहण होना लिखा है।

"ननु सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग इति श्रूयते इह तु ज्ञान-क्रियाभ्यामसावुक्त इति कथं न तद्विरोध: अथ द्विस्थानकानुरोधादेवं निर्देशेऽपि न विरोधो नैवमवधारणगर्भत्वान्निर्देशस्येति। अत्रोच्यते विद्याग्रहणेन दर्शनमप्य-विरुद्ध द्रष्टव्यं ज्ञान भेदत्वात् सम्यग्-दर्शनस्य। यथाहि अवबोधात्मकत्वे सति मतेरनाकारत्वादवग्रहे दर्शन साकारत्वाच्चापायधारणे ज्ञानमुक्तमेवं व्यवसायात्मकत्वे सत्यवायस्य रुचि रूपाऽग. सम्यग् दर्शनमवगम रूपांऽश्चो-ऽत्राय एवेति न विरोध:। अवधारण तु ज्ञानादि व्यतिरेकेण नान्योपायो भवरयवच्छे-दस्येति दर्शनार्थमिति।"

"सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग सुने जाते हैं। परन्तु यहाँ ज्ञान और क्रिया से मोक्ष कहा गया है। इस कारण यहाँ उस कथन से विरोध क्यों नहीं है? यदि यह कहो कि यह स्थानाग सूत्र का दूसरा स्थान है, इसमें तीन का समावेश नहीं किया है, इस-लिए यहा ज्ञान और क्रिया से मोक्ष कहा है, दर्शन से नहीं। परन्तु यह कथन युक्ति संगत नहीं है। क्योंकि इस मूल पाठ में 'विज्जाए चेव चरणेन चेव' इन पदो में विद्या और चरण के साथ एवकार लगाकर इनसे ही मोक्ष जाने का नियम कर के, दूसरे साधनो से मोक्ष जाने का

निषेध किया है। इसका उत्तर यह है कि विद्या शब्द से यहाँ दर्शन का भी ग्रहण समझना चाहिए। क्योंकि सम्यक् दर्शन ज्ञान का ही भेद है। जैसे—अवबोध ज्ञानस्वरूप और अनाकार स्वरूप होनेसे मतिज्ञान के अवग्रह और ईहा रूप भेद दर्शन स्वरूप हैं और अवाय और धारणा रूप मतिज्ञान के भेद साकार होने के कारण ज्ञान के अन्दर कहे हैं। इसी तरह व्यवसाय स्वरूप अवाय का रुचि रूप अंश सम्यग् दर्शन है और अवगम रूप अंश अवाय ज्ञान स्वरूप ही है। इसलिए इसमें विरोध नहीं है। इस पाठ में जो एवकार शब्द आया है, वह सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र से भिन्न कोई मोक्ष प्राप्ति का उपाय नहीं है, यह बताने के लिए प्रयुक्त किया है, ऐसा समझना चाहिए।"

प्रस्तुत मे टीकाकार ने 'विद्या' शब्द से ज्ञान और दर्शन दोनो का ग्रहण बतलाया है और सम्यग् दर्शन और ज्ञान ही श्रुत कहलाते है। अत उक्त मूलपाठ मे विद्या और चरण शब्द से श्रुत और चारित्र धर्म का ही उल्लेख किया गया है। मूलपाठ मे 'एवकार' का प्रयोग करके इनसे भिन्न धर्म का मोक्ष प्राप्ति मे निषेध किया है। अत श्रुत और चारित्र धर्म ही मोक्ष मार्ग अथवा वीतराग आज्ञा का धर्म सिद्ध होता है। श्रुत और चारित्र धर्म या विद्या और चारित्र धर्म अज्ञानी और मिथ्यात्वियो मे नही होते। अत सम्यग्दृष्टि पुरुष ही वीतराग की आज्ञा रूप मोक्षमार्ग के आराधक है, मिथ्यादृष्टि नही।

अज्ञानयुक्त क्रिया

जो जीव अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि है, वह परलोक के लिए जो तप-दान आदि रूप क्रिया करता है, वह वीतरागकी आज्ञामे नही है और वह पुरुप मोक्षमार्ग का किंचित भी आराधक नही है,यह बात आगम प्रमाण से सिद्ध है। भगवती सूत्र मे स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि जो पुरुप अज्ञानी एव मिथ्यादृष्टि है, उसकी परलोक सम्बन्धी क्रिया मोह कम के उदय से होती है।

"जीवेण भन्ते! मोहणिज्जेण कडेणं कम्मेण उदिन्नेणं उवट्ठाएज्जा?

हन्ता गोयमा ! उवट्ठाएज्जा।

से भन्ते ! कि वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा अवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा?

गोयमा ! वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, णो अवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा। जइ वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, कि बाल वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, पण्डिय वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, बाल-पण्डिय वीरियत्तए उवट्ठाएज्जा, ?

गोयमा ! बाल वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, णो पण्डिय वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, णो बाल-पन्डिय वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा।"

—भगवती श० १, ४, ३९

"हे भगवन् ! मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जीव परलोक की तप-दान आदि क्रिया स्वीकार करता है या नही ?"

"हे गौतम ! करता है।"

"हे भगवन् ! वीर्य के द्वारा स्वीकार करता है या अवीर्य के द्वारा ?"

"हे गौतम ! वीर्य के द्वारा स्वीकार करता है, अवीर्य के द्वारा नहीं। क्योंकि परलोक की क्रिया करने में वीर्य की आवश्यकता होती है।"

"यदि वह वीर्य के द्वारा स्वीकार करता है,तो क्या बाल वीर्य के द्वारा या पण्डित-वीर्य अथवा बाल-पण्डित वीर्य के द्वारा ?"

"बाल वीर्य के द्वारा स्वीकार करता है, पण्डित एवं बाल-पण्डित वीर्य के द्वारा नहीं।"

प्रस्तुत पाठ मे प्रयुक्त बाल शब्द का अर्थ टीकाकार ने मिथ्यादृष्टि किया है—

"बालवीर्य्यत्ताए त्ति बालः सम्यगर्थानवबोधात् सद्बोधकार्य्यं विरत्य-भावाच्च मिथ्यादृष्टिः तस्य या वीर्यता परिणति विशेषः सा तथा तया।"

"जिस व्यक्ति को सम्यक् अर्थ का बोध नहीं है और जिसमें सद्बोध से उत्पन्न होनेवाली विरति भी नहीं है—वह जीव "बाल" कहलाता है—मिथ्यादृष्टि को बाल कहते हैं। उसकी वीर्यता बाल वीर्यता है।"

यहाँ मूलपाठ एव उसकी टीका मे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जो परलोक की क्रिया की जाती है, उसे बालवीर्य के द्वारा होना कहा है। बालवीर्य-मिथ्यात्वी का वीर्य वीतराग की आज्ञा से बाहर है। इसलिए उस वीर्य के द्वारा जो परलोक की क्रिया की जाती है, वह भी आज्ञा से बाहर सिद्ध होती है। अत. अज्ञानी एव मिथ्यादृष्टियो के द्वारा परलोक के लिए की जानेवाली तप-दान रूप क्रिया को वीतराग की आज्ञा से बाहर समझना चाहिए।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि तेरहपंथी अनुकपा को मोह-अनुकपा कहते है। अत उनके द्वारा प्ररूपित अनुकपा से पुण्यबंध होता है या नही ? यदि नही, तो फिर मोह कर्म के उदय से किये हुए या किए जाने वाले सभी कार्य पाप मे ही माने जाने चाहिए। जिस प्रकार वे केवल मोह के कारण अनुकपा मे पाप कहते है, वैसे ही दान, तप, ब्रह्मचर्य-पालन आदि कार्य भी यदि मोह-कर्म के उदय से किए जाएँ तो उनमे भी एकात पाप मानना चाहिए। यदि ऐसा कहे कि मोहकर्म का उदय होने पर ब्रह्मचर्य पालन आदि शुभ कार्य नही किए जाते है, तो यह कथन भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ४ के विपरीत होगा। भगवती के उक्त पाठ मे कहा है—"मोहणिज्जेणं कडेण कम्मेणं उदिन्नेणं उवट्ठाएज्जा ? हन्ता गोयमा ! उवट्ठाएज्जा।" इससे स्पष्ट होता है कि मिथ्यात्व मोह कर्म के उदय से भी जीव परलोक की क्रिया करता है। ऐसी स्थिति मे मोह का नाम लेकर अनुकपा मे एकान्त पाप बतलाना एकान्त रूप से मिथ्या है।

यहाँ इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय के साथ-साथ मिथ्यात्व मोह का उपशम, क्षयोपशम एव क्षय होने पर ही उसके द्वारा की जानेवाली पारलौकिक क्रिया ज्ञान मे आती है। परन्तु ज्ञानावरणीय एव दर्शनावरणीय के क्षयोपशम एव मिथ्यात्व मोह का उदय होने पर वही क्रिया अज्ञान मे मानी जाती है।

स्थानाग सूत्र मे भी मिथ्यादृष्टि की क्रिया को अज्ञान क्रिया कहा है। अज्ञान वीतराग की आज्ञा से बाहर है। अत मिथ्यादृष्टि की क्रिया भी आज्ञा बाहर सिद्ध होती है। स्थानांग मे लिखा है—

"अण्णाण किरिया तिविहा पण्णत्ता त जहा—मति अण्णाण-किरिया, सुय अण्णाण-किरिया, विभंगण्णाण किरिया।"

—स्थानाग, ३, ३, १८७

टीका—"मई अण्णाण किरिए" त्ति "अविसेसि या मइच्चिय सम्मदिट्ठिस्स सा मइण्णाणं। मइ अण्णाणं मिच्छादिट्ठस्स सुयं वि एवमेव" त्ति मत्य-

ज्ञानात् क्रियाऽनुष्ठानं मत्यज्ञान क्रिया एवमितरेऽपि नवरं विभंगो मिथ्यादृष्टे-रवधिः स एवाज्ञानं विभंग ज्ञानमिति।"

"जो क्रिया अज्ञान से की जाती है, उसे 'अज्ञानक्रिया' कहते हैं। उसके तीन भेद हैं—१. मति अज्ञान-क्रिया, २. श्रुत अज्ञान-क्रिया, ३. विभंग ज्ञान-क्रिया।

यह मूल पाठ का अर्थ है। इसमें अज्ञान क्रिया के मति अज्ञान क्रिया आदि तीन भेद किए है, और टीका में इसका जो वर्णन किया है, उसका भाव यह है—

"सम्यक्दृष्टि पुरुष की मति को 'मतिज्ञान' कहते है और मिथ्यादृष्टि की मति को मति अज्ञान। इसी तरह श्रुत के विषय मे भी जानना चाहिए। जो क्रिया मति अज्ञान पूर्वक की जाती है, उसे मति अज्ञान-क्रिया कहते हैं। इसी तरह श्रुत अज्ञान क्रिया और विभग ज्ञान क्रिया समझनी चाहिए। 'विभंग' नाम मिथ्यादृष्टि के अवधि ज्ञान का है, वह ज्ञान भी अज्ञान है, इसलिए इसे विभंग-ज्ञान कहते है।"

आवश्यक सूत्र मे अज्ञान को त्यागने योग्य और ज्ञान को आदरने योग्य बताया है।

"अन्नाणं परियाणामि नाण उवसंपज्जामि, मिच्छत्तं परियाणामि सम्मत्तं उवसंपज्जामि।"

—आवश्यक सूत्र, श्रमण सूत्र

श्रमण यह प्रतिज्ञा करता है—"मै अज्ञान का परित्याग करता हूँ और ज्ञान को प्राप्त करता हूँ। मिथ्यात्व को छोड़ता हूँ और सम्यक्त्व को स्वीकार करता हूँ।"

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अज्ञान एव मिथ्यात्व वीतराग की आज्ञा से बाहर हैं। अत अज्ञान और मिथ्यात्व से जो क्रिया की जाती है, वह भी आज्ञा बाहर ही सिद्ध होती है।

भगवती सूत्र शतक सात उद्देशा दो मे जिस व्यक्ति को जीव, अजीव, त्रस, स्थावर का ज्ञान नही है, उसके प्रत्याख्यान को दुष्प्रत्याख्यान कहा है। इसलिए अज्ञानी एव मिथ्यादृष्टि की क्रिया आज्ञा बाहर सिद्ध होती है। क्योकि मिथ्यादृष्टि को जीव, अजीव, त्रस और स्थावर का सम्यग्ज्ञान नही होता।

उववाई सूत्र मे कहा है कि जो मिथ्यात्वी-अज्ञानी पुरुष अकाम निर्जरा की क्रिया कर के दश हजार वर्ष की आयु के देवता होते है, जो हाडी-बंधनादिक का दुःख सहकर बारह हजार वर्ष की आयु के देवता होते है, जो माता-पिता आदि की सेवा से चवदह हजार वर्ष की आयु के देवता होते है, जो मिथ्यात्वी स्त्री अकाम ब्रह्मचर्य का पालन करके चौसठ वर्ष की आयु की देवता होती है, जो मिथ्यात्वी अन्न-जल आदि का नियम रखकर चौरासी हजार वर्ष की आयु के देवता होते है, जो कन्द-मूलादि खाकर एक पल्योपम और एक लाख वर्ष की आयु के देवता होते हैं, जो मिथ्यात्वी परिव्राजक धर्म का पालन कर के दस सागर की आयु के देवता होते हैं और गोशालक मतानुयायी बाईस सागर की आयु के देवता होते है, ये सभी मोक्ष-मार्ग के आराधक नही हैं।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अज्ञान एव मिथ्यात्व पूर्वक की जानेवाली क्रिया वीतराग आज्ञा से बाहर है। उन क्रियाओ का आचरण करनेवाला मिथ्यादृष्टि पुरुष मोक्षमार्ग का आराधक नही है। परन्तु जो व्यक्ति सम्यग्दृष्टि है, वही वीतराग आज्ञा का आराधक है।

संवर और निर्जरा

आपने स्थानाग आदि आगमो का प्रमाण देकर धम के दो भेद वतलाए हैं—श्रुत और चारित्र धर्म और मिथ्यादृष्टिमे इन धर्मो के नही होने से उसे मोक्षमार्ग का किंचित भी आराधक नही कहा है। परन्तु भ्रमविध्वसनकार आपकी तरह धर्म के भेद नही करते। जैसा कि भ्रमविध्वसन के पहले पृष्ठ पर उन्होने लिखा है–"ते धर्म रा दो भेद–संवर, निर्जरा। ए वीहू भेदो मे जिन आज्ञा छै। ए संवर, निर्जरा वे हुइ धर्म छै। ए संवर, निर्जरा टाल अनेरो धर्म नही छै। केइ एक पापण्डी संवर ने धर्म श्रद्धे, पिण निर्जरा ने धर्म श्रद्धे नही। त्यारे संवर, निर्जरा री ओलखणा नही।"

आगम मे कही भी धर्म के दो भेद संवर और निर्जरा नही कहे है। स्थानांग सूत्र के दूसरे स्थान मे धर्म के श्रुत और चारित्र ये दो भेद वताए है। अत संवर और निर्जरा को स्वतंत्र रूप से धर्म का भेद वतलाना अप्रामाणिक है।[1]

यदि आगमकार को यह इष्ट होता, तो स्थानांग सूत्र में "दुविहे धम्मे पन्नत्ते तं जहा–सुय धम्मे चेव चरित्त धम्मे चेव" के स्थान मे "दुविहे धम्मे पन्नत्ते तं जहा–सवर धम्मे चेव निज्जरा धम्मे चेव" पाठ होता। परन्तु वहाँ ऐसा पाठ नही आया। अत संवर और निर्जरा को धर्म का भेद मानना मिथ्या है। भ्रमविध्वसनकार ने मिथ्यादृष्टि की अप्रशस्त निर्जरा को वीतराग की आज्ञा मे कायम करने के लिए अपने मन से धर्म के दो भेद–संवर और निर्जरा लिख दिये

---

[1]संवर और सकाम निर्जरा श्रुत और चारित्र धर्म के अन्तर्गत हैं। अतः ये धर्म हैं, परन्तु अकाम निर्जरा धर्म नहीं है। परन्तु धर्म के दो भेद—"संवर और निर्जरा" कहने से अकाम निर्जरा भी धर्म में समाविष्ट हो जाएगी और वह मिथ्यादृष्टि में होती है। इसलिए वह भी मोक्षमार्ग का आराधक हो जाएगा। परन्तु यह मान्यता आगम सम्मत नहीं है। इसलिए आगम के अनुसार धर्म के दो भेद—श्रुत और चारित्र धर्म ही करने चाहिए। इससे संवर और सकाम निर्जरा धर्म के अन्तर्गत आ जाएगी और अकाम निर्जरा धर्ममें समाविष्ट नहीं होगी। क्योंकि वह श्रुत और चारित्र धर्म से वाहर है और निर्जरा के धर्म से पृथक् होने पर मिथ्यादृष्टि मोक्षमार्ग का आराधक नहीं होगा। इस प्रकार आगम से कोई विरोध नहीं रहेगा।

हैं, परन्तु यह बात आगम सम्मत नही है। संवर रहित निर्जरा को कही भी वीतरागकी आज्ञा में नही कहा है, और अकाम् निर्जरा के परिपालक को आगम मे कही भी मोक्षमार्ग का आराधक नही कहा है। फिर भी यदि सवर रहित निर्जरा को धर्म मे मानकर मिथ्यादृष्टि को मोक्षमार्ग का आराधक माना जाए, तो ससार मे कोई भी जीव मोक्षमार्ग का अनाराधक नही होगा। क्योकि सवर रहित निर्जरा सभी प्राणियो मे होती है। इस निर्जरा से चौबीस ही दण्डक के जीव युक्त है। अत भ्रमविध्वसनकार के मतमे सभी जीव मोक्षमार्ग के आराधक ही ठहरेगे। परन्तु उनकी यह मान्यता आगम विरुद्ध है। क्योकि भगवती सूत्र सतक आठ उद्देशा दस के मूल पाठ मे स्पष्ट लिखा है—"जो मोक्षमार्ग के एक अश का भी आराधक नही है, वह सर्व-विराधक कहलाता है।" यदि संवर रहित निर्जरा धर्म मे मान ले, तो कोई भी जीव सर्व विराधक नही हो सकता। अत सवर रहित निर्जरा को धर्म मे कायम करने के लिए धर्म के दो भेद—सवर और निर्जरा बतलाना दुराग्रह मात्र है।

श्री भगवती सूत्र शतक आठ उद्देशा दस के मूल पाठ मे आगमकार ने चौभगी का वर्णन किया है। इसके अनुसार ससार के समस्त जीवो को चार भागो मे विभक्त कर दिया है। वे चार भाग ये है—१ देश-आराधक, २ देश-विराधक, ३ सर्व-आराधक और ४ सर्व विराधक। यदि भ्रमविध्वसनकारके विचारानुसार यह मान लिया जाए कि मिथ्यादृष्टि भी निर्जरा के कारण मोक्षमार्ग का देश-आराधक है, तो ससार मे ऐसा कोई भी प्राणी अवशेष नही रहता, जिसे देश से मोक्षमार्ग का आराधक नही कहा जाए। क्योकि ऐसा कोई भी प्राणी नही है, जिसके निर्जरा न हो। ऐसा मानकर भ्रमविध्वसनकार ने तो मानो समस्त ससार को देश से मोक्षमार्ग का आराधक बना दिया है। परन्तु ऐसी कल्पना करने के पूर्व यह नही सोचा कि यह 'सर्व-विराधक' नामक चौथा भग, जो आगम मे बताया है, किन प्राणियो के लिए है? यदि केवल निर्जरा होने के कारण ससार के सब जीव देश से मोक्षमार्ग के आराधक हो जाएँगे,तब फिर आगमकार ने चतुर्थ भग को क्यो बताया? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि केवल निर्जरा होने से कोई जीव देश से मोक्ष-मार्ग का आराधक नही होता। केवल अपने कुतर्क की पुष्टि के लिए भ्रमविध्वसन-कार ने सवर रहित निर्जरा को धर्म मे मानने के लिए, धर्म के सवर और निर्जरा ये दो भेद स्व-कपोल कल्पना से किए है, इसके पीछे आगम का कोई आधार नही है।

अकाम निर्जरा : धर्म नहीं है

सवर और निर्जरा, ये धर्म के दो भेद है,ऐसा कोई मूलपाठ आगम मे नही आया है, तथापि भ्रमविध्वसनकार ने दशवैकालिक सूत्र के पहले अध्ययन की पहली गाथा लिखकर सवर रहित निर्जरा को वीतराग की आज्ञामे सिद्ध करनेके लिए उक्त गाथा की समालोचनामे लिखा है—

"इहा धर्म मगलीक उत्कृष्ट कह्यो । ते अहिसा ने, सयम ने, अने तप ने धर्म कह्यो छै। सयम ते सवर धर्म, अने तप ते निर्जरा धर्म छै। अने त्याग विना जीवरी दया पाले ते अहिसा धर्म छै। अने जीव हणवारा त्याग ते सयम पिण कही जै, अने अहिसा पिण कही जै। अहिसा तिहा तो सयम नी भजना छै। अने सयम तिहा अहिसा नी नियमा छै। ए अहिसा धर्म अने तप धर्म तो पहिला चार गुणठाणा (गुणस्थान) मा पिण पावे छै।"

दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा मे श्रुत और चारित्र धर्म को ही अहिसा, सयम और तप कहकर बतलाया है। सम्यक्त्व रहित द्रव्य अहिसा एव सवर रहित द्रव्य तप को धर्म नही कहा है। सम्यक्त्व के विना की जानेवाली अहिसा एव सवर के अभाव मे किए जानेवाले तप का कोई महत्व नही है। ऐसी द्रव्य अहिसा और सवर रहित द्रव्य तप जीवन मे अनत बार किए है। परन्तु उनसे स्वल्प भी मोक्षमार्ग की आराधना नही हुई। अत. उक्त गाथा मे उनका कथन न होकर श्रुत और चारित्र धर्म के अन्तर्गत सम्यक्त्व के साथ होनेवाली अहिसा और सवर के साथ होनेवाले तप का उल्लेख है। अत. इस गाथा मे उल्लिखित अहिसा और तप धर्म को मिथ्यादृष्टि मे बताना आगम के भावो को नही समझना है। प्रस्तुत गाथा मे कथित धर्म पद की व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार ने लिखा है—.

"दुविहो धम्मो लोगुत्तरियो, सुय-धम्मो खलु चरित्त-धम्मो य।
सुय-धम्मो सज्झाओ, चरित्त-धम्मो समण धम्मो ॥"

—दशवैकालिक अ० १, निर्युक्ति गाथा ४३

"दशवैकालिक सूत्र की प्रथम गाथा में कहा हुआ धर्म लोकोत्तर धर्म है। वह दो तरह का होता है—एक श्रुत धर्म और दूसरा चारित्र धर्म। स्वाध्याय—आगम के पठन-पाठन को श्रुत और श्रमण—सम्यग्दृष्टि साधु के धर्म या आचरण को चारित्र कहते हैं।"

निर्युक्ति की इस गाथा से स्पष्ट हो जाता है कि दशवैकालिक सूत्र की प्रथम गाथा में लोकोत्तर धर्म—श्रुत और चारित्र को ही अहिंसा, संयम और तप कहकर बतलाया है,परन्तु इनसे भिन्न किसी लौकिक अहिंसा और तप को नहीं। अस्तु उक्त गाथा में उल्लिखित अहिंसा और तप को श्रुत और चारित्र से अलग बताकर, मिथ्यादृष्टि पुरुष में उनका सद्भाव बताना भ्रमविध्वंसनकार का अज्ञान एवं आगम तथा निर्युक्ति की गाथा से विरुद्ध समझना चाहिए।

उक्त गाथा में कथित अहिंसा और तप धर्म का मिथ्यादृष्टि में सद्भाव बतलाना आगम एवं निर्युक्ति के सिद्धान्त के विरुद्ध तो है ही, परन्तु इस मान्यता से भ्रमविध्वंसनकार के द्वारा मान्य मुख्य सिद्धान्त भी विरुद्ध सिद्ध होते हैं। इनका सिद्धान्त है कि "साधु से इतर को वन्दन-नमस्कार करना एकान्त पाप है। साधु से इतर सभी कुपात्र हैं", इत्यादि। यदि सम्यक्त्व रहित अहिंसा और संवर रहित तप मिथ्यादृष्टि में होते हैं,वीतरागकी आज्ञा में हैं, तो मिथ्यादृष्टि को वन्दन करना, उसे दान-सम्मान आदि देना भी वीतराग की आज्ञा में मानना चाहिए और भ्रमविध्वंसकार द्वारा कथित अहिंसा—तप आदि के परिपालक मिथ्यादृष्टि को भी कुपात्र नहीं, सुपात्र कहना चाहिए। क्योंकि इस गाथा में, "अहिंसा, संयम और तप में जिसका सदा मन लगा रहता है,उसको देवता भी नमस्कार करते हैं". यह कहकर अहिंसा, संयम एवं तप धर्म से युक्त पुरुष के लिए जानेवाले वन्दन-नमस्कार को वीतराग की आज्ञा में बताया है। इसलिए भ्रमविध्वंसनकार के मत से मिथ्यादृष्टि को वंदन-नमस्कार आदि करना वीतराग की आज्ञा में सिद्ध होता है। जिसका वन्दन-नमस्कार वीतराग की आज्ञा में है, उसकी पूजा-प्रतिष्ठा एवं उसे दिया जाने वाला दान-सम्मान आदि भी वीतराग की आज्ञा में होंगे। और जिसकी पूजा-प्रतिष्ठा, दान-सम्मान आदि वीतराग की आज्ञा में है, वह कदापि कुपात्र नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में साधु से इतर को वन्दन-नमस्कार करने में एकान्त पाप कहना तथा साधु से इतर सभी को कुपात्र बतलाना भ्रमविध्वंसनकार की मान्यता से मिथ्या सिद्ध होता है।

यदि भ्रमविध्वंसनकार इसका समाधान यह करें कि जिस पुरुष का संयम के साथ अहिंसा और तप में सदा मन लगा रहता है, यह गाथा उसी को देव वन्दनीय बतलाती है। अतः संयमी पुरुष को वन्दना करना ही वीतराग की आज्ञा में है। तो फिर संयमी पुरुष की ही अहिंसा एवं तप को इस गाथा में कहा जाना भी मानना चाहिए और संयम के साथ की जानेवाली अहिंसा एवं तप की साधना को ही वीतराग की आज्ञा में कहना चाहिए। अतः दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा का नाम लेकर मिथ्यादृष्टि की क्रिया को वीतराग की आज्ञा में बताना और धर्म को दो भेद—संवर और निर्जरा बतलाना मिथ्या समझना चाहिए। पाठकों के ज्ञानार्थ यहाँ दशवैकालिक सूत्र की प्रथम गाथा एवं उसका अर्थ देना उपयुक्त समझते हैं, जिससे पाठक आगम के सही अर्थ को समझ सकें।

"धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमं संति, जस्स धम्मे सया मणो॥"

—दशवैकालिक सूत्र, १, १

"धर्म, मंगल—कल्याण करनेवाला है और उत्कृष्ट—सब वस्तुओं में श्रेष्ठ एवं प्रधान है। वह धर्म अहिंसा, संयम एवं तप रूप है। इस धर्म में जिसका सदा मन लगा रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।"

प्रस्तुत गाथा मे मगल देनेवाले सर्वश्रेष्ठ देववन्दनीय धर्म का कथन है। ऐसा धर्म, श्रुत और चारित्र धर्म ही हो सकता है, लौकिक धर्म नही। क्योकि लौकिक धर्म न तो देव वन्दनीय है, न मोक्षरूप मगल देनेवाला और न सबसे प्रधान। अत. यहाँ देव वन्दनीय श्रुत और चारित्र धर्म का ही कथन है और उस श्रुत एवं चारित्र धर्म को ही प्रस्तुत गाथा मे अहिंसा, सयम एव तप कहकर बतलाया है। इसलिए गाथोक्त अहिंसा, सयम एवं तप मिथ्यादृष्टि मे नही होते, क्योकि वह श्रुत और चारित्र धर्म से रहित होता है। अतः इस गाथा का उद्धरण देकर मिथ्यादृष्टि मे अहिंसा और तप का सद्भाव बतलाना और उसे मोक्षमार्ग का देश आराधक कहना, आगम-विरुद्ध समझना चाहिए।

मिथ्यादृष्टि देशाराधक नहीं है

आपने मिथ्यादृष्टि को मोक्षमार्ग का किंचित भी आराधक नहीं होना वतलाया, परन्तु भ्रम-विध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४ पर उसे देश-आराधक सिद्ध करते हुए लिखते है—

"तिवारे कोई कहे ते मिथ्यादृष्टि वाल तपस्वी रे सवर व्रत तो किंचित मात्र नही, तो व्रत विना देशाराधक किम हुवे ? इम पूछे तेहनो उत्तर—व्रती ने तो सर्व आराधक कहीजे। अने ए वाल तपस्वी ने व्रत नहीं, पिण निर्जरा रे लेखे देश आराधक कह्यो छै।"

इस विषय मे भ्रमविध्वसनकार ने भगवती सूत्र शतक आठ, उद्देशा दस के मूलपाठ का प्रमाण दिया है और उक्त मूल पाठ की चतुर्भंगी के प्रथम भग मे मिथ्यादृष्टि को कहा जाना वतलाया है।

भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशा १० में कथित चतुर्भंगीके प्रथम भग का स्वामी प्रथम गुणस्थान स्थित मिथ्यादृष्टि पुरुष नहीं है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि मे सम्यग्-ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे से एक भी नहीं होता, तथापि सवर रहित निर्जरा की करनी को मोक्ष-मार्ग मे मानकर उस करनी की अपेक्षा से भ्रमविध्वसनकार मिथ्यादृष्टि को मोक्षमार्ग का देश-आराधक कहते है, किन्तु यह मान्यता आगम सम्मत नहीं है।

"अन्न उत्थिया णं भन्ते ! एवमाइक्खंति जाव एव परूवेति एवं खलु १ सील सेयं, २ सुयं सेयं, ३ सुय सेय सील सेयं। से कहमेय भन्ते ! एव ?

गोयमा ! जन्न ते अन्न उत्थिया एवमाइक्खति जाव जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु। अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव परूवंमि। एव खलु मया चत्तारि पुरिस जाया पण्णत्ता तं जहा—सील संपन्ने णाम एगे णो सुय सपन्ने, सुयसपन्ने णाम एगे णो सील संपन्ने, एगे सील सपन्ने वि सुय सपन्ने वि, एगे णो सील सपन्ने, णो सुय सपन्ने।

तत्थण जे से पढमे पुरिसजाए से णं पुरिसे सीलवं असुयवं उवरए

अविन्नाय-धम्मे, एस णं गोयमा ! मए पुरिसे देसाराहए पण्णत्ते । तत्थ णं जे से दोच्चे पुरिसजाए से णं पुरिसे असीलवं सुयवं अणुवरए विन्नाय धम्मे, एस णं गोयमा ! मए पुरिसे देसविराहए पण्णत्ते । तत्थ णं जे से तच्चे पुरिसजाए से णं पुरिसे सीलवं सुयवं उवरए विन्नाय धम्मे, एस णं गोयमा ! मए पुरिसे सव्वाराहए पण्णत्ते । तत्थ णं जे से चउत्थे पुरिसजाए से णं पुरिसे असीलवं असुयवं अणुवरए अविन्नाय धम्मे, एस ण गोयमा ! मए पुरिसे सव्व विराहए पण्णत्ते ।

—भगवती सूत्र, ८, १०, ३५४

"हे भगवन् ! कोई अन्ययूथिक श्रुत को, कोई शील को और कोई श्रुत अथवा शील इन दोनो में से किसी एक को ही कल्याणकारी कहते हैं, यावत् प्ररूपणा करते हैं । भगवन् ! यह कैसे ?

हे गौतम ! जो अन्ययूथिक उक्त प्रकार से कहते हैं एवं प्ररूपणा करते हैं, उनका वह कथन मिथ्या है । हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता एवं प्ररूपणा करता हूँ । मैने चार प्रकार के पुरुष कहे हैं—

१ एक वे, जो शील सम्पन्न होते हैं, किन्तु श्रुत सम्पन्न नहीं होते ।

२ दूसरे वे, जो श्रुत सम्पन्न होते हैं, किन्तु शील सम्पन्न नहीं होते ।

३ तीसरे वे, जो शील सम्पन्न भी होते हैं और श्रुत सम्पन्न भी ।

४ चौथे वे, न शील सम्पन्न होते है और न श्रुत सम्पन्न ही ।

हे गौतम ! इनमें जो प्रथम पुरुष बतलाया है, वह शीलवान है, किन्तु श्रुतवान नहीं है । पाप से विरत हुआ है, हटा है, किन्तु विशेष ज्ञानवान नहीं है, विशेष रूप से धर्म को नहीं जानता है । मैंने उस पुरुष को देश-आराधक कहा है ।

हे गौतम ! इनमे से जो दूसरा पुरुष बतलाया है, वह शील सम्पन्न नहीं, किन्तु श्रुत सम्पन्न है । वह पाप से विरत नहीं हुआ है, परन्तु धर्म को जानता है, ज्ञानवान है । मैंने उस पुरुष को देश-विराधक कहा है ।

हे गौतम ! इनमें से, जो तीसरा पुरुष बताया है, वह शीलवान भी है और श्रुतवान भी है । पाप से विरत भी हुआ है और धर्म के स्वरूप को जानता भी है । ज्ञान सम्पन्न भी है । उस पुरुष को मैंने सर्व-आराधक कहा है ।

हे गौतम ! इनमें से, जो चौथा पुरुष बतलाया है, वह न शीलवान है और न श्रुतवान है । वह न पाप से विरत हुआ है और न धर्म के स्वरूप को जानता है । मैंने उस पुरुष को सर्व-विराधक कहा है ।"

भगवती सूत्रके इस पाठ मे तथा इसकी टीका मे सवर रहित निर्जरा की करणी को मोक्ष-मार्ग की देश-आराधना मे नही कहा है । उस करणी को लेकर आराधक-विराधक की चतु-र्भंगी भी नही कही है, किन्तु श्रुत और शील को लेकर कही है । 'श्रुत' नाम ज्ञान और दर्शन का तथा 'शील' नाम चारित्र का है । अतः जिसम श्रुत और शील एक भी नही है, वह पुरुष

मोक्षमार्ग का देश आराधक कैसे हो सकता है ? अत. मिथ्यादृष्टि—अज्ञानी मोक्षमार्ग का देश आराधक नही है। क्योकि उसमे श्रुत और शील इनमे से एक भी नही है।

संवर रहित निर्जरा को मोक्षमार्ग मे मान कर उसके होने से यदि मिथ्यादृष्टि को इस चतु-र्भंगी के प्रथम भंग मे माना जाए और मिथ्यादृष्टि को भी देशाराधक कहा जाए,तो यह आराधक विराधक की चतुर्भंगी नही बन सकती। क्योकि जो पुरुष मोक्षमार्ग की किंचित भी आराधना नही करता, वह चतुर्थ भंग का स्वामी सर्व-विराधक कहा गया है। संवर रहित निर्जरा उसमे भी होती है, अत' निर्जरा के होने से मोक्षमार्ग का देशाराधक मानने पर यह पुरुष भी देशाराधक ही ठहरता है, सर्व-विराधक नही। क्योकि संवर रहित निर्जरा चौबीस ही दण्डक के जीवो मे होती है। अतः सवर रहित निर्जरा को मोक्षमार्ग के आराधन मे मानने पर सभी मिथ्या-दृष्टि आराधक ही ठहरते है, सर्व-विराधक कोई नही होता। इस प्रकार चतुर्भंगी का चौथा भग खाली रह जाता है, परन्तु यह इष्ट नही है। उसका भी स्वामी होता है। अतः संवर रहित निर्जरा को मोक्षमार्ग के आराधन मे मानना आगम-विरुद्ध है।

जब संवर रहित निर्जरा मोक्षमार्ग मे नही मानी जाती और उस निर्जरा के होते हुए भी आराधक नही माना जाता, तब उक्त चतुर्भंगी का चौथा भग खाली नही रहता है। क्योकि जो पुरुप श्रुत और शील इन दोनो से सर्वथा रहित है, वह भगवती सूत्रोक्त चतुर्भंगी के चतुर्थ भग का स्वामी होता है। इस प्रकार सभी मिथ्यादृष्टि चतुर्थ भग के स्वामी हैं। क्योकि उनमे श्रुत और शील दोनो नही होते।

भ्रमविध्वंसनकार ने भगवती सूत्र की टीका का उल्लेख करते हुए भ्रमविध्वसन पृष्ठ ५ पर लिखा है—"वाल तपस्वी ने मोक्षमार्ग नो देश आराधक कह्यो छै"। परन्तु इनका यह कथन टीका से विरुद्ध है। क्योकि टीकाकार ने यहाँ जो कुछ लिखा है, भ्रमविध्वंसनकार उसका किंचित भी आशय नही समझ पाए है। प्रस्तुत चतुर्भंगी के दूसरे भग के स्वामी की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने स्पष्ट लिखा है—

। "देश विराहए त्ति देशं स्तोकमंशं ज्ञानादित्रयरूपस्य मोक्षमार्गस्य तृतीय भागरूपं चारित्रं विराधयतीत्यर्थः।"

"दूसरे भंगवाला व्यक्ति सम्यग्-दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप मोक्षमार्ग त्रय के तीसरे अंश चारित्र की विराधना करता है।"

टीका के उक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र, ये रत्न-त्रय ही मोक्ष के मार्ग है। इनके तीसरे अंश चारित्र की विराधना करने के कारण टीकाकार ने द्वितीय भंग के स्वामी को देश-विराधक कहा है। इससे यह स्वत स्पष्ट हो जाता है कि इन तीनो अंशो मे से किसी एक अंश की आराधना करने के कारण प्रथम भंग का स्वामी देशाराधक कहा गया है। ऐसी स्थिति मे स्वयं टीकाकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र से शून्य वाल तपस्वी को प्रथम भंग मे मोक्ष मार्ग का देशाराधक कैसे लिख सकते हैं ? क्योकि अज्ञानी वालतपस्वी में ज्ञान,दर्शन, चारित्र का अंश भी नही होता। अत. प्रथम भंग वाले व्यक्ति को, विशिष्ट श्रुतज्ञान से रहित चारित्र रूप मोक्षमार्ग का देशाराधक समझना चाहिए। सामान्य रीति से वह धर्म को जानता ही है, परन्तु स्वच्छंद विचरता है इसलिए उसे मोक्षमार्ग का देशाराधक कहा है। टीकाकार ने भी इसी स्थान पर लिखा है—

"गीतार्थानिश्रित तपश्चरण निरतोऽगीतार्थः।"

"विशिष्ट ज्ञान, दर्शन और चारित्र सम्पन्न साधु की नेश्राय में नहीं रहनेवाला, तप तथा चारित्र में संलग्न रहनेवाला अगीतार्थ साधु।"

इससे स्पष्ट होता है कि बाल-तपस्वी प्रथम भग का स्वामी नही है। सवर रहित निर्जरा की करनी को मोक्षमार्ग के आराधन मे कायम करके मिथ्यादृष्टि को देशाराधक मानने से भ्रमविध्वंसनकार की प्ररुपणा भी पूर्वापर विरुद्ध हो गई है। जैसे—भगवती के इस पाठ का अर्थ करते हुए उन्होने लिखा है—

"म्हे ते पुरुष देश आराधक परुप्यो एष बाल तपस्वी। म्हे ते पुरुष सर्व विराधक कह्यो अव्रती बाल तपस्वी।"

—भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३

यह लिखकर भ्रमविध्वंसनकार ने प्रथम एव चतुर्थ भग इन दोनो मे बाल-तपस्वी का होना बतलाया है, परन्तु यह परस्पर विरुद्ध है। जो बाल-तपस्वी देश से मोक्षमार्ग का आराधक होकर प्रथम भग का स्वामी है, वह चतुर्थ भग का स्वामी नही हो सकता। क्योकि चतुर्थ भंगवाला मोक्षमार्ग का किंचित भी आराधक नही है। यदि भ्रमविध्वसनकार यह कहे कि चतुर्थ भंगवाला अव्रती बाल-तपस्वी है और प्रथम भगवाला बाल-तपस्वी है,इसलिए यहाँ परस्पर विरुद्ध प्ररुपणा नही की है। तो यहाँ यह प्रश्न होगा कि प्रथम भगवाला बाल तपस्वी अव्रती है या नहीं? यदि अव्रती है तो फिर चतुर्थ भगवाले अव्रती बाल-तपस्वी से इसका कुछ भी भेद नही है। क्योकि प्रथम और चतुर्थ दोनो भंगवाले अव्रती बाल-तपस्वी है। इस प्रकार भ्रमविध्वंसनकार के मतानुसार प्रथम एवं चतुर्थ भंग के स्वामियो मे कुछ भी भेद नही रहता है, इन दोनो भेदो का स्वामी एक ही पुरुष हो जाता है। परन्तु यह मान्यता आगम विरुद्ध है। क्योकि प्रथम भंग का स्वामी देशाराधक है और चतुर्थ भंग का स्वामी सर्व-विराधक है। अत. ये दोनो एक नही, दो भिन्न व्यक्ति हैं। यदि यह कहो कि प्रथम भंग वाला बाल-तपस्वी अव्रती नही, व्रती है, अत वह चतुर्थ भंगवाले बाल-तपस्वी से भिन्न है। यदि वह व्रती है, तो मिथ्यादृष्टि कैसे रहेगा? क्योकि मिथ्यादृष्टि मे व्रत नही होते। इसलिए वह मिथ्यादृष्टि नही, सम्यग्दृष्टि है। मिथ्यादृष्टि को देशाराधक बतलाना अज्ञान है।

यदि कोई कहे कि भगवती के मूलपाठ मे देशाराधक शीलवान पुरुप को "अविण्णाय धम्मे" कहकर धर्म का ज्ञाता नही होना कहा है। इसलिए वह सम्यग्दृष्टि नही है। परन्तु यह कथन यथार्थ नही है। क्योकि 'अविण्णाय धम्मे' इस पद का अर्थ अज्ञानी या धर्म बिल्कुल नही जानने वाला नही है। व्याकरणानुसार इसका अर्थ यह है—'न विशेषेण ज्ञात. धर्म्मो येन स अविज्ञात धर्मा'—जिस व्यक्तिने विशेष रूप से धर्म को नही जाना है, वह अज्ञातधर्मा पुरुष कहलाता है। जो चरित्र की आराधना करता है, परन्तु विशेष रूप से ज्ञानवान नही है। जैसे कोई धनवान पुरुप यदि धन प्राप्ति के लिए विशेष प्रयत्न नही करता है, तो उसे दरिद्र नही कह सकते। उसी तरह यदि कोई चारित्र सपन्न पुरुष ज्ञान प्राप्ति के लिए विशेप प्रयत्न नही करता है, तो उसे अज्ञानी नही कह सकते। अत भगवती सूत्र मे उल्लिखित चतुर्भंगी के प्रथम भग का स्पष्ट अर्थ यह है कि देशाराधक पुरुप वह है, जो चारित्र की आराधना करता है, परन्तु विशेष ज्ञानवान नही है।

यह मान्यता आगम के अनुकूल है। यदि इसके विरुद्ध अर्थ करते है, तो "अविण्णाय धम्मे" मे दिया हुआ 'वि' उपसर्ग निरर्थक और उत्तराध्ययन सूत्र की गाथा के भी विरुद्ध होगा।

"नादंसणिस्सनाणं नाणेण विना न हुति चरण गुणा"

—उत्तराध्ययन सूत्र २८, ३०

"मिथ्यादृष्टि को ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के बिना चारित्र तथा गुण—पिण्ड विशुद्धि आदि नहीं होते।"

प्रस्तुत गाथा मे ज्ञान के अभाव मे चारित्र का नही होना स्पष्ट कहा है। इसलिए भगवती सूत्रोक्त प्रथम भग के स्वामी चारित्र-निष्ठ व्यक्ति को अज्ञानी मानना इस गाथा के विरुद्ध है। अत उसे अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि सिद्ध करना आगम विरुद्ध है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की आराधना से भिन्न कोई मोक्ष-मार्ग की आराधना नही कही है। जिस पुरुष में उक्त आराधना नही है, उसको आराधक भी नही कहा है। अत सवर रहित निर्जरा की करनी से कोई व्यक्ति मोक्ष-मार्ग का आराधक कैसे हो सकता है? यह पाठको को स्वय सोचना-समझना चाहिए। इस चतुर्भंगी मे आराधक-विराधको के चार भग बतलाते हुए, उसके आगे के पाठ मे तीन प्रकार की आराधना का वर्णन किया है। वहाँ निर्जरा आदि की चौथी आराधना का उल्लेख नही किया है।

"कतिविहा णं भन्ते! आराहणा पण्णत्ता?
गोयमा! तिविहा आराहणा पण्णत्ता, त जहा णाणाराहणा, दसणाराहणा, चरित्ताराहणा।"

—भगवती ८, १०, ३५५

**"हे भगवन्! आराधना कितने प्रकार की होती हैं?
हे गौतम! आराधना तीन प्रकार की होती है—१ ज्ञान आराधना, २ दर्शन आराधना और ३ चारित्र आराधना।"**

यहाँ मूल पाठ मे ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीन की ही आराधना कही है, परन्तु इनके अतिरिक्त संवर रहित निर्जरा आदि की आराधना को वीतराग की आज्ञा मे नही कहा है। अत सवर रहित निर्जरा की करनी करने वाला पुरुष मोक्षमार्ग का आराधक नही हो सकता। अस्तु सवर रहित निर्जरा की करनी को वीतराग की आज्ञा मे मानकर उसके कर्त्ता मिथ्यादृष्टि को मोक्षमार्ग का देशाराधक कहना आगम विरुद्ध प्ररूपणा करना है।

मोक्ष का आराधक नही है

सवर रहित निर्जरा की करनी मोक्षमार्ग के आराधन मे नही है, इसलिए उस करनी से कोई मोक्षमार्ग का आराधक नही हो सकता, यह मुझे ज्ञात हुआ। परन्तु किसी मूलपाठ मे सवर रहित निर्जरा की करनी करनेवाले पुरुष को मोक्षमार्ग का आराधक न होना स्पष्ट लिखा हो, तो उसे भी बतलाएँ?

उववाई सूत्रके मूल पाठो मे सवर रहित निर्जरा की करनी करनेवाले जीवो को अलग-अलग

गिनाकर उन्हे मोक्षमार्ग का आराधक नही होना स्पष्ट लिखा है—

"जीवे णं भन्ते ! असंजए, अविरए, अपडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे इओचुए पेच्चा देवे सिया ?

गोयमा ! अत्थेगइया देवे सिया, अत्थेगइया णो देवे सिया ।

से केणट्ठेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ—अत्थे गइया देव सिया, अत्थे गइया णो देवे सिया ?

गोयमा ! जे इमे जीवा गामागर-णयर-णिगम-रायहाणि-खेड-कव्वड-मडब-दोणमुह-पट्टणासम-संवाह-सण्णिवेसेसु अकामतण्हाए अकामछुहाए अकामबभचेरवासेणं अकामअण्हाणकसीयायव दंस-मसगसेय जल्लमल्ल-पक-परितावेण अप्पतरो वा भुज्जतरो वा काल अप्पाणं परिकिलेसन्ति, अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं अप्पाण परि-किलेसित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति । तहि तेसि गती, तहि तेसि ठिती, तहि तेसि उववाए पण्णत्ते ।

तेसि ण भन्ते ! देवाण केवइयं काल ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! दसवास-सहस्साइ ठिई पण्णत्ता ।

अत्थि ण भन्ते ! तेसि देवाणं इड्ढी वा, जुइ वा, जसे ति वा, बले ति वा, वीरिए इ वा, पुरिसक्कार-परिक्कमे इ वा ?

हन्ता ! अत्थि ।

ते ण भन्ते ! देवा परलोगस्स आराहगा ?

णो तिणट्ठे समट्ठे ।"

—उववाई सूत्र ३८, ५

"हे भगवन् ! जो संयम और विरति से रहित है, जिसने भूतकाल के पापो का हनन और भविष्य के पापों का प्रत्याख्यान नहीं किया है,क्या वह इस लोक से मरकर देव हो सकता है ?

हे गौतम ! कोई देवता होता है और कोई नहीं होता ।

इसका क्या कारण है ?

ग्राम, नगर, निगम,राजधानी, खेड़, कव्वड, मंडप, द्रोणमुख, पट्टण, आश्रम, संवाह, और सन्निवेशों में रहनेवाले जो जीव निर्जरा की इच्छाके बिना अकाम तृष्णा,अकाम क्षुधा, अकाम ब्रह्मचर्य पालन, अकाम स्नान नहीं करना, अकाम से सर्दी,गर्मी, दंश-मसक, स्वेद, धूलि, पंक और मल सहन करते हैं,वे थोड़े या बहुत दिनोंतक क्लेश सहन करके मरणकाल आने पर मृत्यु

को प्राप्त होकर वाणव्यन्तर संज्ञक देवलोक में उत्पन्न होते हैं। वहीं उनकी गति, स्थिति और देव भव की प्राप्ति होती है।

वे जीव देवता होकर देवलोक में कितने काल तक रहते हैं ?

वे दस हजार वर्ष तक देवलोक में रहते हैं।

क्या उन देवताओं के वहाँ पारिवारिक सम्पत्ति, शरीर तथा आभूषणों की दीप्ति, यश, वीर्य, पुरुषाभिमान और पराक्रम होते हैं ?

हाँ, होते हैं।

क्या वे देवता मोक्षमार्ग के आराधक हैं ?

नहीं। वे परलोक—मोक्षमार्ग के आराधक नहीं है।"

प्रस्तुत मूल पाठ मे अकाम क्षुधा-तृष्णा अकाम ब्रह्मचर्यपालन करने, अकाम से सर्दी, गर्मी, दश-मसक आदि का कष्ट सहन करके दस हजार वर्ष की आयु के देवता होनेवाले जीव को तीर्थंकरदेव ने मोक्षमार्ग का आराधक नही होना बतलाया है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि सवर रहित निर्जरा की करनी मोक्षमार्ग के आराधन मे नही है। अन्यथा इस मूल पाठ मे कहे हुए पुरुष को भगवान मोक्षमार्ग का आराधक नही होना कैसे बतलाते ? अतः संवर रहित निर्जरा की करनी को मोक्ष का मार्ग कहकर उस करनी के करने से मिथ्यादृष्टि—अज्ञानी को मोक्षमार्ग का देशाराधक बतलाना इस पाठ से पूर्णत. विरुद्ध समझना चाहिए।

बाल-तप : स्वर्ग का कारण है

जो जीव असक्लिष्ट परिणाम से हाड़ी-खोडा बन्धनादि के दुख सहकर बारह हजार वर्ष की आयु के देवता होते है, उववाई सूत्र मे उन्हे भी मोक्षमार्ग का आराधक नही कहा है।

"से जे इमे गामागार-णयर-णिगम-रायहाणि-खेड-कब्बड-मडंब दोणमुह-पट्टणासम-संवाह-सन्निवेसेसु मणुआ भवन्ति तं जहा—अंडुबद्धका णियलबद्धका हडिबद्धका चारगबद्धका हत्थछिन्नका पायछिन्नका कण्णछिन्नका णकछिन्नका उट्ठछिन्नका जिब्भछिन्नका सीसछिन्नका मुखछिन्नका मज्झछिन्नका वेकच्छछिन्नका हियउप्पाडियगा णयणुप्पाडियगा दसणुप्पाडियगा वसणुप्पाडियगा गेवछिन्नका तंडुलछिन्नका कागणिमंसक्खाइयया ओलंबिया लंबिअया घंसिअया घोलिअया फाडिअया पीलिअया सुलाइअया सूलभिन्नका खारवत्तिया वज्झवत्तिया सीहपुच्छियया दवग्गिदड्ढगा पंकोसण्णका पंकेखुत्तका वलयमयका वसट्टमयका नियाणमयका अन्तोसल्लमयका गिरिपडिअका तरुपडिअका मरूपडियका गिरिपक्खंदोलिया तरुपक्खंदोलिया मरुपक्खंदोलिया जल-पवेसिका जलणपवेसिका विसभक्खितका सत्थोवाडितका वेहाणसिया गिद्धपिट्ठका केतारमतका दुभिक्खमतका असंकिलिट्ठ-परिणामा ते कालमासे कालं किच्चा अन्नतरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गती, तहिं तेसिं ठिती, तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते।

तेसि णं भन्ते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता।

गोयमा ! वारसवास-सहस्साइ ठिती पण्णता।

अत्थि णं भन्ते ! तेसि देवाण इड्ढी वा, जुइ वा, जसे ति वा, बले ति वा वीरिए इ वा पुरिसक्कार-परिक्कमे इ वा ?

हन्ता ! अत्थि।

ते ण भन्ते ! देवा परलोगस्स आराहगा ?

णो तिणट्ठे समट्ठे।"

—उववाई सूत्र ३८, ६

"ग्राम, नगर, निगम, राजधानी, खेड़, कव्वड, मडव, द्रोणमुख, पट्टण, आश्रम, संवाह और सन्निवेशो में रहने वाले मनुष्य, जिनके हाथ-पैर काष्ट या लोहे के बन्धन से बांधे गए हैं, पैर बेड़ियों द्वारा बांधे गए हैं, जो हाड़ी बन्धन में पड़े हैं, जो बन्दीगृह में बन्द हैं, जिनके हाथ-पैर, कान, नाक, ओष्ठ, जीभ, मस्तक, मुख और पेट काट लिए गए हैं, जो चादर की तरह चीर दिए गए हैं, जिनके हृदय, नेत्र, दांत, और अण्डकोष उखाड़ लिए गए हैं, जिनका शरीर चावल की तरह खण्ड-खण्ड कर दिया गया है, जिनके शरीर का चीकना-चीकना मांस खा लिया गया है, जिन्हें रस्सी से बांधकर गड्ढे में लटका दिया गया है, जिनकी भुजा वृक्ष की शाखा से बांध दी गई है, जिनके शरीर को चन्दन की तरह पत्थर पर घिस दिया गया है, जो दही की तरह घोल दिए गए हैं, जो कुठार से काष्ठ के समान काट दिए गए हैं, जो गन्ने की तरह यन्त्र में पील दिए गए हैं, जो शूली पर चढा दिए गए हैं, जिनका मस्तक फाड़कर शूल बाहर निकल आया है, जो क्षार में डाल दिए गए हैं, या जिन पर क्षार रखा गया है, या जिन्हें क्षार जिलाया गया है, जो रस्सी से बांध दिए गए हैं, जिनका लिंग काट लिया गया है, जो दावाग्नि में जल गए हैं, जो कीचड़ में फंसकर उससे पार होने में असमर्थ हैं, जो क्षुधा आदि की पीड़ा से मर गए हैं, जो विषय में परतंत्र होकर मर गए हैं, जो बाल-तपस्या कर के मर गए हैं, जो मिथ्यात्व आदि शल्य को या पेट में चुभे हुए भाले आदि को बिना निकाले ही मर गए हैं, जो पर्वत से गिरकर मर गए हैं, जो विशाल पाषाण के शरीर पर गिरने से मर गए हैं, जो वृक्ष से गिर कर मर गए हैं, जो निर्जल देश में या निर्जल देश के स्थल विशेष से गिराए हुए मर गए हैं, जो तृण, कपास आदि के भार से दबकर मर गए हैं, जो मरने के लिए वृक्ष या पर्वत के एक देश में कपायमान होकर वहांसे गिरकर मर गए हैं, जो शस्त्र के द्वारा अपने शरीर को चीर कर मर गए हैं, जो वृक्ष की शाखा में लटककर मर गए हैं, जो मरने के लिए हाथी, ऊँट, गधे आदि के शरीर के नीचे गिर जाते हैं, गीध आदि पक्षियो से नोचकर खा लिये जाते हैं, और जो घोर जंगल में दुर्भिक्ष से मर जाते हैं, ये सब मनुष्य यदि असंक्लिष्ट परिणामी होते हैं, तो वे काल के समय में काल करके वाणव्यन्तर संज्ञक देवलोक में देव होते हैं। वहां पर उनकी गति, स्थिति एवं देवभव की प्राप्ति होती है।

देवलोक में उनकी स्थिति कितने काल की होती है ?

वहां उनकी बारह हजार वर्ष की स्थिति होती है।

उन देवो के वहां पर पारिवारिक सम्पत्ति, शरीर और भूषणो की दीप्ति, यश, बल, वीर्य, पुरुषाभिमान, पराक्रम ये सब होते हैं ?

हाँ, होते हैं।

वे परलोक–मोक्षमार्ग के आराधक होते हैं ?

नहीं, वे परलोक के आराधक नहीं होते।"

इसमे कहा है कि जो मनुष्य असक्लिष्ट परिणाम से हाडी वन्धन आदि के दुख सहकर वारह हजार वर्ष की आयु के देवता होते है, परन्तु वे मोक्षमार्ग के आराधक नही है। यदि सवर रहित निर्जरा की करनी मोक्षमार्ग मे होती और उस करनी से मोक्षमार्ग की आराधना होती, तो तीर्थंकरदेव असक्लिष्ट परिणाम से हाडी-वन्धनादि का दुख सहनेवाले पुरुपो को मोक्षमार्ग का आराधक नही होना, क्यो कहते ? क्योकि ये पुरुप संवर रहित निर्जरा की करनी विशेप रूप से करते है। परन्तु सवर रहित निर्जरा मोक्षमार्ग मे नही है। इसलिए भगवान ने इन पुरुपो को मोक्षमार्ग का आराधक होना नही कहा है। अत सवर रहित निर्जरा की करनी को मोक्षमार्ग के आराधन मे कायम करके, उस करनी से मिथ्यादृष्टि को मोक्षमार्ग का आराधक कहना आगम विरुद्ध समझना चाहिए।

अकाम ब्रह्मचर्य का फल

जो स्त्री अकाम ब्रह्मचर्य का परिपालन कर के चौसठ हजार वर्ष की आयु की देवता होती है, उसे भी इस पाठ में मोक्षमार्ग का आराधक नही होना कहा है—

"से जाओ इमाओ गामागर-णयर-णिगम-रायहाणि-खेड-कव्वड-मडंव-दोणमुह-पट्टणासम-संवाह-सन्निवेसेसु इत्थियाओ भवन्ति। तं जहा अंतो-अंतेउरिआओ, गयपइआओ, मयपइआओ, बाल-विहवाओ, छड्डितल्लिताओ, माइरक्खिआओ, पिअरक्खिआओ, भायरक्खिआओ, कुलघररक्खिआओ, ससुरकुलरक्खिआओ, पारूढणहमंसकेस-कक्खरोमाओ, ववगय-पुप्फ-गंध-मल्लालंकाराओ, अण्हाणगसेय-जल्ल-मल्ल-पंक-परिताविआओ, ववगय खीर-दहि णवणीत-सप्पि-तेल्ल-गुल-लोण-महुं - मज्ज-मंस - परिचत्त - कयाहाराओ, अप्पिच्छाओ, अप्पारंभाओ, अप्पपरिग्गहाओ, अप्पेणं आरंभेणं, अप्पेणं समारंभेणं, अप्पेणं आरंभ-समारंभेणं, वित्तिं कप्पेमाणीओ, अकामबंभ-चेरवासेणं तमेव पइसेज्जं णाइक्कमइ, ताओ णं इत्थिआओ एयारूवेणं विहारेण विहरमाणीओ बहूइं वासाइं सेसं तं चेव जाव चउसट्ठि-वास सहस्साइं ठिई पण्णत्ता।"

—उववाई सूत्र ३८, ८

"ग्राम से लेकर यावत् सन्निवेशों में स्थित स्त्री जिसका पति कहीं चला गया है या मर गया है। जो बाल्यकाल में विधवा हो गई है। जो परित्यक्त कर दी गई है। जो अपने माता-पिता या भाई के द्वारा पाली जाती है। जो पिता या श्वसुर के घर में पाली जाती है। जो अपने शरीर का संस्कार नही करती है। जिसके नख, केश एवं कांख के बाल बढ़ गए हैं। जो फूल की माला, गन्ध एवं फूलों को धारण नहीं करती है। जो स्नान नहीं करती है तथा

पसीना, धूल एवं कीचड़ आदि के कष्ट को सहन करती है। जो दूध, दही, मक्खन, घी, गुड़, नमक, मधु, मद्य, मांस से रहित भोजन करती है। जो अल्प-इच्छा, अल्प-आरंभ एवं अल्प-परिग्रह रखती है। जो अल्प-आरंभ-समारंभ से जीविका करती है। जो अकाम ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए पति-शय्या का उल्लंघन नहीं करती है। वह स्त्री इस प्रकार अपने जीवन को व्यतीत करती हुई आयुकर्म के क्षय होनेपर मरकर वाणव्यन्तर संज्ञक देवलोक में उत्पन्न होती है। शेष पूर्व पाठ की तरह समझना चाहिए। विशेष बात यह है कि यह स्त्री चौसठ हजार वर्ष तक देवलोक में रहती है। यह स्त्री भी मोक्षमार्ग की आराधिका नहीं है।"

यहाँ मूल पाठ मे अकाम ब्रह्मचर्य पालकर चौसठ हजार वर्ष की आयु से देवता होने वाली स्त्री को श्री तीर्थंकरदेव ने मोक्षमार्ग की आराधिका नही कहा है। इससे भी पूर्ववत् यह बात सिद्ध होती है कि सवर रहित निर्जरा की क्रिया मोक्षमार्ग के आराधन मे नही है। क्योंकि उक्त स्त्री सवर रहित निर्जरा की क्रिया भली-भाँति करती है। फिर भी वह मोक्षमार्ग की आराधिका नही है। अत संवर रहित निर्जरा को मोक्षमार्ग बताना नितान्त भूल है।

तापस जीवन

जो मिथ्यादृष्टि गगाजी के तटपर रहते है, अग्निहोत्री है, वानप्रस्थ है, कन्द-मूल एव फल आदि का आहार करते है, उन्हे एक पल्योपम और एक लाख वर्ष की आयु का देवता होना बतलाया है, परन्तु अज्ञानी होने से भगवान ने उन्हे मोक्षमार्ग का आराधक नही कहा है।

"से जे इमे गंगाकूलगा, वाणपत्था तावसा भवन्ति। तं जहा— होत्तिया, पोत्तिया, कोत्तिया, जण्णई, सड्ढई, थालई, हुंपउट्ठा, दंतुक्खलिया, उंमज्जका, संमज्जका, निमज्जका, सपक्खाला, दक्खिण-कूलका, उत्तरकूलका, संखधमका, कूलधमका, मिगलुद्धका, हत्थि-तावसा, उदडका, दिसापोक्खिणो, वाकवासिणो, अंबुवासिणो, बिल-वासिणो, जलवासिणो, वेलवासिणो, रुक्खमूलिआ, अंबुभक्खिणो, वायुभक्खिणो, सेवालभक्खिणो, मूलाहारा, कंदाहारा, तयाहारा, पत्ताहारा, पुप्फाहारा, बीयाहारा, परिसडियकन्दमूलतयपत्त-पुप्फ-फलाहारा, जलाभिसेअकढिणगायभूया, आयावणाहि, पचग्गितावेहि इङ्गालसोल्लिय-कडुसोल्लिय-कंठसोल्लियं पिव अप्पाणं करेमाणा बहूइ वासाइ परियाय पाउणति। बहूइं वासाइं परियायं पाउणित्ता कालमासे काल किच्चा उक्कोसेण जोइसिएसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो भवति। पलिओपम वाससय सहस्समब्भहियं ठिई। आराहगा? णो इणट्ठे समट्ठे।

—उववाई सूत्र ३८, १०

"गगातट पर निवसित वाणप्रस्थ तापस, जो अग्निहोत्र करते हैं, वस्त्र धारी हैं, पृथ्वी पर सोते हैं, यज्ञ कराते हैं, श्रद्धा रखते हैं, भाण्ड ग्रहण करके रहते हैं, कमण्डल धारी हैं, केवल फूल खाकर रहते हैं, पानी में एकवार डुबकी लगाकर बाहर निकल जाते हैं, पानी में बार-बार डुबकिएँ

लगाते हैं, पानी में डुबकी लगाकर बहुत देर तक पानी में ही रहते हैं, शरीर पर मिट्टी लगाकर स्नान करते हैं, गंगाजी के दक्षिण तट पर रहते हैं, गंगाजी के उत्तर तट पर रहते हैं,शंख बजाकर भोजन करते हैं, तट पर शब्द कर के भोजन करते हैं, मृग मारकर उसके मांस से बहुत दिनों तक अपना निर्वाह करते हैं, हाथी मारकर उसके मांस से चिरकाल तक अपनी उदर पूर्ति करते रहते हैं, दिशाओं में जल छिड़ककर फल तोड़ते हैं, दण्ड को ऊंचा करके भोजन करते हैं, वृक्ष की छाल पहिनते हैं, जल में निवास करते हैं, बिल बनाकर रहते हैं, जल में प्रवेश करके रहते हैं, समुद्र तटपर रहते हैं, वृक्ष की जड में रहते हैं, पानी पीकर रहते हैं, हवा खाकर रहते हैं, शैवाल खाकर रहते हैं, कंद-मूल, त्वचा, पत्ते, फूल और फल खाकर रहते हैं, सड़े-गले कंद-मूल आदि खाकर रहते हैं, जल स्नान करने से जिनका शरीर कठोर हो गया है, पंचाग्नि तपने से जिनका शरीर कोयले, कड़ाई और अधजले काष्ठ की तरह काला हो गया है। ये सब तापस बहुत वर्षों तक अपनी तापस प्रव्रज्या का पालन करके आयुकर्म का क्षय होने पर मरकर उत्कृष्ट ज्योतिषी नामक देवलोक में देव होते हैं। वहाँ पर उनकी एक पल्योपम और एक लाख वर्ष की स्थिति होती है। शेष पूर्ववत् समझना चाहिए। ये तापस भी मोक्षमार्ग के आराधक नहीं हैं।"

प्रस्तुत पाठ मे बताया है कि अज्ञानी तापस कन्द-मूल, फल आदि का आहार करके, पंचाग्नि तापकर, अग्निहोत्र करके तथा जल मे शयन आदि करके एक पल्योपम और एक लाख वर्ष की आयु के देवता होते है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि संवर रहित निर्जरा की क्रिया से मोक्षमार्ग की आराधना नही होती है। क्योकि उक्त पाठ मे गिनाये हुए तपस्वी सवर रहित निर्जरा की करनी करते है, तथापि उन्हे मोक्षमार्ग का अनाराधक ही कहा है।

उपसंहार

प्रस्तुत छ अध्यायो मे उववाई सूत्र के मूल पाठो का प्रमाण देकर सवर रहित निर्जरा की क्रिया को मोक्षमार्ग के आराधन मे नही होना प्रमाणित किया है। इस सम्बन्ध मे उववाई सूत्र मे और भी पाठ दिए हुए है। इन सभी पाठो मे सवर रहित निर्जरा की क्रिया को और इसका आचरण करनेवाले अज्ञानी तापसो को अलग-अलग गिनकर स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है कि ये अज्ञानी तापस मोक्षमार्ग के आराधक नही है। यह देखते हुए नि सन्देह कहना पडता है कि सवर रहित निर्जरा की करनी से मोक्षमार्ग की आराधना नही होती है। अन्यथा उक्त तापसो को मोक्षमार्ग का अनाराधक क्यो कहते ?

यद्यपि उववाई सूत्र का एक पाठ देने से यह मान्यता सिद्ध हो जाती थी, तथापि यहाँ इतने पाठ इसलिए उद्धृत किए गए है कि इन पाठो मे अकाम निर्जरा की सभी क्रियाएँ एव सभी अज्ञानी तापसो का उल्लेख कर दिया है। इनसे भिन्न न तो अकाम निर्जरा की कोई क्रिया शेष रही है और न अज्ञानी तापस ही अवशेष बचे है। इस प्रकार अकाम निर्जरा की सब क्रियाओ एवं उसके आराधक सब तरह के अज्ञानी एव मिथ्यादृष्टि तापसो को मोक्षमार्ग के अनाराधक कह देने से, यह स्वत. सिद्ध हो जाता है कि सकाम निर्जरा की क्रिया एव ज्ञान सम्पन्न सम्यग्दृष्टि पुरुष ही मोक्षमार्ग के आराधक है। अस्तु, संवर रहित निर्जरा को आज्ञा मे मानकर अज्ञानी एव मिथ्यादृष्टि को मोक्षमार्ग का आराधक कहना आगम के विरुद्ध समझना चाहिए।

भगवती में देशाराधक का स्वरूप

उववाई सूत्र में पूर्वोक्त मूलपाठों से संवर रहित निर्जरा की करनी मोक्षमार्ग से भिन्न सिद्ध होती है और उसका आचरण करनेवाले मिथ्यादृष्टि पुरुष भी मोक्षमार्ग के अनाराधक सिद्ध होते हैं, तथापि भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ७५ पर लिखते हैं—

"प्रथम गुणठाणा रो वणी शुद्ध करणी करे तेहने उववाईमें तो कह्यो परलोकना आराधक नथी। अने भगवती शतक ८ उद्देशा १० में कह्यो ज्ञान बिना जे करणी करे ते देशाराधक छै। ए बिहूं पाठ रो न्याय मिलावणो। सर्व थकी तथा संवर आश्री तो आराधक नथी। अने निर्जरा आश्री तथा देश थकी आराधक तो छै। पिण जावक किंचित मात्र पिण आराधक नथी, एहवी ऊंधी थाप करणी नहीं।"

इसके पहले लिखा है—"जिम भगवती श० १० उ० १ कह्यो पूर्व दिशे 'धम्मत्थिकाए' धर्मास्तिकाय नथी कह्यूं। अने धर्मास्तिकाय नो देश-प्रदेश तो छै, तो पूर्व दिशे धर्मास्तिकाय नो ना कह्यो ते तो सर्व थकी धर्मास्तिकाय वर्ज्यो छै। पिण धर्मास्तिकाय नो देश वर्ज्यो नथी। तिम अकाम शील उत्पन्न पणो एकरणी र वणी ने परलोक ना आराधक नथी,इम कह्या। ते पिण सर्व थकी आराधक नथी। पर निर्जरा आश्री देशाराधक तो छै।"

भगवती सूत्र श०८ उ० १०में कथित चतुर्भंगी में जिस पुरुष को मोक्षमार्ग का देशाराधक कहा है, उववाई सूत्र में उसी पुरुष को मोक्षमार्ग का अनाराधक नहीं कहा है। किन्तु जो पुरुष अपनी बुद्धि द्वारा पाप से हट गया है, उसे भगवती सूत्र में देश आराधक कहा है और जो पाप से नहीं हटा है, उसे उववाई सूत्र में मोक्षमार्ग का अनाराधक कहा है। अत: भगवती सूत्र का नाम लेकर उववाई सूत्रोक्त अनाराधक पुरुष को देशाराधक कहना, भ्रमविध्वंसनकार का मिथ्या पक्षपात समझना चाहिए।

भगवती सूत्र में देशाराधक का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

"तत्थ णं जे ते पढमे पुरिस जाए से णं पुरिसे सीलवं असुयवं उवरए अविण्णायधम्मे, एस णं गोयमा ! मए पुरिसे देसाराहए पण्णत्ते।"

"उक्त चार प्रकार के पुरुषों में जो प्रथम पुरुष है, वह शीलवान और अश्रुतवान है। वह पुरुष पाप से विरत है, परन्तु विशिष्ट ज्ञानवान नहीं है। उस पुरुष को मैं देशाराधक कहता हूँ।"

प्रस्तुत पाठ में कहा है—"जो पाप से निवृत्त हो गया है, हट गया है,वह मोक्षमार्ग का देशाराधक है।" परन्तु यहाँ पाप से अविरत व्यक्ति को देशाराधक नही कहा है। इस पाठ की टीका मे टीकाकार ने भी "उवरए" शब्द का अर्थ पाप से हटा हुआ ही किया है। टीका मे लिखा है **"निवृत्तः स्वबुद्धया पापात्"**—जो अपनी बुद्धि से पाप से हट गया है, निवृत्त हो गया है। भ्रमविध्वसनकार ने भी इस अर्थ को स्वीकार करते हुए भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३ पर लिखा है "पोतानी बुद्धि इ पापथी निवर्त्यो छै।" अत भगवती सूत्रोक्त चतुर्भंगी के प्रथम भग का स्वामी देशाराधक पुरुष पाप से हटा हुआ है। परन्तु उववाई सूत्र मे वर्णित सवर रहित निर्जरा की क्रिया करनेवाला पुरुष पाप से हटा हुआ नही है। अत ये दोनो पुरुष एक नही, भिन्न-भिन्न हैं। देखिए उववाई सूत्र के मूल पाठ मे अकाम निर्जरा की करनी से स्वर्ग जाने वाले पुरुष का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

"जीवे णं भन्ते ! असंजए, अविरए, अपडिहय पच्चक्खाय पावकम्मे।"

"जो पुरुष संयम रहित, विरतिहीन और भूतकाल के पापों का नाश एवं भविष्य के पापों का प्रत्याख्यान नहीं करनेवाला है, उस पुरुष का उववाई सूत्र में वर्णन है। इसलिए उववाई सूत्र में कहे हुए अनाराधक पुरुष को भगवती सूत्र की चतुर्भंगी के प्रथम भंग का नाम लेकर देशाराधक बताना मिथ्या है।"

उववाई सूत्रोक्त पुरुष पाप से निवृत नही हुआ है और भगवती सूत्र मे वर्णित पुरुष पाप से सर्वथा विरत हो चुका है। अत ये दोनो पुरुष कदापि एक नही हो सकते। तथापि संवर रहित निर्जरा की करनी को मोक्षमार्ग के आराधन मे सिद्ध करने के लिए भ्रमविध्वसनकार ने पाप युक्त एव पाप से निवृत्त दो भिन्न पुरुषो को एक कह दिया है। अत बुद्धिमान पुरुषो को इनकी प्ररूपणा आगम विरुद्ध समझनी चाहिए।

इसी तरह भ्रमविध्वसनकार ने जो उववाई सूत्रोक्त अकाम निर्जरा की क्रिया करनेवाले पुरुष को सवर नही होने के कारण अनाराधक होना बतलाया है, यह भी मिथ्या है। क्योकि गौतम स्वामी ने वहाँ पर यह पूछा है—"जो पुरुष सवर रहित है,परन्तु अकाम निर्जरा की करनी करके स्वर्ग मे जाता है, वह मोक्षमार्ग का आराधक है या नही ?" इसका तात्पर्य यह है कि उक्त पुरुष की अकाम निर्जरा मोक्षमार्ग के आराधन मे है या नही ? यदि है, तब तो वह आराधक है और नही है, तो वह आराधक नही है। क्योकि किसी बात का सशय होने पर ही प्रश्न होता है, निश्चय होने पर नही। जब कि उववाई सूत्रोक्त पुरुष मे सवर की आराधना का नही होना स्वयं गौतम स्वामी को निश्चित है,फिर भी इस पुरुष के आराधक होनेके विषय मे जो प्रश्न करते है, उसका अभिप्राय यही हो सकता है कि उसकी अकाम निर्जरा की क्रिया मोक्षमार्ग मे है या नही ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने उसे मोक्षमार्ग का अनाराधक कहा है। इससे सिद्ध होता है कि सवर रहित निर्जरा की क्रिया मोक्षमार्ग के आराधन मे नही है, परन्तु इसके द्वारा पुण्य का बन्ध करके वह स्वर्गगामी होता है। यदि सवर रहित निर्जरा की क्रिया मोक्ष-

मार्ग के आराधन मे होती, तो भगवान इस पुरुष को मोक्षमार्ग का अनाराधक क्यों कहते ?

इस प्रकार विषय स्पष्ट होते हुए भी भोले जीवो मे भ्रम फैलाने के लिए भ्रमविध्वंसनकार ने उववाई सूत्रोक्त पुरुष मे संवर नही होने से उसे अनाराधक और निर्जरा के होने से आराधक कहा है, यह मिथ्या है। ऐसा कभी नही होता कि "आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे" आम के सम्बन्ध मे पूछा जाए और कोविदार—कविठ के विषय मे उत्तर मिले। जब गौतम स्वामी अकाम निर्जरा की करनी के सम्बन्ध मे प्रश्न करते हैं और उसी के होने से उक्त पुरुष के आराधक या अनाराधक होने की जिज्ञासा रखते हैं, तब तीर्थंकर भगवान मूल प्रश्न अकाम निर्जरा के सम्बन्ध में उत्तर न देकर अप्रस्तुत विषय संवर के न होने से अनाराधक कहे, यह कदापि नही हो सकता। इसलिए यहाँ भगवान ने गौतम स्वामी के द्वारा पूछे हुए प्रश्न का ही उत्तर दिया है और संवर रहित निर्जरा की करनी मोक्षमार्ग मे नही होने के कारण उक्त पुरुष को मोक्ष-मार्ग का अनाराधक कहा है। अत. उववाई सूत्रोक्त पुरुष को भगवती सूत्र की चतुर्भंगी मे कथित प्रथम भंग का नाम लेकर संवर रहित निर्जरा की करनी से मोक्षमार्ग का आराधक बत-लाना आगम विरुद्ध है। वस्तुत. संवर रहित निर्जरा की क्रिया मोक्षमार्ग मे नही है, अत उववाई सूत्रोक्त पुरुष को मोक्षमार्ग का अनाराधक कहा है, यह आगम सम्मत मान्यता है।

श्री भगवती सूत्र के इस पाठ मे श्रुत शब्द से जैसे सर्वज्ञ प्रतिपादित ज्ञान-दर्शन ही अभिप्रेत है, दर्शनान्तर सम्मत ज्ञान-दर्शन नही। उसी तरह शील शब्द से भी सम्यक् चारित्र ही विव-क्षित है, दर्शनान्तर प्रतिपादित संवर रहित निर्जरा की क्रियाएँ नही। यहाँ 'शील' शब्द की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने लिखा है—"तपः संयमौ च शीलमेव"। तथापि भ्रमविध्वंसनकार ने शील शब्द से यहाँ अकाम निर्जरा की क्रियाओ का ग्रहण करके उनके आराधकों को मोक्ष-मार्ग का देश आराधक माना है। इनके विचारसे तो श्रुत शब्द से दर्शनान्तर सम्मत ज्ञान और दर्शन का भी ग्रहण होना चाहिए और उक्त ज्ञान-दर्शन के आराधको को दूसरे भंगमे तथा अकाम निर्जरा की क्रिया और दर्शनान्तर सम्मत ज्ञान-दर्शन इन दोनो के आराधक मिथ्यादृष्टि को भी तीसरे भंग मे मान लेना चाहिए। क्योकि शील शब्द से मिथ्यादृष्टि की क्रिया ग्रहण की जाए और श्रुत शब्द से उनके ज्ञान-दर्शन को ग्रहण नही किया जाए, यह युक्तिसंगत नही कहा जा सकता। भ्रमविध्वंसनकार के विचार से जैसे मिथ्यादृष्टि की कई क्रियाएँ अच्छी हैं, वैसे ही उनकी कुछ श्रद्धा और ज्ञान भी यथार्थ हैं। उन्होने लिखा है—"मिथ्यात्व छै, जेहने तिणने मिथ्यात्वी कह्यो तेहने कतियक श्रद्धा संवली छै, अने केयक बोल ऊंधा छै, तिहां जे जे बोल ऊंधा ते ते मिथ्यात्व, अने जे केतला एक बोल सवली श्रद्धा रूप शुद्धछै, ते प्रथम गुणठाणो छै।" आगे चलकर लिखते है—"तिवारे कोई कहे–प्रथम गुणठाणे किसा बोल संवला छै। तेहनो उत्तर—जे मिथ्यात्वी गाय ने गाय श्रद्धे, मनुष्य ने मनुष्य श्रद्धे, दिन ने दिन श्रद्धे, सोना ने सोनो श्रद्धे इत्यादि जे संवली श्रद्धा छै, ते क्षयोपशम भाव छै।"

—भ्रमविध्वसन पृष्ठ २७–२८

यहाँ भ्रमविध्वंसनकार मिथ्यादृष्टियो की कुछ श्रद्धा और ज्ञान को भी उनकी कतिपय क्रियाओ के समान ही यथार्थ मानते हैं। इस दृष्टि से उन्हे श्रुत शब्द से उनके दर्शन का ग्रहण करके उन्हे उक्त चतुर्भंगी के दूसरे और तीसरे भंग में भी स्वीकार कर लेना चाहिए। भ्रमवि-ध्वंसनकार मिथ्यादृष्टियो के श्रुत को स्वीकार नही करते, परन्तु शील शब्द से मिथ्यादृष्टियों की संवर रहित निर्जरा की क्रियाओ को ग्रहण करते हैं, यह उनका दुराग्रह ही है।

तामली-तापस

आगम के प्रमाण से यह सिद्ध हुआ कि सवर रहित निर्जरा की क्रिया मोक्षमार्ग मे नही है। परन्तु भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४ पर लिखते है—"तामली तापस साठ हजार वर्ष ताई बेले-बेले तपस्या कीधी, तेहथी घणा कर्म क्षय किया। पछे सम्यगदृष्टि पाय मुक्तिगामी एकावतारी थयो। जो ए तपस्या न करतो तो कर्म क्षय न हुन्ता, ते कर्मनी निर्जरा बिना सम्यगदृष्टि किम पावतो। अने एकावतारी किम हुन्तो। वली पूरण तापस १२ वर्ष वेले-वेले तपकरी घणा कर्म खपाया, चमरेन्द्र थयो, सम्यगदृष्टि पामी एकावतारी थयो। इत्यादिक घणा जीव मिथ्यात्वी थका शुद्ध करणी थकी कर्म खपाया, ते करणी शुद्ध छै, मोक्षनो मार्ग छै।"

सवर रहित निर्जरा की करनी को मोक्षमार्ग मे सिद्ध करने के लिए तामली तापस एव पूरण तापस का उदाहरण देना अयुक्त है। क्योकि तामली तापस और पूरण तापस जब तक अज्ञान दशा मे सवर रहित निर्जरा की क्रिया करते थे, तब तक आगम मे उन्हे मोक्षमार्ग का आराधक नही कहा है। जब वे ज्ञानवान—सम्यगदृष्टि हुए तब भगवती शतक ३ उद्देशा १–२ में उन्हे मोक्षमार्ग का आराधक कहा है। यदि अकाम निर्जरा की क्रिया मोक्षमार्ग मे होती, तो ये तापस सम्यक्त्व प्राप्त होने के पूर्व मोक्षमार्ग के आराधक कहे जाते। परन्तु सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व इन्हे मोक्षमार्ग का आराधक नही कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अज्ञान दशा मे की जानेवाली सवर रहित निर्जरा की क्रिया मोक्षमार्ग के आराधन मे नही है। और उववाई सूत्र के पूर्वोक्त पाठो में जो सवर रहित निर्जरा की क्रियाएँ गिनाई गई है,-तामली तापस एव पूरण तापस की मिथ्यात्व अवस्था मे की गई क्रियाएँ उन क्रियाओ के अन्तर्गत आ जाती है। उववाई सूत्रोक्त क्रियाओ का मोक्षमार्ग मे नही होना स्पष्ट सिद्ध है,अत तामली तापस और पूरण तापस की अज्ञानदशा की क्रियाओ को मोक्षमार्ग मे सिद्ध करना भूल है।

तेरहपन्थ सप्रदाय के आचार्य भीषणजी एव आचार्य जीतमलजी ने अपने अन्य ग्रथो मे स्वय स्वीकार किया है कि सम्यक्त्व को प्राप्त किए विना चाहे जैसा साधु का आचार पाला जाए, उससे किंचित भी मोक्षमार्ग की आराधना नही होती है। आचार्य श्री भीषणजी ने "श्रावक धर्म विचार" नामक पुस्तक मे लिखा है—

"समकित विन सुध पालियो, अज्ञान पणे आचार।
नवग्रैवेक ऊचो गयो, नही सरी गरज लिगार॥"

तेरहपथी श्रावक श्री गुलावचदजी ने इस पद्य का अर्थ इस प्रकार किया है—

"सम्यक्त्व के विना संयम की शुद्ध क्रिया पालन कर जीव नवग्रैवेक स्वर्ग तक गया, परन्तु कुछ गरज नही सरी मिथ्यात्वी ही रहा।"

इसके आगे आचार्य श्री भीपणजी ने लिखा है—

"नव तत्त्व ओलख्या विना, पहरे साधुरो भेप।
समझ परै नही तेहने, भारी हुवे विशेप॥"

उन्ही श्रावक गुलावचंदजी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

"नव तत्त्व के जाने विना कई मनुष्य साधु-वेप पहनकर साधु वन जाते हैं,लेकिन उनको साधु के आचार की क्रिया, शास्त्र वचनो की समझ नही पड़ती, सिर्फ वेपधारी द्रव्य साधु है। रजो-हरण, चद्दर, पात्रादि साधु-वेप अनन्त वार ग्रहण किया और गौतम स्वामी जैसी क्रिया मिथ्यात्व-पने मे करके नवग्रैवेक कल्पातीत तक जीव जा पहुँचा, परन्तु कुछ भी मोक्षमार्ग फलितार्थ नही हुआ।"

इन पद्यो मे आचार्य श्री भीपणजी ने स्पष्ट शब्दो में स्वीकार किया है कि सम्यक्त्व प्राप्त किए विना अज्ञान दशा में चाहे गौतम स्वामी जैसी साधुपने की क्रिया की जाए, परन्तु उससे किंचित भी प्रयोजन सिद्ध नही होता।

यदि मिथ्यात्व दशा की करनी मोक्षमार्ग मे होती, तो उक्त पद्य में उस करनी से किंचित भी प्रयोजन सिद्ध नही होता, कैसे कहते? अतः आचार्य श्री भीपणजी ने इन पद्यो मे सवर रहित निर्जरा की करनी को मोक्षमार्ग में नही होना स्पप्ट स्वीकार किया है। भ्रमविध्वसनकार ने भी आरावना की ढाल मे संवर रहित निर्जरा की करनी को मोक्षमार्ग में नही माना है।

"जे समकित विन म्हें, चारित्र नी किरिया रे।
वार अनन्त करी पिण काज न सरिया रे॥"

"मैंने सम्यक्त्व प्राप्त किये विना अनन्त वार चारित्र की क्रिया की,परन्तु उससे मेरा कुछ भी कार्य सिद्ध नही हुआ।"

तेरहपथ के आचार्यो द्वारा निर्माण की हुई ढालो के जो तीन पद्य यहाँ उद्धृत किए है। उनके मानने वालो से यह पूछा जाए कि यदि सम्यक्त्व के विना अज्ञान दशा में, साधु की चारित्र रूपी शुद्ध-क्रिया अनन्त वार करने पर भी वह मोक्षमार्ग का आरावक नही हुआ,किन्तु मिथ्यात्वी तथा अनत ससारी ही रहा। तव फिर, तामली और पूरण आदि अज्ञानी-वाल तपस्वियो का मिथ्यात्व की क्रिया से एकभव में ही मोक्षमार्ग का आराधक होना कैसे मान लिया? इससे आचार्य श्री भीपणजी और आचार्य श्री जीतमलजी ने वड़ा भारी भ्रम पैदा कर दिया हैं। मिथ्यात्व दशा में, अन्य दर्शनियो के वेश मे एक वार करनी करने से मोक्षमार्ग का आराधक हो जाता है, किन्तु जैनदर्शन का वेश ग्रहण करके अनन्त वार शुद्ध चरित्र की क्रिया करने पर भी मोक्षमार्ग का आराधक नही होता है। क्योकि उभय आचार्यो ने उनको अनंत संसारी कहा है, परित्त—परिमित संसारी नही। ऐसी अवस्था मे इनकी श्रद्धा से ऐसा प्रतीत होता है कि मिथ्यात्वी के वेश मे रहकर मिथ्यात्वपने मे क्रिया करनी चाहिए। जिससे शीघ्र ही मोक्षमार्ग का आरावक होकर परित्त-ससारी हो जाए। परन्तु अज्ञानपने में जैन दर्शन की शुद्ध क्रिया नही करनी चाहिए। क्योकि उनकी श्रद्धा के अनुसार उससे वह अनन्त संसारी ही रहता है। वाह-वाह री अन्व श्रद्धा! तेरी वलिहारी है, जिसमें कि अज्ञानपने में की जानेवाली जैन दर्शन

के चारित्र की शुद्ध क्रिया को अन्य दर्शन के वेश की क्रिया से भी हीन सिद्ध करने का असत् प्रयत्न किया गया है।

यहाँ भ्रमविध्वसनकार ने स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है कि मिथ्यात्व-दशा की करनी से कार्य सिद्ध नही होता। यदि मिथ्यात्व-दशा मे की जानेवाली संवर रहित निर्जरा की क्रिया मोक्षमार्ग के आराधन मे है,तब फिर उससे कार्य सिद्ध नही होने का क्या कारण है ? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यात्व-दशा की करनी मोक्षमार्ग मे नही है। तथापि जान-बूझकर भोले जीवो मे भ्रम फैलाने के लिए भ्रमविध्वसनकार ने भ्रमविध्वसन मे अपने एव अपने पूर्वाचार्य श्री भीषणजी के पद्यो तथा आगम से विरुद्ध मिथ्यात्व की क्रिया को मोक्षमार्ग मे कहा है। अत. तामली और पूरण तापस का उदाहरण देकर सवर रहित निर्जरा की क्रिया को मोक्षमार्ग मे बताना मिथ्या है।

यदि यह कहे कि उक्त पद्यो मे "नही सरी गरज लिगार" और "काज न सरिया रे" इसका भाव यह नही है कि मिथ्यात्व-दशा की क्रिया से मोक्षमार्ग का आराधन नही होता। इसका तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व प्राप्त किए विना मुक्ति नही होती। यह कथन भी सत्य नही है। क्योकि केवल क्षीण-मोह और यथाख्यात चारित्र सपन्न जीवों को ही उसी भव मे मोक्ष प्राप्त होता है, उनसे भिन्न जीवो को उसी भव मे मोक्ष नही मिलता। यदि मुक्ति नही होने मात्र से मिथ्यात्वी की क्रिया से किंचित भी प्रयोजन सिद्ध नही होता, तो फिर चतुर्थ गुणस्थान से लेकर एकादश गुणस्थान तक की क्रिया से भी किंचित प्रयोजन सिद्ध नही होना मानना पड़ेगा। क्योकि उक्त गुणस्थान वर्ती जीव भी द्वादश, त्रयोदश एवं चतुर्दश गुणस्थान को स्पर्श किए विना मोक्षगामी नही होते। यदि यह कहो कि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर एकादश गुणस्थान तक के जीवो की क्रिया परंपरा से मोक्ष का कारण होती है, अत. उससे प्रयोजन सिद्ध नही होता, ऐसा नही कहना चाहिए। यदि ऐसा है, तो भ्रमविध्वंसनकार की श्रद्धा के अनुसार मिथ्यात्व-दशा की क्रिया भी परपरा से मोक्ष का कारण होती है, अत. उससे प्रयोजन सिद्ध नही होता, ऐसा नही कहना चाहिए। परन्तु उन्होने उक्त पद्यो मे मिथ्यात्व-दशा की क्रिया से किंचित भी प्रयोजन सिद्ध नही होना कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि मिथ्यात्व-दशा की क्रिया से ये लोग भी मोक्ष-मार्ग की आराधना नही मानते। परन्तु अपने आगम विरुद्ध पक्ष के आग्रह मे पडकर भ्रमवि-ध्वसनकार ने भ्रमविध्वसन मे मिथ्यात्वी की क्रिया को मोक्षमार्ग मे कह दिया। अत. भ्रम-विध्वसनकार की यह प्ररूपणा आगम सम्मत एव युक्तिसगत नही है।

सुमुख-गाथापति

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ६ पर मिथ्यादृष्टि की क्रिया को मोक्षमार्ग में सिद्ध करने के लिए यह लिखते हैं—"वली प्रथम गुणठाणा रो धणी सुपात्र दान देइ परित संसार करी मनुष्य नो आयुषो बांध्यो सुबाहु कुमार नें पाछिले भवे सुमुख गाथापति इ।" इनके कहने का तात्पर्य यह है कि सुमुख गाथापति ने मिथ्यात्व-दशा की क्रिया से संसार परिमित करके मनुष्य आयु को बांधा इससे मिथ्यात्वी की क्रिया मोक्ष-मार्ग में सिद्ध होती है। यदि मिथ्यात्वी की क्रिया मोक्ष-मार्ग में नहीं होती, तो उससे सुमुख-गाथापति का संसार परिमित कैसे होता ?

प्रथम गुणस्थान वर्ती मिथ्यादृष्टि का ससार परिमित नहीं होता, क्योंकि संसार का कारण मिथ्यात्व उसमें विद्यमान है। सम्यग्दर्शन का उदय होने पर जब मिथ्यात्व का विनाश होता है, तब संसार परिमित होता है, मिथ्यात्व के रहने पर नहीं। कारण की उपस्थिति में कार्य का नहीं होना असंभव है। अत. मिथ्यादृष्टि का संसार परिमित होना बतलाना भयकर भूल है।

मुनि को दान देते समय सुमुख गाथापति सम्यग्दृष्टि था, मिथ्यात्वी नहीं। इसलिए उसका संसार परिमित हुआ।

सुमुख गाथापति मुनि को दान देने समय सम्यग्दृष्टि था इसका क्या प्रमाण है ?

विपाक सूत्र में सुमुख गाथापति के सम्बन्ध में जो पाठ दिया है, वही प्रमाण है।

"ते णं कालेणं ते णं समएणं धम्मघोसाणं थेराणं अन्तेवासी सुदत्ते णामं अणगारे उराले जाव संखित्त विउल तेउलेसे मासं-मासेणं खम-माणे विहरन्ति। तत्तेणं सुदत्ते अणगारे मासखमणपारणगंसि पढमाए पोरसीए सज्झायं करेति जहा गोयमसामी तहेव सुधम्मेथेरे आपुच्छति, जाव अडमाणे, सुमुहस्स गाहावइस्स गिहं अणुपविट्ठे। तत्तेणं सुमुहे गाहावइ सुदत्तं अणगारं एज्जमाणं पासइ-पासित्ता हट्ठतुट्ठे आसणाओ अब्भुट्ठेति-अब्भुट्ठित्ता पादपीठाओ पच्चोरुहति पाओ याओ मुयइ

एगसाडियं उत्तरासंगं करेइ सुदत्तं अणगारं सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ-अणुगच्छइत्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिण करेइ वदइ नमसइत्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ-उवागच्छइत्ता सयहत्थेन विउलेणं असण, पाण, खाइम, साइम परिलाभेस्सामीति तुट्ठे ३ तत्तेणं तस्स सुमुहस्स तेण दव्व-सुद्धेण तिविहेण तिकरण-सुद्धेण २ सुदत्ते अणगारे परिलाभएसमाणे परीत्त ससारकए मणुस्साउए निबद्धे।"

—सुखविपाक, अध्ययन १

"उस काल और उस समय में धर्मघोष नामक स्थविर के अन्तेवासी–शिष्य सुदत्त अणगार उदार यावत् तेजो लेश्या को गुप्त रखनेवाले मास-मास क्षमण का तप करते हुए जीवन व्यतीत करते थे। वे मास क्षमण की तपस्या के पारणे के दिन प्रथम पौरुषी में स्वाध्याय करते थे, शेष क्रियाएँ गौतम स्वामी की तरह समझनी चाहिए। वे सुदत्त अणगार अपने गुरु धर्मघोष स्थविर से पूछकर यावत् गौचरी के निमित्त जाते हुए सुमुख नामक गृहस्थ के घर पर गए। अनन्तर सुमुख गाथापति ने सुदत्त अणगार को आते हुए देखकर हर्ष के साथ आसन छोड़ दिया और पाद-पीठ से नीचे उतरकर पादुका को छोड़कर, एक शाटिक वस्त्र का उत्तरासंग करके सात-आठ पैर तक मुनि के सम्मुख गया। उसने दाहिनी ओर से मुनि को तीन बार प्रदक्षिणा दी और उन्हें वन्दन-नमस्कार करके वह अपने भोजन-गृह में आया। वहाँ उसको इस बात का अपार हर्ष हो रहा था कि आज मैं अपने हाथ से मुनि को विपुल अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य पदार्थ दूंगा। देते समय भी उसे हर्ष हो रहा था और देने के अनन्तर भी उसे हर्ष हुआ। इस प्रकार शुद्ध भाव और शुद्ध मन, वचन, और काय से सुमुख गाथापति ने सुपात्र को जो शुद्ध द्रव्य का दान दिया, उससे उसने अपना ससार परिमित करके मनुष्य आयु बांधा।"

इसमें वताया गया है कि "सुमुख गाथापति ने सुदत्त अणगार को अपने घर मे प्रविष्ट होते देखकर अपना आसन छोड दिया और पादपीठ से उतर कर एक शाटिक वस्त्र का उत्त-रासग करके मुनि के सम्मुख सात-आठ पैर तक गया और दाहिनी ओर से मुनि को तीन वार प्रदक्षिणा दी।" इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सुमुख गाथापति सम्यग्दृष्टि था, मिथ्यादृष्टि नही। क्योकि मिथ्यादृष्टि साधु को साधु नही, असाधु समझता है। अत वह मुनि का ऐसा आदर-सत्कार नही कर सकता। जैसे हरिकेशी मुनि को देखकर ब्राह्मण कुमारो ने उनका आदर-सत्कार नही करके अपमान किया था। यदि सुमुख भी मिथ्यात्वी होता तो वह मुनि का आदर-सत्कार नही करता। परन्तु उसने मुनि का आदर-सम्मान किया था। कभी प्रसगवश मिथ्यादृष्टि भी मुनि का आदर-सत्कार करता है, तव उसका हार्दिक भाव विशुद्ध नही होता। परन्तु सुमुख की हार्दिक भावना विशुद्ध थी। इसीलिए आगम मे 'हट्ठ तुट्ठे' शब्द का प्रयोग किया है। इसका यह अर्थ है कि सुमुख गाथापति मुनि का सम्मान करते समय हृदय मे बहुत प्रसन्न था। यदि वह मिथ्यादृष्टि होता तो साधु को देखकर हृष्ट-तुष्ट नही होता। इसके अतिरिक्त सुमुख गाथापति ने जो दान दिया उसका वर्णन करते हुए लिखा है "सुमुख गाथा-पति का दान, दातृ शुद्धि, द्रव्य शुद्धि और पात्र शुद्धि इन तीनो शुद्धियो से युक्त था।" उक्त

त्रिशुद्धियाँ सम्यगदृष्टि के दान में ही होती है, मिथ्यादृष्टि के दान मे नही। क्योकि मिथ्यादृष्टि की साधु के प्रति श्रद्धा नही होने से उसका हृदय शुद्ध नही होता और हृदय की शुद्धि के अभाव मे उसके दान मे द्रव्य और पात्र शुद्ध होने पर भी दाता की शुद्धि नही होती। अत मिथ्यादृष्टि के दान मे त्रि-विध शुद्धियाँ नही होती। परन्तु सुमुख गाथापति का दान त्रि-शुद्धियो से युक्त था। इससे सुमुख गाथापति दान देते समय मिथ्यादृष्टि नही, सम्यग्दृष्टि था।

सुख विपाक सूत्र मे सुमुख गाथापति के दान को मानसिक शुद्धि से युक्त कहा है। यह भी सुमुख गाथापति को सम्यक्त्वी सिद्ध करता है। सम्यग्दृष्टि का ही साधु के प्रति मन शुद्ध होता है, मिथ्यादृष्टि का नही।

सुमुख गाथापति ने मुनि को दान देकर ससार परिमित किया था। इससे भी यह सिद्ध होता है कि वह सम्यग्दृष्टि था। यद्यपि भ्रमविध्वसनकार ने मिथ्यादृष्टि का भी ससार परिमित होना माना है, परन्तु यह मान्यता आगम विरुद्ध है। जब तक अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षयोपशम या उपशम नही होता, तब तक ससार परिमित नही होता। अनन्तानुबन्धी क्रोधादि का तात्पर्य यही है कि वह अनन्त ससार का अनुबन्ध करता है। उसके रहते ससार परिमित हो जाए यह असभव है। स्थानाग सूत्र की टीका मे 'अनन्तानुबन्धी' का अर्थ इस प्रकार किया है—

"अनन्तं भवमनुबध्नात्यविच्छिन्नं करोतीत्येवंशीलोऽनन्तानुबन्धी।"

"जो धाराप्रवाह—विच्छेद रहित अनन्त काल तक संसार को उत्पन्न करता है, उसे 'अनन्तानुबन्धी' कहते हैं।"

जब तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती, तब तक अनन्तानुबधी क्रोधादि का नाश नही होता और उसके रहते हुए ससार का समुच्छेद नही होता। परन्तु सुमुख गाथापति का ससार परिमित हुआ है। इसलिए उसमे अनन्तानुबन्धी क्रोधादि का क्षयोपशम या उपशम होना अवश्य ही मानना होगा और उसके मान लेने पर सुमुख गाथापति का सम्यक्त्वी होना स्वत सिद्ध हो जाता है। तथापि अपने दुराग्रह के वशीभूत होकर सुमुख गाथापति को मिथ्यादृष्टि बताकर मिथ्यात्वी की क्रिया से ससार का परिमित होना बतलाकर मिथ्यात्वी को मोक्षमार्ग मे बताना आगम विरुद्ध है।

मेघकुमार का पूर्वभव

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ८ पर मिथ्यात्व-दशा की क्रिया से संसार परिमित होना सिद्ध करने के लिए लिखते है—"वली मेघकुमार रो जीव पाछिले भवे हाथी, सुसलारी दया पाली परीत्त-ससार मिथ्यात्वी थके कियो।"

हाथी के भव मे शशक आदि प्राणियो की प्राणरक्षा करते समय मेघकुमार का जीव सम्यग्दृष्टि था, मिथ्यात्वी नही। यह बात ज्ञाता सूत्र के मूल पाठ से स्पष्ट सिद्ध होती है—

"तं जइ ताव तुम मेहा तिरिक्खजोणिय भावमुवगए णं अपडिलद्ध-समत्तरयण लभेणं से पाए पाणाणुकम्पयाए जाव अन्तरा चेव सन्धारिए णो चेवणं णिक्खित्ते।"

ज्ञाता सूत्र, १, २८

"तं० ते माटे तिहां तुम्मे तीजे भवे, मे० मेघा ! तिर्यंचरी योनि भावइ मु० उपनाहृता अ० अनुपाम्यो अछतो सम्यक्त्व लीधो, रत्न पाम्यो से०तेसि करी ते प्राणिनी अनुकम्पाइ, जा० दयाइ करी, जा० यावत् तिहां पग ऊंचो राख्यो तेणे मनुष्य भव पाम्यो।"

यह टव्वा आचार्य भीपणजी के जन्म के पहले का लिखा हुआ प्राचीन है। हस्तलिखित प्रतियो मे इसके लिखने का समय सवत् १७६८ है।

"सवत् १७६८ वर्प शा० १६६३ प्रथम कार्तिके मासे शुक्ल पक्षे ११ तिथौ भृगुवासरे लिपिं चक्रे मुनि कर्पूरसागर·।"

इसमे "अपडिलद्ध-समत्तरयण लंभेणं"का यह अर्थ किया है "अणपाम्यो अछतो समक्त्व लीधो, रत्न पाम्यो" हाथी ने पहले नही पाए हुए सम्यक्त्व रूपी रत्न को उस समय प्राप्त किया। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि शशक आदि प्राणियो के प्राणो की रक्षा करते समय हाथी मिथ्यादृष्टि नही, सम्यक्दृष्टि था। इस टव्वे में 'अपडिलद्ध-समत्तरयण लंभेणं' का सम्यक्त्व-रत्न पाना अर्थ किया है, व्युत्पत्ति से भी यही अर्थ होता है। इस पद की सस्कृत छाया—"अप्रतिलब्ध-सम्यक्त्वरत्न लंभेन" बनती है। और इसकी व्युत्पत्ति यह है—अप्रतिलब्ध अप्राप्तं यत् सम्यक्त्वरत्नं तल्लभत इति अप्रतिलब्ध-सम्यक्त्वरत्न लंभस्तेन" पहले कभी नही पाये हुए सम्यक्त्व-रत्न को प्राप्त करने वाला। अत. टव्वाकार का अर्थ व्युत्पत्ति से भी संगत है।

तथापि हाथी को मिथ्यात्वी सिद्ध करने के लिए मिथ्यात्व-दशा की क्रिया से संसार का समुच्छेद बतलाना आगम विरुद्ध प्ररुपणा करना है। कई अशुद्ध टब्बो मे उक्त पद का अर्थ अशुद्ध किया है। ऐसे अशुद्ध टब्बाओ का आश्रय लेकर जगत मे भ्रम फैलाना साधुत्व के योग्य कार्य नही है। अत भ्रमविध्वसनकार ने आगम के विरुद्ध हाथी को मिथ्यात्वी कहा है, यह मिथ्या समझना चाहिए।

हाथी सम्यग्दृष्टि था

ज्ञाता सूत्र के मूल पाठ मे हाथी को शशक आदि प्राणियो की प्राण-रक्षा करते समय सम्यग्दृष्टि लिखा है, यह जाना। परन्तु भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १० पर लिखते है—"वली त्यामे इज दलपतरायजी प्रश्न पूछ्या तेहना उत्तर दौलतरामजी दीधा छै, ते प्रश्नोत्तर मध्य पिण हाथी ने तथा सुमुख गाथापति ने प्रथम गुणठाणे कह्या छै।"

दौलतरामजी के साथ दलपतरायजी के जो प्रश्नोत्तर हुए है, उसकी सवत् १८९१ की लिखी हुई प्रति मेरे पास मौजूद है। उसमे हाथी और सुमुख गाथापति का प्रथम गुणस्थान मे होना कही नही लिखा है। अत. उक्त प्रश्नोत्तरी का उदाहरण देकर हाथी और सुमुख गाथापति को मिथ्यादृष्टि सिद्ध करना मिथ्या है, तथा भ्रमविध्वसन पृष्ठ १० के नोट मे दौलतरामजी और दलपतरायजी को 'कोटा-बूदी' के आसपास विचरने वाले बाईस सम्प्रदाय के साधु लिखा है, यह भी मिथ्या है। दलपतरायजी देहली के रहने वाले बाईस-सम्प्रदाय के प्रमुख श्रावक थे, साधु नही। तथा इनके प्रश्नोत्तर मे हाथी और सुमुख गाथापति के मिथ्यात्वी होने का उल्लेख भी नही है। अत. उक्त प्रश्नोत्तरी का उदाहरण देकर जो नोट मे लिखा है—"उक्त प्रश्नोत्तरी के १३८ मे प्रश्न के उत्तर मे हाथी और सुमुख गाथापति को मिथ्यादृष्टि कहा है", यह सब मिथ्या समझना चाहिए।

यदि भ्रमविध्वसनकार को इस प्रश्नोत्तरी की बात मान्य हो, तो इसके ५८ वे प्रश्न के उत्तर मे मिथ्यात्वी के अन्दर मोक्ष प्राप्ति रूप सकाम निर्जरा का प्रतिषेध किया है, इसलिए मिथ्यादृष्टि को मोक्षमार्ग का देशाराधक नही मानना चाहिए। वह ५८ वॉ प्रश्न और उसका उत्तर निम्न लिखित है—

"मिथ्यात्वी ने सकाम निर्जरा हो या न हो ?

तेहनो उत्तर—मोक्ष प्राप्ति सकाम निर्जरा न होवे।"

इस प्रश्नोत्तर मे मिथ्यादृष्टि मे मोक्षमार्ग का न होना स्पष्ट कहा है, तथापि इसका उदाहरण देकर भ्रमविध्वसनकार ने मिथ्यादृष्टि को मोक्षमार्ग का आराधक बतलाया है, यह इनका प्रत्यक्षत असत्य कथन समझना चाहिए।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि शास्त्राधार के बिना किसी भी आधुनिक छद्मस्थ—अल्पज्ञ की बात नही मानी जाती। यह आग्रह तो भ्रमविध्वसनकार के अनुयायियो का ही है कि बावा वाक्य को प्रमाण मानकर लकीर के फकीर बने है। यदि उनके अपने पूर्वाचार्य श्री भीषणजी आदि की बात आगम के मूल पाठ से विरुद्ध हो तब भी वे उसे नही छोडते। अभिनिवेशक मिथ्यात्व का यही लक्षण है। परन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुष आगम प्रमाण को समझ कर हठ नही रखते। भले ही किसी का कथन क्यो न हो, यदि वह आगम विरुद्ध है, तो उसे स्वीकार नही करते।

शकडालपुत्र का वन्दन

सुमुख गाथापति ने सुदत्त अनगार को वन्दन-नमस्कार किया था, उसी तरह गोशालक शिष्य शकडालपुत्र ने भी भगवान महावीर को वन्दन-नमस्कार किया था। यदि मुनि को वन्दन-नमस्कार करना ही सम्यग्दृष्टि का लक्षण है, तो फिर गोशालक शिष्य शकडालपुत्र को भी सम्यक्त्वी मान लेना चाहिए। परन्तु यदि आप उसे सम्यग्दृष्टि नही मानते है, तो फिर सुमुख गाथापति को सम्यग्दृष्टि क्यो मानते है ?

सुमुख गाथापति के वन्दन-नमस्कार को गोशालक शिष्य शकडालपुत्र के वन्दन-नमस्कार जैसा बतलाना अनुचित है। सुमुख गाथापति ने किसी की प्रेरणा और दवाव के विना अपनी हार्दिक इच्छा और श्रद्धा-भक्ति से सुदत्त अणगार को वन्दन-नमस्कार किया था। परन्तु शकडालपुत्र ने देवता के कहने और उसके दबाव से भगवान महावीर को वन्दन-नमस्कार किया था। अत इन दोनो का वन्दन-नमस्कार एक जैसा नही है।

जैसे एक व्यक्ति अपनी स्वाभाविक इच्छा से साधु का आचार पालता है, और दूसरा अभव्य व्यक्ति सासारिक पूजा-प्रतिप्ठा आदि के प्रलोभन से साधु का आचार पालता है। उक्त उभय पुरुप व्यवहार दृष्टि से साधु-आचार के परिपालक कहे जाते है, तथापि इनके आचार पालन मे तुल्यता नही, बहुत वडा अन्तर है। सुमुख गाथापति ने अपनी इच्छा एव स्वाभाविक श्रद्धा से प्रेरित होकर मुनि को वन्दन-नमस्कार किया था। इसलिए उसका वन्दन-नमस्कार सम्यग्दृष्टि का वदन-नमस्कार था, और वह मोक्ष का मार्ग था। परन्तु शकडालपुत्र ने देव के कहने से भगवान को वन्दन-नमस्कार किया था, इसलिए उसका वन्दन-नमस्कार आन्तरिक भक्ति शून्य द्रव्य रूप होने से मिथ्यादृष्टि का वंदन-नमस्कार था। वह मोक्षमार्ग नही था, इसलिए उक्त उभय व्यक्तियो को तुल्य कहना मिथ्या है।

शकडालपुत्र ने देवता की प्रेरणा से भगवान् को वदन किया था, अपनी इच्छा से नही। उपासकदशाग सूत्र मे इसका उल्लेख है।

"समणे भगव महावीरे सद्दालपुत्त आजीवियोवासयं एवं वयासी से नूणं सद्दालपुत्ता ! कल्ल तुमं पुव्वावरण्हकाल समयंसि जेणेव

असोगवणिया जाव विहरसि। तए णं तुब्भं एगे देवे अंतियं पाउभवित्था तए णं से देवे अंतलिक्खपडिवन्ने एवं वयासी—हे भो सद्दालपुत्ता! तं चेव सव्वं जाव पज्जुवासिस्सामि। से नूणं सद्दालपुत्ता! अट्ठे-समट्ठे?

हंता अत्थि।

नो खलु सद्दालपुत्ता! ते णं देवे णं गोसालं मंखलिपुत्तं पणिहाय एवं वुत्ते। तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासयस्स समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिये ४ एस णं समणे भगवं महावीरे महामाहणे उप्पन्ननाणदंसणधरे जाव तच्च कम्मसंपया संपउत्ते।"

—उपासकदशांग, अ० ७

"श्रमण भगवान महावीर ने गोशालक शिष्य शकडालपुत्र से कहा—"हे शकडालपुत्र! कल संध्या समय तू अशोक वाटिका में गया था। वहाँ तुम्हारे निकट आकाश में स्थित होकर एक देव ने तुम्हें कहा था कि "कल यहाँ महा-माहन ज्ञान-दर्शन का धारक यावत् सफल क्रियाओं से युक्त पुरुष आएगा, तुम उसको वन्दन-नमस्कार करना यावत् शय्या-संथारे से उपनिमंत्रित करना।" यह सुनकर तुमने निश्चय किया कि कल मेरे गुरु गोशालक मंखलिपुत्र आएंगे। उनको वंदन-नमस्कार यावत् उपासना करूंगा, क्या यह बात सत्य है?

यह सुनकर शकडालपुत्र ने कहा—"हाँ, सत्य है।"

तब पुनः भगवान ने कहा कि "हे शकडालपुत्र! उस देव ने गोशालक मंखलिपुत्र के लिए ऐसा नहीं कहा था।"

भगवान महावीर के ऐसा कहने पर शकडाल पुत्र को यह निश्चय हुआ कि ये भगवान महावीर हैं, ये महा-माहन हैं, ज्ञान-दर्शन के धारक हैं यावत् सफल क्रियाओं से युक्त हैं।"

प्रस्तुत पाठ में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि भगवान महावीर ने जब शकडालपुत्र से यह कहा—"अशोक वाटिका में देवता ने जो बात कही थी, वह गोशालक मंखलिपुत्र के लिए नहीं कही थी।" तब उसे यह ज्ञान हुआ कि ये मेरे गुरु गोशालक नहीं, श्रमण भगवान महावीर हैं। इससे यह निश्चित होता है कि शकडालपुत्र अपने गुरु गोशालक को आया हुआ जानकर वहाँ आया था और आते समय उसने भगवान को गोशालक समझकर वन्दन-नमस्कार किया। अतः वास्तव में उसका नमस्कार भगवान को न होकर, उसके गुरु गोशालक को हुआ। उसके पश्चात् भगवान के कहने पर जब उसका भ्रम दूर हो गया और उसने भगवान महावीर को जान लिया, तब अशोक वाटिका में मिले हुए देवता की प्रेरणा से उसने भगवान को वंदन-नमस्कार किया, परन्तु गुरु समझकर आन्तरिक श्रद्धा-भक्ति से नहीं किया। अतः उसका वह वन्दन-नमस्कार भाव शून्य होने के कारण अर्हद भाषित धर्म का अंग नहीं था। किन्तु वीतराग आज्ञा के बाहर एवं मिथ्यात्व युक्त था। अतः इसे मोक्षमार्ग नहीं कह सकते। परन्तु सुमुख गाथापति

का वन्दन-नमस्कार आन्तरिक श्रद्धा-भक्ति के साथ होने से भाव रूप था, इसलिए वह मोक्ष-मार्ग एवं वीतराग भाषित धर्म का अग था। ऐसा भाव युक्त वंदन-नमस्कार मिथ्यादृष्टि का नही, सम्यग्दृष्टि का ही परिचायक है। अत. सुमुख गाथापति के वंदन-नमस्कार को शकडाल-पुत्र के वदन-नमस्कार के जैसा वतलाना शास्त्र नही जानने का फल समझना चाहिए।

शकडालपुत्र की वंदना के विषय में सुमुख गाथापति का दृष्टान्त देना सर्वथा अनुचित है। बीज के दिखाई नही देने पर भी वृक्ष के फल को देखने पर उसके बीज का अनुमान हो जाता है। इसी प्रकार सुमुख गाथापति का परित्त ससार रूपी फल देखकर उसके सम्यक्त्व रूपी बीज का सहज ही अनुमान हो जाता है। सुमुख गाथापति ने ससार को परिमित किया था। अत. उसके अनन्तानुवधी कपाय का क्षय, उपशम या क्षयोपशम अवश्य हुआ था। मिथ्यात्व अवस्था मे अनन्तानुवधी कपाय विद्यमान रहता है और जब तक अनन्तानुवन्वी कपाय रहता है, तब तक न तो सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और न ससार ही परिमित होता है। अतः सुमुख गाथापति का सम्यग्दृष्टि होना आगम सम्मत है। परन्तु शकडालपुत्र ने जब भगवान को वन्दन-नमस्कार किया तब उसका ससार परिमित हुआ हो, ऐसा आगम मे उल्लेख नही मिलता। जिस व्यक्ति के अनन्तानुवन्धी कपाय होता है,वह मिथ्यादृष्टि एवं अनन्त संसारी ही रहता है। अतः जब तक शकडालपुत्र के मिथ्यात्व का नाश नही हुआ, तब तक आगम मे उसे परिमित संसारी नही कहा गया। इसलिए देवता की प्रेरणा से किया गया वदन-नमस्कार भी संसार को परि-मित वनाने का हेतु नही बना। किन्तु जब उसने सम्यक्त्व को प्राप्त किया, तब उसे परिमित ससारी कहा गया। भ्रमविध्वंसनकार ने भी एक ढाल मे यह लिखकर—

"समकित विन म्हे, चारित्र नी किरिया रे।
वार अनन्ती करी, पण काज न सरिया रे॥"

स्पष्ट कर दिया है कि सम्यक्त्व के विना चारित्र की क्रिया को मोक्षरूप कार्य सिद्धि का कारण नही मानते। तब मिथ्यात्व-दशा में किया जाने वाला शकडालपुत्र का वन्दन-नमस्कार भगवान की आज्ञा मे कैसे हो सकता है? तथापि सुमुख गाथापति के वन्दन-नमस्कार को शकडालपुत्र के वन्दन-नमस्कार के समान वताना भ्रमविध्वंसनकार का भ्रम प्रचार एवं अपने मिथ्या आग्रह के पक्षपात का परिणाम समझना चाहिए।

क्रियावादी : मनुष्य आयुष्य बांधता है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १४ पर लिखते है कि "अथ क्रियावादी सम्यग्दृष्टि मनुष्य-तिर्यंच रे एक वैमानिक रो बन्ध कह्यो ओर आउषो बाधे नही इम कह्यो। ते माटे सुमुख-गाथापति तथा हाथी तथा सुव्रती मनुष्य इहा कह्यो ते सर्व ने मनुष्य ना आउषा नो बध कह्यो। ते भणी ए सर्व सम्यग्दृष्टि नही। ते माटे मनुष्य नो आउषो बाधे छै। सम्यग्दृष्टि हुवे तो वैमानिक रो बध कहता।"

"क्रियावादी मनुष्य एक वैमानिक के सिवाय दूसरी गति की आयु नही बाधते।" भ्रम-विध्वसनकार ने इसका अभिप्राय ही नही समझा है। अत वे मनुष्य का आयु-बन्ध देखकर सुमुख गाथापति और हाथी को मिथ्यादृष्टि कहते है। परन्तु भगवती के उक्त कथन का अभि-प्राय यह है कि जो मनुष्य और तिर्यंच विशिष्ट क्रियावादी होते हैं, और अतिचार रहित निर्मल व्रत का पालन करते है, वे वैमानिक का ही आयु बाँधते है, परन्तु सामान्य क्रियावादी नही। यदि कोई यह कहे कि भगवती सूत्र मे तो सिर्फ क्रियावादी ही लिखा है, विशिष्ट क्रियावादी नही लिखा है, फिर आप विशिष्ट क्रियावादी अर्थ क्यो करते है ? इसका समाधान यह है कि श्री दशाश्रुतस्कध मे महारभी, महापरिग्रही क्रियावादी मनुष्य का उत्तर-पथगामी नरक योनि मे जाना भी कहा है। यदि सभी क्रियावादी वैमानिक की आयु का ही बन्ध करते तो दशा-श्रुतस्कध मे क्रियावादी मनुष्य को नरक योनि के आयु-बन्ध करने का कैसे कहते ? अतः इससे स्पष्ट होता है कि भगवती सूत्र मे जिस क्रियावादी के लिए एक वैमानिक की ही आयु बाधने का उल्लेख किया है, वह विशिष्ट क्रियावादी है, सभी क्रियावादी नही। दशाश्रुतस्कध मे क्रिया-वादी मनुष्य का नरकयोनि मे जाना कहा है।

"से कि तं किरियावाईया वि भवइ ?

त जहा--आहियवाई, आहियपन्ने आहियदिट्ठी सम्मावादी निइवादी संति परलोकवादी अत्थि इहलोके अत्थि परलोके अत्थि-माया अत्थि-पिया अत्थि-अरिहन्ता अत्थि-चक्कवट्टी अत्थि-बलदेवा अत्थि-वासुदेवा अत्थि -सुक्कड-दुक्कडाणं कम्माणं फलवित्तिविसेसे

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवन्ति, दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला भवन्ति। सफले कल्लाणे पावए पच्चायंति जीवा अत्थि-नेरइया जाव अत्थि-देवा अत्थि-सिद्धि से एवंवादी, एवंपन्ने, एवंदिट्ठी छन्दरागमतिनिविट्ठे आविभवइ से भवइ महेच्छे जाव उत्तर-पथगामिए नेरइए सुक्कपक्खिए आगमेसाण सुलभबोहियावि भवइ, से तं किरियावाई सव्वधम्मरुचियावि भवइ।"

—दशाश्रुतस्कंध, दशा ६

"क्रियावादी किसे कहते हैं ?

जो आगमोक्त आत्मादि पदार्थों को सत्य और मोक्षोपयोगी पदार्थों को उपादेय तथा उसके प्रतिकूल वस्तु को हेय समझते हैं। जिस वस्तु का जैसा स्वरूप है, उसे उसी तरह अविपरीत बतलाते हैं और आस्तिकता के समर्थक सम्यग्दृष्टि हैं। जो मोक्ष की नित्यता, स्वर्ग, नरक, माता-पिता, इहलोक, परलोक, अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि के अस्तित्व को मानते हैं। जो शुभ और अशुभ कर्मों का क्रमशः शुभ और अशुभ फल होना स्वीकार करते हैं। शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने के लिए आत्मा का विभिन्न योनियों में जाना स्वीकार करते हैं। जो नरक, मनुष्य, तिर्यंच, देवता और मुक्ति को सत्य बताते हैं तथा पूर्वोक्त सभी बातों पर जिनकी निश्चयात्मक श्रद्धा है, वे क्रियावादी कहलाते हैं। ऐसे क्रियावादी, यदि महारंभी, महा-परिग्रही और महा-इच्छावाले हो, तो उत्तर-पथगामी नरक योनि में जन्म लेते हैं। परन्तु वे शुक्ल-पक्षीय और भविष्य में सुलभ बोधी होते हैं।"

प्रस्तुत पाठ मे स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि जो क्रियावादी मनुष्य महारभी, महा-परिग्रही और महा-इच्छावाले होते है, वे उत्तर-पथगामी नरक योनि मे जाते है।

यदि सभी क्रियावादी मनुष्य एक वैमानिक की ही आयु बाधते, तो इस पाठ मे क्रियावादी मनुष्य का नरक योनि मे जाना कैसे कहते ?

भगवती सूत्र श० ३० उ० १ मे लिखा है कि "क्रियावादी मनुष्य यदि आयुकर्म बांधता है, तो प्रथम स्वर्ग से नीचे का नही बाधता और दशाश्रुतस्कध मे महारभी, महा-परिग्रही क्रियावादी मनुष्य को उत्तर दिशा के नरक मे जाना कहा है। इससे आपने यह सिद्ध किया कि भगवती सूत्रोक्त क्रियावादी विशिष्ट क्रियावादी है। अन्यथा दशाश्रुतस्कध मे महारभी, महा-परिग्रही क्रियावादी मनुष्य को उत्तर दिशा के नरक मे जाना क्यो कहते ? इसका यह कारण हो सकता है कि दशाश्रुतस्कध मे महारभी, महा-परिग्रही क्रियावादी मनुष्य को उत्तर-पथगामी नरक में जाना कहा है। किन्तु क्रियावादीपने मे नरक का आयु बांधने का नही कहा। संभव है उसने नरक आयु क्रियावादी होने से पूर्व बांध लिया हो। अत. वह क्रियावादीपने मे आयु बाध कर नरक में जाता है या उसने नरक आयु पहले बाध रखा है, इस सम्बन्ध मे आपका क्या समाधान है ?

यदि क्रियावादी मनुष्य, क्रियावादीपने में नरक आयु का बन्ध नही करता, तो आगमकार उसके लिए उत्तर दिशा के नरक मे जाने का ही विधान कैसे करते ? क्योकि अक्रियावादी मनुष्य

उत्तर एवं दक्षिण उभय दिशाओं के नरक की आयु बांधता है, केवल एक दिशा विशेष की नही। परन्तु दशाश्रुतस्कन्ध के अनुसार क्रियावादी मनुष्य सिर्फ उत्तर-पथगामी नरक में ही जा सकता है और नरक मे जाने पर भी वह शुक्लपक्षी ही रहेगा। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि क्रियावादी मनुष्य नरक-आयु का वध कर सकता है।

दूसरी बात यह है कि यदि क्रियावादीपने मे नरक आयु का बन्ध नही करता, तो यहाँ महारंभी, महा-परिग्रही एवं महा-इच्छावाला आदि विशेषण देने की क्या आवश्यकता थी? क्योकि जब उसने क्रियावादीपन्ने मे नरक-आयु का बंध नही किया और क्रियावादी होने से पूर्व के आयु-बांध से वह नरक में जाता है, तब भले ही वह अल्पारंभी हो या महारभी हो उसे नरक मे जाना ही होगा। परन्तु इन विशेषणो से यह स्पष्ट होता है कि महारभादि कारणो से ही उसने इस भव में नरक का आयु बाधी है। अतः भगवती सूत्र श० ३० उ० १ में विशिष्ट क्रियावादी के लिए ही वैमानिक के आयु-बन्ध का विधान किया है।

भगवती सूत्र श० १, उ० २ मे यह बतया है कि क्रियावादी वैमानिक के अतिरिक्त अन्य स्थानो के आयु का बन्ध भी करते हैं।

"अविराहिय संजमाणं जहण्णेणं सोहम्मे-कप्पे उक्कोसेणं सव्वट्ठ-सिद्धे विमाणे। विराहिय संजमाणं जहण्णेणं भुवणवासीस उक्कोसेणं सोहम्मेकप्पे।

अविराहिय संजमासंजमाणं जहण्णेणं सोहम्मे-कप्पे उक्कोसेणं अच्चुए-कप्पे। विराहिय संजमासंजमेणं जहण्णेणं भुवणवासीसु उक्कोसेणं जोइसिएसु।"

—भगवती सूत्र, १, २, २५

संयम की विराधना नहीं करने वाला आराधक साधु यदि देवलोक में उत्पन्न हो, तो जघन्य प्रथम स्वर्ग–सौधर्म कल्प में और उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होता है। और संयम की विराधना करने वाला विराधक साधु यदि देवलोक में उत्पन्न हो, तो जघन्य भुवनवासी और उत्कृष्ट प्रथम स्वर्ग में उत्पन्न होता है।

अतिचार रहित अपने व्रतों की आराधना करने वाला श्रावक यदि देवलोक में उत्पन्न हो, तो जघन्य प्रथम स्वर्ग और उत्कृष्ट बारहवें अच्युतकल्प स्वर्ग में उत्पन्न होता है। और व्रतों में दोष लगाने वाला विराधक श्रावक यदि देवलोक में उत्पन्न होता है, तो जघन्य भुवनवासी और उत्कृष्ट ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न होता है।"

प्रस्तुत पाठ में विराधक साधु को जघन्य भुवनवासी में तथा विराधक श्रावक को जघन्य भुवनवासी और उत्कृष्ट ज्योतिष्क देवो मे उत्पन्न होना कहा है। यदि सभी क्रियावादी एक वैमानिक देव का ही आयु बाधते, तो यहाँ विराधक श्रावक को जघन्य भुवनवासी और उत्कृष्ट ज्योतिष्क में जाना क्यो कहते? क्योकि विराधक श्रावक भी क्रियावादी है, अक्रियावादी नही। इससे यह सिद्ध होता है कि सभी क्रियावादी मनुष्य और तिर्यंच एक वैमानिक की ही आयु नही बांधते।

सामान्य क्रियावादी मनुष्य और तिर्यंच वैमानिक देव के अतिरिक्त अन्य भव में भी जाते हैं। भगवती शतक ८, उ० १० के मूलपाठ में जघन्य ज्ञान और जघन्य दर्शन आराधना का फल जघन्य तीन और उत्कृष्ट सात-आठ भव कर के मोक्ष जाना बतलाया है। इसका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकार ने लिखा है कि "यहाँ जघन्य तीन और उत्कृष्ट सात-आठ भवों में मोक्ष जाना कहा है, वह चारित्र आराधना से संयुक्त जघन्य ज्ञान और जघन्य दर्शन-आराधना का फल है। क्योंकि चारित्र रहित जघन्य ज्ञान-दर्शन एवं देशव्रत की आराधना करने वाला उत्कृष्ट असंख्य भव भी करता है। टीकाकार की उक्त मान्यता को स्वीकार करते हुए भ्रमविध्वंसनकार ने अपने 'प्रश्नोत्तर-तत्त्वबोध" नामक ग्रन्थ में लिखा है—

> "अष्टम शतके भगवती दशम उद्देशे इष्ट,
> जघन्य ज्ञान आराधना सत-अठ भव उत्कृष्ट।
> वृत्तिकार कह्यू इह विध चरित्र सहित जे ज्ञान,
> तेहनी जघन्य आराधना तसु भव पहिचान।
> बीजा समदृष्टि तेना देशव्रती ना जेह,
> भव उत्कृष्ट असंख्य छै, न्याय वचन छै एह॥"

उक्त दोहों में टीकाकार के अर्थ को प्रामाणिक मानते हुए आचार्य जीतमलजी ने चारित्र रहित जघन्य ज्ञान-दर्शन एवं देशव्रत की आराधना से उत्कृष्ट असंख्य भव होना भी स्वीकार किया है। इससे इन्हें क्रियावादी मनुष्य और तिर्यंच के वैमानिक भव के अतिरिक्त अन्य भवों का ग्रहण करना भी स्वीकार करना होगा। क्योंकि जघन्य ज्ञान, दर्शन और देशव्रत के जिस आराधक को उत्कृष्ट असंख्य भव करके मोक्ष जाना है, वह अपने असंख्य भवों की पूर्ति सिर्फ मनुष्य और वैमानिक के भवों में नहीं कर सकता। क्योंकि भगवती सूत्र शतक २४ में मनुष्य भव से वैमानिक और वैमानिक के भव से मनुष्य का भव लगातार सात-आठ बार से अधिक होने का निषेध किया है। अतः उत्कृष्ट असंख्य भव करने वाले जघन्य ज्ञान, दर्शन एवं देशव्रत के आराधक को वैमानिक के अतिरिक्त अन्य भव भी करने होंगे। इस प्रकार जब उत्कृष्ट असंख्य भव करके मोक्ष जाने वाले जघन्य ज्ञान, दर्शन और देशव्रती पुरुष का वैमानिक के अतिरिक्त दूसरे भवों के आयु बंध का होना भ्रमविध्वंसनकार को स्वीकार है, तब क्रियावादी मनुष्य एवं तिर्यंच वैमानिक के अतिरिक्त दूसरे भव का आयु बांधते हैं, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। क्योंकि जघन्य ज्ञान, दर्शन एवं देशव्रत का आराधक पुरुष अक्रियावादी नहीं, क्रियावादी है। अतः भगवती सूत्र श० ३० उ० १ का नाम लेकर सभी क्रियावादी मनुष्य और तिर्यंच एक वैमानिक का ही आयु-बंध करते हैं, ऐसा कहना युक्ति संगत नहीं है।

सुव्रती : सम्यग्दृष्टि है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १३ पर उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन सात गाथा बीसवी को लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—"ए तो मिथ्यात्वी अनेक भला गुणा सहित नें सुव्रती कह्यो। ते करणी भली आज्ञा माही छै। अने जे क्षमादि गुण आज्ञा मे नही हुवे तो सुव्रती क्यो कह्यो। ते क्षमादि गुणो री करणी अशुद्ध होवे तो कुव्रती कहता। ए तो साप्रत भली करणी आश्रय मिथ्यात्वी नें सुव्रती कह्यो छै। अने जो सम्यग्दृष्टि वे तो मरी ने मनुष्य हुवे नही।"

उत्तराध्ययन सूत्र की वह गाथा दीपिका के साथ लिखकर समाधान कर रहे हैं—

"वे मायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहि सुव्वया।
उवेंति मानुसं जोणिं, कम्म सच्चाहु पाणिणो॥"

—उत्तराध्ययन सूत्र, ७, २०.

दीपिका—"मानुषं योनिं के व्रजंति तदाह—ये नरा विमात्राभिर्विविध प्रकाराभिः शिक्षाभिः गृहिसुव्रताः, गृहिणश्च ते सुव्रताश्च गृहिसुव्रताः। गृहीत सम्यक्त्वादि गृहस्थ द्वादशव्रताः सत्यान्यवंध्यफलानि ज्ञानावरणीयादीनि कर्माणि येषां ते सत्यकर्माणः। कर्मसत्याः प्राकृतत्वात्कर्म शब्दस्य प्राक् प्रयोगः ते जीवा "हु" इति निश्चयेन मानुषं योनिमुत्पद्यंते।"

"मनुष्य योनि में कौन जन्म लेते हैं, यह इस गाथा में बतलाया है। जो मनुष्य विविध प्रकार की शिक्षाओं से युक्त और गृहस्थ सम्बन्धी सम्यक्त्व आदि बारह व्रतों के धारक हैं और जिनके ज्ञानावरणीयादि कर्म अवश्य फल देनेवाले हैं, वे अवश्य मनुष्य योनि में जन्म ग्रहण करते हैं।"

यहाँ दीपिकाकार ने 'सुव्रत' शब्द का अर्थ बारह व्रतधारी किया है। अत प्रस्तुत गाथा मे प्रयुक्त सुव्रत पुरुष सम्यग्दृष्टि है, मिथ्यादृष्टि नही। इसलिए इस गाथा मे कथित सुव्रत पुरुष को मिथ्यादृष्टि बतलाना दीपिका से विरुद्ध है। यदि यह तर्क करे कि इस गाथा मे कथित सुव्रत पुरुष सम्यग्दृष्टि होता, तो वह मनुष्य भव मे क्यो जाता? क्योकि सम्यग्दृष्टि एक वैमानिक की ही आयु बाधते है। इस तर्क का समाधान इसके पूर्व के अध्याय मे विस्तार से सप्रमाण कर दिया गया है।

वरुण-नागनत्तूया

सामान्य व्रतधारी श्रावक का वैमानिक देव के अतिरिक्त दूसरा भव प्राप्त करना आगम के विधिवाद से आपने सिद्ध कर दिया, परन्तु कही चरितानुवाद मे इसका उदाहरण मिलता हो तो उसे भी बताएँ ?

भगवती श० ७, उ० ९ के मूलपाठ मे सामान्य व्रतधारी पुरुष का मनुष्य भव छोड़कर पुनः मनुष्य भव मे जन्म ग्रहण करने का उदाहरण मिलता है। वह पाठ यह है—

"तए णं तस्स वरुणस्स नागनत्तूयस्स एगे पियबालवयंसए रहमुसलं संगामं संगामेमाणे एगेणं पुरिसेणं गाढप्पहारीकए समाणे अत्थामे अबले जाव अधारणिज्जमिति कट्टु वरुणं नागनत्तूयं रहमुसलाओ संगामाओ पडिनिक्खममाणं पासइ-पासइत्ता तुरगे निगिण्हइ-निगिण्हित्ता जहा वरुणे जाव तुरए विसज्जेइ, पडिसंथारग दुरुहइ-दुरुहइत्ता पुरत्थाभिमुहे जाव अंजलिं कट्टु एवं वयासी—जइ णं भन्ते ! मम पियबालवयसस्स वरुणस्स नागनत्तूयस्स सीलाइं, वयाइं, गुणाइं, वेरमणाइं, पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं ताइ णं ममं पि भवन्तु त्ति कट्टु सण्णाहपट्ठं मुयइ-मुयइत्ता सल्लुद्धरणं करेइ-करेइत्ता आणुपुव्वीए कालगए।"

—भगवती सूत्र, ७, ९, ३०३

"उस समय वरुण-नागनत्तूया का प्रिय बाल मित्र रथमुसल नामक संग्राम में युद्ध करता हुआ किसी के द्वारा प्रगाढ़ प्रहार को प्राप्त होकर बहुत शक्तिहीन होगया। उसी समय उसने अपने बाल मित्र वरुण-नागनत्तूया को भी घायल होकर संग्राम भूमि से बाहर जाते हुए देखा। उसी तरह उसने भी युद्धभूमि से बाहर आकर घोड़े को जंगल में छोड़ दिया और अपने प्रिय-बाल मित्र वरुण-नागनत्तूया के समान कपड़े के संथारे पर बैठ गया। संथारे पर बैठकर,-पूर्वाभिमुख हो हाथ जोड़कर कहने लगा—"प्रिय बाल मित्र वरुण-नागनत्तूया के समान मेरे भी शील,व्रत, गुण, विरमण, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास आदि सत्कर्म हों।" यह कहकर उसने अपने सन्नाह को

निकाला और तत्पश्चात् अपने अंग में चुभे हुए बाण को निकाल कर मृत्यु को प्राप्त हुआ।"

इस पाठ में वरुण-नागनत्तूया के प्रिय बाल मित्र के द्वारा सामान्य रूप से बारह व्रत धारण करना कहा है। इस पाठ मे जो शील, व्रत, गुण और विरमण शब्द आए है, टीकाकार ने इनका अर्थ इस प्रकार किया है—

"वयाइं' त्ति अहिंसादीनि 'गुणाइं' त्ति गुणव्रतानि 'वेरमणाइं' त्ति सामान्येन रागादि विरतयः। 'पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं' त्ति प्रत्याख्यानं पौरुषादि विषयं पौषधोपवासः पर्व-दिनोपवासः।"

"यहाँ व्रत से अहिंसा आदि व्रत समझने चाहिए। गुण शब्द का अर्थ गुणव्रत और विरमण का अर्थ सामान्यतः राग आदि से निवृत्त होना समझना चाहिए। प्रत्याख्यान नाम पौरुषी आदि काल तक त्याग करने का है और पर्व के दिन उपवास करने का नाम पौषधोपवास है।"

यहाँ टीकाकार ने व्रतादि शब्दो का अहिंसा आदि अर्थ किया है। उन व्रतो को वरुण-नागनत्तूया के प्रिय बाल मित्र ने ग्रहण किया था, यह उक्त पाठ मे उल्लिखित है। इस प्रकार वरुण-नागनत्तूया का प्रिय बाल मित्र सामान्य रूप से बारह व्रतधारी था। और इस पाठ के आगे उसे मनुष्य भव मे जन्म लेने का लिखा है।

"तस्स णं भन्ते! वरुण-नागनत्तूयस्स पियबाल-वयंसए कालमासे कालं किच्चा कहिं गए, कहिं उववन्ने?

गोयमा! सुकुले पच्चायाते।

से णं भन्ते! तओ हिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छिहिति? कहिं उववज्जहिति?

गोयमा! महाविदेहेवासे सिज्झिहिति जाव अंतं करेहिति। सेवं भन्ते-भन्ते त्ति।"

—भगवती, ७, ९, ३०४

"हे भगवन्! वरुण-नागनत्तूये का प्रिय बाल मित्र मृत्यु को प्राप्त होकर किस योनि में उत्पन्न हुआ?

हे गौतम! वह मनुष्य लोक में उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ है।

अब वह किस योनि में जन्म लेगा?

वह मनुष्य भव से निकल कर महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य भव को प्राप्त करके सिद्ध होगा, यावत् कर्मों का अंत करेगा।"

प्रस्तुत पाठ मे सामान्य रूप से बारह व्रतधारी वरुण-नागनत्तूया के प्रिय बाल मित्र के लिए मनुष्य भव छोड़कर पुनः मनुष्य भव मे जन्म लेना कहा है। यह सामान्य व्रतधारी श्रावक का मनुष्य भव छोड़कर पुन. मनुष्य भव मे जन्म लेने का ज्वलन्त उदाहरण है। अत. उत्तराध्ययन सूत्र के अ० ७, गाथा २० मे कथित सुव्रत शब्द का अर्थ सामान्य व्रतधारी है, मिथ्यादृष्टि नही।

अज्ञानयुक्त तप : धर्म नहीं है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १६ पर उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ९ गाथा ४४ उद्धृत करके उसकी समालोचना करते हुए लिखते है—"अथ इहाँ तो मिथ्यात्वी नो मास-मास क्षमण तप सम्यग्दृष्टि ना चारित्र धर्म ने सोलमी कला न आवे एह वू कह्यो छै। ते चारित्र धर्म तो सवर छ, तेहने सोलमी कलाइ न आवे कह्यो। ते सोलमी कला नो इज नाम लेइ बत्तायो। पिण हजारवे इ भाग न आवे। तेहने सवर धर्म छै इज नथी। पिण निर्जरा धर्म आश्रय कह्यो नथी" इसके आगे पृष्ठ १७ पर लिखा है—"निर्जरा धर्म निर्मल छै। ते करणी तपस्या शुद्ध छै, आज्ञा माहि छै।"

उत्तराध्ययन सूत्र की वह गाथा लिखकर इसका समाधान कर रहे है—

"मासे-मासे उ जो बालो, कुसग्गेणं तु भुज्जइ।
न सो सुयक्खाय धम्मस्स, कल आघइ सोलसिं॥"

—उत्तराध्ययन ९, ४४

"जो पुरुष बाल-अज्ञानी है, वह प्रत्येक मास में कुश के अग्रभाग पर जितना आहार ठहरता है, उतना ही खाकर या कुश के अग्रभाग को खाकर रह जाए, तब भी वह जिनोक्त धर्म का आचरण करनेवाले पुरुष के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं होता।"

यहाँ मास-मास क्षमण का घोर तप करने वाले मिथ्यादृष्टि को जिनोक्त धर्म का आचरण करने वाले पुरुष के सोलहवे अश के बराबर भी नही कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि की कठिन-से-कठिन तपस्या भी वीतराग-आज्ञा मे नही है। यदि वह तप आज्ञा में होता, तो उस तप का आचरण करने से गाथोक्त मिथ्यादृष्टि पुरुप जिनोक्त धर्म का ही आचरण करने वाला होता और जब वह जिनोक्त धर्म का आचरण करनेवाला होता, तो उसके लिए प्रस्तुत गाथा में ऐसा उल्लेख कभी भी नही किया जाता कि "उक्त तप करने वाला मिथ्यादृष्टि जिनोक्त धर्म का आचरण करने वाले पुरुप के सोलहवे अश मे भी नही है।" क्योकि जो पुरुप जिनोक्त धर्म का आचरण न करके किसी अन्य धर्म का आचरण करता है, उसी व्यक्ति के लिए ऐसा कहा जा सकता है—"यह जिनोक्त क्रिया करने वाले व्यक्ति का सोलहवा अश भी नही है।" परन्तु जो जिनोक्त धर्म का ही आचरण करता है, उसके लिए ऐसा नही कह सकते। क्योकि वह स्वय

जिनोक्त धर्म का परिपालक है। प्रस्तुत गाथा मे वर्णित मिथ्यात्वी का तप वीतराग की आज्ञा मे नही है और उनकी आज्ञा मे नही होने के कारण उसका परिपालक बाल तपस्वी भी जिनोक्त धर्म का आचरण करने वाला नही है। अत उसे जिनोक्त धर्म का परिपालन करनेवाले पुरुष का सोलहवा अश भी नही होना कहा है। इससे मिथ्यादृष्टि की तपस्या स्पष्टत. जिन-आज्ञा से बाहर सिद्ध होती है। प्रस्तुत गाथा की टीका मे टीकाकार ने भी उक्त बाल तपस्वी की तपस्या को जिन-आज्ञा से बाहर बताया है।

"घोरस्यापि स्वाख्यातधर्मस्यैव धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयत्वादन्यस्यत्वात्मविघातादिवदन्यथात्वात्।"

"जो धर्म जिन भाषित है,वह यदि घोर-कठिन है,तब भी धर्मार्थी पुरुष के आचरण करने योग्य है। परन्तु जो घोर धर्म जिन-भाषित नहीं है, वह आत्म-घात आदि की तरह आचरण करने योग्य नहीं है।"

इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि उक्त बाल तपस्वी की मास-मास क्षमण की तपस्या घोर है, कठिन है, तथापि जिन-भाषित न होने के कारण धर्मार्थी पुरुष के आचरण करने योग्य नही है। यदि उक्त बाल तपस्वी की तपस्या जिन-भाषित धर्म मे होती, तो उसे टीकाकार जिन-भाषित धर्म मे नही होना कैसे कहते ? इससे यह प्रमाणित होता है कि उक्त बाल तपस्वी का मास-मास क्षमण का तप जिन-आज्ञा मे नही है। इसीलिए टीकाकार ने उसे आत्म-हत्या की तरह अनाचरणीय कहा है और मूल गाथा मे उसे जिन-भाषित धर्मका सोलहवा अश भी नही कहा है। तथापि भ्रमविध्वसनकार ने गाथोक्त बाल तपस्वी की मिथ्यात्व युक्त मास-मास क्षमण की तपस्या को वीतराग की आज्ञा मे कहा है, यह कथन आगम की मूल गाथा एव उसकी टीका के सर्वथा विरुद्ध है। यद्यपि अपनी कपोल कल्पित कल्पना को जिन-आज्ञा मे सिद्ध करने के लिए भ्रमविध्वसनकार ने यह कल्पना की है कि—"मिथ्यादृष्टि मे सवर नही होता,इसलिए उसे सवर धर्मवाले पुरुष के सोलहवे अश मे नही होना कहा है" परन्तु उनकी यह काल्पनिक उडान बिल्कुल निराधार है। प्रस्तुत गाथा मे कही भी सवर का उल्लेख नही किया है। 'स्वाख्यात-धर्म' शब्द का प्रयोग किया है। 'स्वाख्यात-धर्म' वह है, जो जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित है। इस जिन-भाषित धर्म के अतिरिक्त जो अन्य धर्म है—जिनोक्त धर्म नही है, उन सब को इस गाथा मे जिनोक्त धर्म के सोलहवे अश मे नही होना बतलाया है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि यहाँ जिन-भाषित धर्म और जो जिन-भाषित धर्म नही है, उसमे भेद बतलाया गया है। परन्तु यहाँ सवर और निर्जरा का विचार नही किया गया है। अत इस गाथा से यह दिन के उजेले की तरह स्पष्ट हो जाता है कि मिथ्यादृष्टि की तपस्या वीतराग की आज्ञा मे नही है।

बाल-तप : मोक्ष-मार्ग नहीं है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १७ पर सूत्रकृताग सूत्र की गाथा लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते है—

"इहां सूत्र मे इम कह्यो। जे मास ने छेडे भोगवे, तो पिण माया करे, ते माया थी अनन्त ससार भमे। ए तो माया ना फल कह्या छै, पिण तप ने खोटो कह्यो नथी। इहा तो अपूठो तप ने विशिष्ट कह्यो छै।" इसके आगे पृष्ठ १८ पर लिखा है—

"तिवारे कोई कहै–ए आज्ञा माहिलो करणी छै, तो मोक्ष क्यो वर्ज्यो। तेहनो उत्तर– एहने श्रद्धा ऊधी ते माटे मोक्ष नथी। पर मोक्ष नो मार्ग वर्ज्यो नथी। जे अव्रती सम्यग्दृष्टि ज्ञान सहित छै, जेहने पिण चारित्र विण मोक्ष नथी। पर मोक्षनो मार्ग कहिये।"

सूत्रकृताग सूत्र की उक्त गाथा लिखकर समाधान कर रहे है—

"जइ विय णिगणे किसे चरे
जइ विय भुंजिय मासमन्तसो।
जे इह मायाइ मिज्जई
आगन्ता गब्भाय णन्तसो ॥"

—सूत्रकृताग सूत्र १, २, १, ९

"जो पुरुष माया–अनन्तानुबन्धी कषायो से युक्त मिथ्यादृष्टि है, वह घर-बार आदि सब प्रकार के परिग्रहों को छोड़कर नंगा और कृश होकर विचरे तथा मास-मास पर्यन्त उपवास करता हुआ उसके अन्त में पारणा करे, तो भी वह अनन्त काल तक गर्भ में ही जाता है। उसका संसार घटता नहीं, बढ़ता है।"

प्रस्तुत गाथा मे कहा है कि मिथ्यादृष्टि पुरुष घर का परित्याग करके नगा और कृश होकर विचरे और मास-मास की तपस्या करके उसके अन्त मे पारणा करे,तब भी वह अनन्त काल तक गर्भवास को ही प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि की तपस्या वीतराग की आज्ञा में नही है। यदि वह आज्ञा मे होती, तो उस तपस्या से ससार का अत न होकर अनन्त काल तक गर्भवास मे क्यो उत्पन्न होता ? जो क्रिया वीतराग की आज्ञा मे है, उसका

आचरण करनेवाला पुरुष कदापि अनन्त संसारी नही होता। यदि वीतराग भाषित क्रिया का आचरण करने पर भी संसार का अंत न हो,तो फिर मोक्षार्थियो के लिए आश्रय ही नही रहेगा। मिथ्यादृष्टि को वीतराग की आज्ञा में होनेवाली क्रिया का आराधक मानना और उस क्रिया के करने पर अनन्त काल तक गर्भावास की प्राप्ति कहना अज्ञान का ही परिचायक है।

इस गाथा में मिथ्यादृष्टि के तप को अनन्त काल तक गर्भवास का कारण बताकर,उसे मोक्ष-मार्ग के बाहर कहा है। अत. इस गाथा एवं इसके आगे की गाथा का इससे सम्बन्ध मिलाते हुए टीकाकार ने लिखा है—

"यतो मिथ्यादृष्ट्युपदिष्ट तपसाऽपि न दुर्गतिमार्ग निरोधोऽतो मदुक्त एव माग स्थेयम् इत्येतत्संदर्भमुपदेशं दातुमाह।"

"मिथ्यादृष्टियों से उपदिष्ट तपस्या दुर्गति के मार्ग को नहीं रोक सकती। इसलिए मेरा बताया हुआ मार्ग—वीतराग भाषित धर्म में ही रहना चाहिए। यह उपदेश देने के लिए ही आगे की गाथा कही है।"

इसमे मिथ्यात्वी के तप को मिथ्यादृष्टियो से उपदिष्ट कहा है,वीतराग द्वारा प्ररूपित नही। अत वह स्पष्टतः वीतराग-आज्ञा के बाहर सिद्ध होता है। यदि वह आज्ञा मे होता, तो उससे दुर्गति का निरोध क्यो नही होता? और उसका त्याग करके वीतराग भाषित धर्म मे आने की भी क्या आवश्यकता है? यदि यह वीतराग भाषित हो तो फिर इसके आगे की गाथा मे वीत-राग भाषित धर्म मे आने के लिए क्यो कहा जाता? इसलिए मिथ्यात्वी का तप जिनोक्त धर्म एव मोक्ष-मार्ग में नही होना स्पष्ट सिद्ध होता है। तथापि इस गाथा का अन्यथा तात्पर्य बत-लाकर भ्रमविध्वंसनकार ने यह भ्रम फैलाया है—"मिथ्यादृष्टि की तपस्या तो वीतराग की आज्ञा में ही है, पर मिथ्यादृष्टि माया करता है, इसलिए उसे यहाँ अनन्त काल तक गर्भवास भोगना कहा है।" इनका यह कथन इस गाथा के सर्वथा विपरीत है।

इस गाथा मे मिथ्यादृष्टि के तप को मोक्षार्थी पुरुष के लिए सर्वथा त्यागने योग्य बताने के लिए उससे दुर्गति का निरोध नही होना कहा है। यदि वह तपस्या मोक्ष-मार्ग मे होती तो उसका परित्याग करने का उपदेश क्यो देते? और "जे इह मायाइ मिज्जइ" इस गाथा में जो यह वाक्य प्रयुक्त हुआ है उसका यह अर्थ नही है—"जो पुरुष माया करता है"। टीकाकार ने इसका यह अर्थ किया है—

"य. तीर्थिकः मायादिनामीयते उपलक्षणार्थत्वात्कषायैर्युक्त इत्येवं परि-च्छिद्यते।"

"जो पुरुष माया आदि अर्थात् कषायों से युक्त कहकर बतलाया जाता है,वह पुरुष मिथ्या-दृष्टि है। उसका निर्देश करने के लिए ही इस गाथा में "जे इह मायाइ मिज्जइ" वाक्य का प्रयोग किया है। अतः इसका आश्रय लेकर माया के कारण संसार का अंत नहीं होना बतला-कर मिथ्यादृष्टि के तप को मोक्ष-मार्ग में बताना यथार्थता से दूर है।"

यदि माया के कारण अनन्त काल तक गर्भवास भोगना पडे तो दशम गुणस्थान तक के जीवो को भी अनतकाल तक गर्भवास भोगना चाहिए। क्योकि आगम मे दशम गुणस्थान पर्यन्त कषाय का होना बतलाया है। परन्तु दशम गुणस्थानवर्ती जीव कदापि अनन्त ससारी नही

होते। अतः उनका कथन आगम विरुद्ध है। इसलिए इस गाथा का नाम लेकर माया के कारण अनन्त काल तक गर्भावास भोगने की कल्पना करके मिथ्यात्वी के तप को मोक्ष-मार्ग में कहना उचित नही है।

चतुर्थ गुणस्थान वाले अव्रती सम्यग्दृष्टि की तरह अकाम निर्जरा की क्रिया करने वाले पुरुष को मोक्ष-मार्ग का आराधक कहना मिथ्या है। अव्रती सम्यग्दृष्टि मे ज्ञान-दर्शन रूप मोक्ष-मार्ग है। और वह उत्कृष्ट असख्य भव करके मोक्ष जाता है। परन्तु अकाम निर्जरा की क्रिया करने वाले मिथ्यात्वी में ज्ञान-दर्शन और चारित्र रूप मोक्ष-मार्ग का कोई भी अश नही है और वह अनन्त काल तक ससार में ही परिभ्रमण करता है। इसलिए अव्रती सम्यग्दृष्टि की तरह अकाम-निर्जरा की क्रिया करने वाले को मोक्ष-मार्ग का आराधक बताना आगम से सर्वथा विपरीत है।

सुप्रत्याख्यान और दुष्प्रत्याख्यान

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १९ पर भगवती सूत्र श० ७, उ० २ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"तथा वली मिथ्यात्वी त्रस जाण ने त्रस हणवारा त्याग करे, तेहने संवर न हुवे, ते माटे दुपचक्खाण कहीजे। पचक्खाण नाम संवर नो छै। तेहने संवर नहीं, ते भणी तेहना पचक्खाण दुपचक्खाण छै। पिण निर्जरा नो शुद्ध छै। ते निर्जरा रे लेखे निर्मल पचक्खाण छै।"

भगवती सूत्र का वह पाठ लिखकर, इसका समाधान कर रहे हैं—

"से णूणं भन्ते! सव्व-पाणेहि, सव्व-भूएहिं, सव्व-जीवेहि, सव्व-सत्तेहिं पच्चक्खायमितिवदमाणस्स सुपच्चक्खायं भवइ, दुपच्चखायं भवइ ?

गोयमा! सव्व-पाणेहिं जाव सव्व-सत्तेहि पचक्खायमिति वदमाणस्स सिय सुपच्चक्खायं भवइ, सिय दुपच्चक्खायं भवइ।

से केणट्ठे ण भन्ते! एव वुच्चइ सव्व-पाणेहि जाव सव्व-सत्तेहिं जाव सिय दुपच्चक्खायं भवइ ?

गोयमा! जस्स णं सव्व-पाणेहि जाव सव्व-सत्तेहि पच्चक्खायमिति वदमाणस्स णो एवं अभिसमण्णागयं भवइ इमे जीवा, इमे अजीवा, इमे तसा, इमे थावरा तस्स णं सव्व-पाणेहि जाव सव्व-सत्तेहि पच्चक्खायमिति वदमाणस्स नो सुपच्चक्खायं भवइ, दुपच्चक्खायं भवइ। एवं खलु से दुपच्चक्खाइ सव्व-पाणेहि जाव सव्व-सत्तेहि पच्चक्खायमिति वदमाणे नो सच्चं भासं भासइ, मोसं भासं भासइ। एव खलु से मुसावाई सव्व-पाणेहि जाव सव्व-सत्तेहि तिविहं तिविहेण असंजय-विरय-पडिहय-

पच्चक्खाय-पावकम्मे, सकिरिए, असंबुडे, एगंतदण्डे, एगतबाले यावि भवइ।"

—भगवती सूत्र, ७, २, २७१

"हे भगवन्! जो पुरुष यह कहता है कि मैंने सब प्राणियो से लेकर यावत् सब सत्वों के हनन का त्याग कर दिया है, उसका वह प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है या दुष्प्रत्याख्यान?

हे गौतम! किसी जीव का सुप्रत्याख्यान होता है और किसी का दुष्प्रत्याख्यान भी होता है।

इसका क्या कारण है?

हे गौतम! जो व्यक्ति यह कहता है कि मैंने सब प्राणियों से लेकर सब सत्वो को मारने का त्याग कर दिया है, वह यदि यह नहीं जानता है कि यह जीव है, यह अजीव है, यह त्रस है, यह स्थावर है, तो उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। इस प्रकार वह दुष्प्रत्याख्यानी पुरुष यह कहता हुआ—"मुझे सब जीवो के हनने का त्याग है", सत्य नही बोलता है, वह झूठ बोलता है। वह तीन करण और तीन योग से संयमी, विरति युक्त, पापों का हनन एवं प्रत्याख्यान किए हुए नही है। वह कायिकी आदि क्रियाओ से युक्त है, संवर रहित है, प्राणियों को एकान्त दण्ड देने वाला है और एकान्त बाल है।"

प्रस्तुत पाठ मे जिस व्यक्ति को जीव, अजीव, त्रस, और स्थावर का ज्ञान नही है, उसको कायिकी आदि क्रियाओ से युक्त, संवरसे रहित, प्राणियोको एकान्त दण्ड देनेवाला और एकान्त-बाल कहकर उसके प्रत्याख्यान को दुष्प्रत्याख्यान एव उसे मिथ्यावादी कहा है। इससे मिथ्या-दृष्टि की प्रत्याख्यान आदि क्रिया वीतराग की आज्ञा से बाहर और मोक्ष का अमार्ग सिद्ध होती है। तथापि भ्रमविध्वसनकार भोले जीवो को भ्रम मे डालने के लिए यह कहते है—"मिथ्या-दृष्टि भी त्रस को त्रस जानकर उसके हनन का त्याग करता है, परन्तु उसमे सवर नही होता, इसलिए उसके प्रत्याख्यान को इस पाठ मे दुष्प्रत्याख्यान कहा है।" परन्तु इनका यह कथन सर्वथा आगम विरुद्ध है। जो पुरुष त्रस को त्रस जानकर उसके हनन का त्याग करता है, वह एकान्त सवर रहित, एकात बाल और एकात प्राणियो को दण्ड देनेवाला नही है, किन्तु देश से (त्रस के विषय मे) प्राणियो को दण्ड न देने वाला, देश से पण्डित और देश से सवर युक्त है। इसलिए वह मिथ्यादृष्टि नही, सम्यग्दृष्टि है। यहाँ उसके प्रत्याख्यान को दुष्प्रत्याख्यान नही कहा है। क्योकि उसका प्रत्याख्यान अज्ञान पूर्वक नही है। जिसका प्रत्याख्यान अज्ञान पूर्वक होता है, उसी के प्रत्याख्यान को यहाँ दुष्प्रत्याख्यान कहा है। अत जो त्रस को त्रस, स्थावर को स्थावर नही जानता और यह कहता है कि मैंने जीवो के हनन का त्याग कर दिया है, उस असत्यवादी एव मिथ्यादृष्टि के प्रत्याख्यान को दुष्प्रत्याख्यान कहकर उसे आज्ञा बाहर बताया है। त्रस को त्रस जानकर उसके हनन का त्याग करने वाले पुरुष को मिथ्यादृष्टि बता कर उसके प्रत्याख्यान को सुप्रत्याख्यान कहना नितान्त असत्य है, एकान्त रूप से मिथ्या है।

भ्रमविध्वसनकार यहाँ यह भी कहते है—"मिथ्यादृष्टि मे जो निर्जरा होती है, वह निर्मल है और उसकी अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है।" परन्तु यह उनकी अपनी कपोल-कल्पना मात्र है। आगम मे कही भी ऐसा उल्लेख नही मिलता कि मिथ्यादृष्टि का प्रत्याख्यान उसकी निर्जरा की अपेक्षा से सुप्रत्याख्यान होता है। इसलिए इस पाठ मे मिथ्यादृष्टि के प्रत्याख्यान को स्पष्टत दुष्प्रत्याख्यान कहने पर भी अपने मत के मिथ्या आग्रह मे आकर उसे सुप्रत्याख्यान कहना आगम से विरुद्ध एवं अप्रामाणिक है।

अज्ञान : संसार है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २१ पर सूत्रकृताग सूत्र श्रु० १, अ० ८, गाथा २२ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ अठे तो इम कह्यो—जे तत्त्व ना अजाण मिथ्यात्वी नो जेतलो अशुद्ध पराक्रम छै, ते सर्व ससार नो कारण छै। अशुद्ध करणी जो कथन इहा चाल्यो नथी।"

सूत्रकृताग सूत्र की वह गाथा लिखकर समाधान कर रहे हैं :—

"जे याऽबुद्धा महाभागा, वीरा असम्मत्तदंसिणो।
असुद्ध तेसि परक्कं तं सफलं होइ सव्वसो॥"

—सूत्रकृताग सूत्र, १, ८, २२.

"जो पुरुष तत्त्व के अर्थ से अनभिज्ञ महाभाग—ससार में पूजनीय, वीर, असम्यग्दर्शी—सम्यग्ज्ञान आदि से रहित है, उनके द्वारा किए हुए तप, अध्ययन और नियम आदि रूप पुरुषार्थ सभी अशुद्ध और कर्म-बन्ध के ही कारण होते है।"

प्रस्तुत गाथा मे मिथ्यादृष्टि के द्वारा आचरित तप-अध्ययन आदि सभी परलोक सम्बन्धी कार्य अशुद्ध एव कर्म बन्ध के कारण कहे हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि की क्रिया मोक्ष-मार्ग मे नही है और उन क्रियाओ का अनुष्ठान करने के कारण वह मोक्ष-मार्ग का आराधक भी नही है।

जैनेतर दर्शन में भी अज्ञानी के कार्य को मुक्ति का कारण नही माना है, बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है—

"यो वा एतदक्षरं गार्ग्य! विदित्वाऽस्मिल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्ष सहस्राण्यन्तवदे वास्यतद् भवति।"

—बृहदारण्यक, ३, ९, ३०.

"हे गार्गी! जो अविनाशी आतमा को बिना जाने इस लोक में होम करता है, यज्ञ करता है, तपस्या करता है, वह चाहे हजारो वर्षों तक इन क्रियाओ को करता रहे, पर वह संसार के लिए है।

इसी तरह कठोपनिषद् में भी लिखा है—

"यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचि ।
न स तत्पद्माप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्क. सदा शुचि. ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥"

"जो ज्ञानवान नहीं है, वह भली-भाँति विचार नहीं कर सकता और वह सदा अपवित्र है। अत वह मोक्ष नहीं पा सकता, प्रत्युत संसार मे ही भ्रमण करता रहता है।

जो ज्ञानवान है, वह यथार्थ विचार कर सकता है,वह सदा पवित्र है। अत वह ऐसे पद को प्राप्त करता है, जिससे फिर कभी वापिस लौटना नहीं पड़ता।"

इसमे अज्ञानी को सदा अपवित्र वताया है। 'सदा' शब्द देने का तात्पर्य यह है कि अज्ञानी चाहे जब जो क्रियाएँ करे पर ज्ञान का अभाव होने के कारण उसकी सव क्रियाएँ पवित्रता का नही, अपवित्रता का कारण ही होती है।

उक्त उपनिषद् वाक्यो मे जैसे अज्ञानी की परलोक सम्वन्धी क्रिया को ससार का कारण ही कहा है। ठीक उसी तरह सूत्रकृताग सूत्र की उक्त गाथा मे भी मिथ्यात्वी की सभी क्रियाओ को अशुद्ध एव ससार का कारण कहा है। तथापि भ्रमविध्वसनकार ने लिखा है—"मिथ्यात्वी नो जेतलो अशुद्ध पराक्रम छै, ते सर्व ससार नो कारण छै। अशुद्ध करणी रो कथन इहाँ कह्यो। अने शुद्ध करणी रो कथन तो इहा चाल्यो नथी।" यह आगम से विरुद्ध है।

प्रस्तुत गाथा मे मिथ्यादृष्टि को परलोक सम्वन्धी-तप-दान अध्ययन आदि क्रियाओ को अशुद्ध एव ससार का कारण कहा है। परन्तु उनके सग्राम, कुशील आदि क्रियाओ का कथन नही किया है। क्योकि कुशीलादि क्रियाएँ चाहे मिथ्यादृष्टि की हो या सम्यग्दृष्टि की, ससार के लिए ही होती है। उनसे परलोक की आराधना का नही होना अन्य दर्शनवालो को भी मान्य है। अतः इस गाथा मे कुशीलादि क्रियाओ का कथन नही है। टीकाकार ने भी टीका मे उक्त गाथा का यही अर्थ किया है।

"तेषां बालानां यत्किमपि तपोदानाध्ययन-नियमादिषु पराक्रान्तमुद्यमकृतं तदविशुद्धमविशुद्धकारि।"

"अज्ञानी का जो तप, दान, अध्ययन,नियम आदि में उद्योग होता है, वह सभी अशुद्धि का ही कारण होता है।"

यहाँ टीकाकार ने मिथ्यादृष्टियो के तप, दान, अध्ययन आदि मे जो उद्योग होता है, उसको उक्त गाथा मे अशुद्ध कहा जाना वतलाया है। अत उक्त गाथा मे मिथ्यादृष्टि की पारलौकिक क्रियाओ का कथन न मानकर कुशीलादि अशुद्ध क्रियाओ का कथन वतलाना, मिथ्या है।

इस गाथा मे मिथ्यादृष्टि की जिन क्रियाओ को अशुद्ध और कर्म वन्ध का कारण कहा है, इसके आगे की गाथा मे सम्यग्दृष्टि की उन्ही क्रियाओ को शुद्ध और कर्म-क्षय का हेतु कहा है।

"जे य बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत-दसिणो।
सुद्धं तेसिं परक्कं तं अफलं होइ सव्वसो॥"

—सूत्रकृताग सूत्र १, ८, २३

"जो पुरुष तत्त्व का ज्ञाता, महापूज्य,कर्म को विदारण-क्षय करने में समर्थ,सम्यग्दृष्टि है, उसके तप, दान, अध्ययन, नियम आदि सभी परलोक सम्बन्धी कार्य शुद्ध और कर्म क्षय के कारण होते हैं।"

यहाँ सम्यग्दर्शी पुरुष के परलोक सम्बन्धी तप,दान, अध्ययन, नियम आदि रूप-कार्य को शुद्ध एवं कर्म क्षय का हेतु कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शी के परलोक सम्बन्धी कार्य मोक्ष-मार्ग में है, मिथ्यादर्शी के नही। क्योकि इसके पूर्व की गाथा मे मिथ्यादृष्टि के इन्ही कार्यो को अशुद्ध और कर्म बन्ध का कारण कहा है। परन्तु कुछ व्यक्ति यह कहते है कि "इस गाथा मे सम्यग्दृष्टि की शुद्ध-परलोक सम्बन्धी क्रियाओ का वर्णन है और इसकी पूर्व की गाथा मे मिथ्यादृष्टि की अशुद्ध कुशीलादि क्रियाओ को अशुद्ध कहा है। अत मिथ्यादृष्टि की बाल तपस्या आदि पारलौकिक क्रियाएँ मोक्षमार्ग मे ही है।" ऐसा कहने वाले उक्त गाथाओ के यथार्थ अर्थ को नही समझते है। यदि उक्त दोनो गाथाओ का यही तात्पर्य हो कि "मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनो की तप-अध्ययन आदि क्रियाएँ शुद्ध हैं" तो आगमकार को दो गाथाएँ लिखने की क्या आवश्यकता थी। एक ही गाथा मे लिख देते कि कुशीलादि क्रियाएँ अशुद्ध एव कर्म बन्ध का कारण होती हैं और तप आदि क्रियाएँ शुद्ध तथा मोक्ष के लिए होती हैं। परन्तु यहाँ एक गाथा न कहकर दो गाथाएँ दी है, उसका अभिप्राय सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की पारलौकिक क्रियाओ में जो अन्तर है, उसे स्पष्ट करना है। वह अन्तर यह है कि मिथ्यात्वी की तप-दान आदि पारलौकिक क्रियाएँ अशुद्ध और कर्म बन्ध की कारण हैं। क्योकि वे अज्ञान पूर्वक की जाती है। और सम्यग्दृष्टि की ये क्रियाएँ शुद्ध और कर्म क्षय का कारण हैं। क्योकि वे सम्यग्ज्ञान पूर्वक की जाती हैं। अतः उक्त उभय गाथाओ का अन्यथा अर्थ बताकर मिथ्यादृष्टि की क्रिया को मोक्षमार्ग मे बताना आगम सम्मत नही है।

मिथ्यादृष्टि और शुद्ध श्रद्धा

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २७ पर लिखते है "मिथ्यात्व छै जेहने तिण ने मिथ्यात्वी कह्यो। तेहने कतिपय श्रद्धा सवली छै अनें केयक वोल ऊधा छै। तिहाँ जे-जे वोल ऊधा ते तो मिथ्यात्व अने जे केतला एक वोल सउली श्रद्धा रूप शुद्ध छै ते प्रथम गुणठाणे छै। मिथ्यात्वी ना जेतला गुण ते मिथ्यात्व गुणठाणो छै।" इसके आगे पृ० २८ पर लिखा है—

"तिवारे कोई कहे–प्रथम गुणठाणे किसा वोल सवला छै। तेहनो उत्तर– जे मिथ्यात्वी गाय ने गाय श्रद्धे, मनुष्य ने मनुष्य श्रद्धे, दिन ने दिन श्रद्धे, सोना ने सोनो श्रद्धे, इत्यादि जे सवली श्रद्धा छै, ते क्षयोपशम भाव छै।"

प्रथम गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि मे जीवादि पदार्थों की एक भी श्रद्धा शुद्ध नही होती। उनके सब श्रद्धान विपरीत होते है। इसलिए प्रथम गुणस्थान का नाम 'मिथ्यादृष्टि गुणस्थान' रखा है। जिसमे मिथ्यादृष्टि–मिथ्यादर्शन रूप गुण की स्थिति है, वह प्रथम गुणस्थान का स्वामी है।

यदि यह कहे कि मिथ्यादृष्टि मे कई पदार्थों की श्रद्धा सम्यक् होती है, उस सम्यक् श्रद्धा रूप गुण का भाजन होने से वह प्रथम गुणस्थान का स्वामी है। यथा मिथ्यादृष्टि गाय को गाय, मनुष्य को मनुष्य, सोने को सोना श्रद्धते है। उनका यह श्रद्धान सम्यक् है, यह कथन सत्य नही है। मिथ्यादृष्टियो के सभी ज्ञानो मे कारण विपर्यय, स्वरूप विपर्यय, और सम्वन्ध विपर्यय वना रहता है। जिससे उनको सभी पदार्थो का ज्ञान विपरीत रूप से होता है, सम्यक्तया नही होता। उक्त तीनो विपर्ययो का स्वरूप इस प्रकार है—

"जिस पदार्थ का जो कारण नही है, उसका वह कारण जानना, 'कारण-विपर्यय' कहलाता है। यथा घट-पट आदि रूपो पदार्थ रूपवान पुद्गलो से वनें है, तथापि कुछ विचारक उन्हे अमूर्त द्रव्यो से निर्मित वताते है। उनका घट-पट आदि का ज्ञान कारण-विपर्यय होने से अज्ञान है। यद्यपि वे घट-पट आदि को घट-पट कहकर सम्बोधित करते है तथापि उनका घट-पट सम्बन्धी ज्ञान यथार्थ नही होने से अज्ञान है।"

"जिस वस्तु का जैसा स्वरूप नही है, उसका वैसा स्वरूप मानना, 'स्वरूप-विपर्यय' कहलाता है। जैसे घट-पट आदि पदार्थ नित्यानित्य है। तथापि कुछ विचारक उन्हें एकान्त नित्य

कहते है और कुछ विचारक उन्हे एकान्त रूप से अनित्य। अतः उनका घट-पट आदि का ज्ञान 'स्वरूप-विपर्यय' के कारण अज्ञान है।"

"कारण-कार्य का जो परस्पर सम्बन्ध है, उसे न मानकर उसके विपरीत मानना 'सम्बन्ध-विपर्यय' कहलाता है। जैसे—घट और उसके कारण का कथचित् भेदाभेद सम्बन्ध है, उसे न मानकर कुछ विचारक उनमे एकान्त भेद और कुछ विचारक एकान्त अभेद सम्बन्ध मानते हैं, इसलिए उनका यह घट आदि का ज्ञान 'सम्बन्ध-विपर्यय' के कारण अज्ञान है।"

इस प्रकार मिथ्यादृष्टियो का ज्ञान कारण-विपर्यय, स्वरूप-विपर्यय, और सम्बन्ध-विपर्यय रूप मिथ्यात्व से युक्त होने के कारण अज्ञान है, सम्यग्ज्ञान नही। अत मिथ्यादृष्टि के घट-पट आदि ज्ञान को सम्यक् श्रद्धा रूप बतलाना एकान्त मिथ्या है।

यदि मिथ्यादृष्टि मे थोड़ी-सी भी सम्यक् श्रद्धा नही है, तब उसे गुणस्थान मे कैसे गिना जाय ? इसका उत्तर यह है कि सम्यक् श्रद्धा को लेकर चतुर्दश गुणस्थान नही कहे है। उनका कथन कर्म विशुद्धि के उत्कर्ष और अपकर्ष को लेकर किया गया है। इसलिए सम्यक् श्रद्धा नही होने पर भी मिथ्यादृष्टि जीव गुणस्थान मे गिना गया है। जिस जीव में कर्म की विशुद्धि सबसे निकृष्ट है, वह प्रथम गुणस्थान का स्वामी है और ज्यो-ज्यो कर्मो की विशुद्धि होती जाती है, त्यो-त्यो वह उन्नति करता हुआ ऊपर के गुणस्थानो का स्वामी होता जाता है। मिथ्यादृष्टि मे जो मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान है, वह कर्म की विशुद्धि मे है। उसी को लेकर वह प्रथम गुण-स्थान मे गिना गया है, सम्यक् श्रद्धा को लेकर नही। समवायाग मे कर्म विशुद्धि के उत्कर्ष-अपकर्ष का विचार करके चवदह गुणस्थानो का वर्णन किया है, सम्यक् श्रद्धा को लेकर नही।

"कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस जीव ठाणा पण्णत्ता तं जहा—मिच्छदिट्ठी, सासायण-सम्मदिट्ठी, सम्म-मिच्छदिट्ठी, अविरत-सम्म-दिट्ठी, विरयाविरए, पमत्त-सजए, अपमत्त-सजए, नियट्टि-वायरे, अनियट्टि-वायरे, सुहुम-संपराए--उपसमएवा-खवएवा, उवसन्त-मोहे, खीण-मोहे, सयोगी-केवली, अयोगी-केवली।"

—समवायाग, १४

"कर्म की विशुद्धि की गवेषणा-उत्कर्ष और अपकर्ष का विचार करके जीवो के चवदह स्थान-भेद कहे हैं—१ मिथ्यादृष्टि, २ सास्वादान सम्यग्दृष्टि, ३ सम्यक्-मिथ्यादृष्टि, ४ अविरत सम्यग्-दृष्टि, ५ विरताविरत, ६ प्रमत्त संयत, ७ अप्रमत्त संयत, ८ निवृत्ति बादर, ९ अनिवृत्ति बादर, १० सूक्ष्मसंपराय—यह दो तरह का होता है, एक उपशमक और दूसरा क्षपक, ११ उपशान्त मोह, १२ क्षीण मोह, १३. सयोगी केवली, १४ अयोगी केवली।"

प्रस्तुत पाठ मे कर्म विशुद्धि के उत्कर्ष-अपकर्ष के विचार से गुणस्थानो का कथन किया है, सम्यक् श्रद्धा को लेकर नही। अत. सम्यक् श्रद्धा को लेकर गुणस्थानो का कथन बताना मिथ्या है। यहाँ जो कर्म विशुद्धि का उल्लेख किया है, वह कर्मो के क्षयोपशम भाव रूप है। मिथ्यादृष्टि का जो मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान है, वह क्षयोपशम भाव है। इसलिए उसके मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान को लेकर मिथ्यादृष्टि को प्रथम गुणस्थान मे कहा है। अनुयोग-द्वार सूत्र में मिथ्यादर्शन को भी क्षयोपशम भाव में होना बतलाया है।

"खओवसमिआ मइ-अण्णाणलद्धी, खओवसमिआ सुय-अण्णाणलद्धी, खओवसमिआ विभंग-णाणलद्धी,खओवसमिआ चक्खु-दसणलद्धी, खओ-वसमिआ अचक्खु-दंसणलद्धी, ओहि-दसणलद्धी एवं सम्म-दंसणलद्धी, मिच्छा-दंसणलद्धी, सम्ममिच्छा-दंसणलद्धी एवं पण्डिय-वीरियलद्धी, बाल-वीरियलद्धी, वाल-पण्डिय-वीरियलद्धी, खओवसमिआ सोइन्दिय-लद्धी, जाव खओवसमिआ पासेन्दिय-लद्धी ।"

—अणुयोगद्वार सूत्र १२६

"मति अज्ञान लब्धि, श्रुत अज्ञान लब्धि, विभंग ज्ञान लब्धि, चक्षु दर्शन लब्धि, अचक्षु दर्शन लब्धि, अवधि-दर्शन लब्धि, सम्यग्दर्शन लब्धि, मिथ्यादर्शन लब्धि, सम्यक्-मिथ्यादर्शन लब्धि, पण्डितवीर्य लब्धि, बालवीर्य लब्धि, बाल-पण्डितवीर्य लब्धि, श्रोत्रेन्द्रिय यावत् स्पर्शेन्द्रिय लब्धि, ये सब अपने-अपने आवृत कर्मों के क्षयोपशम होने से उत्पन्न होती हैं, अतः ये क्षायोपशमिक कहलाती हैं।"

यहाँ मिथ्यादर्शन लब्धि और मति अज्ञान आदि लब्धियो को क्षयोपशम से उत्पन्न होना कहा है। अत मिथ्यादृष्टि का मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान क्षायोपशमिक भाव मे है, इसी अपेक्षा से वह प्रथम गुणस्थान मे गिना गया है, किसी सम्यक् श्रद्धा को लेकर नही।

यदि यह कहे कि मिथ्यादर्शन लब्धि क्षयोपशम से उत्पन्न होती है, तब उसे वीतराग आज्ञा मे क्यो नही मानते ? इसका समाधान यह है कि क्षयोपशम से उत्पन्न होने मात्र से कोई लब्धि वीतराग आज्ञा मे नही हो जाती। क्योकि मति अज्ञान लब्धि, श्रुत अज्ञान लब्धि और विभंग-ज्ञान लब्धि भी क्षयोपशम से उत्पन्न होती है तथापि वह त्यागने योग्य होने के कारण वीतराग की आज्ञा मे नही है। उसी तरह मिथ्यादर्शन लब्धि भी त्यागने योग्य होने से वीतराग आज्ञा मे नही है। आवश्यक सूत्र मे मिथ्याज्ञान-दर्शन को त्यागने योग्य कहा है।

"मिच्छत्त परियाणामि, सम्मत्तं उवसंप्पज्जामि। अन्नाणं परियाणामि, नाण उवसंप्पज्जामि।"

"साधु प्रतिज्ञा करता है कि मैं मिथ्यात्व और अज्ञान का परित्याग करके, सम्यक्त्व और ज्ञान को स्वीकार करता हूँ।"

इस पाठ मे मिथ्यात्व और अज्ञान को त्यागने योग्य कहा है। अत. जैसे अज्ञान क्षायोप-शमिक भाव मे होने पर भी आज्ञा में नही है, उसी तरह मिथ्यादर्शन भी त्यागने योग्य होने के कारण आज्ञा मे नही है।

यदि कोई यह कहे कि मिथ्यादर्शन लब्धि क्षयोपशम से उत्पन्न होती है,तो उसमे कर्म बन्ध क्यो होता है ?इसका उत्तर यह है कि क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाली लब्धि भी कर्म बन्ध का कारण होती है। जैसे बालवीर्य लब्धि क्षयोपशम से ही उत्पन्न होती है, परन्तु वह आरभ आदि सासारिक कार्यो मे प्रयुक्त होने से कर्म बन्ध का हेतु होती है,उसी तरह अज्ञान और मिथ्यादर्शन क्षयोपशम से उत्पन्न होने पर भी विपरीत कार्यो मे लगे हुए होने से कर्म बन्ध के कारण होते हैं। अत जो व्यक्ति यह कहते है कि मिथ्यादृष्टि—मिथ्यादर्शन क्षयोपशम भाव में है और क्षयोपशम-भाव कर्म बन्ध का कारण नही होता,इसलिए मिथ्यादृष्टि गुणस्थान वीतराग की आज्ञा मे है, उनका यह कथन आगम विरुद्ध है।

असोच्चा-केवली

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३२ पर भगवती श० ९, उ० ३१ का मूलपाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—"अथ इहा असोच्चा केवली ने अधिकारे इम कह्यो जे कोई वाल तपस्वी साधु श्रावक पासे धर्म सुण्या विना बेले-बेले तप करे,सूर्य साहमी आतापना लेवे। ते प्रकृति भद्रीक,विनीत, उपशान्त, स्वभावे पतला क्रोध,मान,माया, लोभ, मृदु-कोमल, अहकार रहित एवा गुण कह्या। ए गुण शुद्ध छै, के अशुद्ध छै, ए गुण निरवद्य छै, के सावद्य छै।"

इनके कहने का तात्पर्य यह है कि असोच्चा केवली के अधिकार मे उक्त वाल-तपस्वी के प्रकृति भद्रिकता आदि गुणो और तपस्या को वीतराग की आज्ञा मे कहा है, आज्ञा वाहर नही।

भगवती सूत्र का उक्त पाठ लिखकर समाधान कर रहे है—

"तस्स ण भन्ते ! छट्ठ-छट्ठेणं अणिक्खित्तेण तवो कम्मेण उड्ढबाहाओ पगिज्झिय २ सूराभिमुहस्स आयावण भूमिय आयावेमाणस्स पगइभद्दयाए पगइउवसन्तयाए पगइयतणु कोह-माण-माया-लोभयाए मिउ-मद्दव सम्पन्नयाए अल्लीवणयाए भद्दयाए विणीययाए अन्नया कयाइ सुभेण अज्झवसाएण सुभेण परिणामेण लेस्सहि विसुज्झमाणीहि तयावरणिज्जाण कम्माण खओवसमेण इहापोह-मग्गण-गवेसण करेमाणस्स विभगे नाम नाणे समुपज्जइ से ण ते ण विभगनाणसमुपन्ने णं जहन्नेण अगुलस्स असखेज्जाइ भागं उक्कोसेण असखेज्जाइ जोयणसहस्साइ जाणइ-पासइ से ण ते ण विभग नाणेण समुप्पन्ने ण जीवे वि जाणइ, अजीवे वि जाणइ,पासंडत्थे सारभे सपरिग्गहे सकिलस्समाणे वि जाणइ, विसुज्झमाणे वि जाणइ से णं पुव्वामेव सम्मत्त पडिवज्जइ-पडिवज्जइत्ता समणधम्म रोएइ-रोएत्ता चरित्त पडिवज्जइ-पडिवज्जइत्ता लिग पडिवज्जइ।"

—भगवती सूत्र ९, ३१, ३६६.

जो जीव, दो-दो दिन की लगातार तपस्या करता हुआ सूर्य के सम्मुख अपनी भुजाओं को ऊँचाकर आतापना भूमि में आतापना लेता है, उसकी स्वाभाविक भद्रता, शान्ति, स्वाभाविक क्रोध, मान, माया, लोभ की अल्पता, मृदुता, विनीतता, इन्द्रिय-निग्रह इन गुणों से किसी समय शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम और शुद्ध लेश्याओं से विभंग ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है और उसके क्षयोपशम होने से वह जीव वस्तु स्वरूप को जानने का प्रयत्न करता है और उस प्रयत्न की बाधक वस्तु को हटा देता है। उसके पश्चात् वस्तुओ के सजातीय और विजातीय धर्म की आलोचना करते हुए, उस जीव को विभंग नामक ज्ञान पैदा होता है। उस विभंग ज्ञान के प्रभाव से वह जीव जघन्य आंगुल के असंख्य भाग को और उत्कृष्ट असंख्य हजार योजन तक के पदार्थों को जानता देखता है। वह जीवो को भी जानता है, अजीवों को भी जानता है, व्रत-धारियो को भी जानता है और आरंभ-परिग्रह को भी जानता है। जो पुरुष आरंभी-परिग्रही हैं, उनको बहुत ज्यादा अशुद्ध और थोड़ा शुद्ध भी जानता है। वह चारित्र प्राप्ति के पहले सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, उसके पश्चात् श्रमण धर्म को पसन्द करता है। तब चारित्र को प्राप्त करके लिंग को ग्रहण करता है।"

प्रस्तुत पाठ मे बाल तपस्या, प्रकृति भद्रिकता, शान्ति, विनीतता, शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम और विशुद्ध लेश्या से विभग ज्ञान के आवरणीय कर्मो का क्षय होकर मिथ्यादृष्टि को विभग ज्ञान की प्राप्ति होती है और उस ज्ञान से उसे जीव-अजीव आदि पदार्थो का ज्ञान होकर सम्यक्त्व की प्राप्ति होना बतलाया है। इससे सिद्ध होता है कि विभग ज्ञान सम्यक्त्व की प्राप्ति का साक्षात् कारण है और प्रकृति भद्रिकता आदि गुण तथा शुभ परिणाम और विशुद्ध लेश्याएँ परम्परा कारण है। ऐसी स्थिति मे सम्यक्त्व की प्राप्ति के कारण होने से मिथ्यादृष्टि की प्रकृति भद्रिकता आदि गुण तथा बाल-तपस्या को कोई वीतराग की आज्ञा मे बतलाए, तो उसे सर्व-प्रथम विभग ज्ञान को वीतराग की आज्ञा मे मानना होगा। क्योंकि यहाँ विभग ज्ञान को सम्यक्त्व प्राप्ति का साक्षात् कारण कहा है। यदि विभंग ज्ञान को वीतराग की आज्ञा में नही मानते, तो बाल-तपस्या और बाल-तपस्वी के पूर्वोक्त गुणों को भी वीतराग की आज्ञा में नही मान सकते। क्योंकि जब सम्यक्त्व प्राप्ति का साक्षात् कारण विभंग ज्ञान वीतराग की आज्ञा मे नही है, तब प्रकृति भद्रिकता आदि गुण, जो परपरा से सम्यक्त्व के कारण है, आज्ञा मे कैसे हो सकते है?

यदि कोई विभंग ज्ञान को आज्ञा में बतलाए, तो उसे कहना चाहिए कि अज्ञान आज्ञा मे नही होता। विभंग ज्ञान अज्ञान है, इसलिए वह वीतराग की आज्ञा मे नही है। आवश्यक सूत्र में कहा है, "साधु यह प्रतिज्ञा करता है कि मै अज्ञान को छोडकर ज्ञान को स्वीकार करता हूँ।" यहाँ अज्ञान को त्यागने योग्य कहा है। इसलिए वह आज्ञा मे नही है।

भगवती के प्रस्तुत पाठ में "लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं" इन शब्दो का प्रयोग हुआ है। इसमे विशुद्ध लेश्या का कथन हुआ है। इसे देखकर कुछ व्यक्ति कहते है कि "उक्त लेश्या भगवान की आज्ञा मे है, क्योंकि वह विशुद्ध कही गई है।" परन्तु उन्हे समझना चाहिए कि विशुद्ध होने मात्र से लेश्या आज्ञा मे नही हो जाती है। भगवती शतक १३, उद्देशा १ मे नील-लेश्या को भी विशुद्ध कहा है, परन्तु वह वीतराग की आज्ञा में नही है। भगवती मे कृष्ण लेश्या से नील लेश्या को विशुद्ध कहा है।

"से नूणं भन्ते ! कण्हलेस्से जाव सुक्कलेस्से भवित्ता कण्हलेस्सेसु नेरइएसु उववज्जन्ति ?

हन्ता गोयमा ! कण्हलेस्से जाव उववज्जन्ति ।

से केणट्ठे णं भन्ते ! एवं वुच्चइ कण्हलेस्से जाव उववज्जन्ति ?

गोयमा ! लेस्साठाणेसु संकिलिस्समाणेसु २ कण्हलेस्सं परिणमइ से कण्हलेस्सेसु नेरइएसु उववज्जन्ति से तेणट्ठेणं जाव उववज्जन्ति ।

से नूणं भन्ते ! कण्हलेस्से जाव सुक्कलेस्से भवित्ता णीललेस्सेसु नेरइएसु उववज्जन्ति ?

हन्ता गोयमा ! जाव उववज्जन्ति ।

से केणट्ठेणं जाव उववज्जन्ति ?

गोयमा ! लेस्साठाणेसु संकिलिस्समाणेसु विसुज्झमाणेसु नीललेस्सं परिणमइ नीललेस्सेसु नेरइए उववज्जंति । से तेणट्ठेणं गोयमा ।"

—भगवती १३, १, ४३२

"हे भगवन् ! कृष्ण लेश्या से लेकर यावत् शुक्ल लेश्या वाले जीव, क्या कृष्णलेशी नरक में उत्पन्न होते हैं ?

हे गौतम ! हाँ, उत्पन्न होते हैं ।

ऐसा क्यों होता है ?

लेश्या स्थान के संक्लिश्यमान होने पर जीव को कृष्ण लेश्या का परिणाम होता है और वे कृष्णलेशी होकर कृष्ण लेश्या वाले नरक में उत्पन्न होते हैं ।

हे भगवन् ! कृष्ण लेश्या से लेकर यावत् शुक्ल लेश्या वाले जीव, क्या नीललेशी होकर नील लेश्या वाले नरक में उत्पन्न होते हैं ?

हाँ, गौतम ! उत्पन्न होते हैं ।

ऐसा क्यों होता है ?

लेश्या स्थान के संक्लिश्यमान और विशुद्ध होने से जीव में नील लेश्या का परिणाम होता है और वे नील लेशी होकर नील लेश्या वाले नरक में उत्पन्न होते हैं ।"

प्रस्तुत पाठ में कृष्ण लेश्या की अपेक्षा नील लेश्या को विशुद्ध कहा है, तब भी वह वीतराग की आज्ञा में नहीं है । इसी तरह भगवती सूत्र श० १, उ० २१ के मूलपाठ में उल्लिखित बाल-तपस्वी की विशुद्ध लेश्या भी वीतराग की आज्ञा में नहीं है । अतः बाल-तपस्वी की विशुद्ध लेश्या और उसके मिथ्यात्व युक्त प्रकृति से भद्रता आदि गुणों को वीतराग की आज्ञा में बतलाना अप्रामाणिक है ।

ईहा आदि का अर्थ

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३३ पर लिखते हैं—"वली 'ईहापोह-मग्गण-गवेसणं करेमाणस्स' ए पाठ कह्यो 'ईहा' कहितां भला अर्थ जाणवा सन्मुख थयो, 'अपोह' कहितां धर्म-

ध्यान बीजा पक्षपात रहित, 'मग्गण' कहिता समूचे धर्म नी आलोचना, 'गवेसण' कहितां अधिक धर्मनी आलोचना ए करता विभग ज्ञान उपजे। इहा तो धर्म-ध्यान धर्म नी आलोचना, अधिक धर्म नी आलोचना प्रथम गुणठाणे कही, तो धर्म नी आलोचना ने, अने धर्म-ध्यान ने आज्ञा बाहिरे किम कहिये। ए तो प्रत्यक्ष आज्ञा माही छै।"

भगवती श० ९ उद्देशा ३१ के मूलपाठ मे प्रयुक्त "ईहा, अपोह, मार्गण, और गवेपण" शब्दों का भ्रमविध्वसनकार ने यथार्थ अर्थ नही किया है। इनकी टीका यह है—

"इहेहा सदर्थाभिमुखा ज्ञानचेष्टा, अपोहस्तु विपक्ष निराशः, मार्गणञ्चान्वय धर्मालोचनम्, गवेषणञ्च व्यतिरेक धर्मालोचनम्।"

"वस्तु-स्वरूप को जानने की चेष्टा का नाम 'इहा' है। और उस चेष्टा के बाधक कारणों को हटा देना 'अपोह' है। अन्वय—सजातीय धर्म की आलोचना करने का नाम 'मार्गण' है तथा व्यतिरेक—विजातीय धर्म की आलोचना करना 'गवेषण' कहलाता है।"

प्रस्तुत टीका में "मार्गण' शब्द का सजातीय धर्म की आलोचना और 'गवेषण' शब्द का विजातीय धर्म की आलोचना करना बतलाया है। परन्तु वीतराग भाषित श्रुत और चारित्र धर्म की आलोचना करना नही कहा है। अत. 'मार्गण' शब्द का वीतराग धर्म की आलोचना करना और 'गवेषण' शब्द का धर्म की अधिक आलोचना करना अर्थ बतलाना नितान्त असत्य है। भ्रमविध्वसनकार ने भगवती श० ९, उ० ३१ के मूलपाठ के नीचे टब्बा अर्थ लिखा है, वह भी टीका के विरुद्ध होने से अप्रामाणिक है।

शुक्ल-लेश्या और धर्म-ध्यान

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३४ पर लिखते है—"इहा कह्यो आर्त्त, रुद्र-ध्यान वरजे और धर्म-शुक्ल-ध्यान ध्यावे, ए शुक्ल लेश्या ना लक्षण कह्या, ते शुक्ल-ध्यान तो ऊपर ले गुणठाणे छै, अने प्रथम गुणठाणे शुक्ल लेश्या वर्ते ते वेला आर्त-रुद्र-ध्यान तो वर्ज्यो छै, अने धर्म-ध्यान पावे छै।"

प्रथम गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि पुरुप मे शुक्ललेश्या तो पाई जाती है, परन्तु वीतराग-भापित धर्म-ध्यान नही पाया जाता। वीतराग भापित धर्म-ध्यान श्रुत और चारित्र धर्म के होने पर ही होता है। मिथ्यादृष्टि मे श्रुत-चारित्र धर्म नही होता, अत उसमे धर्म-ध्यान भी नही होता। स्थानाग सूत्र मे चारो ध्यानो का वर्णन किया है, वहाँ टीकाकार ने श्रुत-चारित्र धर्म-निष्ठ व्यक्ति मे ही धर्म-ध्यान का होना वतलाया है, मिथ्यादृष्टि मे नही।

"चत्तारि झाणा पण्णत्ता तं जहा—अट्टेझाणे, रोद्देझाणे, धम्मेझाणे, सुक्केझाणे।"

—स्थानाग सूत्र, ४, १, २४७

"तत्र ऋतं दुखं तस्य निमित्तं तत्र वा भवम् ऋते पीडिते भवमार्त्त-ध्यानम् दृढोऽध्यवसाय.। हिंसाद्यतिक्रौर्य्यानुगत रौद्र। श्रुतचरण-धर्मादनपेत धर्म्यम्। शोधयत्यष्ट-प्रकार कर्ममलं शुचं वा क्लमयति इति शुक्लम्।"

—स्थानाग टीका

"जो ध्यान दुःख का कारण या दुःख होने पर होता है, वह 'आर्त्त-ध्यान' कहलाता है। दृढ़ अध्यवसाय को ध्यान समझना चाहिए। जो अध्यवसाय हिसा आदि अतिक्रूरता के साथ होता है, उसे 'रुद्र-ध्यान' कहते हैं। जो ध्यान श्रुत और चारित्र धर्म के साथ होता है, उसे 'धर्म-ध्यान' कहते हैं और जो आठ प्रकार के कर्म मल को दूर करता है, या शोक को हटाता है, उसे 'शुक्ल-ध्यान' कहते है।"

प्रस्तुत प्रसग मे टीकाकार ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि जो ध्यान श्रुत और चारित्र धर्म के साथ होता है, वही 'धर्म-ध्यान' है। इससे सूर्य के उजेले की तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि

मिथ्यादृष्टि मे धर्म-ध्यान नही होता। क्योंकि उसमे श्रुत और चारित्र धर्म का सर्वथा अभाव है। स्थानाग सूत्र मे धर्म-ध्यान करने वाले पुरुष का लक्षण बताते हुए लिखा है—

"धम्मस्स झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता तं जहा—आणारुइ, णिसग्गरुइ, सुत्तरुइ, ओगाढरुइ।"

—स्थानाग सूत्र ४, १, २४७

"धर्म के चार लक्षण है—१ आज्ञा-रुचि, २ निसर्ग-रुचि, ३ सूत्र-रुचि और ४ अवगाढ़-रुचि। इसकी टीका इस प्रकार है—

"आणारुइ त्ति—आज्ञा सूत्र व्याख्यानं निर्युक्त्यादि तत्र तया वा रुचि. श्रद्धानम् आज्ञा रुचिः एवमन्यत्रापि, नवरं निसर्गः स्वभावोऽनुपदेशस्तेन तथा सूत्रम् आगमः तत्र तस्माद्वा तया अवगाहनमवगाढम् द्वादशांगावगाहो विस्तराधिगम. इति संभाव्यते तेन रुचि अथवा 'ओगाढ' त्ति साधु प्रत्यासन्नीभूतस्तस्य साधूपदेशाद्रुचि. उक्तञ्च—

"आगम उवएसेणं निसग्गओ जं जिणप्पणीयाण।
भावाण सद्दहण, धम्म-झाणस्स त लिंग॥"

"तत्त्वार्थ-श्रद्धान रूप धर्मस्य लिगमिति हृदयम।"

"१ वीतराग भाषित आगमो के व्याख्यान स्वरूप निर्युक्ति आदि को आज्ञा कहते हैं, उसमें रुचि रखना या उसका अध्ययन करने से धर्म में रुचि उत्पन्न होना 'आज्ञा रुचि'-है। २ स्वभाव से ही वीतराग भाषित धर्म में रुचि होना 'निसर्ग-रुचि' है। ३ वीतराग-भाषित शास्त्रों में या उनका स्वाध्याय करने से धर्म में रुचि होना, 'सूत्र-रुचि' है। ४ और द्वादशांग में प्रवेश होने से रुचि होने या निकटवर्ती साधु के उपदेश से धर्म में रुचि होना 'अवगाढ़-रुचि' है। धर्म-ध्यान के ये चार लक्षण हैं।"

किसी आचार्य ने भी कहा है—"आगम के उपदेश से अथवा स्वभाव से जिन-भाषित धर्म में श्रद्धा रखना धर्म-ध्यान-निष्ठ पुरुष का लक्षण है। निष्कर्ष यह है कि तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यक्त्व धर्म-ध्यान का लक्षण है।"

प्रस्तुत पाठ एव टीका मे तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यक्त्व को धर्म-ध्यान का लक्षण कहा है। वह तत्त्वार्थ श्रद्धान मिथ्यादृष्टि में नही होता। अत उसमे धर्म-ध्यान बतलाना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

यदि यह कहें कि उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३४ गाथा ३१ मे धर्म-ध्यान होना शुक्ल-लेश्या का लक्षण कहा है और शुक्ल-लेश्या मिथ्यादृष्टि में पाई जाती है, फिर उसमें धर्म-ध्यान क्यो नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि उत्तराध्ययन की उक्त गाथा मे विशिष्ट शुक्ल लेश्या का लक्षण कहा है, जो संयमी पुरुषो मे पाई जाती है, सामान्य शुक्ल लेश्या का नही। यह बात उक्त गाथा एव उसकी टीका को देखने से स्पष्ट समझ में आ जाएगी।

"अट्ट-रुद्दानि वज्जित्ता धम्म-सुक्काणि झायए।
पसंत चित्ते दंतप्पा समिए गुत्तेय गुत्तिसु॥

सरागे-वीयरागे वा, उवसंते जिइन्दिए।
एयजोग समाउत्तो सुक्कलेसं तु परिणमे॥"

—उत्तराध्ययन, ३४, ३१-३२

"जो पुरुष आर्त्त और रौद्र-ध्यान को त्यागकर धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान को ध्याता है। अपने चित्त और इन्द्रियों को वश में रखते हुए समिति-गुप्ति से युक्त है।

जिसने मनोगुप्ति आदि के द्वारा अपने समस्त व्यापार को रोक लिया है, वह चाहे सरागी हो, वीतरागी हो या उपशान्त और जितेन्द्रिय हो, वह शुक्ल-लेश्या को प्राप्त होता है।"

उक्त गाथाओ मे कथित शुक्ल लेश्या का लक्षण विशिष्ट शुक्ल लेश्या का है, सामान्य शुक्ल लेश्या का नही। टीकाकार ने भी इसे विशिष्ट शुक्ल-लेश्या का लक्षण स्वीकार किया है।

"विशिष्ट शुक्ल लेश्यापेक्षयैवं लक्षणाभिधानमिति न देवादिभिर्व्यभिचारः।"

"इन गाथाओं में विशिष्ट शुक्ल लेश्या के लक्षण कहे हैं, अतः शुक्ल-लेशी देवों में गाथोक्त लक्षणों के न मिलने पर भी कोई व्यभिचार-दोष नहीं है।"

यहाँ टीकाकार ने स्पष्ट लिखा है कि गाथोक्त लक्षण विशिष्ट शुक्ल लेश्या के है, सामान्य शुक्ल लेश्या के नही। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ये लक्षण सयम-निष्ठ विशिष्ट शुक्ललेशी मुनियो की शुक्ल लेश्या के हैं, तथापि यदि कोई उक्त टीका को प्रमाण न मानकर सभी शुक्ल-लेश्याओ का गाथोक्त लक्षण बताए, तो उनसे यह कहना चाहिए कि उक्त गाथाओ मे शुक्ल-ध्यान, समिति-गुप्ति, सर्व सावद्य-योग के परित्याग को भी शुक्ललेश्या का लक्षण कहा है। आप इन्हे भी प्रथम गुणस्थान मे क्यो नही मानते? यदि इसके लिए यह कहे कि उक्त गाथा मे शुक्ल-ध्यानादि को जो शुक्ल-लेश्या के लक्षण बताये है, वे सब प्रथम गुणस्थान मे नही, ऊपर के गुणस्थानो मे ही पाए जाते हैं। जैसे शुक्ल-लेश्या के शुक्ल-ध्यान आदि लक्षण ऊपर के गुणस्थानो मे पाए जाते है, उसी तरह धर्म-ध्यान भी ऊपर के ही गुणस्थानो में पाया जाता है, प्रथम गुणस्थान मे नही। ऐसा कदापि नही हो सकता कि गाथोक्त सब लक्षण तो ऊपर के गुणस्थानो मे पाए जाएँ और सिर्फ एक धर्म-ध्यान प्रथम गुणस्थान में पाया जाए। अत उत्तराध्ययन की गाथा का प्रमाण देकर मिथ्यादृष्टि मे धर्म-ध्यान बतलाना नितान्त असत्य है।

जैसी दृष्टि, वैसे गुण

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३४ पर लिखते है—

"जिम एक तलाब नो पाणी—एक घडो तो ब्राह्मण भर ले गयो, अने एक घडो भगी भर ले गयो। भगीरा घडा मे भगी रो पानी बाजे। अने ब्राह्मण रे घडा मे ब्राह्मण रो पानी बाजे। पिण पाणी तो मीठो शीतल छै। भगीरा घडा मे आया खारो थयो नथी तथा शीतलता मिटी नही, पाणी तो तेहिज तालाब रो छै, पिण भाजन लारे नाम बोलवा रूप छै। तिम शील, दया, क्षमा, तपस्यादिक रूप पाणी ब्राह्मण समान सम्यग्दृष्टि आदरे। भगी समान मिथ्यादृष्टि आदरे। तो ते तप, शील, दया नो गुण जाय नही। जिम पाणी ब्राह्मण और भगीरो वाजे पिण पाणी मीठा मे फेर नही, पाणी मीठो एक सरीखो छै। तिम मिथ्यादृष्टि शीलादिक पाले ते मिथ्यादृष्टि री करणी वाजे। सम्यग्दृष्टि शीलादिक पाले ते सम्यग्दृष्टि री करणी वाजे। पिण करणी दोनू निर्मल मोक्ष-मार्ग नी छै।"

एक तालाव से जल भरने वाले ब्राह्मण और भगी का उदाहरण देकर मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के गुणो को तुल्य वतलाना भारी भूल है। ब्राह्मण और भगी मे जाति मात्र का भेद है, किन्तु उस तालाव के पानी की मधुरता एव उपादेयता के सम्बन्ध में मतभेद नही है। जैसे ब्राह्मण उस तालाव को मधुर और जल ग्रहण करने योग्य समझता है, भगी भी उसे उसी तरह समझता है। यदि भगी उस तालाव को खारा या उसका जल ग्रहण करने योग्य नही समझता तो उससे जल नही भरता। अत. उस तालाव के सम्बन्ध मे भगी और ब्राह्मण का विचार एक है। परन्तु मिथ्यादृष्टि एवं सम्यग्दृष्टि मे यह वात नही है। मिथ्यादृष्टि जिस मिथ्यादर्शन रूप तालाव को अच्छा समझता है, सम्यग्दृष्टि उसे वुरा मानता है। और सम्यग्दृष्टि जिस सम्यग्दर्शन रूप तालाब को श्रेष्ठ समझता है, मिथ्यादृष्टि उसे श्रेष्ठ नही मानता। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के विचार में महान् अतर है। इस अन्तर के रहते हुए दोनो एक ही सम्यग्दर्शन या मिथ्यादर्शन रूप तालाव से साधना रूप पानी भरे, यह कदापि सभव नही है। अत. तालाव के सम्बन्ध मे समान विचार रखने वाले भगी और ब्राह्मण का उदाहरण देकर भिन्न-भिन्न विचार रखने वाले सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि को एक तालाव से पानी भरनेवाला वताना अनुचित है।

भंगी और ब्राह्मण के घडे का उदाहरण देकर सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के क्षमा, दया आदि गुणो में तुल्यता बताना भी अयुक्त है। ब्राह्मण का घट जैसे मधुर मिट्टी का बना होता है, वैसे भगी का घट भी होता है। इसलिए उक्त उभय घडो मे रखा हुआ जल मधुर ही रहता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि एव सम्यग्दृष्टि के सम्बन्ध मे यह बात नही है। इनके गुण परस्पर विपरीत होते हैं। मिथ्यादृष्टि का गुण मिथ्यात्व होता है और सम्यग्दृष्टि का सम्यक्त्व। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व एक दूसरे के सर्वथा विपरीत होते है। अतः सम्यग्दृष्टि के लिए मधुर घडे का और मिथ्यादृष्टि के लिए खारे घडे का उदाहरण ठीक घटित होता है, ब्राह्मण और भगी के घडे का नही। निष्कर्ष यह है कि खारे घडे मे भरा हुआ जल खारा होता है और मधुर घडे मे भरित जल मधुर होता है। उसी तरह सम्यग्दृष्टि के शील, दया, और तपस्या आदि गुण सम्यक्रूप और मिथ्यादृष्टि के ये सब गुण असम्यक्रूप हो जाते है। अत इन दोनो को एक समान कहकर मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व युक्त शील, दया और तपस्या आदि को वीतराग की आज्ञा मे बताना आगम विरुद्ध है।

यदि भ्रमविध्वंसनकार ब्राह्मण और भगी के घडो का उदाहरण देकर सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि इन दोनो की क्रियाओ को समान बतलाते है, तो उन्हे इन दोनो के ज्ञानो को भी समान मानना चाहिए। परन्तु इन दोनो के ज्ञानो को समान नही मानते, ऐसा क्यो? यदि यह कहे कि मिथ्यात्व पूर्वक ग्रहण किये जाने वाले आचाराग आदि अर्हद्-भाषित द्वादशाग भी नन्दी सूत्र मे मिथ्या सूत्र कहे है।

"एयाइं मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छत्त-परिग्गहियाइं मिच्छासुय, एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्त-परिग्गहियाइं सम्मसुयं।"

—नदी सूत्र, ४१

"मिथ्यादृष्टि द्वारा गृहीत ये सूत्र मिथ्यात्व रूप में परिणत होते हैं और सम्यग्दृष्टि द्वारा गृहीत सम्यक् रूप में परिणत होते हैं।"

इसलिए हम मिथ्यादृष्टि द्वारा गृहित सम्यक् शास्त्र को भी मिथ्या सूत्र मानते है। जब मिथ्यादृष्टि के द्वारा गृहीत आगम को मिथ्या-श्रुत मानते है, तब उसके द्वारा आचरित क्रिया को मिथ्या क्यो नही मानते? जैसे मिथ्यादृष्टि के द्वारा ग्रहण किया गया आगम विपरीत है, उसी तरह उसके द्वारा आचरित क्रिया भी विपरीत है, मोक्ष-मार्ग मे नही है।

श्री नदी सूत्र की टोका मे सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के लिए भगी और ब्राह्मण के घट की नही, सुगन्धित और दुर्गन्धित घट की उपमा दी है।

"भाविताः द्विविधाः प्रशस्त-द्रव्य भाविता, अप्रशस्त-द्रव्य भाविताश्च। तत्र ये कर्पूरागुरु-चन्दनादिभिः प्रशस्तैर्द्रव्यैर्भावितास्ते प्रशस्त-द्रव्य भाविता। ये पुन पलाण्डु-लशुन-सुरा-तैलादिभिर्भावितास्तेऽप्रशस्त-द्रव्य भाविताः।"

"वासित घट दो प्रकार के होते हैं—१ प्रशस्त द्रव्यों से वासित और २ अप्रशस्त द्रव्यो से वासित। जो कपूर, अगर, और चन्दन आदि उत्तम द्रव्यो से वासित हैं—वे घट 'प्रशस्त-द्रव्य-वासित' कहलाते हैं। और जो प्याज, लहसुन, मद्य और तैल आदि अप्रशस्त द्रव्यो से वासित घट हैं—वे अप्रशस्त-द्रव्य-वासित कहलाते हैं।"

जिस पुरुष का अन्त करण जिनाज्ञाराधक मुनियो के उपदेश से वैराग्य युक्त और निर्मल

होता है, वह पुरुष प्रशस्त-द्रव्य वासित घट के समान है, और जिसका अन्तःकरण जिनाज्ञा विरोधियो के उपदेश से कलुषित है, वह अप्रशस्त-द्रव्य वासित घट के समान है।

साधु की आज्ञा और क्रिया

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३५ पर लिखते है—"जे मिथ्यादृष्टि साधु ने पूछे हूँ सुपात्र दान देवू, शील पालू, बेला-तेलादिक तप करू। तब साधु तेहने आज्ञा देवे के नही ? जो आज्ञा देवे तो ते करणी आज्ञा महीज थई।"

तप, शील, सुपात्र दान को अच्छा जानकर, उनका आचरण करने के लिए साधु से आज्ञा मागने वाला पुरुष मिथ्यादृष्टि कैसे कहा जा सकता है ? साधु के पास श्रद्धा-भक्ति के साथ जाकर शील, तप, सुपात्र-दान आदि की आज्ञा मागना सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। यह बात सम्यग्दृष्टि मे ही पाई जाती है। सम्यग्दृष्टि पुरुष ही साधु के पास भक्ति-भाव पूर्वक जाकर शील, तप आदि धर्मो की आज्ञा मागते है, मिथ्यादृष्टि नही। क्योकि वे साधु को साधु तथा उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म को धर्म नही मानते। ऐसी स्थिति मे वे भक्ति-भाव के साथ साधु के पास जाकर शील, तप, दया आदि धर्मो की आज्ञा माग ही नही सकते।

जो पुरुष साधु के सन्निकट जाकर शील, तप आदि सुपात्र दान की आज्ञा मागता है, उसे उस समय सम्यग्दृष्टि ही समझना चाहिए। क्योकि उपशम-सम्यक्त्व की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है, इसलिए उस समय उस पुरुष को भाव सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा समझना चाहिए।

इसके अतिरिक्त यह प्रश्न होता है कि जो मिथ्यादृष्टि शील, तप आदि की साधु से आज्ञा मागकर उसका अनुष्ठान करता है, उसकी वह क्रिया सम्यक् है या असम्यक् ? यदि सम्यक् है, तो सम्यक् क्रिया का अनुष्ठान-कर्ता मिथ्यादृष्टि कैसे होगा ? क्योकि वह सम्यक् क्रिया का आचरण कर रहा है, इसलिए मिथ्यादृष्टि नही है। यदि उसकी क्रिया असम्यक् है, तो साधु ने उसे असम्यक् क्रिया करने की आज्ञा नही दी है। इसलिए उसकी वह क्रिया साधु की आज्ञा मे नही हो सकती। अत मिथ्यादृष्टि की असम्यक्-क्रिया को आज्ञा मे बताना अयुक्त है।

साधु प्रत्येक प्राणी को सम्यक् क्रिया करने की आज्ञा देते है। उनकी आज्ञा के अनुरूप जो सम्यक् क्रिया का अनुष्ठान करता है, वह मिथ्यादृष्टि नही, सम्यग्दृष्टि है। और जो साधु की आज्ञा लेकर भी सम्यक् क्रिया का अनुष्ठान नही करता है, मिथ्या क्रिया का अनुष्ठान करता है, तो उसकी वह मिथ्या-क्रिया आज्ञा मे नही है। उसका आचरण करने से वह आज्ञा का आराधक नही हो सकता। अत मिथ्यादृष्टि को साधु की आज्ञा का आराधक कहना मिथ्या है।

जैसे साधु मोक्ष-मार्ग का आराधन करने के लिए दीक्षा देते है और दीक्षा देकर उसे सम्यग्ज्ञान पूर्वक क्रिया करने की आज्ञा देते है। परन्तु यदि दीक्षित पुरुष अभव्य हो और सम्यग्ज्ञान के अभाव मे वह अज्ञान पूर्वक द्रव्य-क्रिया करने लग जाए, तो उसकी वह क्रिया साधु की आज्ञा मे नही कही जा सकती। क्योकि साधु ने सम्यग्ज्ञान पूर्वक भाव क्रिया करने की आज्ञा दी है, न कि अज्ञान पूर्वक मिथ्या क्रिया करने की। उसी तरह जो पुरुष साधु से सम्यक् क्रिया की आज्ञा लेकर अज्ञान पूर्वक द्रव्य-क्रिया करता है, तो उसकी वह क्रिया आज्ञा में नही है।

भावयुक्त वन्दन आज्ञा में है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३६ पर लिखते है—"इहा कह्यो सूर्याभ ना अभियोगिया देवता भगवान ने वदन-नमस्कार कियो, तिवारे भगवान बोल्या—ए वन्दना रूप तुम्हारो पुराणो आचार छै, ए तुम्हारो जीत आचार छै, ए तुम्हारो कार्य छै, ए वदना करवा योग्य छै, ए तुम्हारो आचरण छै, ए वदना म्हारी आज्ञा छै। तो तिम करणी ने आज्ञा बाहिर किम कहिए?"

सूर्याभ देवता के अभियोगिया देवता का उदाहरण देकर मिथ्यादृष्टि की क्रिया को वीतराग की आज्ञा मे कायम करना अज्ञान है। सूर्याभदेव का अभियोगिया देवता मिथ्यादृष्टि था, इसका कोई प्रमाण नही है। नरक योनि के जीव भी जब सम्यग्दृष्टि होते है, तब सूर्याभ के अभियोगिया देवताओ के सम्यग्दृष्टि होने मे क्या बाधा है? इसके अतिरिक्त, यह भी प्रश्न हो सकता है कि आन्तरिक श्रद्धा-भक्ति से रहित द्रव्य वदन-नमस्कार भगवान की आज्ञा मे है या आन्तरिक भाव-भक्ति से किया जाने वाला भाव वन्दन-नमस्कार आज्ञा में है? यदि भाव शून्य द्रव्य-वदन भी भगवान की आज्ञा मे होगा, तो ऐसी वदना अभव्य-जीव भी करते है। अतः वे भी आज्ञा के आराधक होकर मोक्ष के अधिकारी हो सकते है, परन्तु ऐसा कदापि नही होता। अभव्य-जीव त्रिकाल मे भी मोक्ष-मार्ग का आराधक नही हो सकता। अत. भाव वन्दन को ही आज्ञा मे मानना चाहिए। वह वन्दन मिथ्यादृष्टि का नही होता। क्योकि यह मिथ्यात्व के कारण द्रव्य क्रिया ही करता है, भाव क्रिया नही। सूर्याभ के अभियोगिया देवो का वन्दन-नमस्कार सम्यग्ज्ञान पूर्वक भाव रूप था, अत. भगवान ने उसे आज्ञा मे कहा है। यदि वह द्रव्य रूप होता, तो भगवान उसे कदापि आज्ञा मे नही कहते। अत सम्यक् क्रिया का अनुष्ठान करने वाले सूर्याभ के अभियोगिया देव सम्यग्दृष्टि थे, मिथ्यादृष्टि नही। अत. उनका उदाहरण देकर मिथ्यादृष्टि के भाव शून्य द्रव्य वदन-नमस्कार को आज्ञा मे बताना भूल है।

स्कंध-सन्यासी

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३७ पर भगवती सूत्र शतक २, उ० १ का मूलपाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ अठे स्कधके कह्यो हे गौतम! ताहरा धर्माचार्य भगवान महावीर स्वामी ने वादां

यावत् सेवा करां। तिवारे गौतम वोल्या जिम सुख होवे तिम करो हे देवानुप्रिय ! पिण प्रतिवन्ध, विलम्ब (जेज) मत करो। इसी शीघ्र आज्ञा वदना री दीधी तो ते वंदना रूप करणी प्रथम गुणठाणा रो धणी करे, तेहने आज्ञा वाहिरे किम कहिये।"

भ्रमविध्वसनकार के मतानुयायियो से पूछना चाहिए कि गौतम स्वामी ने स्कन्दक संन्यासी को भाव-भक्ति से सम्यग्ज्ञान पूर्वक वंदन करने की आज्ञा दी थी या भाव रहित द्रव्य-वदन करने की ? यदि भक्ति-भाव के साथ सम्यग्ज्ञान पूर्वक वन्दन करने का आदेश दिया था, तो मिथ्या-दृष्टि का वन्दन-नमस्कार उनकी आज्ञा मे कैसे हो सकता है ? क्योकि मिथ्यादृष्टि का वन्दन-नमस्कार भक्ति-भाव से रहित और मिथ्यात्व के साथ होता है, भक्ति-भाव के साथ सम्यग्ज्ञान पूर्वक नही। यदि यह कहो कि भक्ति-भाव से रहित द्रव्य-वदन की आज्ञा दी थी, तो यह युक्ति सगत नही है। क्योकि साधु किसी को भाव-भक्ति से रहित द्रव्य-वदन की आज्ञा कभी भी नही देता। अत. गौतम स्वामी ने सम्यग्ज्ञान पूर्वक भाव-वंदन करने का आदेश दिया था। यदि इसके अनुसार स्कदक सन्यासी ने भगवान को सम्यग्ज्ञान पूर्वक भाव-वदन किया था, तो वह उस समय मिथ्यादृष्टि नही, सम्यग्दृष्टि ही था। यदि ऐसा न करके स्कंदक सन्यासी ने मिथ्यात्व पूर्वक द्रव्य वदन-नमस्कार किया था,तो उसका वह द्रव्य-वदन गौतम स्वामी की आज्ञा मे नही हुआ। क्योकि गौतम स्वामी ने भक्ति-भाव के साथ भाव-वंदन करने की आज्ञा दी थी, भक्ति रहित द्रव्य-वदन करने की नही। अत. स्कदक सन्यासी का उदाहरण देकर मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व युक्त द्रव्य वन्दन-नमस्कार को जिन-आज्ञा मे सिद्ध करना आगम सम्मत नही है।

तामली-तापस की अनित्य जागरणा

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ७९ पर लिखते हैं—"अथ इहां तामली बाल तपस्वी री अनित्य चिन्तवना कही छै। ए ममार अनित्य छै, एहवी चिन्तवना ते तो शुद्ध छै, निरवद्य छै, तेहने सावद्य किम कहिए ?" इसके आगे पृष्ठ ८० पर लिखते हैं—

"अथ इहां सोमल ऋषि नी अनित्य चिन्तवना कही ए अनित्य चिन्तवना शुद्ध करणी छै, निरवद्य छै, तेहने आज्ञा बाहिरे किम कहिए ?" इसके आगे पृष्ठ ८१ पर लिखते हैं—

"वली अनित्य चितवना धर्म-ध्यान रो भेद चाल्यो, तेहिज अनित्य चिन्तवना तामली, सोमल ऋषि प्रथम गुणठाणे थकी कीधी। तेहने अधर्म किम कहिए ? ए धर्म-ध्यान रो भेद आज्ञा बाहिरे किम कहिए ?"

तामली बाल-तापस और सोमल ऋषि की अनित्य जागरणा को धर्म-ध्यान की अनुप्रेक्षा में कायम करके प्रथम गुणस्थान वर्ती मिथ्यादृष्टि की क्रिया को जिन-आज्ञा में सिद्ध करना उपयुक्त नहीं है। प्रथम गुणस्थान वर्ती पुरुष में धर्म-ध्यान होता ही नहीं। यह हम पहले बता चुके है कि धर्म-ध्यान सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन के साथ ही होता है। मिथ्यादृष्टि में सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन नहीं होता, इसलिए उसमें धर्म-ध्यान भी नहीं हो सकता। जब प्रथम गुणस्थान वर्ती जीव मे धर्म-ध्यान नहीं होता, तब उनमें धर्म-ध्यान के भेद स्वरूप अनित्य जागरणा कैसे हो सकती है ? जब वृक्ष ही नहीं है तो शाखा-पत्र कहाँ से होगे ? धर्म-ध्यान सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ ही होता है,स्थानांग सूत्र के मूल पाठ एवं टीका दोनो में यह स्पष्ट हो जाता है।

"चत्तारी झाणा पण्णत्ता त-जहा—अट्टे-झाणे, रोद्दे-झाणे, धम्मे-झाणे, सुक्के-झाणे। धम्मस्स झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ—एगाणुप्पेहा, अणिच्चाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा।"

—स्थानांग सूत्र, ४, १, २४७

"ध्यातयो ध्यानानि अन्तर्मुहूर्त्तमात्रं कालं चित्त- स्थिरता लक्षणानि। उक्तञ्च—

"अन्तो मुहुत्त मित्तं, चित्तावत्थाणमेग वत्थुम्मि।
छउमत्थाणं झाणं, जोग णिरोहो जिणाणंतु ॥"

तत्र ऋतं दुखं तस्य निमित्तं तत्र भव वा ऋते पीडिते भवमार्त ध्यानं दृढोऽध्यवसाय। हिंसाद्यति क्रौर्य्यानुगत रौद्रम्। श्रुत-चरण धर्मादिनपेतं धर्म्यम्। शोधयत्यष्टप्रकार कर्म-मल शुच वा क्लमयति इति शुक्लम्।"

"किसी एक विषय में अन्तर्मुहूर्त तक चित्त को स्थिर रखना ध्यान कहलाता है। कहा भी है—"किसी एक वस्तु में अन्तर्मुहुर्त तक चित को स्थिर रखना ध्यान है। ऐसा ध्यान छद्मस्थो का होता है। योग निरोध काल तक सब वस्तुओं का ध्यान केवलियों का होता है।" यह ध्यान चार प्रकार का है—१ आर्त-ध्यान, २ रौद्र-ध्यान, ३, धर्म-ध्यान और ४ शुक्ल-ध्यान। जो ध्यान दुःख का कारण है अथवा दुःख होने पर होता है, उसे आर्तध्यान कहते हैं। जो ध्यान हिंसा आदि क्रूरता से युक्त होता है, वह रौद्र-ध्यान कहलाता है। जो ध्यान सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र के साथ होता है,वह धर्म-ध्यान है। और जो आठ प्रकार के कर्म-मल को दूर करता है, वह शुक्ल-ध्यान है।"

इनमे सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र के साथ होने वाले धर्म-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ कही है—१ एकानुप्रेक्षा २ अनित्यानुप्रेक्षा, ३ अशरणानुप्रेक्षा, ४ और ससरणानुप्रेक्षा। ध्यान होने के बाद भावना या पर्यालोचना करने को अनुप्रेक्षा कहते है। पहली अनुप्रेक्षा को एकानुप्रेक्षा कहते है। मै अकेला हूँ, मेरा कोई नही है, ऐसी भावना करना 'एकानुप्रेक्षा' है। दूसरी अनित्यानुप्रेक्षा है। यह शरीर नाशवान है, सम्पत्ति दु ख का स्थान है, सयोग-वियोग का हेतु है, उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ नश्वर है। इस प्रकार जीवन आदि के सम्बन्ध में अनित्यता की भावना करना 'अनित्यानुप्रेक्षा' है। तीसरी अशरणानुप्रेक्षा है। इसका अर्थ जन्म, जरा और मरण के भय से भयभीत व्याधि और वेदना से ग्रस्त इन प्राणियो के लिए जिनवर वचनो के अतिरिक्त कोई दूसरा शरण नही है। ऐसी भावना करना 'अशरणानुप्रेक्षा' है। चौथी ससरणानुप्रेक्षा है। ससार के प्राणी सदा अपने-अपने कर्मानुसार चारो गतियो मे जाते रहते है। वही स्त्री वेदी जीव किसी भव मे माता होकर दूसरे भव मे उसी जीव की भगिनी हो जाता है, फिर अन्य भव में भार्या एव किसी भव मे पुत्री हो जाता है। इसी तरह कभी पुत्र ही पिता और पिता ही पुत्र हो जाता है। इस प्रकार ससार के सभी जीव एक भव को छोडकर दूसरे भव मे जाते रहते है, ऐसी भावना करना 'संसरणानुप्रेक्षा' है। उक्त चारो अनुप्रेक्षाएँ धर्म-ध्यान होने के बाद ही होती है और धर्म-ध्यान श्रुत और चारित्र धर्म के साथ होता है। मिथ्यादृष्टि में श्रुत और चारित्र धर्म नही है, इसलिए उसमे धर्म-ध्यान भी नही होता और धर्म-ध्यान नही होने से उसमे चारो अनुप्रेक्षाएँ भी नही होती।

यदि कोई कहे कि सोमल ऋषि और तामली वाल तपस्वी की अनित्य-जागरणा शास्त्र मे कही है, इसलिए मिथ्यादृष्टि मे अनित्य-जागरणा होती है। इसका समाधान यह है कि सोमल ऋषि और तामली बाल तपस्वी मे जो अनित्य जागरणा शास्त्र मे कही है, वह धर्म-ध्यान के पश्चात् होने वाली सम्यग्दृष्टियो की अनित्य जागरणा नही, किन्तु मिथ्यात्व के साथ होने वाली दूसरी अनित्य जागरणा है। जैसे शास्त्र मे मिथ्यादृष्टि की प्रव्रज्या कही है और सम्यग्दृष्टि की

भी प्रव्रज्या कही है। परन्तु वे उभय प्रव्रज्याएँ एक नही, भिन्न-भिन्न हैं। सम्यग्दृष्टि की प्रव्रज्या सम्यक्रूप है और मिथ्यादृष्टि की मिथ्या रूप। उसी तरह सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की अनित्य जागरणाएँ भी एक नही, भिन्न-भिन्न हैं। सम्यग्दृष्टि की अनित्य जागरणा धर्म-ध्यान के अन्तर्गत होने से वीतराग की आज्ञा मे है और मिथ्यादृष्टि की धर्म-ध्यान से बहिर्भूत और अज्ञान पूर्वक होने से आज्ञा मे नही है। अत. सोमल ऋषि एव तामली बाल तपस्वी की अनित्य-जागरणा को धर्म-ध्यान मे बताकर वीतराग की आज्ञा मे बताना आगम सम्मत नही है।

आगम मे मिथ्यादृष्टि की प्रव्रज्या भी कही है। भगवती सूत्र शतक ३, उद्देशा १ मे तामसी तापस की प्रव्रज्या के लिए यह पाठ आया है—"पव्वज्जाए पव्वइत्तए।" इस पाठ मे तामली तापस को प्रव्रज्या धारण करना कहा है। परन्तु यह प्रव्रज्या मिथ्यात्व के साथ होने से वीतराग की आज्ञा मे नही मानी जा सकती है। उसी तरह मिथ्यात्व के साथ होने से तामली तापस की अनित्य जागरणा भी आज्ञा में नही मानी जा सकती। तथापि शब्दो की तुल्यता देखकर यदि कोई तामली तापस की अनित्य जागरणा को जिन-आज्ञा मे ठहराने का आग्रह करे, तो उसे तामली तापस की प्रव्रज्या को भी जिन-आज्ञा मे मानना चाहिए। यदि उसकी प्रव्रज्या को जिन-आज्ञा में नही मानते हैं, तो उसकी अनित्य जागरणा को भी जिन-आज्ञा मे नही मानना चाहिए।

उववाई सूत्र मे वानप्रस्थ-तापसो की प्रव्रज्या के लिए यह पाठ आया है—

"बहुइं वासाइं परियायं पाउणंति।"

—उववाई सूत्र ३८, १२

"वानप्रस्थ-तापस बहुत काल तक अपनी प्रव्रज्या पालन करते हैं।"

यहाँ जिस प्रकार वानप्रस्थ-तापसो की प्रव्रज्या का पाठ आया है, उसी तरह जिन-आज्ञा आराधक मुनियो की प्रव्रज्या के लिए भी पाठ पाया है—

"बहुइं वासाइं केवलि-परियागं पाउणंति
बहुइं वासाइं छउमत्थ-परियागं पाउणंति।"

—उववाई सूत्र ३८

उक्त पाठो मे मिथ्यादृष्टि एव सम्यग्दृष्टियो की प्रव्रज्या के लिए समान पाठ आने पर भी जैसे इन दोनो की प्रव्रज्याएँ एक नही, भिन्न-भिन्न हैं। उसी तरह सम्यग्दृष्टि एव मिथ्यादृष्टि की अनित्य जागरणाएँ भी एक नही, भिन्न-भिन्न है।

अत. तामली तापस और सोमिल ऋषि की अनित्य जागरणा को भगवान महावीर की अनित्य जागरणा के तुल्य बताना मिथ्या है।

स्वर्ग प्राप्ति के कारण

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४२ पर भगवती श० ८, उ० ९ का मूलपाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते है—'अथ इहा चार प्रकारे मनुष्य नो आऊषो वध कह्यो। जे प्रकृति भद्रीक, विनीत, दयावान, अमत्सर भाव, ए चार करणी शुद्ध छै, आज्ञा माही छै। ए तो दयादिक परिणाम साम्प्रत आज्ञा मे छै।" इसके आगे लिखते है—

"वली १ सराग-सयम, २ संयमासयम ते श्रावकपणो, ३ वाल तप, ४ अकाम निर्जरा, ए चार कारणे करी देव आऊषो बाधे, इम कह्यो। तो ए चार कारण शुद्ध के अशुद्ध, सावद्य छै के निरवद्य, आज्ञा मे छै के आज्ञा बाहिरे छै ? ए तो चार करणी शुद्ध आज्ञा माहिली सू देव आऊषो वधे छै। अने जे बाल तप, अकाम निर्जरा ने आज्ञा बाहिरे कहे, तेहने लेखे सराग-संयम, संयमासंयम पिण आज्ञा बाहिरे कहिणा। अने जो सराग-सयम, संयमासंयम ने आज्ञा मे कहे तो बाल तप, अकाम निर्जरा ने पिण आज्ञा मे कहिणा। ए बाल तप, अकाम निर्जरा शुद्ध आज्ञा मांहि छै, ते माटे सराग संयम, सयमासंयम रे भेला कह्या। जो अशुद्ध होवे तो भेला न कहिता।"

भगवती सूत्र शतक ८, उद्देशा ९ के पाठ के आधार से मिथ्यादृष्टि की करनी को आज्ञा मे बताना मिथ्या है। उक्त पाठ मे केवल देव-भव और मनुष्य-भव की प्राप्ति के चार कारण कहे हैं। वे कारण वीतराग की आज्ञा मे है या आज्ञा के बाहर, यह नही बतलाया है। अत. उक्त पाठ से बाल-तप एव अकाम-निर्जरा को आज्ञा मे बताना अप्रामाणिक है। क्योकि उववाई सूत्र के मूलपाठ मे अकाम-निर्जरा एव बाल-तप को आज्ञा बाहर कहा है, इसलिए इन्हे आज्ञा मे कहना आगम विरुद्ध है।[1]

प्रस्तुत पाठ मे अकाम निर्जरा करनेवाले को जिन-आज्ञा का अनाराधक कहा है। यदि अकाम निर्जरा वीतराग की आज्ञा मे होती तो उसके आराधक को परलोक का अनाराधक कैसे कहते ? उववाई सूत्र मे बाल-तप करके स्वर्ग मे उत्पन्न होने वालो को मोक्ष-मार्ग का अनाराधक कहा है। वह पाठ अर्थ सहित प्रस्तुत अधिकार मे पृष्ठ २३ से ३२ तक दिया गया है। यदि स्वर्ग प्राप्त

१. उववाई सूत्र का उक्त पाठ इसी प्रकरण के "बाल तप : स्वर्ग का कारण है", इस शीर्षक में पृष्ठ २३ पर देखें।

करानेवाली बाल तपस्या जिन-आज्ञा में होती, तो उक्त पाठों में गंगा तट निवासी आदि अज्ञान तप करने वाले बाल-तापसो को परलोक का अनाराधक क्यो कहते ? इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि बाल-तप जिन-आज्ञा मे नही है।

उववाई सूत्र मे प्रकृति से भद्रिक, विनीत, अमत्सरी पुरुष जो सम्यक् श्रद्धा से रहित हैं, उन्हें परलोक का अनाराधक कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि यदि प्रकृति से भद्रिकता आदि गुण मिथ्यात्व और अज्ञान के साथ हो, तो वे जिन-आज्ञा मे नही होते। अत अकाम-निर्जरा, बाल तपस्या, और अज्ञानयुक्त प्रकृति से भद्रिकता आदि गुणो को वीतराग आज्ञा मे कहना उववाई सूत्र के विरुद्ध है।

इसी तरह भ्रमविध्वसनकार ने जो यह तर्क दिया है कि यदि बाल-तपस्या और अकाम-निर्जरा आज्ञा मे नही होती, तो सराग-सयम और सयमासयम के साथ क्यो कही जाती ? परन्तु उनका यह तर्क युक्ति सगत नही है। क्योकि जो क्रिया वीतराग की आज्ञा मे नही है, वह आज्ञा मे होनेवाली क्रिया के साथ नही कही जाए, ऐसा कोई आगमिक नियम नही है। स्थानाग सूत्र के चौथे स्थान मे धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान के साथ आर्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान भी कहा है। यदि आज्ञा मे होनेवाली क्रियाओ के साथ आज्ञा मे न होनेवाली साधना या क्रिया का उल्लेख नही करने का नियम होता, तो धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान के साथ आर्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान का उल्लेख नही करते, परन्तु इसका उल्लेख किया है। अत भगवती के पाठ में सराग-सयम और सयमासयम के साथ अकाम-निर्जरा और बाल-तपस्या का उल्लेख होने मात्र से उसे आज्ञा मे कहना उचित नही है। उक्त पाठ मे अकाम-निर्जरा एव बाल-तपस्या स्वर्ग प्राप्ति का कारण है, इसलिए उसका सराग-सयम एव सयमासयम के साथ उल्लेख किया है, आज्ञा में होने के कारण नही। अत अकाम-निर्जरा एव बाल-तपस्या को जिन-आज्ञा मे बताना आगम विरुद्ध है।

गोशालक के साधुओं का तप

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४३ पर स्थानाग सूत्र के स्थान ४, उ० २ का मूलपाठ देकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ गोशाला रे स्थविर एहवा तपना करणहार कह्या छै। १ उग्रतप, २ घोरतप, ३ रसना-त्याग, ४ जिव्हेन्द्रिय वश किधी। तेहनी खोटी श्रद्धा अशुद्ध छै, पिण ए तप अशुद्ध नही, ए तप तो शुद्ध छै, आज्ञा माहि छै। ए जिव्हेन्द्रिय प्रतिसलीनता तो "भगवन्ते वारह भेद निर्जरा ना कह्या" तेहमे कह्यो छै। उववाई मे प्रतिसलीनता ना ४ भेद किया—'१ इन्द्रिय-प्रतिसलीनता, २ कषाय-प्रतिसलीनता, ३ योग-प्रतिसलीनता, ४ विविक्त-सयणासण-सेवणया।' अने, इन्द्रिय प्रतिसलीनता रा ५ भेदा मे रस-इन्द्रिय-प्रतिसलीनता 'निर्जरा रा बारह भेद चाल्या' ते मध्ये कही छै। ते निर्जरा ने आज्ञा वाहिरे किम कहिए ?"

गोशालक मतानुसारिणी जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनता और वीतराग प्ररूपित जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनता एक नही, भिन्न-भिन्न है। क्योकि उववाई सूत्र मे गोशालक मत के तपस्वियो को परलोक का अनाराधक कहा है। यदि उनकी जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनता जिनोक्त प्रतिसलीनता से भिन्न नही होती, तो उन्हें परलोक का अनाराधक कैसे कहते ? इससे यह स्पष्ट होता है कि गोशालक मत की जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनता जिनोक्त जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनता से भिन्न है। अत उक्त दोनो जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनताओ को एक बताकर मिथ्यादृष्टि की क्रिया को जिन-आज्ञा मे बतलाना मिथ्या है। उववाई का पाठ यह है, जिसमे गोशालक मत के तपस्वियो को परलोक का अनाराधक कहा है—

"से जे गामागर जाव सन्निवेसेसु आजीविका भवन्ति, तं जहा-दुघरंतिया, तिघरंतिया, सत्तघरतिया, उप्पलवेटिया, घरसमुदाणिया, विज्जुअन्तरिया, उट्टियासमणा, ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहुइ वासाइं परियाय पाउणति-पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं अच्चुए-कप्पे देवत्ताए उववतारो भवन्ति। तहि तेसि गति बावीसं सागरोवमाइं ठिती, अणाराहगा सेसं तं चेव।"

—उववाई सूत्र ४१.

"ग्राम से लेकर सन्निवेशों में गोशालक मत के श्रमण रहते हैं। उनमें कुछ श्रमण दो घर छोड़कर तीसरे घर में, कुछ तीन घर छोड़कर चौथे घर में,कुछ सात घर कर छोड़कर आठवें घर में भिक्षा लेते हैं। कुछ सिर्फ कमलवृन्त को खाकर रहते हैं। कुछ प्रत्येक घरों में से सामुदायिक भिक्षा लेते हैं, एक ही घर से नहीं। कुछ विद्युत के चमकने पर भिक्षा लेते हैं। कुछ ऊंट की तरह बने हुए मिट्टी के पात्र में बैठकर तपस्या करते हैं। ये सब अपने व्रतों को बहुत वर्षों तक पालकर मृत्यु के समय मरकर उत्कृष्ट बारहवें अच्युत स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। उनकी उत्कृष्ट गति वहीं तक है। उनकी स्थिति बाईस सागर की है। ये श्रमण परलोक के आराधक नहीं हैं।"

प्रस्तुत पाठ मे गोशालक मत के श्रमणो की कष्टप्रद तपस्या का वर्णन करके उन्हे परलोक का अनाराधक होना कहा है। यदि उनकी तपस्था जिन-आज्ञा मे होती, तो उस तपस्या के आराधको को परलोक का अनाराधक नही कहते। अत. यदि इनकी जिह्वेन्द्रिय-प्रतिसलीनता जिन-आज्ञा मे होती तो उन्हे आज्ञा का अनाराधक नही, आराधक कहते। परन्तु उन्हे अनाराधक कहा है। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि गोशालक मत की जिह्वेन्द्रिय-प्रतिसलीनता और जिनोक्त जिह्वेन्द्रिय-प्रतिसलीनता एक नही, भिन्न-भिन्न है। यदि शाब्दिक तुल्यता के कारण गोशालक की जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनता को जिन-आज्ञा मे बताये,तो उनकी भिक्षाचरी एव प्रव्रज्या को भी शब्द साम्य के कारण जिन-आज्ञा मे मानना चाहिए ? परन्तु शब्दत. तुल्य होने पर भी उनकी भिक्षाचरी एव प्रव्रज्या को जिन-आज्ञा मे नही मानते है, तब उनकी जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनता को सिर्फ शब्द साम्य के आधार पर जिन-आज्ञा मे कैसे मान सकते है ? अत गोशालक मतानुयायियो की जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनता को वीतराग की आज्ञा मे बताकर मिथ्यादृष्टि की क्रिया को जिन-आज्ञा मे बताना यथार्थता से दूर है।

पाषण्डी का अर्थ

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४४ पर प्रश्नव्याकरण सूत्र के दूसरे संवर द्वार का पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते है—"इहा कह्यो–सत्य वचन साधु ने आदरवा योग्य छै। ते साथ अनेक पाषडी अन्य दर्शनी पिण आदरयो कह्यो, ते सत्य-लोक मे सारभूत कह्यो। सत्य महासमुद्र थकी पिण गभीर कह्यो, मेरु थकी स्थिर कह्यो, एहवा श्री भगवन्ते सत्य ने बखाण्यो। ते सत्य ने अन्य दर्शनी पिण धार्यो। तो ते सत्य ने खोटो, अशुद्ध किम कहिये ? आज्ञा बाहिर किम कहिये ? आज्ञा बाहिरे कहे तो तेनी ऊधी श्रद्धा छै। पिण निरवद्य सत्य तो श्री वीतरागे सरायो ते आज्ञा बाहिरे नही ?"

प्रश्नव्याकरण सूत्र का वह पाठ लिखकर समाधान कर रहे है—

"अणेग पासण्डि परिग्गहिय ज त लोकम्मिसारभूयं गभीरतरं महासमुद्दाओ थिरतरं मेरुपव्वआओ।"

—प्रश्नव्याकरण सूत्र, सवरद्वार, २४

"सत्य रूप महाव्रत को विविध व्रतधारियों ने स्वीकार किया है। यह त्रिलोक में सारभूत है। महा-समुद्र से भी गंभीर और मेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर है।"

प्रस्तुत पाठ मे 'अणेगपासण्डि परिग्गहिय' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

"अनेक पाषण्डि परिगृहीत नानाविध व्रतिभिरंगीकृत:।"

'अनेक प्रकार के व्रतधारियों द्वारा स्वीकृत व्रत का नाम "पाषण्ड" है और जिसमें वह व्रत हो, उसे पाषण्डी कहते हैं।

उन पाषण्डियो–व्रतधारियो द्वारा गृहीत होने से सत्य-व्रत "अणेगपासण्डि परिग्गहियं" कहा गया है। यद्यपि आजकल लोकभाषा मे 'पाषण्डि' शब्द दाम्भिक अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है, परन्तु यहाँ यह शब्द व्रतधारी के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, दाम्भिक के अर्थ मे नही। दशवैकालिक सूत्र अध्ययन २ निर्युक्ति गाथा १५८ की टीका मे "पासण्ड" शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—

"पाषण्ड व्रतमित्याहु स्तद्यस्यास्त्यमल भुवि,
स पाषण्डी वदन्त्यन्ये कर्मपाशात् विनिर्गत:।"

"पाषण्ड नाम व्रत का है। वह व्रत जिसका निर्मल है, उस कर्म बन्धन से विनर्मुक्त पुरुष को 'पाषण्डी' कहते हैं।"

यहाँ टीकाकार ने "पाषण्ड" शब्द का व्रत अर्थ किया है। और दशवैकालिक सूत्र की निर्युक्ति मे श्रमण-निर्ग्रन्थो के 'पाषण्ड' नाम का उल्लेख मिलता है।

"पव्वइए, अणगारे, पासण्डे, चरग, तावसे, भिक्खू।
परिवाइए य समणे-निग्गंथे संजए, मुत्ते॥"

—दशवैकालिक सूत्र अ० २ निर्युक्ति गाथा १५८

"प्रव्रजित, अणगार, पाषण्ड, चरक, तापस, भिक्षु, परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ, संयत और मुक्त ये सब श्रमण-निर्ग्रन्थों के नाम हैं।"

प्रस्तुत निर्युक्ति मे श्रमण-निर्ग्रन्थ का 'पाषण्ड' नाम भी कहा है। उपासकदशाग सूत्र के प्रथम अध्ययन मे और आवश्यक सूत्र मे सम्यकत्व का अतिचार बताने के लिए यह पाठ आया है "पर-पासण्डि पसंसा, पर-पासण्डि संत्थव" टीकाकारने इसका इस प्रकार अर्थ किया है—

"सर्वज्ञ प्रणीत पाषण्ड व्यतिरिक्तानां प्रशसा प्रशसन स्तुतिरित्यर्थ।"

"सर्वज्ञ प्रणीत पाषण्ड से भिन्न पाषण्ड की प्रशंसा करना सम्यक्त्व का अतिचार है।"

यहाँ पाषण्ड को सर्वज्ञ प्रणीत कहा है, जो लोग पाषण्ड का अर्थ केवल दम्भ ही करते हैं, उन्हे बताना चाहिए कि सर्वज्ञ ने कौन-से दम्भ की प्ररूपणा की है? यदि वे यह नही मानते कि सर्वज्ञ ने दम्भ की प्ररूपणा की है, तो उन्हे 'पाषण्ड' शब्द का टीकाकार द्वारा किया हुआ व्रत अर्थ मानना होगा। यदि पाषण्ड शब्द का सिर्फ दम्भ ही अर्थ होता है, तो मूलपाठ मे 'पाषण्ड' शब्द के पूर्व 'पर' लगाने की क्या आवश्यकता थी? क्योकि जैसे दूसरे का दम्भ बुरा है, वैसे अपना दम्भ भी तो बुरा होता है। अत उसके पहले 'पर' न लगाकर इतना ही कहते कि पाषण्डी की प्रशसा करना सम्यक्त्व का अतिचार है। परन्तु ऐसा न कहकर मूल पाठ मे 'पर-पासण्डि" कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि—'पाषण्ड' व्रत का नाम है। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे विभिन्न व्रतधारियो द्वारा स्वीकृत सत्य का उल्लेख किया गया है। अत' प्रश्नव्याकरण सूत्र का नाम लेकर मिथ्यादृष्टि एव दाम्भिक पुरुषो मे सत्य की स्थापना करना आगम सम्मत नही है।

समस्त शुभ-कार्य आज्ञा में नहीं है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४५ पर जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति का मूल पाठ देकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते है—

"अय अठे इम कह्यो। ते वनखण्ड ने विषे वाणव्यन्तर देवता देवी वैसे, सूवे, क्रीड़ा करे। पूर्व भवे भला पराक्रम फोडव्या तेहना फल भोगवे एहवो श्री तीर्थंकर देव कह्यो। तो जे वाण-व्यन्तरदेव मे तो सम्यग्दृष्टि उपजे नही, व्यन्तर मे तो मिथ्यात्वी ज उपजे छै। अने जो मिथ्यात्वी रो पराक्रम सर्व अशुद्ध होवे तो श्री तीर्थंकर देव इम क्यू कह्यो? जे वाणव्यन्तरे पूर्व भवे भला पराक्रम किया, तेहना फल भोगवे छै। ए तो मिथ्यात्वी रा शील तपादिक ने विषे भलो पराक्रम कह्यो छै। जो तिण रो पराक्रम अशुद्ध हुवे तो भगवन्त भलो पराक्रम न कहिता। एतो भली करणी करे, ते आज्ञा माहि छै।"

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे व्यन्तर सज्ञक देवताओ के पूर्वभव के कार्य को भगवान ने अच्छा कहा है, इससे यह सिद्ध नही होता है कि उन देवताओ के पूर्व भव का कार्य वीतराग की आज्ञा मे था। क्योकि उनके पूर्व भव के कार्य की तरह भगवान ने पद्मवर वेदिका, वनखड और उन देवो के द्वारा भोगे जाने वाले सुख विशेप को भी शुभ कहा है।

"पासाइया, दंसणीया, अभिरूवा, पडिरूवा"

—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

"वह पद्मवर वेदिका चित्त को प्रसन्न करनेवाली है, देखने योग्य है, अभिरूप है, और प्रतिरूप है।

यहाँ भगवान ने पद्मवर वेदिका एवं वनखण्ड को भी अच्छा कहा है। इसी तरह उक्त देवो के सुख विशेष के सम्वन्ध मे भी यह पाठ आया है—

"कल्लाणाणं कडाणं कम्माणं कल्लाण फलवित्तिविसेसे पच्चणु भवमाणा विहरन्ति।"

"व्यन्तर संज्ञक देव पूर्व भव में किए हुए कल्याण रूप कर्मों के फल स्वरूप कल्याण रूप फल विशेष का अनुभव करते हैं।"

यहाँ भगवान ने जैसे व्यन्तर देवो के पूर्व भव के कार्य को कल्याण रूप कहा है, उसी तरह उन के द्वारा भोगे जाते हुए सुख विशेष को भी कल्याण रूप कहा है। अत जो व्यक्ति भगवान द्वारा

अच्छे कहे जाने मात्र से व्यन्तर देवों के पूर्व भव के कार्य को आज्ञा में बताते है, उन्हें उनके द्वारा भोगे जाने वाले, सुख विशेष को भी जिन-आज्ञा मे मान लेना चाहिए और पद्मवर वेदिका एव वनखण्ड को भी जिन-आज्ञा मे कहना चाहिए। यदि पद्मवर वेदिका, वनखण्ड और व्यन्तर देवो द्वारा भोग्य सुख विशेष भगवान द्वारा शुभ कहे जाने पर भी जिन-आज्ञा मे नही मानते हैं, तो व्यन्तर देवो के पूर्व भव के कार्य को भी जिन-आज्ञा मे नही मानना चाहिए। परन्तु इस पाठ का उदाहरण देकर व्यन्तर देवो द्वारा भोगे जानेवाले सुख विशेष एव पद्मवर वेदिका आदि को आज्ञा में नही मानते हुए भी उनके पूर्व भव के कार्य को आज्ञा मे कहना दुराग्रह का ही परिणाम है।

वस्तुत: व्यन्तर देवो के पूर्व भव के कार्य, उनके सुख विशेष, पद्मवर वेदिका, वनखड को जिन-आज्ञा मे होने के कारण अच्छा नही कहा है, प्रत्युत वस्तु स्थिति का वर्णन किया है। जैसे रत्न को श्रेष्ठ और ककड को निकृष्ट कहा जाता है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही होता कि रत्न भगवान की आज्ञा मे है और ककड आज्ञा में नही है। उसी तरह जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे वस्तु स्थिति का कथन है, वीतराग की आज्ञा में होने वाले मोक्ष-मार्ग आराधन रूप कार्यों का नही। अत: जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति का उदाहरण देकर मिथ्यात्वी की क्रिया को आज्ञा मे बताना उपयुक्त नही है।

माता-पिता की सेवा : एकान्त पाप नहीं है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४७ पर लिखते हैं—

"अने जो माता-पितारा विनीत कह्या तेहिज गुण थापसे तो इहां इमि कह्यो माता-पिता रो वचन उल्लंघे नही। तिण रे लेखे ए पिण गुण कहिणो। जो ए गुण छै तो धर्म करंता माता-पिता वर्जे अने न माने तो ए वचन लोप्यो ते माटे तिणरे लेखे अवगुण कहिणो। साधु पणो लेतां, श्रावक पणो आदरता, सामायक-पोषा करतां माता-पिता वर्जे तो तिणरे लेखे धर्म करणो नही। अने सामायक आदि करे तो अविनीत थयो, ते अवगुण हुवे तेह थी तो धर्म हुवे नहीं।"

उववाई सूत्र के मूल पाठ मे स्पष्ट लिखा है कि माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा, विनय-भक्ति, आज्ञा-पालन आदि करने से पुत्र को स्वर्ग प्राप्त होता है। परन्तु इस आगम सम्मत सिद्धान्त को स्वीकार करने से भ्रमविध्वसनकार द्वारा मान्य स्व-कपोल कल्पित सिद्धान्त मिथ्या सिद्ध होता है। इसलिए इन्होने उववाई सूत्र के उक्त पाठ का विपरीत अभिप्राय बतलाया है। भ्रमविध्वंसनकार की मान्यता है कि "अपने मत—तेरहपंथ के साधुओ के सिवाय सभी कुपात्र है।" यहाँ तक कि माता-पिता, ज्येष्ठ बन्धु एवं गुरुजन आदि भी कुपात्र हैं और उनकी सेवा-शुश्रूषा करने में ये एकान्त पाप मानते है। ऐसी स्थिति में उववाई सूत्र के उक्त पाठ का विपरीत अर्थ नही करें, तो इनका मत खड़ा नहीं रह सकता। इनका कहना है—"माता-पिता का विनय करना, उनकी आज्ञा का पालन करना यदि धर्म है, तो माता-पिता चोरी-जारी, व्यभिचार और मद्यपान, मास-भक्षण की आज्ञा दें, तो उस आज्ञा का पालन करना भी पुत्र के लिए धर्म होना चाहिए ?" वस्तुत. उनका यह तर्क नही, कुतर्क मात्र है।

बुद्धिमान पाठको को इस विषय मे सोचना-समझना चाहिए कि दुनिया में अपने पुत्र को चोरी-जारी, मद्यपान, मांस-भक्षण, वेश्यागमन आदि बुराइयों की शिक्षा देनेवाले माता-पिता अधिक हैं या इन दुष्कृत्यो से निवृत्त होने की शिक्षा देने वाले माता-पिता अधिक हैं ? प्राय: बुद्धिमान विचारको का यही उत्तर होगा कि उक्त बुराइयो से निवृत्त होने की शिक्षा देने वाले माता-पिता ही अधिक हैं। संभव है, कुछ माता-पिता स्वार्थ या मूर्खता के कारण अपने पुत्र को बुराइयों की भी शिक्षा देते हो, पर वे थोड़े होते हैं। यदि उन अपवाद स्वरूप माता-पिता की आज्ञा मे पाप होता है, तो उनका उदाहरण देकर सब माता-पिताओं की आज्ञा में पाप ही होता है, यह कौन-सा न्याय है ? किसी अपवाद का आश्रय लेकर उत्सर्ग को बुरा कहना कहाँ की विद्वता है ?

कभी-कभी सूर्य ग्रहण के समय दिन में ही अंधकार हो जाता है। उसे देखकर यदि कोई सूर्य को अंधकार फैलाने वाला कहे, तो यह उसकी मूर्खता ही होगी। इसी तरह जो अपवाद

स्वरूप माता-पिता का उदाहरण देकर सभी माता-पिता की आज्ञा मानने में पाप बताते है, वे भी भूल करते हैं। ऐसी दुष्ट माता सुनने मे आई है कि जिसने अपने पुत्र की हत्या कर दी ? क्या उसका उदाहरण सामने रखकर सभी माताओ को पुत्र घातिनी कहेंगे ? कदापि नही। जब पुत्र घातिनी माता के उदाहरण से सभी माताएँ पुत्र घातिनी नही कही जा सकती, तब कुकृत्य की शिक्षा देने वाले कुछ माता-पिता के उदाहरण से सभी माता-पिता बुरे कैसे कहे जा सकते हैं ? अत. माता-पिता का विनय और सेवा-शुश्रूषा करने में एकान्त पाप कहना आगम के विरुद्ध है।

उववाई सूत्र मे माता-पिता की सेवा-भक्ति करने और उनकी आज्ञा पालन करने से पुत्र को स्वर्ग मिलता है ऐसा स्पष्ट पाठ है। उववाई सूत्र का वह पाठ अर्थ सहित प्रस्तुत अधिकार के 'माता-पिता की सेवा का फल' शीर्षक मे लिख चुके है।

उस पाठ में कहा है कि परोपकार करनेवाले, विनीत और माता-पिता की आज्ञा का पालन करनेवाले पुरुष देवलोक मे जाते हैं। यदि माता-पिता की आज्ञा-पालन, उनकी सेवा-भक्ति करना एकांत पापमय होता, तो उन्हें उक्त पाठ मे स्वर्ग मे जाना कैसे कहते ? स्वर्ग प्राप्ति पुण्य मे होती है, पाप से नही। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार भोले जीवो को भ्रम मे डालने के लिए भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४८ पर लिखते है—

"अहो महानुभावो ! ए गुण नही ए तो प्रतिपक्ष वचन छै। जे इहां इम कह्यो सहजे पतला क्रोध, मान, माया, लोभ। ए क्रोध, मान, माया लोभ पतला थोडा ते तो अवगुण इज छै। थोडा अवगुण छै, पिण क्रोधादिक तो गुण नहीं, पिण प्रतिपक्ष वचने करी ओलखायो छै। पतलो क्रोधादिक कह्या तिवारे जाडा क्रोधादिक नही, ए गुण कह्या छै।"

यह लिखकर भ्रमविध्वंसनकार मूलपाठ मे उल्लेखित माता-पिता के विनय करने एव उनके वचन का उल्लंघन नहीं करने को गुण नही मानते। अत. इनके मत में विनय करना भी बुरा है और अविनय करना भी बुरा है। परन्तु उनकी यह मान्यता आगम और अनुभव के सर्वथा विपरीत है। यदि विनय करना बुरा है, तो अविनय करना अच्छा होना चाहिए। और यदि अविनय करना बुरा है, तो विनय करना अच्छा होना चाहिए। परन्तु विनय और अविनय दोनो ही बुरे हो, यह हो नही सकता। प्रस्तुत पाठ मे विनय करना स्पष्टत गुण बतलाया है, उसे बुरा बताना आगम-विरुद्ध है।

इसी तरह प्रतिपक्ष वचन का नाम लेकर इस पाठ में कथित विनय आदि गुणो को दोष कहना भी अनुचित है। जैसे विनय का प्रतिपक्ष वचन अविनय और लघु क्रोध, मान, माया और लोभ के प्रतिपक्ष वचन महान् क्रोध, मान, माया और लोभ होते हैं। उसी तरह माता-पिता के वचन का उल्लघन नही करने का प्रतिपक्ष वचन माता-पिता के वचन का उल्लघन करना होता है। यदि भ्रमविध्वसनकार के मत में इस पाठ में प्रतिपक्ष वचन से गुण बतलाए हैं, तो माता-पिता के वचन का उल्लघन करने में गुण कहना चाहिए। यदि माता-पिता के वचन का उल्लघन करने को गुण नही मानते हैं, तो उनके वचन का उल्लघन नही करने को गुण मानना होगा। जब माता-पिता के वचन का उल्लघन नही करना गुण है, तो उसी तरह इस पाठ मे कथित विनय आदि करना भी गुण है, दोष नही। अत. प्रतिपक्ष वचन का नाम लेकर माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा, आज्ञा-पालन और विनय आदि करने मे एकान्त-पाप की प्ररूपणा करना आगम के सर्वथा विरुद्ध है।

दान-अधिकार

अनुकम्पा-दान, अधर्म नहीं है

कुछ व्यक्ति अनुकम्पा दान मे एकान्त पाप की प्ररूपणा करके, श्रावको को उसका त्याग कराते है। परन्तु जिस समय कोई दयावान व्यक्ति दीन-हीन, दु खी, अनाथ प्राणियो को कुछ दे रहा हो और वे उससे ले रहे हो, उस समय उस दान मे एकान्त पाप कहकर उसका निषेध नही करते। क्योकि उस समय अनुकम्पा दान का त्याग कराने से अन्तराय का पाप लगता है,इसे वे भी स्वीकार करते हैं। भ्रमविध्वसन पृष्ठ ५० पर लिखा है—

"देतो लेता इसो वर्तमान देखी पाप न कहे। उण वेला पाप कह्या जे लेवे छै, तेहने अन्तराय पडै, ते माटे साधु वर्तमाने मौन राखे।" आगे चलकर पृष्ठ ७२ पर लिखते है—

"राजादिक अनेरा पुरुष कूआ, तालाव, पौ, दानशाला, विषै उद्यत थयो थको साधु प्रति पुण्य सद्भाव पूछै,तिवारे साधु नै मौन अवलम्बन करवी कही। पिण तिण काल नो निषेध कर्यो नथी।"

वस्तुत उक्त कथन जैन-आगम के सर्वथा विरुद्ध है। जैन-आगम किसी भी काल मे अनुकम्पा दान का निषेध नही करता। जैन-आगम उपदेश के समय या भूतकाल या वर्तमान काल मे अनुकम्पा दान को एकान्त पापमय कहकर उसका त्याग कराने की शिक्षा नही देता। क्योकि आगम मे अनुकम्पा दान को पुण्य-बन्ध का कारण भी कहा है। इसलिए जो व्यक्ति उपदेश मे अनुकम्पा दान को एकान्त पाप कहकर श्रावको को उसका त्याग कराते है,वे यथार्थता से बहुत दूर है।

आगम में स्पष्ट कहा है कि अनुकम्पा दान का निषेध करने वाले को तीनों ही काल मे अन्तराय लगती है। ऐसा नही कहा है कि जिस समय दाता दे रहा हो और याचक ले रहा हो, उस समय उसका निषेध करने मात्र से अन्तराय लगती है, उसके पहले या पीछे उसका निषेध करने पर नही। अत. उपदेश मे या किसी भी समय मे जो व्यक्ति अनुकम्पा दान का निषेध करता है,वह अन्तराय का भागी एव दीन-हीन जीवो की जीविका का अपहरणकर्त्ता होता है।

आगम मे अधर्म-दान को एकान्त पाप कहा है और उसका त्याग-प्रत्याख्यान कराना तीनो काल मे धर्म माना है। यदि कोई अधर्म-दान दे रहा हो और चोर, जार, हिंसक प्राणी उसे चोरी, जारी एव हिंसा आदि अधर्म कार्यो के लिए ले रहा हो, उस समय कोई साधु दाता को समझा-बूझा कर अधर्म-दान का त्याग कराता है, तो उसमे अन्तराय कर्म का बन्ध नही,धर्म होता है।

यदि कोई दुराग्रही व्यक्ति न समझे, तो साधु विवश होकर मौन धारण करले यह बात अलग है, परन्तु योग्य एव समझदार व्यक्ति को किसी भी समय समझाकर उसे अधर्म-दान का त्याग कराना अन्तराय नही, धर्म कार्य है। इस प्रकार तीनो ही काल मे अधर्म-दान का निषेध करना आगम सम्मत है।

यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जो व्यक्ति अनुकम्पा दान को अधर्म-दान में गिनते है, वे वर्तमान काल मे भी अनुकम्पा दान का निषेध क्यो नही करते ? क्योकि अधर्म-दान का निषेध करने मे किसी भी काल मे अन्तराय नही कहा है। यदि कोई अधर्म-दान के त्याग कराने मे भी अन्तराय मानते हो, तो उन्हे चोरी, जारी, हिंसा आदि दुष्कर्मों के लिए दान देने वाले व्यक्ति को उस दान का फल एकान्त पाप होता है, ऐसा कहकर उसका त्याग नही कराना चाहिए। क्योकि इससे चोर, जार एवं हिंसक आदि के लाभ में अन्तराय पड़ेगी। यदि चोरी, जारी, हिंसा आदि महारंभ का कार्य करने के लिए चोर, जार, हिंसक को दान देना एकान्त पाप है। इसलिए वर्तमान काल मे भी उसका निषेध करने से अन्तराय नही लगता। इसी तरह आपके विचारानुसार अनुकम्पा दान भी एकान्त पाप है, अतः वर्तमान मे उसका निषेध करने से भी अन्तराय कर्म का बन्ध नही होना चाहिए। यदि यह कहे कि हम इन सब विषयो मे मौन रख लेते है, "कोई दयालु व्यक्ति दीन-दुखी को कुछ दे रहा हो या कोई व्यभिचारी व्यभिचार सेवन के लिए वेश्या को कुछ दे रहा हो या कोई चोर, जार, हिंसक को चोरी, जारी, हिंसा आदि के लिए दे रहा हो।" इन सब प्रसगो पर हम एक समान मौन रहते है, अन्तराय न लग जाए इस भय से पुण्य-पाप कुछ नही कहते। यदि ऐसा है तो फिर अधर्म कार्यो के समय भी आप को मौन रहना चाहिए। क्योकि जैसे अधर्म दान अधर्म हैं, उसी तरह चौर्य कर्म, हिंसा आदि दुष्कर्म भी अधर्म कार्य है। फिर इनका वर्तमान काल मे निषेध क्यो करते है ?

आपके सिद्धान्तानुसार कसाई को बकरा मारने के लिए तैयार देखकर, उपदेश द्वारा उससे हिंसा छुड़ाने मे अन्तराय कर्म लगना चाहिए। यदि हिंसा छुडाने मे अन्तराय कर्म नही लगता तो अनुकम्पा दान छुडाने मे भी आपके विचारानुसार अन्तराय कर्म नही लगना चाहिए। क्योकि आपके मत मे जैसे हिंसा करना अधर्म है, अधर्म-दान देना अधर्म है, उसी तरह अनुकम्पा दान भी अधर्म है। देने वाला अधर्म मे ही देता है और लेनेवाला अधर्म मे लेता है। अत. उसका त्याग करा देने से दोनो अधर्म से मुक्त हो सकते है। जैसे वर्तमान में उपदेश द्वारा हिंसा का त्याग कराने में अन्तराय नही होता, उसी तरह जिस समय कोई अनुकम्पा दान दे रहा हो और याचक ले रहा हो, उस समय अनुकम्पा दान का त्याग कराने मे पाप नही होना चाहिए। क्योकि भ्रम-विध्वसन पृष्ठ १५० पर लिखा है **"हिंसादिक अकार्य करता देखी धर्म उपदेश देई समझावणो।"** इसी तरह किसी को अधर्म दान देते हुए देखकर क्यो नही समझाना चाहिए ? जैसे आप वर्तमान मे हिंसा छुडाने मे धर्म मानते है, उसी तरह अनुकम्पा दान छुडाने मे धर्म क्यो नही मानते ?

यदि इस विषय में आप यह तर्क दे कि वर्तमान मे अनुकम्पा दान का त्याग कराने से वहाँ उपस्थित दीन-हीन जीवो की जीविका में बाधा पडती है, परन्तु कसाई से हिंसा छुडाने में किसी की जीविका का नाश नही होता, इसलिए हम वर्तमान काल मे हिंसा का निषेध करते है, परन्तु अनुकम्पा दान का निषेध नही करते। परन्तु आपका यह तर्क सही नही है, क्योकि कसाई मांसाहारी को मास देने के लिए हिंसा करता है। अत. उसके हिंसा छोड़ने से मासाहारी के लाभ का

अन्तराय हो सकता है। ऐसी स्थिति मे आपके मत मे कसाई को उपदेश देकर उसको भी हिंसा का त्याग नही कराना चाहिए। परन्तु जैसे हिंसा करना अधर्म है और उसका त्याग कराने मे कोई अन्तराय नही होता, उसी तरह अनुकम्पा दान भी आप के मत मे अधर्म है,अत. उसका त्याग कराने पर भी आप को अन्तराय नही मानना चाहिए। परन्तु वर्तमान में आप भी अनुकम्पा दान का निषेध करने मे अन्तराय का पाप होना मानते है,इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकम्पा दान वेश्या, चोर, जार, हिंसक प्राणियो को व्यभिचार, चोरी, जारी आदि दुष्कर्म करने के लिये दिए जानेवाले अधर्म-दान के समान एकान्त पाप का कारण नही है। अत. अनुकम्पा-दान का निषेध करने से अन्तराय का लगना कहा है, अधर्म-दान का निषेध करने से नही।

दशवैकालिक सूत्र मे अनुकम्पा दान के अधिकारी याचको को गृहस्थ के द्वार पर भिक्षार्थ खड़े देखकर, उन्हे अन्तराय न देने के लिए साधु को वहाँ से हट जाना कहा है। परन्तु वेश्या आदि को दुष्कर्म सेवनार्थ दान लेने के लिए गृहस्थ के द्वार पर खड़ा देखकर साधु को वहाँ से हट जाने को नही कहा है। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि पुण्य कार्य मे बाधा पहुँचाने से ही अन्तराय का पाप लगता है, अधर्म कार्य मे बाधक बनने से नही।

"समणं-माहणं वावि, किविणं वा वणीमगं।
उवसक्कमत्तं भत्तट्ठा पाणट्ठा एव संजए ॥
तमइक्कमित्तु न पविसे न चिट्ठे चक्खुगोयरे।
एगन्तमवक्कमित्ता तत्थ चिट्ठेज्ज संजए ॥"

—दशवैकालिक ५, २, १०-११

"श्रमण, माहण, दरिद्र, और वनीपक को गृहस्थ के द्वार पर भिक्षार्थ गए हुए या जाते हुए देखकर, उनको उल्लंघकर साधु गृहस्थ के घर में भिक्षार्थ प्रवेश न करे और जहाँ गृह स्वामी की दृष्टि पड़ती हो, वहाँ भी खड़ा न रहे, परन्तु जहाँ गृह स्वामी की दृष्टि न पड़े, ऐसे एकान्त स्थान में जाकर खड़ा रहे।"

प्रस्तुत गाथाओ मे अनुकम्पादान लेने वाले श्रमण—माहण, दरिद्र एव भिखारी आदि को गृहस्थ के द्वार पर भिक्षार्थ गए हुए देखकर, साधु को उन्हे अन्तराय न देने के लिए गृहस्थ के द्वार से हट जाने को कहा है। परन्तु चोर, जार, हिंसक और वेश्या आदि को दुष्कर्म के निमित्त गृहस्थ के द्वार पर दान लेने के लिए खड़े देखकर साधु को वहाँ से हट जाने के लिए नही कहा-है। इससे यह सिद्ध होता है कि एकान्त पाप के कार्य मे बाधा पहुँचाने से अन्तराय का पाप नही होता, परन्तु पुण्य कार्य मे बाधक बनने से अन्तराय कर्म बधता है। इसलिए साधु को अनुकम्पा दान का किसी भी समय निषेध नही करना चाहिए। क्योकि इस मे पुण्य का सद्भाव है। अत उक्त गाथाओ मे अनुकम्पा दान मे बाधक बनने से अन्तराय कर्म का बन्ध होना माना है, परन्तु एकान्त पाप के कार्यो चोरी-जारी आदि मे बाधक बनने से अन्तराय कर्म का बन्ध नही कहा है। इसलिए अनुकम्पा दान को एकान्त पाप का कार्य बताना आगम-सम्मत नही है।

यदि अनुकम्पा दान अधर्म-दान है, तो जैसे चोरी, जारी, हिंसा आदि अधर्म कार्यो के लिए उद्यत पुरुष को वर्तमान मे निषेध करने से अन्तराय नही लगता,उसी तरह वर्तमान में अनुकम्पा

दान का निषेध करने से अन्तराय का बन्ध नही होना चाहिए। यदि यह कहे कि चोरी, जारी, हिंसा आदि का निषेध करने से किसी के स्वार्थ मे विघ्न नही पडता, इसलिए इन दुष्कर्मों का निषेध करने से अन्तराय का पाप नही लगता। परन्तु वर्तमान मे अनुकम्पा दान का निषेध करने से उसके लेनेवाले याचको के स्वार्थ की हानि होती है, इसलिए वर्तमान मे इसका निषेध नही करते। परन्तु यह कथन युक्ति सगत नही है। क्योंकि चोर को चोरी का त्याग कराने से उसके परिवार के पालन-पोषण मे बाधा पहुँचती है। जार को व्यभिचार का त्याग कराने से उसकी प्रेयसी को काम सुख की हानि होती है और हिसक को हिंसा का त्याग कराने से आमिष-आहारियो को मास की प्राप्ति नही होती, फिर भी उक्त व्यक्तियो को वर्तमान मे दुष्कर्म का त्याग कराना अन्तराय का कारण नही है, तो आपके मतानुसार दीन-दु.खी जीवो के स्वार्थ मे बाधा पहुचाने पर भी वर्तमान मे अनुकम्पा दान का निषेध करने मे पाप नही होना चाहिए ? परन्तु आपने वर्तमान मे अनुकम्पा दान का निषेध करना अन्तराय का कारण माना है। और आगम मे सभी काल मे अनुकम्पा दान का निषेध करना पाप का हेतु कहा है। अत अनुकम्पा दान को एकान्त पाप का कार्य कहकर उपदेश मे उसका त्याग कराने की प्रेरणा करना आगम के साथ मानवता के भी सर्वथा विरुद्ध है।

भ्रमविध्वसनकार से पूछना चाहिए कि एक पुरुष अपने हाथ मे रोटी लेकर भिक्षुओ को देने के लिए जा रहा है, दूसरा व्यक्ति दुष्कर्म सेवन के लिए वेश्या को कुछ रुपये देने जा रहा है, तीसरा व्यक्ति स्वय खाने एव अन्य मासाहारियो को मास खिलाने के लिए छुरी लेकर बकरा मारने जा रहा है और चौथा व्यक्ति अपने परिवार का पोषण करने के लिए चोरी करने जा रहा है। यदि ये सब व्यक्ति साधु को मार्ग मे मिले तो साधु किन व्यक्तियो को एकान्त पाप न करने का उपदेश देकर त्याग कराएगा और किसके विषय मे मौन रहेगा ? यदि यह कहो कि प्रथम व्यक्ति के सम्बन्ध मे मौन रहकर शेष सब को एकान्त पाप से बचने का उपदेश देकर चोरी आदि दुष्कर्मो का त्याग कराएगा। यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि अनुकम्पा दान भी चोरी आदि की तरह एकान्त पाप का कार्य है, तो अनुकम्पा दान देने जाने वाले व्यक्ति के सम्बन्ध मे साधु मौन क्यो रहता है ? आप के मत से उसे भी त्याग कराना चाहिए, परन्तु वर्तमान मे आप भी अनुकम्पा दान का त्याग नही कराते। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुकम्पा दान चोरी आदि दुष्कर्मो की तरह एकान्त पाप कार्य नही, पुण्य बन्ध का भी कारण है।

कुछ व्यक्ति तर्क करते है कि यदि अनुकम्पा दान में पुण्य होता है,तो श्रावक की सामायिक-पौपध नही करना चाहिए। क्योकि सामायिक आदि साधना मे सलग्न श्रावक अनुकम्पा दान नही देता, इसलिए दीन-हीन जीवो की आजीविका मे बाधा पडती है। भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ५१ पर लिखते है—

"वली कोई ने सामायक-पोषो करावणो नही। सामायक-पोषा मे कोई ने देवे नही। जद पण इहा अन्तराय कर्म बधे छै।"

भ्रमविध्वसनकार का यह तर्क पूर्णत गलत है। क्योकि श्रावक सामायिक-पौषध की साधना विशिष्ट गुण की प्राप्ति के लिए करता है, न कि अपने को अनुकम्पा दान से बचाने के लिए। अनुकम्पा दान देना सामान्य गुण है और सामायिक-पौषध करना विशिष्ट गुण है। अत उस विशिष्ट गुण की प्राप्ति के समय सामान्य गुण का त्याग होना स्वाभाविक है। जैसे दिशा की मर्यादा करने वाले जिस श्रावक ने घर से बाहर जाने का त्याग कर दिया है, वह साधु के

स्वागतार्थ भी उनके सम्मुख नही जाता। इससे यह नही कह सकते है कि उसने साधु के सम्मुख जाना छोड़ने के लिए दिशा की मर्यादा की है और साधु के स्वागतार्थ उनके सम्मुख जाना एकान्त पाप कार्य भी नही कह सकते। उस श्रावक ने साधु के सामने जाने के कार्य को एकान्त पाप जानकर उसे छोडने के अभिप्राय से नही, प्रत्युत विशिष्ट गुण की प्राप्ति के लिए दिशा की मर्यादा की है। ठीक उसी तरह सामायिक एवं पौषध स्वीकार करनेवाला श्रावक एकान्त पाप समझकर अनुकम्पा दान देना नही छोड़ता, परन्तु विशिष्ट गुण उपार्जन करते समय सामान्य गुण उससे छूट जाता है। अत. अनुकम्पा दान को एकान्त पाप जानकर श्रावक सामायिक-पौषध मे उसका त्याग करता है, यह प्ररूपणा करने वाला सत्य से कोसों दूर है।

जो श्रावक विशिष्ट निर्जरा के लिए वैराग्य भाव से स्वय उपवास करता है और उपदेश देकर अपने परिवार को भी उपवास कराता है, इसलिए उस दिन घर मे भोजन नही बनने से घर मे आए हुए साधु को आहार-पानी नही दे सकता, तव भी उसे साधु को दान नही देने का अन्तराय नही लगता, किन्तु विशिष्ट निर्जरा का लाभ होता है। क्योकि उसने साधु-दान मे अन्तराय देने के लिए उपवास नही किया है, प्रत्युत विशिष्ट निर्जरा के लिए किया है। इसी तरह जो श्रावक विशिष्ट गुण की प्राप्ति के लिए सामायिक-पौषध करता है,उसे अनुकम्पा दान का अतराय नही लगता। क्योकि वह अनुकम्पा दान का त्याग करने के लिए सामायिक-पौषध नही करता। अत. अनुकम्पा दान को एकान्त पाप जानकर सामायिक-पौषध में उसका त्याग वतलाना साधना के सही अर्थ एवं उद्देश्य को नही समझना है।

आगम मे भूत, भविष्य एव वर्तमान तीनो काल मे अनुकपा दान का निषेध नही करने का कहा है।

"जे य ण पडिसेहंति वित्तिछेयं करंति ते"

—सूत्रकृतांग, १, ११, २०

"जो अनुकम्पा दान का निषेध करते हैं,वे दीन-हीन जीवों की जीविका का उच्छेद करते हैं।"

प्रस्तुत गाथा मे वर्तमान काल का उल्लेख न करके सभी काल मे अनुकम्पा दान का निषेध नही करने को कहा है। इसलिए जो किसी भी काल में अनुकम्पा दान का निषेध करते है, वे दीन-हीन जीवो की जीविका का उच्छेद करने वाले है।

भ्रमविध्वसनकार ने उक्त गाथा लिखकर उसके नीचे टव्वा अर्थ लिखा है—

"जे गीतार्थ[1] दान ने निषेधे, ते वि०वृत्तिच्छेद वर्तमानकाले पामवानो उपाय तेहनो विघ्न करे।" इसकी समालोचना करते हुए भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ७१ पर लिखते है—"दान लेवे ते देवे छै, ते वेला निषेध्यां वृत्तिच्छेद हुवे अने जे लेवे ते देवे नथी तो वृत्तिच्छेद किम हुवे। ते माटे वृत्तिच्छेद वर्तमान काल मे इज छै। वली सूयगडांग नी वृत्ति शीलांकाचार्य किधी, ते टीका मे पिण वर्तमान काल रो इज अर्थ छै।"

परन्तु उक्त कथन आगम से सर्वथा विपरीत है। सूत्रकृताग सूत्र की उक्त गाथा में वर्तमान काल का नाम तक नही है और शीलाकाचार्य ने भी उक्त गाथा की टीका मे वर्तमान काल

---

१ यहां भ्रमविध्वंसनकार ने 'गीतार्थ' शब्द लिखा है, परन्तु टब्बे में 'अगीतार्थ' शब्द है।

का उल्लेख नही किया है। उक्त गाथा एवं उसकी टीका में सामान्य रूप से सब काल के लिए अनुकम्पा दान का निषेध करना वर्जित किया है। शीलाकाचार्य ने उक्त गाथा की टीका मे लिखा है—

"येऽपि च किल सूक्ष्मधियो वयमिति मन्यमाना आगम-सद्भावानभिज्ञाः प्रतिषेधन्ति तेऽप्यगीतार्थाः प्राणिनां वृत्तिच्छेदं वर्तनोपायविघ्नं कुर्वन्ति।"

"जो अपने को सूक्ष्मदर्शी माननेवाले,आगम के तत्व को न जानने के कारण अनुकम्पा दान का निषेध करते हैं, वे गीतार्थ नहीं हैं। क्योंकि वे प्राणियो की जीविका में बाधा देते हैं।"

यहां टीकाकार ने वर्तमान काल मात्र का उल्लेख न करके, किसी भी काल में अनुकम्पा दान का निषेध करनेवाले को अगीतार्थ और प्राणियो की जीविका का विनाशक कहा है। इसलिए इस टीका का नाम लेकर वर्तमान काल मे ही अनुकम्पा दान का निषेध करने से पाप कहना उचित नही है।

भ्रमविध्वंसनकार ने जो सूत्रकृताग की गाथा के नीचे टब्बा अर्थ दिया है, वह मूल गाथा एव उसकी टीका से विरुद्ध होने के कारण अप्रामाणिक है। भ्रमविध्वंसन की प्रथम आवृत्ति मे शीलांकाचार्य की टीका में प्रयुक्त 'वर्त्तन' शब्द का अर्थ वर्तमान काल किया है, उसमे लिखा है—

"वृत्तिच्छेदं वर्तनोपाय विघ्नं कुर्वन्ति।"

"वृत्ति० आजीविका तेहनो छे० छेद व० वर्तमान काले, उ० पामवानो उपाय तेहनो, वि० विघ्न क० करे ते अविवेकी।"

इसमे भ्रमविध्वसनकार ने 'वर्त्तन' शब्द का वर्तमान अर्थ किया है। परन्तु 'वर्त्तन' शब्द का वर्तमान नही, आजीविका अर्थ होता है। टीकाकार ने मूलगाथा में प्रयुक्त 'वृत्ति' शब्द का 'वर्तन' अर्थ किया है। अत 'वर्तन' शब्द 'वृत्ति' शब्द का पर्यायवाची है। न कि वर्तमान अर्थ का सूचक। तथापि भोली जनता को भ्रम मे डालने के लिए भ्रमविध्वसनकार ने 'वर्तन' शब्द का वर्तमान अर्थ लिखा है। ऐसे व्यक्तियो से न्याय की आशा रखना दुराशा मात्र है।

वर्तमान काल मात्र मे नही, प्रत्युत भविष्य काल मे होनेवाले लाभ मे विघ्न डालने से 'पिहितागामिपथ' नामक अन्तराय लगता है।

"अन्तराइए कम्मे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—पडुपन्नविणासिए, चेव पिहितागामिपहं।"

—स्थानाग २, ४, १०५

"अन्तराय कर्म दो प्रकार का कहा है—प्रत्युत्पन्न विनाशी और पिहितागामिपथ। वर्तमान काल में मिलनेवाली वस्तु को न मिलने देना 'प्रत्युत्पन्न विनाशी' अन्तराय कर्म है। और भावी लाभ के मार्ग को रोक देना —'पिहितागामिपथ' अन्तराय कर्म कहलाता है।"

प्रस्तुत पाठ मे भावी लाभ के मार्ग को रोकने से अन्तराय लगना कहा है। इसलिए भ्रमविध्वंसनकार ने जो यह लिखा है—"अन्तराय तो वर्तमान काल इजमे कह्यो छै, पिण ओर. वेलां अन्तराय कह्यो नही", यह सर्वथा आगम विरुद्ध है। स्थानाग सूत्र मे भविष्य काल मे होने

वाले लाभ के मार्ग को रोकने से अन्तराय कर्म का बन्ध होना कहा है। अतः जो व्यक्ति उप-देश के समय अनुकम्पा दान मे एकान्त पाप कहकर उसका त्याग कराते हैं, वे पिहितागामिपथ अन्तराय कर्म को बाधते हैं।

भविष्य मे होनेवाले लाभ के मार्ग को रोकने से अन्तराय कर्म का बन्ध होना, केवल शास्त्र मे ही नही प्रत्यक्ष से भी प्रमाणित होता है। यदि कोई व्यक्ति किसी महाजन से दस हजार रुपयो का ऋण लेता है। यदि कोई उस महाजन को ऋण देने का त्याग कराता है, तो वह प्रत्यक्ष रूप से महाजन के लाभ मे अन्तराय देता है। अत. भावी लाभ के मार्ग को रोकने से अन्तराय नही मानना, आगम और प्रत्यक्ष दोनो के विरुद्ध समझना चाहिए।

आनन्द श्रावक का अभिग्रह

भ्रमविध्वसनकार आनद श्रावक का उदाहरण देकर अनुकम्पा दान मे एकान्त पाप बताते है। उन्होने भ्रमविध्वसन पृष्ठ ५१ पर लिखा है—"तथा उपासकदशा अ० १ आनद श्रावक अभिग्रह धार्‌यो, जे हू अन्य तीर्थियो ने दान देवू नही देवावू नही।" इन के कहने का अभिप्राय यह है कि दीन-हीन, दुखी जीवो पर दया लाकर दान देने से यदि पुण्य होता, तो आनन्द श्रावक अन्य तीर्थियो को दान नही देने का अभिग्रह क्यो धारण करता? अत दीन-हीन जीवो पर दया लाकर दान देना, एकान्त पाप है।

आनन्द श्रावक का उदाहरण देकर अनुकम्पा दान मे एकान्त पाप बताना अनुचित है। आनन्द श्रावक ने दीन-हीन जीवो पर दया लाकर दान नही देने का अभिग्रह नही लिया था। क्योकि दीन-हीन प्राणियो पर दया लाकर उन्हे दान देना श्रावको के धर्म के विरुद्ध नही है, प्रत्युत श्रावक धर्म को परिपुष्ट करनेवाला है। इसलिए आनन्द श्रावक ने अनुकम्पा दान का त्याग नही किया था।

सर्वज्ञ भाषित धर्म से भिन्न धर्म की स्थापना करनेवाले चरक-परिव्राजक आदि को वन्दन-नमस्कार करना तथा भाव-भक्ति से आहार देकर उनकी पूजा-प्रतिष्ठा करना एव उन के वन्दनीय-पूजनीय सरागी देवताओ को वन्दन-नमस्कार करना, ये सब कार्य श्रावक धर्म के विरुद्ध और मिथ्यात्व के परिपोषक है, अत आनन्द श्रावक ने इन कार्यो को नही करने का अभिग्रह लिया था, परन्तु दीन-हीन जीवो को अनुकम्पा भाव से दान नही देने का अभिग्रह नही लिया था। अत आनद श्रावक का नाम लेकर अनुकम्पा दान मे एकान्त पाप कहना अनुचित है।

आनन्द श्रावक के अभिग्रह के सम्बन्ध मे उपासकदशाग सूत्र मे लिखा है।

"तए णं से आणदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए पञ्चाणुव्वइय सत्तसिक्खाव्वइय दुवालस विह सावय-धम्म पंडिवज्जइ-पडिवज्जित्ता समण भगवं महावीर वन्दइ-नमसइत्ता एवं वयासी नो खलु मे भन्ते! कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्न-उत्थिए वा अन्न-उत्थिय देवयाणि वा अन्न-उत्थिय परिग्गहियाणि वा वंदित्तए वा नमसित्तए वा पुव्विं

अणालत्तेणं आलवित्तए वा सलवित्तए वा तेसि असणं वा पाण वा खाइमं वा साइमं वा दाऊं वा अणुप्पदाऊं वा नन्नत्थ रायाभियोगेण, गणाभियोगेणं, बलाभियोगेण, देवयाभियोगेण, गुरुनिग्गहेण, वित्तिकन्तारेणं। कप्पइ मे समणे-निग्गथे फासुए णं एसणिज्जे ण असण-पाण-खाइम-साइमे णं वत्थ-परिग्गह-पाय-पुच्छणे णं पीढ-फलग-सिज्जा-सथारएणं औसह-भेषज्जेण पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए त्ति कट्टु इम एया रूवं अभिग्गह पडि-गिण्हइत्ता पसिणाइ पुच्छइत्ता अट्ठाइ आदियइं।"

—उपासकदशाग सूत्र, अध्ययन १

"इसके अनन्तर आनन्द गाथापति ने श्रमण भगवान महावीर से पांच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत, द्वादशविध श्रावक धर्म को स्वीकार करके, भगवान महावीर को वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—हे भगवन्! अन्ययूथिक-सर्वज्ञ भाषित धर्म से भिन्न धर्म के संस्थापक चरक-परिव्राजक आदि, उनके द्वारा स्वीकृत देवताओ तथा उनसे परिगृहीत तीर्थ आदि को वन्दन-नमस्कार करना और उनके बोले बिना पहले ही उनसे संलाप करना, उन्हें एक बार या अनेक बार अशन, पान, खाद्य, और स्वाद्य देना आज से मुझ को नहीं कल्पता, परन्तु राजाभियोग, गणाभियोग, बलाभियोग, देवाभियोग, गुरुनिग्रह और वृत्तिकांतार को छोड़कर यह बात समझनी चाहिए।

आज से मुझे श्रमण निर्ग्रन्थों को प्रासुक-ऐषणिक अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, पाद-प्रोंछन, पीठ, फलक, शय्या-संथारा और औषध-भेषज आदि देते हुए विचरना कल्पता है। इस प्रकार का अभिग्रह धारण कर के आनन्द श्रावक ने भगवान से अपने प्रश्नो का उत्तर पूछा और भगवान के द्वारा दिए गए उत्तर को स्वीकार किया।"

प्रस्तुत पाठ मे आनन्द श्रावक ने अन्य यूथिक को गुरु बुद्धि से दान देने का त्याग किया है, करुणा से दान देने का नही। अत. इस पाठ की टीका मे टीकाकार ने लिखा है—

"अयं च निषेधो धर्मं बुद्धयैव करुणया तु दद्यादपि।

"यह जो अन्य यूथिक को दान देने का निषेध है, वह धर्म-गुरु बुद्धि से ही समझना चाहिए, अनुकम्पा बुद्धि से नहीं। अनुकम्पा भाव से वे अन्य यूथिक को भी दे सकते हैं।"

यहाँ टीकाकार ने मूलपाठ का अभिप्राय बताते हुए अन्य यूथिक को गुरु बुद्धि से ही दान देने का निषेध बताया है, अनुकम्पा बुद्धि से नही। अत. आनन्द श्रावक का नाम लेकर अनुकम्पा दान का निषेध करना आगम विरुद्ध है।

कुछ व्यक्तियो का यह तर्क है कि यदि अन्य यूथिक को दान देना पुण्य का कारण है, तो उन्हे वन्दन-नमस्कार करना पुण्य का कारण क्यो नही है? इसका समाधान यह है कि अन्य यूथिक को अनुकम्पा बुद्धि से दिया जानेवाला दान अनुकम्पा लाकर दिया जाता है, इसलिए उसमे पुण्य है। क्योकि अन्य तीर्थी पर अनुकम्पा करना भी पुण्य का कारण है, परन्तु उन्हें वन्दन-नमस्कार करना नही। वस्तुत वन्दन-नमस्कार पूज्य बुद्धि से किया जाता है। और अन्य यूथिक में पूज्य बुद्धि रखना सम्यक्त्व का अतिचार है। इसलिए उन्हें वन्दन-नमस्कार करना पुण्य नही

है। आनन्द श्रावक ने जैसे अन्य यूथिक अज्ञानी पुरुषों को पूज्य बुद्धि से वन्दन-नमस्कार करने का त्याग किया था, उसी तरह उन्हे पूज्य बुद्धि मे दान देने का त्याग किया था, अनुकम्पा दान का नही।

उपासकदशाग सूत्र के प्रस्तुत पाठ मे 'दाऊं वा' और 'अणुप्पदाऊं वा' ये दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। भ्रमविध्वंसनकार ने इन का देना और दूसरे से दिलाना अर्थ किया है। परन्तु 'अणुप्पदाऊं वा" का अर्थ दिलाना नही, बार-बार देना होता है। इसी तरह इस पाठ मे प्रयुक्त 'वित्तिकन्तारेण" शब्द का भी इन्होंने गलत अर्थ किया है—"वि० अटवी कातार ने विषे आगार।" टीकाकार ने इसका इस प्रकार अर्थ किया है—

"वृत्तिः जीविका तस्याः कान्तारम् अरण्यं तदिव कान्तारं क्षेत्र कालो वा वृत्ति-कान्तारम् निर्वाहा भाव इत्यर्थः।"

"घोर जगल की तरह जीविका के लिए कठिन क्षेत्र या काल का आना 'वृत्तिकान्तार' कहलाता है। जीविका-निर्वाह नहीं होना इसका तात्पर्य है।".

ऐसे सरल एव स्पष्ट अर्थ का जो अशुद्ध टब्बा अर्थ का आश्रय लेकर विपरीत अर्थ करते हैं, वे आगम के यथार्थ अभिप्राय को समझ एव प्रकट कर सकेंगे, ऐसी आशा रखना दुराशा मात्र है।

प्रदेशी राजा की प्रतिज्ञा

आगम मे अन्य-तीर्थी को गुरु-बुद्धि से दान देने का निषेध किया है, अनुकम्पा लाकर दान देने का नही। इसलिए दीन-हीन, दुःखी जीवो को अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप नही है, यह ज्ञात हुआ। परन्तु यदि आगम के मूलपाठ मे ऐसा उल्लेख आया हो तो बताएँ कि किसी अभिग्रहधारी एव बारह व्रतधारी श्रावक ने बारह व्रत धारण करने के पश्चात् दीन-हीन, दुःखी जीवो को अनुकम्पा दान दिया ?

राजप्रश्नीय सूत्र मे आनन्द श्रावक की तरह सम्यक्त्व युक्त द्वादश व्रतधारी प्रदेशी राजा के द्वारा द्वादश-व्रत स्वीकार करने के पश्चात् दीन-हीन, दुःखी जीवो के लिए दानशाला खोलकर उन्हे अनुकम्पा दान देने का लिखा है। यह अभिग्रहधारी द्वादश-व्रती श्रावक के अनुकम्पा दान का ज्वलन्त उदाहरण है। प्रदेशी राजा आनन्द श्रावक के समान ही बारह व्रतधारी श्रावक होने के कारण, वह अन्य-तीर्थी को दान देने एव पूजा-प्रतिष्ठा सम्मान आदि नही करने का अभिग्रह धारण किए हुए था, तब भी उसने दीन-हीन, दुःखी जीवो को अनुकम्पा दान दिया। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक को अन्य-तीर्थी को अनुकम्पा बुद्धि से दान नही देने का अभिग्रह नही होता, प्रत्युत उन्हे पूज्य बुद्धि से दान नही देने का अभिग्रह होता है। अत. अन्य-तीर्थी पर अनुकम्पा करके उसे अनुकम्पा दान देने मे एकान्त पाप की प्ररूपणा करना आगम के विपरीत है।

यदि कोई यह प्रश्न करे कि प्रदेशी राजा आनन्द श्रावक की तरह अभिग्रह-धारी था, इसका क्या प्रमाण है ? आवश्यक सूत्र में प्रत्येक श्रावक के लिए यह लिखा है—

"तत्थ समणोवासओ पुव्वामेव मिच्छत्ताओ पडिक्कमइ, सम्मत्तं उवसंपज्जइ। नो से कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्नउत्थि वा।"

—आवश्यक सूत्र

प्रस्तुत पाठ प्रत्येक सम्यक्त्व-निष्ठ श्रावक के लिए कहा है। इसलिए सभी समकित-धारी श्रावक अन्य-तीर्थी को दान, सम्मान, पूजा, प्रतिष्ठा नही देने का अभिग्रह धारण करते है। प्रदेशी राजा भी सम्यक्त्व-निष्ठ द्वादशव्रती श्रावक था। अत वह भी आनन्द श्रावक के समान अभिग्रह धारी था। तथापि उसने दानशाला खोलकर दीन-हीन, दुःखी जीवो को अनुकम्पा-

दान दिया था। इससे यह प्रमाणित होता है कि अनुकम्पा दान देना श्रावक का कर्तव्य है। आगम में स्पष्ट लिखा है कि प्रदेशी राजा ने अनुकम्पा दान देने के लिए दानशाला खोली थी।

"तए णं से पएसीराया केसीकुमार-समणं एवं वयासी नो खलु भन्ते! अहं पुव्विं रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जे भविस्सामि। जहा वनखंडे इवा जाव खलवाडे इवा। अहं णं सेयंविया नयरीप्पमोक्खाइं सत्तगाम सहस्साइं चत्तारि भागे करिस्सामि। एगं भागं बलवाहणस्स दलइस्सामि, एगं भागं कोट्ठागारे दलइस्सामि, एगं भागं अन्तेउरस्स दलइस्सामि, एगेणं भागेणं महइ महालिय कूडागारसालं करिस्सामि। तत्थ णं बहुहिं पुरिसेहिं दिण्णभत्ति भत्तवेयणेहि विउल असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेत्ता बहू णं समण-माहण-भिक्खुयाणं पंथिय-पहियाणं परिभोयमाणे बहुहिं सीलगुणव्वय वेरमण पोसहोववासेहिं जाव विहरिस्सामि त्ति कट्टू जामेव दिसं पाउब्भुए तामेव दिसं पडिगए। तए णं पएसीराया कल्लं जाव तेजसा जलंते सेयंवियप्पमोक्खाइं सत्तग्गाम सहस्साइं चत्तारि भाए करेति। एगं भागं बलवाहणस्स दलयति जाव कूडागारसालं करेति, तत्थ बहुहि पुरुसेहिं जाव उवक्खडावेत्ता बहू णं समण-माहणाणं जाव परिभोएमाणे विहरति।"

—राजप्रश्नीय सूत्र, ७८-७९

"इसके अनन्तर प्रदेशीराजा ने केशीकुमार श्रमण से कहा—हे प्रभो! मैं प्रथम रमणीय होकर वनखंड एवं खलिहान की तरह पीछे अरमणीक नहीं बनूंगा। मैं श्वेताम्बिका प्रभृति सात हजार गावों को चार भागों में बाँट कर उसमें से एक भाग बल-वाहन के लिए, दूसरा कोष्ठागार के लिए, तीसरा अन्तःपुर के लिए दे दूंगा। शेष चौथे भाग से अति-विशाल दानशाला बनाकर उसमें बहुत वेतन भोगी पुरुषों को रखकर, उनके द्वारा चतुर्विध आहार तैयार करवाकर श्रमण-माहण, भिक्षुक और पथिकों को भोजन कराता हुआ और शील, प्रत्याख्यान, पौषध तथा उपवास करता हुआ यावत् मैं विचरूंगा। यह कहकर प्रदेशी राजा जिस दिशा से आया था, उसी ओर चला गया। उसके पश्चात् दूसरे दिन तेजस्वी सूर्य के उदित होने पर राजा ने श्वेताम्बिका आदि सात हजार गावो को चार भागों में विभक्त करके उसमें से एक भाग बल-वाहन को, दूसरा भाग कोष्ठागार को, तीसरा अन्तःपुर को दे दिया और चतुर्थ भाग से अति-विशाल दानशाला बनाकर, उसमें अनेक रसोइए रखकर उनके द्वारा अशनादि चतुर्विधि आहार तैयार कराकर बहुत श्रमण-माहण, भिक्षुक एवं पथिकों को भोजन देता हुआ विचरने लगा।"

प्रस्तुत पाठ मे, प्रदेशी राजा ने दानशाला बनाकर श्रमण-माहण आदि को अनुकम्पा दान दिया, इसका स्पष्ट उल्लेख है। अत सम्यक्त्व पूर्वक बारह-व्रत स्वीकार करने वाले श्रावको का गुरु बुद्धि से अन्य-तीर्थी को दान नही देने का अभिग्रह होता है, अनुकम्पा दान देने का नही। अन्यथा, आनन्द श्रावक के समान अभिग्रह धारी श्रावक होकर प्रदेशी राजा श्रमण-माहण आदि

को अनुकम्पा दान क्यो देता और केशी कुमार श्रमण ने अनुकम्पा दान के लिए राजा द्वारा की गई प्रतिज्ञा को सुनकर, उसे इस कार्य से क्यो नही रोका ? जिस समय प्रदेशी राजा ने मुनि के समक्ष रमणीय बने रहने की प्रतिज्ञा करते हुए दानशाला बनाने की इच्छा अभिव्यक्त की थी, उस समय न तो कोई याचक वहाँ दान लेने आया था और न राजा किसी को दान दे ही रहा था। ऐसी स्थिति मे केशी श्रमण राजा को अनुकम्पा दान मे एकात पाप बताकर उसे रोक देते, तो भ्रमविध्वसनकार के मत से उन्हे अन्तराय कर्म भी नही बधता। क्योकि भ्रमविध्वसनकार ने वर्तमान मे ही अनुकम्पा दान के निषेध मे अन्तराय माना है, अन्य काल मे नही । अत आप की मान्यता के अनुसार केशी श्रमण अनुकम्पादान का निषेध कर देते तो मुनि को अन्तराय का पाप भी नही लगता और प्रदेशी राजा एक नये पाप से बच जाता। परन्तु मुनि ने राजा को अनुकम्पा दान देने से रोका नही और यह भी नही कहा—"हे राजन ! अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप है, इसका आचरण करने से तुम्हारा अभिग्रह टूट जाएगा और तुम पुन अरमणीय बन जाओगे।" प्रदेशी राजा ने मुनि के समक्ष ही अनुकम्पा दान देने की घोषणा की थी और मुनि ने उसका निषेध नही किया। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप नही है। अत जो व्यक्ति अनुकम्पा दान मे एकान्त पाप होने का उपदेश देकर श्रावको को उसका त्याग कराते हैं, वे दीन-हीन, दु खी जीवो की जीविका के उच्छेदक बनते हैं।

केशी श्रमण और दानशाला

आपने प्रदेशी राजा का उदाहरण देकर राजप्रश्नीय सूत्र के प्रमाण से दीन-हीन जीवो को अनुकम्पा दान देने मे पुण्य का सद्भाव बताया, परन्तु भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ७५ पर लिखते है—

"वली रायपसेणी मे प्रदेशी दानशाला मडाई कही छै। राज रा चार भाग करने आप न्यारो होय धर्म-ध्यान करवा लाग्यो। केशी स्वामी विहूइ ठामे मौन साधी छै। पिण इम न कह्यो हे प्रदेशी ! तीन भाग मे तो पाप छै। पर चौथे भाग दानशाला रो काम तो पुण्य रो हेतु छै। थारो भलो मन उठ्यो। ओ तो आच्छो काम करिवो विचार्यो। इम चौथा भाग ने सरायो नही। केशी स्वामी तो विहू सावद्य जाणी ने मौन साधी छै। ते माटे तीन भाग रो फल चौथे भाग रो फल छै।"

दानशाला बनवाकर दीन-हीन जीवो को दान देने की प्रतिज्ञा सुनकर केशी श्रमण ने उसकी सराहना नही की, इसका यह अभिप्राय नही है कि अनुकम्पा दान एकान्त पाप का कार्य था। क्योकि साधु एकान्त पाप-कार्य की प्रतिज्ञा को सुनकर मौन नही रहते, प्रत्युत उसका निषेध करते हैं। साधु के समक्ष यदि कोई हिंसा आदि दुष्कर्म करने का विचार अभिव्यक्त करे, तो वे उस समय मौन न रहकर उस दुष्कर्म का निषेध करते है। यदि अनुकम्पा दान देना भी हिंसा आदि की तरह एकान्त पाप कर्म होता, तो प्रदेशी राजा को प्रतिज्ञा करते देखकर मुनि कदापि मौन नही रहते, वल्कि धर्मोपदेश देकर उसके पाप कर्म को रोकते। परन्तु प्रदेशीराजा को अनुकम्पा दान देने के लिए दानशाला बनाने की प्रतिज्ञा करते हुए देखकर मुनि ने उसका निषेध नही किया, इससे यह स्पष्ट होता है कि अनुकम्पा दान देना हिंसा आदि की तरह एकान्त पाप का कार्य नही है, इससे पुण्य भी होता है।

तेरहपन्थ के प्रथम आचार्य भीषण जी ने अनुकम्पा दान का इतना प्रबल विरोध किया है कि अनुकम्पा-दान देने का त्याग करने वाले को अतिशय बुद्धिमान कहा है। वे लिखते हैं—

"अव्रत में दान दे, तेहनों, टालन रो करे उपाय जी।
जाने कर्म बन्धे छै म्हायरे, मोनें भोगवतो दुःखदाय जी॥
अव्रत में दान देवा तणूं कोई, त्याग करे मन शुद्ध जी।
तिणरो पाप निरन्तर टालियो तिण री वीर बखाणी बुद्ध जी॥"

—आचार्य भीषणजी के पद्य

प्रस्तुत पद्यो मे आचार्य भीषण जी ने लिखा है, "जो व्यक्ति अव्रत मे दान नही देता भगवान महावीर उसकी बुद्धि की प्रशसा करते है।" परन्तु केशी श्रमण ने प्रदेशी राजा को अनुकम्पा दान देने का त्याग नही कराया। यदि आचार्य भीषणजी का उक्त कथन सत्य होता तो केशी श्रमण प्रदेशी राजा को अनुकम्पा दान मे एकान्त पाप बताकर उसे अवश्य ही त्याग कराते, मौन नही रखते।

इसी तरह भ्रमविध्वंसनकार ने जो यह लिखा है—"राज रा चार भाग करने आप न्यारो होय धर्म-ध्यान करवा लाग्यो" यह भी गलत है। राजप्रश्नीय सूत्र मे प्रदेशी राजा को अनुकम्पा-दान देते हुए धर्म-ध्यान करना लिखा है, न कि दान देने से अलग होकर धर्म-ध्यान करने का।

"तत्थ बहुहिं पुरिसेहि जाव उवक्खडावेत्ता, बहू णं समण-माहणाणं परिभोयमाणे विहरति।"

—राजप्रश्नीय सूत्र, ७९

"प्रदेशी राजा दानशाला में बहुत पुरुषों के द्वारा चतुर्विध आहार तैयार कराकर बहुत से श्रमण-माहण एवं राहगीरो को भोजन कराता हुआ विचरने लगा।"

प्रस्तुत पाठ मे प्रदेशी राजा के लिए दान देने मे अलग होकर विचरना नही, दान देते हुए विचरना लिखा है। अत प्रदेशी राजा के लिए दान देने मे अलग होकर विचरने की कल्पना करना नितान्त असत्य है।

असंयति दान

यदि असयति को अनुकम्पा बुद्धि मे दान देना एकान्त पाप नहीं है,तो भगवती श० ८, उ० ६ पर असयति को दान देने मे एकान्त पाप होना क्यो कहा ? इस विषय मे भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ५५ पर लिखते है—"अथ अठे तथारूप असयति ने फासु-अफासु सूझतो-असूझतो अशनादिक देवे ते श्रावक ने एकान्त पाप कह्यो छै।"

भगवती सूत्र श० ८, उ० ६ के मूलपाठ मे तथारूप के असयति को गुरु-बुद्धि से दान देने मे एकान्त पाप होना कहा है, अनुकम्पा दान देने से नहीं। टीकाकार ने इसकी टीका मे इस विषय को पूर्णत स्पष्ट कर दिया है।

"सूत्र त्रयेणाऽपि चानेन मोक्षार्थमेव यद्दानं तच्चिन्तितम्, यत्पुनरनुकम्पा-दानमौचित्य-दान वा तन्न चिन्तितम्। निर्जरायास्तत्रानपेक्षत्वात् अनुकम्पौ-चित्ययोरेव चापेक्षणीयत्वात्।" उक्तञ्च—

"मोक्खत्थं ज दाणं तं पइए सो विही समक्खाओ।
अणुकपा-दाणं पुण जिणेहिं न कयाइ पडिसिद्ध ॥"

—भगवती सूत्र, ८ ६, ३३१ टीका

"भगवती सूत्र के उक्त तीनो सूत्रो में मोक्ष के लिए जो दान दिया जाता है, उसी का विचार किया है, अनुकम्पा दान और औचित्य दान का नही। अनुकम्पा दान और औचित्य दान में अनु-कम्पा और औचित्य ही अपेक्षित होते है, निर्जरा अपेक्षित नहीं होती। अतः इन सूत्रो में निर्जरा की अपेक्षा से किए जानेवाले मोक्षार्थ दान के फल का कथन समझना चाहिए।" कहा भी है—"जो दान मोक्ष के निमित्त दिया जाता है, भगवती श० ८,उ० ६ के तीनो सूत्रो में उसी का विधान किया है, दूसरे दान का नहीं। क्योकि जिनेश्वर भगवान ने अनुकम्पा दान का कहीं भी निषेध नहीं किया है।"

इस सम्बन्ध मे आचार्य हरिभद्र सूरि ने भी यही बात कही है—

"शुद्धं वा यदशुद्धं वाऽसयताय प्रदीयते।
गुरुत्व बुद्धया तत्कर्म-बन्ध कृन्नानुकम्पया ॥"

"असंयति को गुरु बुद्धि से शुद्ध या अशुद्ध जो भी दिया जाता है, वह कर्म-बन्ध का कारण है। परन्तु जो अनुकम्पा से दिया जाता है, वह कर्म बन्ध का कारण नहीं है।"

आचार्य हरिभद्र सूरि ने भगवती श० ८,उ० ६ के मूलपाठ के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए उक्त पाठ को अनुकम्पा दान का निषेध नहीं किया जाने वाला स्पष्ट लिखा है। आगे चलकर अनुकम्पा दान का शुभ फल बताते हुए वे लिखते है—

"शुभाशय कर ह्येतदाग्रहच्छेदकारि च।
सदभ्युदय सारांगमनुकम्पा प्रसूति च॥"

"अनुकम्पा दान देने से चित्त की शुद्धि होती है। धन के प्रति ममत्व-भाव का नाश होता है, कल्याण की प्राप्ति होती है और अनुकम्पा दान-भाव का उदय होने से यह दान दिया जाता है।"

प्रस्तुत श्लोक मे आचार्य हरिभद्र ने अनुकम्पा दान का फल एकान्त पाप नही कल्याणानुबन्धी कल्याण का कारण कहा है। अत भगवती श० ८, उ० ६ मे असयति को गुरु-बुद्धि से मोक्षार्थ दिए जानेवाले दान का फल एकान्त पाप कहा है, अनुकम्पा दान का नही। अत' भगवती का नाम लेकर अनुकम्पा दान मे एकान्त पाप कहना आगम के अर्थ को सम्यक्तया नही समझने का ही परिणाम है।

यदि यह कहे कि टीकाकार एव आचार्य हरिभद्र सूरि अनुकम्पा दान देने मे एकान्त पाप नही कहते है, परन्तु मूलपाठ से यह ध्वनित नही होता। मूलपाठ मे किसी दान विशेष का नाम लेकर असयति को दान देने से एकान्त पाप कहा है। इसलिए टीकाकार एव आचार्य हरिभद्र सूरि के कथन मे प्रामाणिकता नही है।

वस्तुत टीकाकार एव आचार्य हरिभद्र सूरि का कथन निराधार नही है। भगवती के मूलपाठ से भी यह ध्वनित होता है।

"समणोवासए णं भन्ते! तहारूव असजय अविरय अपडिहय पच्चक्खाय पाव-कम्मं फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असण-पाण जावं कि कज्जइ?

गोयमा! एगत सो से पाव-कम्मे कज्जइ, नत्थि से काइ निज्जरा कज्जइ।

—भगवती सूत्र ८, ६, ३३१

प्रस्तुत पाठ मे सभी असयतियो का नाम न लेकर, तथारूप के असयति को दान देने से श्रावक को एकान्त पाप होना कहा है। तथारूप का असयति वह है, जिस को लोक मे गुरुबुद्धि से दान दिया जाता है और जो अन्य तीर्थी के शास्त्रानुसार लिंग रखता है और अन्य तीर्थियो के धर्म की स्थापना करता है, उसको दान देने से एकान्त पाप कहा है। इसलिए भगवती के मूलपाठ से यह ध्वनित होता है कि तथारूप के असयति को गुरुबुद्धि मे दान देना एकान्त पाप का कारण है। अत टीकाकार एव आचार्य हरिभद्र सूरि का कथन स्व-कपोल कल्पित नही, मूलपाठ के अनुरूप है। उसे अप्रामाणिक कहना एव समझना भारी भूल है।

टीकाकारो ने 'तथारूप' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—

"तथा तत्प्रकारं रूपं स्वभावो नेपथ्यादिर्वा यस्य स तथारूपं।"

स्थानाग टीका, स्थान ३, १

"तथाविध स्वभावं भक्ति दानोचित पात्रमित्यर्थः।"

भगवती ५, ५, २०४ टीका

"जिसका स्वभाव या वेशभूषा आदि उसी तरह का है, वह तथारूप कहलाता है।"

"जो भक्तिपूर्वक दान देने के योग्य समझा जाता है, वह तथारूप कहलाता है।"

भगवती श० ८,उ० ६ के पाठ मे ऐसे तथारूप के असयति को दान देनेवाले श्रमणोपासक को एकात पाप होना कहा है। दूसरी बात यह है कि आगम मे जहाँ सब असयतियो का कथन किया जाता है, वहाँ 'तहारूव' शब्द से रहित पाठ आता है। जैसे भगवती आदि आगमो मे सब असंयतियो के वर्णन मे यह पाठ आया है—

"जीवे णं भन्ते ! असंजए अविरए अपडिहय पच्चक्खाय पाव-कम्मे।"

उक्त पाठ मे 'तथारूप' शब्द का प्रयोग नही किया गया है। इसलिए इस पाठ मे सभी असयतियो का ग्रहण होता है। परन्तु भगवती सूत्र के उक्त पाठ मे 'तथारूप' शब्द प्रयुक्त होने के कारण इसमे सभी असयतियो का ग्रहण न होकर अन्य तीर्थियो की वेशभूषा को धारण करने वाले उनके धर्माचार्य एव धर्मगुरुओ का ही ग्रहण होता है। इसलिए भगवती सूत्र के टीकाकार एव आचार्य हरिभद्र सूरि ने तथारूप के असयति को गुरु बुद्धि से दान देने मे एकान्त पाप बताया, अनुकम्पा दान देने से नही।

प्रस्तुत पाठ मे प्रयुक्त 'पडिलाभमाणे' शब्द से भी यही अर्थ सिद्ध होता है। 'पडिलाभमाणे' शब्द का प्रयोग स्व-तीर्थी या पर-तीर्थी साधु को दान देने के अर्थ मे ही होता है, गृहस्थ को दान देने के अर्थ मे नही। क्योकि आगम मे कही भी गृहस्थ को दान देने के अर्थ मे 'पडिलाभमाणे' शब्द का उल्लेख नही मिलता। इसलिए इस पाठ मे अन्य तीर्थियो द्वारा मान्य पूज्य असयति को दान देने का फल एकान्त पाप कहा है, सभी असयतियो को दान देने का नही।

कुछ व्यक्ति ऐसा कहते है कि भगवती श० ८, उ० ६ का मूलपाठ श्रावक के लिए आया है और श्रावक अन्य तीर्थी को गुरु बुद्धि से दान नही देता। अत इस पाठ मे उसका फल बताने की क्या आवश्यकता थी ? इसका उत्तर यह है कि जैसे साधु मैथुन-सेवन, रात्रि-भोजन आदि पाप कार्य नही करता, फिर भी आगम मे साधु को रात्रि-भोजन और मैथुन-सेवन का प्रायश्चित कहा है। इसका कारण यह है कि साधु उक्त कार्यो को प्रायश्चित का कारण जानकर सेवन न करे। उसी तरह भगवती श० ८, उ० ६ मे श्रमणोपासक के लिए अन्य तीर्थियो के धर्माचार्य या धर्मगुरु को गुरु बुद्धि से दान देने का फल एकान्त पाप कहकर श्रावक को उक्त प्रवृत्ति से निवृत्त रहने का सकेत किया है। साधु या श्रावक जिस कार्य को नही करते, आगम मे उसके फल को न बताएँ, ऐसा कोई आगमिक नियम नही है। वस्तुत. देखा जाए तो आगमकार के लिए यह आवश्यक है कि निषिद्ध कर्मो के फल का उल्लेख कर दे। अन्यथा किसी को दुष्कर्मों के फल का ज्ञान कैसे होगा? अत. प्रस्तुत पाठ मे तथारूप के असंयति को गुरु बुद्धि से दान देने मे एकान्त पाप कहा है, परन्तु अनुकम्पा दान मे नही।

भ्रमविध्वंसनकार को यह मान्य नही है कि 'पडिलभमाणे' शब्द का प्रयोग स्व-तीर्थी या अन्य-तीर्थी साधु को ही देने अर्थ मे हुआ है, गृहस्थ को देने अर्थ मे नही। उन्होने स्थानाग, भगवती और ज्ञाता सूत्र का मूलपाठ लिखकर गृहस्थ को दान देने के अर्थ मे भी 'पडिलभमाणे' शब्द का प्रयोग होना बताया है और आचाराग सूत्र के मूलपाठ का उल्लेख करके यह कहा है कि 'दलएज्जा' और 'पडिलभमाणे' ये दोनो शब्द एकार्थक है। इनमे गृहस्थ को दान देने के अर्थ मे 'दलएज्जा' शब्द आया है। इसलिए उसका समानार्थक 'पडिलभमाणे' शब्द प्रत्येक असयति को दान देने के अर्थ मे आ सकता है, केवल साधु को देने के अर्थ मे ही नही। इसका क्या समाधान है ?

स्थानाग, भगवती, और ज्ञाता आदि आगमो मे कही पर स्व-तीर्थी और कही पर पर-तीर्थी साधु को दान देने के अर्थ में ही 'पडिलभमाणे' शब्द का प्रयोग हुआ है, गृहस्थ को दान देने के अर्थ मे उक्त आगमो मे 'पडिलभमाणे' शब्द का कही भी प्रयोग नही हुआ है। अत उक्त आगमो मे स्व-तीर्थी या पर-तीर्थी साधु से इतर को दान देने के अर्थ मे 'पडिलभमाणे' शब्द का प्रयोग बताना मिथ्या है। भ्रमविध्वसनकार ने आचाराग का पाठ लिखकर—'दलएज्जा' शब्द के समानार्थक होने से 'पडिलभमाणे' शब्द का प्रयोग गृहस्थ को दान देने के अर्थ मे बताया, वह अयुक्त है। साधु को दान देने के अर्थ मे 'दलएज्जा' और 'पडिलभमाणे' ये उभय शब्द प्रयुक्त होते है, परन्तु गृहस्थ को दान देने के अर्थ मे 'पडिलभमाणे' शब्द का कही भी प्रयोग नही हुआ है। 'दलएज्जा' शब्द साधु और गृहस्थ दोनो को देने के लिए प्रयुक्त होता है, परन्तु 'पडिलभमाणे' केवल स्व-तीर्थी या पर-तीर्थी साधु के लिए ही प्रयुक्त होता है। अत. भ्रमविध्वसनकार का आचाराग की साक्षी देना भी अनुचित है। इसी प्रकार भ्रमविध्वसनकार ने सूत्रकृताग सूत्र २, उ० ५ गाथा ३२ मे गृहस्थ को दान देने के अर्थ मे 'पडिलभमाणे' शब्द का जो प्रयोग बताया है, वह भी गलत है। हम आगे चलकर बताएगे कि सूत्रकृताग सूत्र मे 'पडिलभमाणे' शब्द गृहस्थ को दान देने के अर्थ मे नही आया है। अत भगवती शतक ८, उद्देशा ६ के पाठ का नाम लेकर अनुकम्पा दान का निषेध करना आगम सम्मत नही है।

धर्म और अधर्म दान

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ६६ पर सूत्रकृतांग सूत्र श्रु० २, अ० ६ गाथा ४३ से ४५ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ अठे आर्द्र मुनि ने ब्राह्मणा कह्यो जे पुरुप बे हजार ब्राह्मण नित्य जिमाड़े ते महा पुण्य स्कन्ध उपार्जी देवता हुइ, एहवो हमारे वेदनो वचन छै। तिवारे आर्द्र मुनि बोल्या अहो ब्राह्मणो! जे मास ना गृद्धी घर-घर ने विपे मार्जारनी परे भ्रमण करणार एहवा बे हजार कुपात्र ब्राह्मणां ने जीमाडे ते जीमाड़नहार पुरुष ते ब्राह्मणा सहित बहु वेदना छै जेहने एहवी महा असह्य वेदना युक्त नरक ने विपे जाइ।"

आर्द्रकुमार मुनि ने हिंसक, मांसाहारी, और बैडालव्रतिक ब्राह्मणों को पूज्य बुद्धि से भोजन कराने से नरक जाना कहा, परन्तु दीन-दुखी प्राणियों पर अनुकम्पा करके दान देने से एकान्त पाप या नरक जाना नही कहा है। अतः आर्द्र मुनि का नाम लेकर अनुकम्पा दान का खण्डन करना उक्त गाथाओ के यथार्थ अर्थ को नही समझने का परिणाम है।

"सिणायगा णं तु दुवे सहस्से जे भोयए णियए माहणाणं।
ते पुण्ण-खन्धे सुमहज्जणित्ता भवन्ति देवा इति वेयवाओ॥
सिणायगा णं तु दुवे सहस्सं जे भोयए णियए कुलालयाणं।
से गच्छइ लोलुव संप्पगाढे, तीव्वाभितावी नरगाभिसेवी॥
दयावरं धम्म दुगंच्छमाणा वहावहं धम्म पसंसमाणा।
एग वि जे भोययइ असीलं णिवोणिसंजाति कुओ सुरेहिं॥"

—सूत्रकृतांग सूत्र, २, ६, ४३-४५

"पशु-याग के समर्थक क्रिया-काण्डी ब्राह्मण आर्द्रकुमार मुनि के निकट आकर कहने लगे—'हे आर्द्रकुमार! तुमने गौशालक और बौद्ध मत को स्वीकार नहीं किया यह अच्छा किया। क्योकि दोनो मत वेद बाह्य होने से अमान्य हैं। और यह आर्हत मत भी वेद बाह्य होने से निन्दित ही है। इसलिए आप जैसे क्षत्रिय शिरोमणि के लिए इसका आश्रय लेना उपयुक्त नहीं है। आप वर्णों में श्रेष्ठ ब्राह्मण वर्ण की सेवा करें, शूद्रों की नहीं। वेद में कहा है कि यजन-याजन,

अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह इन छः कर्मो में तत्पर रहने वाले दो हजार ब्राह्मणों को जो प्रतिदिन भोजन कराता है, वह पुण्य समूह का उपार्जन करके स्वर्गलोक में देवता होता है।"

इसका उत्तर देते हुए आर्द्रकुमार मुनि ने कहा—"हे ब्राह्मणो! जो मास की तलाश मे विडाल की तरह घर-घर फिरते हैं, जो अपनी उदर पूर्ति के लिए क्षत्रिय आदि के घरो में नीच वृत्ति करते हैं, ऐसे दो हजार ब्राह्मणो को नित्य भोजन करानेवाला पुरुष, उन मांसाहारी ब्राह्मणो के साथ तीव्र वेदना युक्त नरक मे जाता है।"

"जो दया प्रधान धर्म की निंदा करता हुआ हिंसामय धर्म की प्रशंसा करता है, ऐसे एक ब्राह्मण को भोजन कराने से भी घोर अन्धकार से पूर्ण नरक की प्राप्ति होती है, फिर ऐसे दो हजार ब्राह्मणो को भोजन कराने से तो कहना ही क्या? पूर्वोक्त कुशील ब्राह्मणो को भोजन करानेवाला व्यक्ति जब अधम देवता भी नही बनता, तब उत्तम देव बनने का तो प्रश्न ही कहाँ उठता है?" यह उक्त गाथाओ का टीकानुसार अर्थ है।

प्रस्तुत गाथाओ मे दया-धर्म के निन्दक, और हिंसायुक्त धर्म के प्रशंसक वैडाल व्रतिक निम्न-वृत्तिवाले ब्राह्मणो को पूज्य बुद्धि से भोजन कराने से नरक मे जाना कहा है। दीन-दुखी जीवो पर दया कर के अनुकम्पा दान देने से नही। इन गाथाओ में अनुकम्पा दान का कही प्रसंग नही है। यहाँ तो ब्राह्मणो ने जैन-धर्म की निन्दा करके ब्राह्मणो को भोजन कराने मे स्वर्ग जाना कहा था, उसका उत्तर देते हुए आर्द्र मुनि ने हिंसक ब्राह्मणो को भोजन कराने से नरक जाना कहा है। इससे न तो अनुकम्पा दान का खण्डन होता है और न दया-निष्ठ, अहिंसक, ब्रह्मचारी ब्राह्मण को भोजन कराने से पाप होना सिद्ध होता है। अत आर्द्र मुनि का नाम लेकर अनुकम्पा दान देने मे एवं ब्राह्मण मात्र को भोजन कराने से नरक बतलाना आगम के सही अर्थ को नही जानना है।

मनुस्मृति में भी वैडाल व्रतिक, हिंसक एवं निम्न वृत्तिवाले ब्राह्मणो को भोजन कराने से नरक जाना कहा है—

"धर्मध्वजी सदालुब्ध· छाद्मिको लोक दम्भकः।
वैडाल-व्रतिक ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधकः॥
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधन तत्परः।
शठो मिथ्या विनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः॥
ये बकव्रतिनो विप्रा· ये च मार्जार लिङ्गिन·।
ते पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा॥
न वार्य्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे।
न बक व्रतिके विप्रे ना वेद विदि धर्मवित्॥
त्रिष्वप्येतेषुदत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम्।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च॥
यथा प्लवे नौपलेन निमज्जात्युदके तरन्।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञो दातृ प्रतीच्छको॥"

—मनुस्मृति, अ० ४ श्लोक ९५ से १००

"जो धर्मात्माओं का चिन्ह धारण करके अपने को धार्मिक प्रसिद्ध करता है और छिपकर पापाचरण करता है, वह धर्म-ध्वजी कहलाता है। जो ब्राह्मण धर्म-ध्वजी है, जो सदा दूसरे के धन को हरण करने की ताक में लगा रहता है, जो छली, कपटी, लोकवचक, और हिंसक है, जो सब की निंदा करता है, उसे 'बैडालव्रतिक' कहते हैं।"

"जो अपनी बनावटी नम्रता को प्रकट करने के लिए नीची दृष्टि रखता है, परन्तु निष्ठुरता पूर्वक दूसरे के स्वार्थ को बिगाड़कर अपना स्वार्थ साधता है, जो शठ है और कपटयुक्त नम्रता धारण करता है, वह बक-व्रतिक कहलाता है।"

"बक-व्रतिक और बैडाल-व्रतिक ब्राह्मण अपने पाप कर्म का फल भोगने के लिए अन्धतामिस्र संज्ञक नरक में जाते हैं।"

"बक-व्रतिक और बैडाल व्रतिक ब्राह्मणों को जल देना भी धार्मिक व्यक्तियों का कर्त्तव्य नहीं है। जो वेद नही जानता उसे दान देना भी धार्मिक मनुष्यों के लिए योग्य नहीं है।"

"बक-व्रतिक और बैडाल व्रतिक ब्राह्मण को दिया हुआ न्यायवृत्ति से उपार्जित धन भी परलोक में दाता और ग्रहीता दोनो के लिए अनर्थकारी होता है।"

"जैसे पत्थर की नाव पर आरूढ़ मनुष्य नाव के साथ ही डूब जाता है, उसी तरह दान और प्रतिग्रह की विधि को नहीं जाननेवाला दाता और ग्रहीता दोनों ही नरक में जाते हैं।"

मनु ने मनुस्मृति मे भी दया रहित, हिंसक, बैडाल-व्रतिक और बक-व्रतिक ब्राह्मणो को भोजन कराने से नरक मे जाना कहा है और इन्ही ब्राह्मणो को भोजन कराने से आर्द्र मुनि ने भी नरक योनि बताई है। इसलिये आर्द्रकुमार मुनि का नाम लेकर अनुकम्पा दान देने और ब्राह्मण मात्र को भोजन कराने से नरक प्राप्ति बतलाना सर्वथा आगम-विरुद्ध है।

ब्रह्म-भोज और नरक

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ६८ पर लिखते है—"अथ इहां भृगु ने पुत्रो कह्यो—वेद भण्या त्राण न होवे। ब्राह्मण जिमाया तमतमा जाय। तमतमा ते अंधारा में अंधारा ते एहवी नरक मे जाय। इम कह्यो, जो विप्र जिमायां पुण्य बन्धे तो नरक क्यू कही ?"

भृगु पुरोहित के पुत्रो का नाम लेकर अनुकम्पा दान मे पाप बताना भ्रमपूर्ण कथन है। भृगु के पुत्रो ने अनुकम्पा दान देने मे पाप नही कहा, किन्तु यज्ञ-याग आदि करके पूज्य बुद्धि से भोजन कराने और पुत्रोत्पादन करने से जो लोग दुर्गति मार्ग का निरोध होना मानते है, उनके मन्तव्यो को मिथ्या बतलाया है। यदि कोई यह कहे कि अनुकम्पा भाव से असयति को दान देने से पुण्य होता, तो उत्तराध्ययन अ० १४, गाथा १२ मे भृगु के पुत्रो ने ब्राह्मण को भोजन कराने से तमतमा नरक मे जाना क्यो कहा ? इसका उत्तर स्पष्ट है कि आगम मे असयति को अनुकम्पा बुद्धि से दान देने से तमतमा नरक मे जाना नही कहा है। उत्तराध्ययन की उक्त गाथा का अर्थ करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

"ते हि भोजिता कुमार्ग प्ररूपण पशुवधादावेव कर्मोपचय निबन्धनेऽसद् व्यापारे प्रवर्तन्त इत्यसत् प्रवर्तनतस्तद्भोजनस्य नरक गति हेतुत्वमेव।"

—उत्तराध्ययन १४, १२ टीका

"हिंसामय धर्म की प्रशंसा और दयामय धर्म की निन्दा करने वाले ब्राह्मण कुमार्ग प्ररूपणा और कर्म को बढ़ानेवाले पशुवध आदि असद् व्यापार में ही प्रवृत्त होते हैं। अतः असद् व्यापार में प्रवृत्ति होने के कारण, उनको भोजन कराना नरक प्राप्ति का हेतु कहा है।"

यहाँ टीकाकार ने उन ब्राह्मणो को भोजन कराने से नरक जाना कहा है, जो असद् व्यापार मे प्रवृत्त हैं। परन्तु पशुवध आदि असद् कार्यो का समर्थन नही करनेवाले दयालु ब्राह्मणो को भोजन कराने से नरक जाना नही कहा है। अत. मूल गाथा मे ब्राह्मण को भोजन कराने से तमतमा मे जाना कहा है, वह ब्राह्मण मात्र को भोजन कराने से नही, प्रत्युत दया रहित हिंसक ब्राह्मणो को भोजन कराने से नरक जाना कहा है। अत. भृगु के पुत्रो का नाम लेकर अनकम्पा-दान का विरोध करना मिथ्या है।

दान और साधु भाषा

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ७३ पर सूत्रकृताग सूत्र २, अ० ५ गाथा ३३ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ इहा पिण इम कह्यो—दान लेवे-देवे इसो वर्तमान देखी गुण-दूषण न कहे। ए तो प्रत्यक्ष पाठ कह्यो जे देवे-लेवे, ते बेला पाप-पुण्य नही 'दक्खिणाए' कहिता दान ना 'पडिलभ' कहता आगला ने देवो ते प्राप्ति एतले दान देवे ते दान नी आगला ने प्राप्ति हुवे ते बेला पुण्य-पाप कहिणो वर्ज्यो। पिण और बेला वर्ज्यो नही।" इनके कहने का तात्पर्य यह है कि जिस समय दाता अनुकम्पा लाकर किसी दीन-हीन को दान दे रहा है और वह दीन-हीन ले रहा है, उस समय साधु को उस दान में एकान्त पाप नही कहना चाहिए। परन्तु दूसरे समय मे अनुकम्पा दान का फल एकान्त पाप कहकर उसका निषेध कर देना चाहिए।

सूत्रकृताग सूत्र की वह गाथा और उसकी टीका लिखकर इसका समाधान कर रहे है—

"दक्खिणाए पडिलंभो अत्थि वा णत्थि वा पुणो।
ण वियागरेज्ज मेहावी सन्तिमग्गं च बूहए॥"

—सूत्रकृताग सूत्र, २, ५, ३३

"दान दक्षिणा तस्या· प्रतिलम्भः प्राप्ति· स दान लाभोऽस्माद् गृहस्थादेः सकाशादस्ति-नास्ति वा इत्येव न व्यागृणीयात्, मेधावी मर्य्यादाव्यवस्थितः। यदि वा स्वयूथस्य तीर्थान्तरीयस्य वा दान ग्रहण वा प्रति यो लाभः स एकान्ते नास्ति समवति नास्तीत्येव न ब्रूयादेकान्तेन, तद्दानग्रहणनिषेधे दोषोत्पत्ति संभवात्। तथाहि तद्दाननिषेधेऽन्तराय सभवस्तद्वैचित्यं च तद्दानुमत्ता-वप्यधिकरणोद्भव. इत्यतोऽस्ति दानं नास्तिवेत्येवमेकान्तेन न ब्रूयात् कथं तर्हि ब्रूयादिति दर्शयति—शान्ति मोक्ष तस्य मार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रा-त्मकस्तमुपबृंहयेद्। यथा मोक्षमार्गाभिवृद्धिर्भवति तथा ब्रूयादित्यर्थः। एतदुक्तं भवति पृष्ट· केनचिद्देय विधि-प्रतिषेधमन्तरेण प्रतिग्राहक विषय

निरवद्यमेव ब्रूयादित्येवमादिक मन्यदपि विविध धर्म देशनावसरे वाच्यम् ।"
तथाचोक्तम्—

"सावज्जणवज्जाण वयणाणं जो ण जाणइ विसेसं"

"साधु-मर्यादा में स्थित मुनि को यह नहीं कहना चाहिए कि अमुक गृहस्थ से दान की प्राप्ति होगी या नहीं होगी। दान लाभ के विषय में स्व-यूथिक या पर-यूथिक साधु के पूछने पर मुनि को यह नहीं कहना चाहिए कि आज तुम को भिक्षा मिलेगी या नहीं मिलेगी। यदि ऐसा कहे कि 'तुम को आज भिक्षा नहीं मिलेगी', तो अन्तराय होना सभव है और भिक्षार्थी के मन में भी दुःख उत्पन्न होगा। और 'आज तुमको भिक्षा मिलेगी' ऐसा कहने पर पूछनेवाले साधु को हर्ष की उत्पत्ति होने से अधिकरणादि दोष उत्पन्न होंगे। इसलिए स्व-यूथिक और पर-यूथिक के पूछने पर भिक्षा-लाभ के सम्बन्ध में साधु को एकान्त रूप से कुछ भी नहीं कहना चाहिए। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप मोक्ष-मार्ग की उन्नति हो, वैसी बात भाषा-समिति के द्वारा कहनी चाहिए। इसी प्रकार धर्मोपदेश करते समय भी साधु को निरवद्य भाषा बोलनी चाहिए।" जैसे कहा भी है कि "जिस साधु को सावद्य और निरवद्य भाषा का ज्ञान नहीं है, वह धर्मोपदेश क्या देगा?"

प्रस्तुत पाठ मे अनुकम्पा दान का प्रसग ही नही है। यह भाषा समिति का प्रकरण है। अत प्रस्तुत गाथा मे यह बताया है कि यदि कोई स्व-यूथिक या पर-यूथिक साधु-मुनि को यह पूछे कि मुझे आज भिक्षा-लाभ मिलेगा या नही? ऐसे प्रसग पर साधुत्व की मर्यादा मे स्थित मुनि को एकान्त रूप से विधि और निषेध की भाषा मे उत्तर नही देना चाहिए। परन्तु भाषा समिति के द्वारा उसको उत्तर देना चाहिए। अस्तु प्रस्तुत गाथा का नाम लेकर यह कहना—"जिस समय दाता दीन-हीन को दे रहा हो और लेने वाला ले रहा हो, उस समय साधु को अनुकम्पा दान मे एकान्त पाप नही कहना चाहिए, परन्तु उपदेश करते समय उसमे एकान्त पाप कहकर अनुकम्पा-दान का निषेध करना चाहिए", यह नितान्त असत्य है।

प्रस्तुत गाथा मे प्रयुक्त 'पडिलभ' शब्द स्व-यूथिक या पर-यूथिक साधु के दान-लाभ के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, गृहस्थ के दान-लाभ अर्थ मे नही। टीकाकार ने भी इसका साधु से सम्बन्ध स्वीकार किया है—

"यदि वा स्वयूथ्यस्य तीर्थान्तरीयस्य वा दान ग्रहण प्रति यो लाभः।"

"स्व-यूथिक—अपने यूथ के साधु को और तीर्थान्तरीय—अन्य धर्म के साधु को दान की प्राप्ति होना 'पडिलंभ'—प्रतिलंभ है।"

अत इस गाथा की साक्षी देकर भ्रमविध्वसनकार ने गृहस्थ के दान-लाभ के अर्थ मे 'पडिलभ' शब्द का जो प्रयुक्त होना बताया था, वह भी गलत है। उन्होने इस गाथा का जो टब्बा अर्थ दिया है, वह भी मूल पाठ एव टीका से विरुद्ध होने के कारण अशुद्ध एव अप्रामाणिक है। अत. उसका आश्रय लेकर अनुकम्पा दान का खण्डन करना आगम सम्मत नही है।

नन्दन मनिहार

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ७४ पर ज्ञाता सूत्र अध्ययन १३ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ इहा कह्यो-जे नन्दन मणिहारो दानशालादिक नो घणो आरभ करी मरने डेडको थयो। जो सावद्य दान थी पुण्य हुवे तो दानशालादिक थी घणा असयति जीवा रे साता उपजाई ते साता रो फल किहा गयो।" इनके कहने का भाव यह है कि नन्दन मनिहार ने अनुकम्पा दान देकर अनेक दीन-दुखी जीवो को सुख दिया था, जिससे वह मरकर मेढक योनि मे उत्पन्न हुआ। यदि अनुकम्पा दान देने मे पुण्य होता, तो वह मरकर मेढक क्यो वनता ? अत. अनुकम्पा दान देने मे एकान्त पाप है।

नन्दन मनिहार का उदाहरण देकर अनुकम्पा दान मे एकान्त पाप की प्ररूपणा करना आगम के अर्थ को यथार्थ रूप से नही जानने का परिणाम है। ज्ञाता सूत्र मे स्पष्ट लिखा है कि नन्दन मनिहार नन्दा नामक पुष्करणी मे अति आसक्त होने के कारण मरकर उसी पुष्करणी मे मेढक योनि मे उत्पन्न हुआ, न कि दीन-हीन जीवो को अनुकम्पा दान देने से।

"तत्तेणं णंदे तेहिं सोलसेहिं रोगायं केहिं अभिभूए समाणे णंदा पोक्खरिणीये मुच्छित्ते, तिरिक्ख जोणिएहि निबद्धाउए वद्धपएसिए अट्ट दुहट्ट वसट्टे कालमासे कालं किच्चा णंदाए पोक्खरिणीए ददुरिये कुच्छिसि ददुरत्ताए उववण्णे।"

—ज्ञाता सूत्र, अध्ययन १३

"इसके अनन्तर वह नन्दन मनिहार सोलह रोगों से पीड़ित होकर नन्दा नामक पुष्करणी में आसक्त होने के कारण तिर्यन्च योनि की आयु बांधकर अति आर्त-ध्यान के वशीभूत होकर काल के अवसर में मृत्यु को प्राप्त कर के नन्दा पुष्करणी में मेंढ़क योनि में उत्पन्न हुआ।"

प्रस्तुत पाठ मे नन्दा नामक पुष्करणी मे आसक्त (गृद्ध) होने के कारण नन्दन मनिहार का मेंढक योनि मे जन्म लेना लिखा है, दीन-दुखी जीवो पर दया लाकर उनको अनुकम्पा दान देने से नही। अत. नन्दन मनिहार का नाम लेकर अनुकम्पा दान मे एकान्त पाप वताना नितान्त मिथ्या है।

कुछ लोग यह तर्क करते हैं कि यदि अनुकम्पा दान देने में पुण्य होता है, तो नन्दन मनिहार मरकर मेढक क्यो हुआ। क्योकि उसने अनुकम्पा दान भी दिया था। उसको अनुकम्पा-दान का क्या फल मिला ? ऐसा तर्क देनेवालो से पूछना चाहिए कि "नन्दन मनिहार ने श्रावक के द्वादश-व्रत भी धारण किये थे", उसे उसका क्या फल मिला ? यदि वे ऐसा कहे कि नन्दन मनिहार को द्वादश-व्रत स्वीकार करने का अच्छा ही फल मिला होगा, परन्तु मूलपाठ मे उसका कथन नही है। यही उत्तर अनुकम्पा दान के प्रश्न का है। नन्दन मनिहार को अनुकम्पा दान का अच्छा फल मिला होगा, परन्तु मूलपाठ मे उसका उल्लेख नही किया। प्रस्तुत पाठ मे तो नन्दन मनिहार के जीवन का वर्णन करके यह उपदेश दिया है कि भव्य जीवो को सासारिक पदार्थों मे आसक्त नही होना चाहिए और भूलकर भी कुसगति मे नही पडना चाहिए। क्योकि नन्दन मनिहार कुसगत के कारण ही वारह-व्रत से भ्रष्ट होकर मिथ्यात्वी बन गया और नन्दा पुष्करणी मे आसक्त होकर उसी मे मेढक बना। यह उसके जीवन वर्णन का सार है। अत उसका उदाहरण देकर अनुकम्पा दान मे एकान्त पाप कहना भूल है।

कई व्यक्ति यह कहते है कि नन्दन मनिहार जब तक सम्यग्दृष्टि था, तब तक उसने दानशालादि परोपकार का कार्य नही किया किन्तु मिथ्यात्वी होने के बाद उसने दानशालादि परोपकार का कार्य किया। अत अनुकम्पा दानादि परोपकारजन्य कार्य सम्यक्त्वी नही, मिथ्यात्वी करते है। परन्तु यह कथन नितान्त असत्य है। क्योकि प्रदेशी राजा जब तक मिथ्यात्वी था, तव तक दानशालादि परोपकारजन्य कार्य नही करता था, किन्तु दीन-हीन जीवो की जीविका का उच्छेद करता था। परन्तु केशी श्रमण के प्रतिबोध से जब वह वारह व्रती श्रावक बना, तव से वह दानशाला वनाकर दीन-हीन जीवो को दान देने लगा। अत अनुकम्पा दान देना मिथ्यात्वी का ही कार्य नही, सम्यक्त्वी का भी कार्य है। अनुकम्पा दानादि परोपकार के कार्य से जनता को विमुख करने का प्रयत्न करना साम्प्रदायिक अभिनिवेश मात्र है।

दान के भेद

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ७६ पर स्थानाग सूत्र स्थान १० का मूलपाठ लिखकर, उसमे कथित दस दानो में से एक धर्म-दान को छोडकर शेष नव दानो को अधर्म-दान में सिद्ध करते हुए लिखते हैं—

"असयति ने असूझता असनादिक दीधा एकान्त पाप भगवती श० ८, उ० ६ कह्यो। ते माटे ए नव दानो मे धर्म-पुण्य मिश्र नही छै। कोई कहे एक धर्म-दान, एक अधर्म-दान, बीजा आठो मे मिश्र छै। केई एकलो पुण्य छै इम कहे, एहनो उत्तर— जो वेश्यादिक नो दान अधर्म मे थापे त्रिपय रो दोप बताय ने। तो बीजा आठ पिण विपय मे इज छै।"

धर्म-दान के अतिरिक्त शेप नव-दानो की अधर्म-दान मे गणना करना आगम विरुद्ध है। आगमकार ने दस ही दानो को परस्पर विलक्षण और एक का दूसरे मे समाविष्ट होना नही बताया है। यदि धर्म-दान को छोडकर शेप नव ही दान अधर्म-दान के भेद होते, तो आगमकार—"दुविहे दाणे पण्णत्ते त जहा—धम्मदाणे चेव अधम्मदाणे चेव" यह लिखकर, अनुकम्पा आदि दानो को अधर्म-दान मे समाविष्ट कर देते। परन्तु ऐसा न करके आगम मे दान के दस भेद बतलाए है, इससे अनुकम्पा आदि दानो का अधर्म-दान से भिन्न होना स्पष्ट सिद्ध होता है। दूसरी बात यह है कि उक्त दस दानो के गुणानुसार नाम रखे गए हैं। जिस दान का फल 'अनुकम्पा' है उसका 'अनुकम्पा' और जिसका फल सग्रह—दीन-दुखो को सहायता देना है, उसका 'सग्रह' नाम रखा है। इसी तरह शेष आठ दानो के नाम भी गुण के अनुरूप रखे है। आचार्य श्री भीपण जी ने भी इस बात को स्वीकार करते हुए अपने एक पद्य मे लिखा है—

> "दश दान भगवन्त भाषिया, सूत्र ठाणांग मांय।
> गुण निष्पन्न नाम छै तेहना, भोला ने खबर न कांय॥"

प्रस्तुत पद्य मे स्वय आचार्य भीपणजी ने भी दस ही दानों का गुणानुसार नाम स्वीकार किया है। अत धर्म-दान के अतिरिक्त शेप नव दानो को अधर्म-दान मे बताना भ्रमविध्वसनकार का अपने आद्य गुरु के विचारो से भी विरुद्ध कथन है। जब उक्त दानो के गुण-निष्पन्न नाम हैं, तब अनुकम्पा-दान का गुण अनुकम्पा कहना होगा, अधर्म नही। क्योकि अनुकम्पा अधर्म मे नही है, अत अनुकम्पा-दान भी अधर्म-दान मे नही हो सकता। इसी तरह सग्रह-दान का फल सग्रह—

दीन-दुःखी को सहायता देना, करुणा-दान का फल करुणा, लज्जा-दान का फल लज्जा आदि है। दीन-दुःखी को सहायता देना आदि अधर्म मे नही है, अतः सग्रह आदि दान भी अधर्म मे नही हो सकते।

जो व्यक्ति एक धर्म-दान को छोडकर शेप नव दानो को अधर्म गिनते है, उनसे पूछना चाहिए, "जो दान भाव-भक्ति पूर्वक प्रत्युपकार की आशा के विना पच महाव्रतधारी साधु को दिया जाता है, वही मुख्य रूप से एकान्त धर्म-दान है। परन्तु जो व्यक्ति लज्जावश या अनुकम्पा करके साधु को दान देता है, वह दानदाता के परिणामानुसार मुख्य रूप से लज्जा और अनुकम्पा-दान है। यह दान धर्म-दान से कथंचित् भिन्न भी है, क्योकि उक्त दानो मे दाता के परिणामो मे लज्जा और अनुकम्पा भी है। अत आपके मत से उक्त दानो का फल अधर्म ही होना चाहिए ?" यदि यह कहे कि 'साधु को किसी भी परिणाम से दान दे, वह धर्म-दान ही है', तो नागश्री ब्राह्मण ने मुनि को मारने के परिणाम से कडुए तुम्बे का शाक दिया और साहूकार की पत्नी ने अरणकमुनि के साथ विषय-भोग भोगने की इच्छा से मुनि को मोदक दान दिया, अत इसका फल अधर्म नही होना चाहिए ? यदि यहाँ यह कहे कि नागश्री ने मुनि को मारने के परिणाम से और साहूकार की पत्नी ने मुनि को पथ-भ्रष्ट करने की भावना से दान दिया था, अत वे दान उनके अधार्मिक परिणामो के अनुसार अधर्म-दान मे है, धर्म-दान मे नही। इसी तरह यह समझना चाहिए कि जो दान लज्जा एव अनुकम्पा करके मुनि को दिया जाता है, वह दाता के परिणामो के अनुसार लज्जा एव अनुकम्पा दान ही है। आपकी मान्यता के अनुरूप इनमे एकान्त पाप होना चाहिए, परन्तु यह आगम सम्मत नही है। उक्त दानो मे दाता के परिणामानुसार धर्म ही होता है। अतः धर्म-दान के अतिरिक्त शेप नव-दानो को अधर्म-दान कहना भारी भूल है। स्थानाग सूत्र में बताया है कि साधु भी अनुकम्पा-दान देते है।

"अणुकम्पं पडुच्च तओ पडिणीया पण्णत्ता तं जहा—तवस्सि-पडिणीए, गिलाण-पडिणीए, सेह-पडिणीए।"

—स्थानाग सूत्र ३, ४, २०८

"तीन मनुष्य अनुकम्पा करने योग्य होते हैं—तपस्वी साधु, रोग आदि से ग्लान और नव-दीक्षित शिष्य। इनकी अनुकम्पा न करें और न करावे, तो वह वैरी—शत्रु समझा जाता है।"

प्रस्तुत पाठ के अनुसार यदि कोई व्यक्ति रोग आदि से ग्लान, तपस्वी साधु और नव दीक्षित शिष्य पर अनुकम्पा करके दान दे, तो वह दानदाता के परिणाम के अनुसार मुख्य रूप से अनुकम्पा दान है। अत जो व्यक्ति धर्म-दान के अतिरिक्त शेप नव दानो को अधर्म-दान मानते है, उनके विचार से इस दान में भी अधर्म होना चाहिए।

उववाई सूत्र मे लोकोपचार विनय के दो भेद बताए है—१ कार्य हेतु और २ कृत प्रतिक्रिया। यदि— 'मैं गुरुजी को आहार-पानी देकर उन्हें प्रसन्न रखूगा, तो वे मुझे शास्त्र की वाचना देने की कृपा करेगे' इस भाव से गुरु की सेवा-भक्ति एव दान-सम्मान करना 'कार्य हेतु' विनय कहलाता है। यह विनय 'करिष्यतीति दान' के अन्तर्गत है। क्योकि जो दान प्रत्युपकार की आशा से दिया जाता है, उसे 'करिष्यतीति दान' कहते हैं। साधु भी अपने गुरु को इस प्रकार का दान देकर लोकोपचार विनय करता है।

जो दान उपकारी पुरुष को उपकार के बदले मे दिया जाता है, उसे 'कृत-दान' कहते है। साधु भी गुरु के द्वारा किए गए उपकार के बदले मे अपने गुरु को इस भाव से दान देकर 'कृत-प्रतिक्रिया' नामक विनय करता है। यह दान प्रत्युपकार के रूप मे दिया जाता है, इसलिए धर्म-दान से कथचित् भिन्न है। अत भ्रमविध्वसनकार के मत से उक्त दोनो दानो मे पाप होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त कई व्यक्ति मुनि को गर्व पूर्वक दान देते है। वह दान भी दाता के गर्व युक्त परिणामो के अनुसार गर्व-दान कहलाता है। भ्रमविध्वसनकार की कपोल-कल्पित मान्यता के अनुसार यह भी अधर्म-दान होना चाहिए। परन्तु आगम की दृष्टि से उक्त प्ररूपणा सही नही है। क्योकि लोकोपचार विनय करने के लिए अपने गुरु को 'करिष्यतीति और कृतदान' देनेवाले मुनि और गर्व से मुनि को दान देनेवाले गृहस्थ को पाप नही, पुण्य होता है। अत एक धर्म-दान के अतिरिक्त शेप नव दानो को अधर्म-दान कहना मिथ्या है।

वस्तुत ये दस-विध दान परस्पर एक दूसरे से भिन्न है और अपने नाम के अनुरूप गुणवाले है। इसलिए इन्हे अलग-अलग बताया है। यदि धर्म-दान के अतिरिक्त शेप नव दान एकान्त अधर्म-दान होते, तो इन्हे अधर्म-दान से अलग लिखने की कोई आवश्यकता नही थी। आचार्य भीपणजी ने भी अपने पद्य मे यह स्वीकार किया है कि इन दानो के गुण-निष्पन्न नाम रखे गए है। ये दान यथा नाम तथा गुण वाले है। अत अनुकम्पा आदि नव दानो को एकान्तत अधर्म मे स्थापित करना आगम से सर्वथा विपरीत है।

"दस-विहे दाणे पण्णत्ते, तं जहा—
अनुकम्पे, संगहे चेव भए, कालुणि ए ति च।
लज्जाए, गारवेण च, अधम्मे पुण सत्तमे ।।
धम्मेत अट्ठमे वुत्ते, काही तीत कतंतित ।"

—स्थानाग सूत्र, १०, १, ७४५

'दशेत्यादि' अनुकम्पेत्यादि श्लोक. सार्धः 'अनुकम्प' त्ति दानशब्दसम्बन्धादनकम्पया कृपया दानं दीनानाथ-विषयमनुकम्पादानमथवा अनुकम्पातो यद्दान तदनुकम्पैवोपचारात्। उक्तञ्च वाचक मुख्यैरुमास्वाति पूज्यपादै:—

"कृपणेऽनाथ दरिद्रे, व्यसन प्रासे च रोग-शोक हते।
यद्दीयते कृपार्थादनुकम्पा तद्भवेद्-दानम् ।।"

संग्रहणं सग्रह व्यसनादौ सहायकरण तदर्थदान सग्रहदानम् अथवा अभेदाद्दानमपि सग्रह उच्यते। आह च—

"अभ्युदये व्यसने वा यत्किञ्चिद् दीयते सहायार्थं।
तत्सग्रहोऽभिमत्त मुनिभिर्दान न मोक्षाय ।।"

तथा भयाद्दान भयदान भयनिमित्तत्वाद्दानमपि भयमुपचारात। उक्तञ्च—

"राजा-रक्षपुरोहित मधुमुखमावज्र दण्डपाशिशु च।
यद्दीयते भयार्थात्तद्भयदान बुधैर्ज्ञेयम् ।।"

कालुणिएत्ति-कारुण्यं शोकस्तेन पुत्रादि वियोगजनितेन तदीयस्यैव तल्पादे

स जन्मान्तरे सुखितो भवत्विति वासनातोऽन्यस्य वा यद्दानं तत्कारुण्यदानम्; कारुण्यजन्यत्वाद्दानमपि कारुण्यमुक्तमुपचारत्। तथा लज्जया ह्रिया दान यत्तल्लज्जादानमुच्यते। उक्तञ्च—

"अभ्यर्थित परेण तु यद्दानं जन-समूह-मध्यगत।
परिचित्त - रक्षणार्थं लज्जायास्तद्भवेद्दानम् ॥"

गारवेणं त्ति गौरवेण गर्वेण यद्दीयते तद् गौरव-दानम्। उक्तञ्च—

"नट-नर्तक-मुष्टिकेभ्यो दानं सम्बन्धि-बन्धु-मित्रेभ्य।
यद्दीयते यशोऽर्थं गर्वेण तु तद्भवेद्दानम् ॥"

अधर्मपोषक दानमधर्मदान अधर्मकारणाद्वा अधर्म एवेति, उक्तञ्च—

"हिंसानृत-चौर्य्योद्यत परदार परिग्रह प्रसक्तेभ्य।
यद्दीयते हि तेषा तज्जानीयादधर्माय ॥"

धर्मकारण यत्तद्धर्मदान धर्म एव वा। उक्तञ्च—

"सम-तृण-मणि-मुक्तेभ्यो यद्दान दीयते सुपात्रेभ्य।
अक्षयमतुलमनन्त तद्दान भवति धर्माय ॥"

काहीय त्ति—करिष्यति कञ्चनोपकार ममायमिति बुद्धया यद्दान तत् करीष्यतीति दानमुच्यते। तथा कृत ममानेन तत्प्रयोजनमिति प्रत्युपकारार्थं यद्दानं तत्कृतमिति। उक्तञ्च—

"शतश. कृतोपकारो दत्त च सहस्रशो ममानेन।
अहमपि ददामि किञ्चित् प्रत्युपकाराय तद्दानम् ॥"

—स्थानाग १०, १, ७४५ टीका

दान दस प्रकार के हैं—१ अनुकम्पादान, २ संग्रहदान, ३ भयदान, ४ कारुण्यदान, ५ लज्जादान, ६, गौरवदान, ७ अधर्मदान, ८ धर्मदान, ९ करिष्यतिदान और १० कृतदान।

यद्यपि मूलगाथा में अनुकम्पा, संग्रह आदि शब्दो के आगे दान शब्द नहीं आया है, तथापि गाथा के पूर्व कथित वाक्य से दान शब्द का सम्बन्ध जोड़कर अनुकम्पा आदि के आगे दान शब्द लगाकर अनुकम्पा दान, संग्रह दान आदि इन दानो का नाम जानना चाहिए।

जो दान अनुकम्पा बुद्धि से दिया जाता है, उसे उपचार से अनुकम्पा दान कहते हैं। वाचक मुख्य श्री उमास्वाति ने भी कहा है—"कृपण, अनाथ, दरिद्र, दुःखी और रोग-शोक से पीड़ित व्यक्ति को जो दान दिया जाता है, उसे अनुकम्पा दान कहते हैं।"

दु.खी जीव को सहायता देने का नाम 'संग्रह' है। उसके निमित्त जो दान दिया जाता है, उसे संग्रह दान कहते हैं। पूज्यपाद उमास्वति ने भी कहा है—"अभ्युदय, खुशी या संकट होने पर सहायता के लिए जो दान दिया जाता है, उसे मुनि-जन संग्रह दान कहते हैं। यह दान मोक्ष के लिए नहीं होता।"

जो दान भय के कारण दिया जाता है, उसे भय दान कहते हैं। पूज्यपाद ने भी कहा है—"राजा, महाराजा, कोतवाल आदि को भय के कारण दान देना 'भय दान' कहलाता है।"

जो करुणा-शोक से दिया जाता है, वह 'कारुण्य दान' है। पुत्र आदि के मरने पर उस पुत्र को परलोक में सुख मिले इस भाव से उसके खाट आदि का दान करना 'कारुण्य दान' समझना चाहिए।

जो दान लज्जा के कारण दिया जाता है, वह 'लज्जा दान' है। पूज्यपाद ने भी कहा है–"सभा आदि में उपस्थित पुरुष से कोई वस्तु मांगने पर, वह पुरुष लज्जावश दूसरे व्यक्ति का मन नहीं तोड़ने के लिए, जो दान देता है, उसे 'लज्जा दान' कहते हैं।"

जो दान गर्व से दिया जाता है, उसे 'गौरव दान' कहते हैं। पूज्यपाद ने कहा है, "नर्तक, गायक, मल्लयुद्ध करनेवाले पहलवान और अपने परिजन, बन्धु-बान्धव और मित्र आदि को यश-कीर्ति के लिए जो दान दिया जाता है, उसे 'गौरव दान' कहते हैं।"

जो दान अधर्म के लिए दिया जात है, उसे अधर्म दान कहते है। यथा—"हिंसा, झूठ, चोरी और पर-स्त्री सेवन करने वाले को हिंसा, झूठ, चोरी एव व्यभिचार सेवन के लिए जो दान दिया जाता है, वह 'अधर्म दान' है।"

धर्म के लिए दान देना 'धर्म दान' है। यथा—"तृण, मणि और मुक्ता को समान समझने वाले सुपात्र को जो दान दिया जाता है, वह 'धर्म दान' है। वह अक्षय, अतुल्य और अनन्त होता है।"

जो दान प्रत्युपकार की अभिलाषा से दिया जाता है, उसे 'करिष्यतीति दान' कहते हैं।

अपने ऊपर किए गए उपकार का बदला चुकाने के लिए अपने उपकारी पुरुष को जो दान दिया जाता है उसे 'कृत दान' कहते हैं। पूज्यपाद ने भी कहा है—"इस व्यक्ति ने मेरे ऊपर सैकड़ों उपकार किए है, मुझे हजारो बार दान दिया है, अत. मैं भी इसे दान दूं, इस भाव से दिया जानेवाला दान 'कृत दान' है।"

प्रस्तुत मूल पाठ और उसकी टीका मे हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि दुष्कर्मो के लिए दिए जाने वाले दान को अधर्म दान कहा है, उससे भिन्न दानो को नही। अत धर्म दान के अतिरिक्त शेष नव दानो को अधर्म दान बताना आगम एव उसकी टीका से विरुद्ध है। जो व्यक्ति धर्म दान के अतिरिक्त शेष नव दानो को अधर्म दान एव एकान्त पापमय कहते है, उनके विचार से उपकारी व्यक्ति द्वारा किए गए उपकार के वदले मे उसे 'कृत दान' करना अधर्म एव एकान्त पाप है। और उपकार का वदला चुकाने वाला कृतज्ञ पुरुष एकान्त पापी सिद्ध होता है। इसके विपरीत उपकारी के उपकार का बदला नही चुकाना धर्म और वदला नही चुकाने वाला कृतघ्न पुरुष धार्मिक सिद्ध होगा। परन्तु यह मान्यता आगम एव लोकमत दोनो से विरुद्ध है। आगम एव शिष्ट पुरुष कृतज्ञ को पापी एव कृतघ्न को धर्मात्मा कभी नही कहते। यह तो भ्रम-विध्वसनकार की ही विचित्र कल्पना है कि कृतज्ञ को पापी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

वस्तुत: दस दानो के गुण-निष्पन्न नाम रखे गए हैं। अत एक अधर्म दान ही अधर्म है, उससे भिन्न दान अधर्म दान नही, प्रत्युत अपने नाम के अनुरूप गुणवाले है। अत. धर्म दान के अतिरिक्त शेष नव दानो को अधर्म दान कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

नव दान : एकान्त पाप रूप नहीं है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ७६ पर लिखते है–"ए नव दान चार विसामा बाहिर छै। धर्म दान विसामा माहि छै, ए न्याय तो चतुर हुवे ते ओलखे।" इन के कहने का अभि-

प्रांय यह है कि गृहस्थ जीवो को सावद्य कर्मो का भार उतार कर विश्राम करने के लिए चार स्थान कहे हैं। वे ये हैं—१ बारह व्रत ग्रहण करना, २ सामायिक-देशावकाशिकव्रत करना, ३ पोषधोपवास करना और ४ सथारा-सलेखना के द्वारा पण्डित मरण को प्राप्त करना। इन विश्राम स्थानो मे एक धर्म दान ही शामिल होता है, शेष नव दान नही होते। अतः वे अधर्म दान है।

जो क्रिया विश्राम स्थान से वाहर है, उसे एकान्त पाप मे कहना भारी भूल है। क्योकि मिथ्यादृष्टियो की सभी क्रियाएँ विश्राम स्थानो से वाहर है, तव भी वे अपनी क्रियाओ से पुण्य का वन्ध करके स्वर्गगामी होते हैं। यदि विश्राम स्थान से वाहर की सभी क्रियाएँ एकान्त पाप में होती, तो मिथ्यादृष्टि विश्राम स्थान से वाहर की क्रियाओ का आचरण करके, उनसे स्वर्ग मे कैसे जाता है ?क्योकि यह निर्विवाद मान्य है कि उपरोक्त चार विश्राम स्थान सम्यग्दृष्टियो के ही है, मिथ्यादृष्टियो के नही। ऐसी स्थिति मे विश्राम स्थानो से वाहर की क्रियाओ को एकान्त पाप में बताना भ्रमविध्वसनकार का भ्रम ही है।

धर्म और धर्म स्थविर

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ७८ पर लिखते है—"अथ ए दश धर्म दश स्थविर कह्या। पिण सावद्य-निरवद्य ओलखणा। अने दान दश कह्या, ते पिण सावद्य-निरवद्य पिछाणणा। धर्म अने स्थविर कह्या छै, पिण लौकिक-लोकोत्तर दोनू छै। जिम जम्बूद्वीप-पन्नति मे तीर्थ तीन कह्या—मागध, वरदान, प्रभास, पिण आदरवा जोग नही। तिम सावद्य धर्म, स्थविर, दान पिण आदरवा योग्य नही। सावद्य छाडवा योग छै।"

स्थानाग सूत्र का मूलपाठ एव उसकी टीका लिखकर इसका समाधान कर रहे है—

"दस-विहे धम्मे पण्णत्ते तं जहा—गाम धम्मे, नगर धम्मे, रट्ठ धम्मे, पासंड धम्मे, कुल धम्मे, संघ धम्मे, सुय धम्मे, चरित्त धम्मे, अत्थिकाय धम्मे।"

—स्थानांग सूत्र १०, १, ७६०

"ग्रामा जनपदाश्रयास्तेषां तेषु वा धर्म. सदाचारो व्यवस्थेति ग्रामधर्म.। स च प्रतिग्राम भिन्न इति। अथवा ग्राम इन्द्रियग्रामो रुढेस्तद्धर्मो विषया-भिलाष.। नगरधर्मो नगराचार: सोऽपि प्रतिनगरं प्रायो भिन्न एव। राष्ट्र-धर्मो देशाचार.। पाषण्ड धर्मः पाखण्डिनामाचारः। कुल धर्मः उग्रादिकु-लाचार। अथवा कुलं चान्द्रादिकं आर्हतानां गच्छ समूहात्मकं तस्य धर्मः समाचारी। गणधर्मो-मल्लादिगण व्यवस्था। जैनानां वा कुल समुदायो गण: कोटिकादिः तद्धर्मस्तत्समाचारी। संघधर्मो गोष्ठी समाचारी आर्हतानां वा गुण समदायरूपश्चतुर्वर्णो वा सघस्तद्धर्म. तत् समाचारी। श्रुतमेव आचा-रादिकं दुर्गति प्रपतज्जीव. धारणाद्धर्मः श्रुतधर्मः। चयरिक्तकरणाच्चारित्रं तदेव धर्मश्चारित्र धर्मः। अस्तय. प्रदेशास्तेषां कायो राशिरस्तिकाय·। स एव धर्मो गति-पर्य्याये जीव-पुद्गलयोर्धारणादस्तिकायधर्म।"

"ग्रामस्थ जनता के सदाचार एवं सद्व्यवहार आदि की व्यवस्था का नाम ग्राम धर्म है। वह भिन्न-भिन्न गांवों में भिन्न-भिन्न होता है। ग्राम शब्द का इन्द्रिय अर्थ भी होता है। उसके

धर्म-विषयाभिलाषा को भी ग्राम धर्म कहते हैं।[1] नगर में स्थित जनता के आचार-व्यवहार का नाम नगर धर्म है। देश-विदेश के आचार-व्यवहार की व्यवस्था को राष्ट्र धर्म कहते हैं। पाषण्डी व्रत-निष्ठ व्यक्तियों के आचार-व्यवहार की व्यवस्था का नाम पाषण्ड धर्म है। उग्र आदि कुलों के आचार-व्यवहार की व्यवस्था को कुल धर्म कहते हैं। अथवा जैनो के चन्द्रादि गच्छ का नाम भी कुल है, अतः उसकी समाचारी को भी कुल धर्म कहते हैं। मल्ल युद्ध आदि से अपनी जीविका चलानेवाले व्यक्तियो के आचार-व्यवहार की व्यवस्था का नाम गणधर्म है, अथवा जैनो का कुल, समुदाय, कोटिकादि का नाम गण है, अतः उसकी समाचारी को गण धर्म कहते हैं। सभा आदि के नियमोपनियमो को संघ-धर्म कहते हैं। जैन साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकाओ के समूह का नाम संघ है, अतः उसके धर्म को भी संघ-धर्म कहते हैं। दुर्गति में गिरते हुए जीवो को बचाने वाले आचारांग आदि द्वादश अंगो का नाम श्रुत-धर्म है। कर्म समूह का विनाश करनेवाले धर्म को चारित्र-धर्म कहते हैं। अस्ति नाम प्रदेशों का है, उनकी राशि को अस्तिकाय धर्म कहते हैं, यह जीवो को गति और पर्याय में धारण करता है, इसलिए इसे धर्म कहते हैं। इसी तरह पंचास्तिकाय का धर्म समझना चाहिए।"

प्रस्तुत पाठ एव उसकी टीका मे सर्व प्रथम ग्राम धर्म का उल्लेख किया है। यह धर्म ग्राम मे निवसित जनता को चोरी, जारी, हिंसा, झूठ आदि दुष्कर्मों से हटाकर सत्पथ की ओर प्रवृत्त करता है। ग्रामवासियो की स्थिति, रक्षा और उन्नति ग्राम धर्म पर ही अवलम्बित है।

जिस ग्राम मे ग्राम धर्म का परिपालन नही होता, उस ग्राम का शीघ्र ही पतन हो जाता है। अत जो व्यक्ति ग्राम धर्म को एकान्त पाप कहता है, उसका कथन सत्य नही है। जिस व्यवस्था से चोरी, जारी, झूठ, हिंसा आदि दुष्कर्म रुके और जनता सदाचार-निष्ठ बनें, उसमे एकान्त पाप कैसे हो सकता है? इसी तरह नगर धर्म और राष्ट्र धर्म भी नगर एव देश मे स्थित जनता को दुष्कर्मों से हटाकर सुमार्ग की ओर प्रवृत्त करते है। इन के अभाव मे नगर एव राष्ट्र सुव्यवस्थित नही रह सकता। अत जिन धर्मो के द्वारा चोरी, जारी, हिंसा, झूठ आदि एकान्त पाप के कार्य रोक दिए जाते है, वह धर्म एकान्त पाप का कार्य कैसे हो सकता है? इस सम्बन्ध में प्रबुद्ध-पुरुषो को स्वय सोचना चाहिए।

यदि कोई यह कहे—"ये ग्राम धर्म आदि जनता के लिए हित कारक अवश्य है, परन्तु मोक्ष के सहायक नही है। इसलिए लोकोत्तर नही, लौकिक धर्म है। और लोकोत्तर धर्म से भिन्न सभी धर्म एकान्त पाप रूप है।" यह कथन नितान्त असत्य है। ग्राम आदि धर्म मोक्ष-मार्ग में भी सहायक है। क्योकि श्रुत और चारित्र धर्म का परिपालन करने से मोक्ष होता है और उक्त धर्म का आराधक पुरुष ग्राम, नगर एव राष्ट्र मे ही रहता है। यदि ग्राम, नगर और राष्ट्र

---

[1] इन्द्रियों के स्वभाव का नाम भी विषयाभिलाषा है। उसमें राग-द्वेष करने से कर्म बन्ध होता है, अन्यथा नहीं, इसलिए इसे एकान्त पाप नहीं कह सकते। इस सम्बन्ध में आचार्य भीषणजी ने भी अपनी इन्द्रियादि की ढाल में इस बात को स्वीकार करते हुए लिखा है—

"काम ने भोग शब्दादिक तेहथी रे, समता नहीं पावे जीव लिगार रे।
असमता पिण नहीं पामे छै एहथी रे, यां सूं मूल नहीं पावे जीव विकार रे॥
जो राग-द्वेष आणे त्यां ऊपरे रे, ते ही विकार विषय कषाय रे।"

मे ग्राम धर्म, नगर धर्म एव राष्ट्र धर्म का सम्यक्तया पालन होता है, तभी वे अपने श्रुत और चारित्र धर्म का सम्यक्तया आराधन एव परिपालन कर सकते है। परन्तु जहाँ उक्त धर्मों का पालन न होकर, चोरी, जारी, हिंसा, झूठ, आदि दुष्कर्मों का साम्राज्य फैना हुआ हो, वहाँ चारित्र-निष्ठ पुरुष श्रुत और चारित्र धर्म का आचरण नही कर सकता। अत श्रुत और चारित्र धर्म के परिपालन के लिए स्थानाग सूत्र में पाँच सहायक वताए है।

"धम्मं चरमाणस्स पंच णिस्सा ठाणा पण्णत्ता, तं जहा–छः काए, गणे, राया, गिहपती, सरीरं।"

—स्थानांग सूत्र ५, २, ४४७

"श्रुत और चारित्र धर्म के परिपालक पुरुष के पाँच सहायक होते हैं—१ छः काया, २ गण, ३ राजा, ४ गृहपति और ५ शरीर।"

यहाँ छ काय आदि के समान राजा को भी श्रुत और चारित्र धर्म के पालन मे सहायक माना है। यदि योग्य राजा–शास्ता न हो तो राष्ट्र मे शान्ति एवं सुव्यवस्था नही रह सकती और शान्ति एव सुव्यवस्था के अभाव में श्रुत और चारित्र धर्म का आराधन नहीं हो सकता। इसलिए आगम मे श्रुत और चारित्र धर्म की साधना मे राजा–शास्ता को भी सहायक माना है। राजा की तरह ही ग्राम धर्म, नगर धर्म और राष्ट्र धर्म भी ग्राम आदि की सुव्यवस्था वनाए रखते है, इसलिए ये धर्म भी श्रुत और चारित्र धर्म के पालन मे सहायक होते है। अत. ये लौकिक धर्म होने पर भी परपरा से मोक्ष-मार्ग मे सहायक होते है। इन्हे एकान्त पाप मे कहना अनुचित है।

पाषण्ड धर्म भी एकान्त पाप मे नही है, क्योकि पाषण्ड का अर्थ व्रत होता है और व्रत-धारियो के धर्म को पाषण्ड धर्म कहते है। इसलिए यह धर्म एकान्त पाप रूप नही है। पर-पाषण्डी के धर्म मे भी अनेक अच्छे गुण होते है, जिनके कारण पर-पाषण्डी भी स्वर्गगामी होते है। अत. पर-पाषण्डी धर्म को भी एकान्त पापमय नही कह सकते। इसी प्रकार कुल, गण और संघ धर्म भी एकान्त पाप रूप नही है। उक्त दसो धर्म अपने-अपने कार्य क्षेत्र मे अच्छे है, कोई भी वुरा नही है। अत इनमे से कुछ धर्मो को एकान्त पापमय वताना आगम से सर्वथा विपरीत है।

उक्त धर्म की व्यवस्था करनेवाले दस प्रकार के स्थविर व्यवस्थापक कहे हैं। वे सव अपने-अपने कार्य क्षेत्र मे अच्छे है, कोई भी एकान्त पापी नही है। अत. कुछ स्थविरों को एकान्त पापी कहना अनुचित है। स्थानाग सूत्र मे इन स्थविरो का स्वरूप इस प्रकार वताया है।

"दस थेरा पण्णत्ता, तं जहा–गामथेरा, नगरथेरा, रट्ठ थेरा, पसत्थार थेरा, कुल थेरा, गण थेरा, संघ थेरा, जाइथेरा, सुयथेरा, परियाय थेरा।"

—स्थानाग सूत्र १०, १, ७६१

"स्थापयन्ति दुर्व्यवस्थित जन सन्मार्गे स्थिरी कुर्वन्तीति स्थविराः तत्र ये ग्राम-नगर-राष्ट्रेषु व्यवस्थाकारिणो वुद्धिमन्त आदेया प्रभविष्णवस्ते तत् स्थविरा। प्रशासति शिक्षयन्ति ये ते प्रशास्तार धर्मोपदेशकास्ते च ते स्थिरिकरणात् स्थविराश्च प्रशास्तृ स्थविरा। ये कुलस्य, गणस्य, सघस्य च लौकिकस्य, लोकोत्तरस्य च व्यवस्थाकारिणस्तद्भंक्तुश्च निग्रहकास्ते। तथोच्यन्ते—

जाति स्थविराः षष्ठिवर्ष प्रमाण जन्मपर्य्यायाः। श्रुत स्थविराः समवायाद्यङ्ग धारिणः। पर्य्याय स्थविराः विंशतिवर्ष प्रव्रज्यावन्त इति।"

"कुमार्ग में गतिमान लोगों को जो सुमार्ग में स्थापित करते हैं, उन्हें स्थविर कहते हैं। जो ग्राम, नगर और राष्ट्र की व्यवस्था करने वाले बुद्धिमान, ग्राह्यवचन और प्रभावशाली हैं, वे क्रमशः ग्राम स्थविर, नगर स्थविर और राष्ट्र स्थविर कहलाते हैं। जो धर्मोपदेश देकर जनता को धर्म में स्थिर करते हैं, वे 'प्रशास्तृ स्थविर' कहलाते हैं। जो लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार के कुल, गण और संघ की व्यवस्था करते हैं और उस व्यवस्था को तोड़नेवाले व्यक्ति को उपयुक्त साधनों से रोकते हैं, उन्हें क्रमशः कुल स्थविर, गण स्थविर एवं संघ स्थविर कहते हैं। वे दो प्रकार के होते हैं—लौकिक और लोकोत्तर। जिसकी अवस्था साठ वर्ष की हो गई है, वे जाति स्थविर कहलाते हैं। जो समवाय आदि अंग-सूत्रों के धारक हैं, उन्हें श्रुत स्थविर और जिनकी प्रव्रज्या बीस वर्ष की है, उनको पर्याय स्थविर कहते हैं।"

प्रस्तुत पाठ और उसकी टीका मे ग्राम धर्म आदि दस प्रकार के धर्म की व्यवस्था करनेवाले दस स्थविरो का वर्णन किया गया है। ये दसो स्थविर जनता को कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग की ओर प्रवृत्त करते है, इसलिए ये सब अपने-अपने कार्य क्षेत्र मे अच्छे हैं। कोई भी एकान्त पापी नही है। जिस ग्राम, नगर या राष्ट्र मे स्थविर नही होते, तो वहाँ की व्यवस्था सुव्यवस्थित नही रह पाती और सुव्यवस्था के अभाव मे वहाँ की जनता भी सन्मार्ग में गतिशील नही हो सकती। परन्तु ये स्थविर ग्राम धर्म, नगर धर्म, एव राष्ट्र धर्म आदि का निर्माण करके ग्राम, नगर एव राष्ट्र मे चोरी, जारी, हिंसा, झूठ आदि दुष्प्रवृत्तियो को रोककर, लोगों को सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करते हैं। अत. दुष्कर्मो को रोकने वाले इन स्थविरो को एकान्त पाप करने वाला कहना सर्वथा अनुचित है।

यदि यह कहे कि "ये स्थविर मोक्ष-मार्ग मे सहायक नही है। क्योकि लोकोत्तर स्थविर को छोड़कर शेष सब स्थविर सासारिक कार्यो की व्यवस्था करते है और सभी सासारिक कार्य बुरे होते हैं। इसलिए उनके स्थविर भी एकान्त पाप करने वाले है।" परन्तु यह कथन सत्य नही है। क्योकि लौकिक स्थविर जनता की दुष्प्रवृत्ति को रोककर, उसे सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करते है और ग्राम,नगर एव राष्ट्र मे शान्ति एव सुव्यवस्था स्थापित कर के श्रुत और चारित्र धर्म के पालन मे सहायक बनते है।

पूर्वोक्त दस धर्म एवं दस स्थविर अपने-अपने कार्य क्षेत्र मे सब अच्छे हैं, कोई भी बुरा नही है। इसी तरह दस प्रकार के दानो में भी अधर्म-दान को छोडकर शेष अनुकम्पा आदि नव दान एकान्त पापमय नही है। किन्तु अनुकम्पा-दान का फल अनुकम्पा,सग्रह-दान का फल दीन दुःखी को सहायता देना एव भय दान आदि दानो का उन के नामो के अनुरूप फल है। अत अधर्म दान के अतिरिक्त शेष नव दान एकान्त पाप मे नही है।

नव प्रकार का पुण्य

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ७८ पर स्थानाग सूत्र, स्थान नव के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अनेरा ने दीधा अनेरी प्रकृति नो वध कह्यो छै। ते साधु थी अनेरो तो कुपात्र छै। तेहने दीधा अनेरी प्रकृति नो बध, ते अनेरी प्रकृति पाप नी छै।" इनके कहने का अभिप्राय यह है कि स्थानाग सूत्र मे कथित नव प्रकार का पुण्य साधु को देने से ही होता है, अन्य को देने से नही। दूसरे को देने से एकान्त पाप होता है, क्योकि साधु से इतर सब कुपात्र है।

स्थानाग का उक्त पाठ लिखकर समाधान कर रहे हैं—

"नव-विहे पुण्णे पण्णत्ते तं जहा—अन्नपुण्णे, पाणपुण्णे, लेणपुण्णे, सयणपुण्णे, वत्थपुण्णे, मनपुण्णे, वयपुण्णे, कायपुण्णे, नमोक्कारपुण्णे।"

—स्थानांग सूत्र ९, ६७६

"पुण्य नव प्रकार का होता है—अन्न का दान देना, पानी का दान देना, घर-मकान का दान देना, शय्या-संथारा का दान देना, वस्त्र का दान देना, गुण-निष्ठ पुरुष को देखकर मन में प्रसन्न होना, वचन से गुणवान की प्रशंसा करना, काया से गुण-सम्पन्न व्यक्ति की विनय-भक्ति, सेवा-शुश्रूषा करना और गुण-सम्पन्न व्यक्ति को नमस्कार करना।"

प्रस्तुत पाठ मे किसी व्यक्ति विशेष का नाम निर्देश नही करके साधारण रूप से अन्न, जल आदि का दान देने से पुण्य बन्ध होना कहा है। अत. दीन-हीन जीवो पर दया करके दान देने मे एकान्त पाप कहना भारी भूल है। कुछ लोग कहते है—"यदि साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने से पुण्य होता है,तो साधु से भिन्न व्यक्ति को नमस्कार करने एव उसकी प्रशसा करने से भी पुण्य होना चाहिए। परन्तु उसे नमस्कार करने एव उसकी प्रशसा करने से पुण्य नही होता। इसी प्रकार साधु से इतर को दान देने से भी पुण्य नही होता है।" परन्तु उनकी यह स्व-कल्पित कपोल कल्पना यथार्थ नही है। क्योकि साधु से भिन्न व्यक्ति को वन्दन करने एव उसकी प्रशसा करने से पुण्य भी होता है। परन्तु वह वन्दनीय एवं प्रशसनीय पुरुष गुण-सम्पन्न होना चाहिए। टीकाकार ने भी इस विषय मे यही लिखा है—

"मनसा गुणिषु तोषाद्वाचा प्रशंसनात्कायेन पर्य्युपासनान्नमस्काराच्च यत् पुण्यन्तन्मन: पुण्यादीनि ।"

"गुणवान पुरुषों को देखकर मन में प्रसन्नता लाने, वचन से उनकी प्रशंसा करने और शरीर से उनकी सेवा-शुश्रूषा करने तथा उनको नमस्कार करने से जो पुण्य होता है, उसे क्रमश: मन-पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य और नमस्कार पुण्य कहते हैं ।"

यहाँ टीकाकार ने गुणवान को देखकर मन मे प्रसन्नता लाने, उसकी प्रशसा आदि करने से पुण्य होना कहा है, केवल साधु को ही नमस्कार आदि करने से नही। अत: साधु से भिन्न सब व्यक्तियो को वन्दन-नमस्कार आदि करने से एकान्त पाप कहना सर्वथा मिथ्या है। जैसे साधु से भिन्न गुणवान पुरुप को वन्दन-नमस्कार करने एव उसकी सेवा-शुश्रूपा आदि करने से पुण्य वन्ध होता है, उसी तरह साधु से भिन्न दीन-हीन जीवो पर अनुकम्पा करके दान देने से भी पुण्य होता है।

यदि यह कहे कि "उक्त टीका मे जो 'गुणिपु' शब्द आया है, उसका अर्थ साधु है, क्योकि साधु ही गुणवान होते है। इसलिए उक्त टीका मे साधु को ही वन्दन-नमस्कार एवं सेवा-शुश्रूपा आदि करने से पुण्य वन्ध होना कहा है, अन्य को वन्दन-नमस्कार आदि करने से नही।" परन्तु ऐसा कहने वालो को यह सोचना चाहिए कि यदि टीकाकार को यही इष्ट होता तो वह 'गुणिपु' के स्थान पर 'साधुपु' का उल्लेख करते। परन्तु टीकाकार ने 'साधुपु' शब्द का प्रयोग न करके 'गुणिपु' शब्द का प्रयोग किया है, इससे यह सिद्ध होता है कि सभी गुण-निष्ठ पुरुपो को ग्रहण करने का उनका अभिप्राय है, केवल साधु को ही नही। अत यह कथन भी सत्य नही है कि केवल साधु ही गुणवान होते हैं। साधु के अतिरिक्त अन्य पुरुपो को भी गुणवान कहा है। स्थानाग सूत्र मे सघ शब्द की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

"सघ गुणरत्न-पात्रभूत-सत्व समूह ।"

"गुण रूपी रत्नों के पात्र भूत जीवों के समूह का नाम संघ है ।"

उस सघ में केवल साधु ही नही, श्रावक-श्राविका भी होते है। इसलिए साधु से भिन्न भी गुणवान होते है। उन सभी गुणवान पुरुपो का ग्रहण करने के लिए उक्त टीका मे 'गुणिपु' शब्द का प्रयोग किया है। अत इस टीका मे प्रयुक्त 'गुणिपु' शब्द का साधु अर्थ वताना मिथ्या है।

साधु से भिन्न व्यक्ति की प्रशसा करने से स्थानाग सूत्र मे पुण्य होना कहा है।

"पचहि ठाणेहि जीवा सुलभ-वोहियताए कम्म पकरेति, त जहा—अरिहताणं वन्नं वदमाणे जाव विविक्क तव बभचेराण वन्न देवाण वदमाणे।"

—स्थानाग सूत्र ५, २, ४२६

"जीव पाच कारणों से सुलभबोधी कर्म बाधते हैं—१ अरिहंतो की प्रशंसा करने से, २ अरिहंत भाषित धर्म की प्रशसा करने से, ३ आचार्य और उपाध्याय की प्रशसा करने से, ४ साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओ के समूह को प्रशसा करने से तथा ५ उत्तम श्रेणी का ब्रह्मचर्य धारण करनेवाले देवताओ की प्रशंसा करने से ।"

प्रस्तुत पाठ मे उत्तम श्रेणी का ब्रह्मचर्य धारण करने वाले देवो की प्रशसा करने से सुलभ-बोधी कर्म बन्ध होना कहा है । अत. साधु से इतर की प्रशसा करने मे एकान्त पाप कहना मिथ्या है । जिस प्रकार साधु से भिन्न परिपक्व ब्रह्मचर्य वाले देवता की प्रशसा करने से पुण्य वन्ध होता है, उसी तरह साधु से भिन्न गुण-सम्पन्न पुरुष को वन्दन-नमस्कार करने एव उसकी सेवा-शुश्रूषा करने और दीन-दु.खी जीवो को अनुकम्पा दान देने से पुण्य वन्ध होता है । यदि साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने से पुण्य वन्ध नही होता है, तो फिर साधु से भिन्न परिपक्व ब्रह्मचर्य वाले देवता की प्रशसा करने से भी पुण्य का वन्ध नही होना चाहिए । परन्तु इनसे पुण्य वन्ध होता है । अत. साधु से भिन्न व्यक्ति को दान-सम्मान, वन्दन-नमस्कार आदि करने मे एकान्त पाप कहना मिथ्या है ।

छोटे साधु बडे साधु को, छोटे श्रावक बडे श्रावक को, छोटा भाई वडे भाई को, पुत्र अपने माता-पिता आदि गुरुजनो को जो वन्दन-नमस्कार करता है, उससे पुण्य का वन्ध होता है, पाप का नही । कुछ लोग कहते है—"यदि दीन-हीन जीवो को अनुकम्पा दान देने से पुण्य होता है, तो उनको नमस्कार करने से भी पुण्य होना चाहिए ।" परन्तु उनका यह तर्क युक्ति सगत नही है । अनुकम्पा दान छोटे-वड़े सब प्राणियो को दिया जाता है, परन्तु वन्दन-नमस्कार सवको नही किया जाता, अपने से श्रेष्ठ को ही किया जाता है । दीन-हीन प्राणी अनुकम्पा करने के पात्र है, परन्तु श्रेष्ठ एव गुण-सम्पन्न नही होने के कारण वन्दन-नमस्कार करने के पात्र नही है । इसलिए उन्हे अनुकम्पा दान देने से पुण्य होता है, वन्दन-नमस्कार करने से नही । इस प्रकार विपय के स्पप्ट होने पर भी असत्य कल्पना कर के अनुकम्पा दान देने एव साधु से इतर माता-पिता एव श्रेष्ठ श्रावक आदि को वन्दन-नमस्कार करने मे एकान्त पाप कहना भारी भूल है ।

अनुकम्पा दान के विरोधी व्यक्ति कहते है—"यदि साधु से इतर को दान देने से पुण्य होता है, तो कसाई को वकरा मारने के लिए, चोर को चोरी करने के लिए, वेश्या को वेश्यावृत्ति करने के लिए दान देने से भी पुण्य होना चाहिए ।" परन्तु उनका यह कथन तर्क सगत नहीं है । क्योकि चोर, जार, हिंसक एव वेश्या को उक्त दुष्कर्म सेवन करने के लिए दिया जानेवाला दान अधर्म दान है । दाता इस दान को एकान्त पाप भाव से देता है । अत. इसमे पुण्य नही, एकान्त पाप ही होता है । परन्तु जो दान दीन-हीन जीवो पर दया करके पुण्यार्थ दिया जाता है, उसी से पुण्य होता है । स्थानाग सूत्र के नवमे स्थान मे उसी दान का उल्लेख किया है । अत चोरी, हिंसा एव व्यभिचार सेवन के हेतु चोर, हिंसक और वेश्या को दिए जाने वाले दान के समान अनुकम्पा दान को एकान्त पापमय वताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है ।

"पण्डितों को आदि शब्द के चार अर्थ जानने चाहिए—१ सामीप्य, २ व्यवस्था, ३ प्रकार-सादृश्य और ४ अवयव ।"

प्रस्तुत पद्य के अनुसार भ्रमविध्वंसनकार द्वारा उल्लिखित टब्बा अर्थ का तात्पर्य यह है कि पात्र को दान देने से तीर्थंकर नाम सदृश उच्च पुण्य प्रकृति का बन्ध होता है। दूसरे को दान देने से दूसरी पुण्य प्रकृति का बध होता है। इसका यह बिल्कुल अभिप्राय नही है कि पात्र—साधु को दान देने से सब पुण्य प्रकृतियें बन्धे और साधु से भिन्न व्यक्ति को देने से एकान्त पाप का बन्ध हो। अस्तु उक्त टब्बा अर्थ के आश्रय से साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने से एकान्त पाप कहना आगम सम्मत नही है।

स्थानाग सूत्र का 'नवविहे पुण्णे पण्णत्ते' पाठ, पुण्य का वर्णन करने के लिए आया है, न कि पाप का। अत. प्रस्तुत पाठ मे पाप का वर्णन बताना अनुचित है। जब प्रस्तुत पाठ मे पुण्य का प्रकरण चल रहा है, तब इस का अर्थ करते हुए टब्बाकार साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने से पाप होना कैसे लिख सकते है? बुद्धिमान पुरुषो को यह स्वय सोच लेना चाहिए।

पुण्य की सीमा

भ्रमविध्वंसनकार पृष्ठ ७९ पर लिखते हैं—

"अने भगवन्ता तो साधु ने कल्पे ते हिज द्रव्य कह्या छै। अनेरा ने दिया पुण्य हुवे तो गाय-भैंस पुण्णे, रुपौ पुण्णे, खेती पुण्णे, डोली पुण्णे, इत्यादि बोल आणता तेतो आण्या नही।"

भ्रमविध्वंसनकार की यह कल्पना अनुचित है। यदि स्थानाग के इस पाठ मे साधु के कल्पने योग्य वस्तुओ का ही कथन है, तो फिर 'सुई पुण्णे, कतरणी पुण्णे, भस्म पुण्णे' आदि पाठ भी होने चाहिए। क्योकि साधु को सुई, कैंची, अचित मिट्टी के ढेले, भस्म आदि भी लेना कल्पता है और इनका दान करने से भी दाता को पुण्य ही होता है, पाप नही। तथापि इन सब वस्तुओ का इस पाठ में उल्लेख क्यो नही किया? इससे यह स्पष्ट होता है कि यह पाठ केवल साधु के लिए ही नही, सभी प्राणियो के लिए आया है। पुण्य के निमित्त दूसरे प्राणी को दान देने से भी पुण्य होता है, एकान्त पाप नही। अत. केवल साधु को देने से पुण्य मानकर साधु से इतर को दान देने मे एकान्त पाप कहना भारी भूल है।

इस पाठ मे जो नव प्रकार से पुण्य होना कहा है, उसका यह अर्थ नही है कि इससे भिन्न वस्तु देने पर पुण्य नही होता। क्योकि साधु को पडिहारी सूई, कैंची आदि देने से आपकी श्रद्धा के अनुसार भी पुण्य ही है। परन्तु उक्त पाठ मे उनके देने से पुण्य नही कहा, फिर भी उनके दान से पुण्य ही होता है। उक्त पाठ मे पुण्य के मुख्य कारणो का ही कथन है, गौण रूप पुण्य का नही। अत. अन्नादि से भिन्न वस्तुओ का दान धर्मानुकूल हो, तो एकान्त पाप मे नही है। जैसे उक्त पाठ मे नही लिखी हुई सूई, कैंची, भस्मी, अचित मिट्टी के ढेले, औषध आदि वस्तुएँ साधु को देने से पाप नही होता, उसी तरह साधु से इतर व्यक्ति को यदि धर्मानुकूल वस्तुएँ पुण्यार्थ दी जाएं, तो उससे भी एकान्त पाप नही होता। अत 'अनेरा ने दिया पुण्य हुवे तो गाय पुण्णे' आदि भ्रमविध्वसनकार का तर्क अनुपयुक्त एव अनुचित समझना चाहिए।

साधु से भिन्न, सब कुपात्र नहीं हैं

भ्रमविध्वंसनकार साधु से इतर सभी को कुपात्र मानते हैं। माता-पिता, ज्येष्ठ-बन्धु आदि गुरुजन भी इनके मत मे कुपात्र है। उनको यदि धर्मानुकूल कोई वस्तु दी जाए, तो भ्रम-विध्वसनकार उसे कुपात्र दान कहकर एकान्त पाप कहते है। इनका यह सिद्धान्त है कि जैसे वेश्या, हिंसक, चोर आदि को व्यभिचार, हिंसा, चोरी के लिए दिए गए दान मे एकान्त पाप है, उसी तरह साधु से इतर को दान देने मे भी एकान्त पाप है। भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ७९ पर लिखा है— "साधु थी अनेरो ते कुपात्र छै। तेहने दीधां अनेरी प्रकृति नो बन्ध ते अनेरी प्रकृति पापनी छै।" साधु से इतर सभी कुपात्र है, उनको दान देना कुपात्र दान है। आचार्य जीतमलजी के सिद्धान्तानुसार कुपात्रदान का फल बताते हुए सशोधक महाशय ने भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८२ की टिप्पणी में लिखा है—'कुपात्रदान, मासादि सेवन, व्यसन-कुशीलादिक, ये तीनो ही एक मार्ग के ही पथिक है। जैसे चोर, जार, ठग ये तीनों समान व्यवसायी हैं, वैसे ही जयाचार्य सिद्धान्तानुसार कुपात्र दान भी मास आदि सेवन एव व्यसन-कुशीलादिक की ही श्रेणी मे गिनने योग्य है।'

आगम मे कही भी साधु से इतर सभी को कुपात्र नही कहा है। अत. साधु से भिन्न सब को कुपात्र कहना आगम विरुद्ध है। श्रावक साधु से भिन्न है, फिर भी भगवती सूत्र में उसे गुण-रत्न का पात्र कहा है और तीर्थ मे गिना है।

"तित्थं पुण चाउवण्णाइण्णे समण संघे, तं जहा—समणा-समणीओ, सावया—सावियाओ।"

—भगवती सूत्र २०, ८

प्रस्तुत पाठ मे साधु-साध्वी की तरह श्रावक-श्राविका को भी तीर्थ कहा है। तीर्थ नाम सुपात्र का है, कुपात्र का नही। मेदिनीकोप मे तीर्थ का अर्थ पात्र बतलाया है—

"तीर्थं शास्त्राध्वर क्षेत्रो पाय नारी रजः सुच।
अवतारर्षि जुष्टाम्बु पात्रोपाध्याय मंत्रिषु॥"

इससे श्रावक पात्र सिद्ध होता है, अपात्र नही। स्थानाग सूत्र के चौथे स्थान में उल्लिखित संघ का अर्थ करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

"सघ. गुण-रत्नपात्रभूत-सत्व समूहः।"

"गुण रूप रत्न के पात्र-भूत प्राणियों के समूह का नाम संघ है।"

सघ मे साधु-साध्वी के समान श्रावक-श्राविका भी लिए गए है। इसलिए वे भी गुण रूप रत्न के पात्र होने के कारण सुपात्र ही ठहरते है, कुपात्र नही। अत. साधु से भिन्न सव को कुपात्र कहना नितान्त असत्य है।

जव साधु से भिन्न सभी कुपात्र नही है, तव उन्हे दान देने से एकान्त पाप कैसे होगा ? वस्तुत. साधु विशिष्ट पात्र हैं, अतः उनको दान देने से विशिष्ट पुण्य का वन्ध होता है और दूसरे लोग साधु की अपेक्षा सामान्य पात्र है, अत उन्हे दान देने से सामान्य पुण्य बन्ध होता है। परन्तु साधु से भिन्न व्यक्ति को धर्मानुकूल वस्तु का दान देने से एकान्त पाप हो, यह आगम विरुद्ध है।

एक कामी व्यक्ति वासना की पूर्ति के लिए वेश्या को दान देता है और दूसरा विनीत पुत्र माता-पिता की सेवा के लिए दान देता है। भ्रमविध्वसनकार के मत से दोनो कुपात्र को दान देते हैं, अत दोनो एक समान एकान्त पाप का कार्य करते है। यह भ्रमविध्वसनकार की स्व-कपोल कल्पना मात्र है, परन्तु आगम मे ऐसा नही कहा है। उववाई सूत्र मे माता-पिता की सेवा करने वाले पुत्र को स्वर्ग में जाना कहा है। यदि माता-पिता को दान देना उनकी सेवा-भक्ति करना कुपात्र-दान एव व्यसन-कुशीलादि की तरह एकान्त पापमय होता, तो आगमकार माता-पिता की सेवा करने वाले पुत्र का स्वर्ग मे जाना कैसे कहते ? क्योकि स्वर्ग की प्राप्ति पुण्य से होती है, पाप से नही। अत साधु से भिन्न सव को कुपात्र कहना अनुचित है।

प्रदेशी राजा ने वारह व्रत स्वीकार करने के पश्चात् दानशाला खोलकर बहुत से दीन-दुःखी प्राणियो को अनुकम्पा दान दिया था, परन्तु आगमकार ने उनके दान की निन्दा नही की है। यदि साधु से इतर को दान देना मासाहार और व्यसन-कुशीलादि की तरह एकान्त पाप का कार्य होता, तो आगमकार प्रदेशी राजा के दान की अवश्य ही निन्दा करते और राजा भी वारह व्रत धारण करके एकान्त पाप का एक नवीन कार्य क्यो आरम्भ करता ? उसने पहले दानशाला नही वनाई थी, अव वह ऐसा निन्दनीय कार्य क्यो करता ? परन्तु उसने केशी श्रमण के सामने ही दानशाला का कार्य चालू करने की घोषणा की थी। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु से भिन्न सभी जीव न तो कुपात्र है और न उन्हे दान देना एकान्त पाप कार्य है। दीन-हीन एव दुःखी प्राणी भी अनुकम्पा दान के पात्र है। अत उन जीवो पर दया लाकर दान देना एकान्त पाप का नही, पुण्य का कार्य है। इसलिए साधु से भिन्न सभी व्यक्तियो को दान देने मे एकान्त पाप की प्ररूपणा करना भारी भूल है।

क्षेत्र-अक्षेत्र

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ८० पर स्थानाग सूत्र स्थान चार के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ इहा पिण कुपात्र दान कुक्षेत्र कह्या कुपात्र रूप कुक्षेत्र मे पुण्य रूप बीज किम उगे ।"
इनके कहने का अभिप्राय यह है कि साधु से भिन्न सभी कुपात्र है और कुपात्र को इस पाठ मे कुक्षेत्र कहा है। अत जैसे कुक्षेत्र मे गेहूँ, चने आदि के बीज नही उगते, उसी तरह साधु से भिन्न पुरुष को दिया हुआ दान भी पुण्य रूप अंकुर को उत्पन्न नही करता।

स्थानाग सूत्र का उक्त पाठ लिखकर समाधान कर रहे है—

"चत्तारि मेहा पण्णत्ता, तं जहा—खेत्तवासी णाममेगे णो अखेत्तवासी, एवमेव चत्तारि पुरुसजाया पण्णत्ता, तं जहा—खेत्तवासी णाममेगे णो अखेत्तवासी।"

—स्थानांग सूत्र ४, ४, ३४६

"मेघ चार प्रकार के होते हैं—१ वह मेघ, जो क्षेत्र में बरसता है, अक्षेत्र में नहीं, २ वह मेघ, जो अक्षेत्र में बरसता है, क्षेत्र में नहीं, ३ वह मेघ, जो क्षेत्र-अक्षेत्र दोनों में बरसता है और ४ वह मेघ, जो क्षेत्र-अक्षेत्र किसी में नहीं बरसता। इसी तरह पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं—१ वह पुरुष, जो पात्र को दान देता है, अपात्र को नहीं, २ वह पुरुष, जो अपात्र को दान देता है, पात्र को नहीं, ३ वह पुरुष, जो पात्र-अपात्र दोनों को दान देता है और ४ वह पुरुष, जो पात्र-अपात्र किसी को भी दान नहीं देता।"

प्रस्तुत पाठ में प्रयुक्त क्षेत्र शब्द का टीकाकार ने यह अर्थ किया है—

"क्षेत्रं धान्याद्युत्पत्ति स्थानम्।"

"जिस पृथ्वी में बोये हुए गेहूँ, चने आदि के बीज अंकुरित-फलित होते हो, उसे क्षेत्र और उससे भिन्न को अक्षेत्र समझना चाहिए।"

मेघ पक्ष मे क्षेत्र-अक्षेत्र से पृथ्वी विशेष का ग्रहण होता है और पुरुष पक्ष मे दान देने योग्य जीव क्षेत्र है और दान नही देने योग्य जीव अक्षेत्र।

उक्त मूल पाठ एव उसकी टीका में सामान्य रूप से क्षेत्र-अक्षेत्र का वर्णन किया है, परन्तु उसमे यह नही बताया कि एक मात्र साधु ही क्षेत्र है और उनसे भिन्न सभी अक्षेत्र है। अतः उक्त पाठ का आश्रय लेकर साधु से भिन्न सभी जीवो को अक्षेत्र या कुक्षेत्र कहकर उनको दान देने मे एकान्त पाप कहना आगम विरुद्ध है।

आगम में साधु को दान देने से निर्जरा और दीन-हीन जीवो को अनुकम्पा दान देने से पुण्य-बन्ध कहा है। अत. साधु मुख्य रूप से मोक्षार्थ दान के क्षेत्र है और दीन-हीन प्राणी अनुकम्पा-दान के क्षेत्र है। और साधु से भिन्न पुरुप मुख्य रूप से मोक्षार्थ दान के और दीन-हीन एव दु.खी जीवो के अतिरिक्त पुरुप अनुकम्पा दान के प्रायः अक्षेत्र हैं, अत. जो व्यक्ति दीन-हीन जीवो को अनुकम्पा दान देता है, वह अक्षेत्र वर्षी नही, क्षेत्र वर्षी है। क्योकि दीन-दुखी प्राणी अनुकम्पा दान के क्षेत्र है, अतः उन्हे अनुकम्पा दान देनेवाला पुरुप उक्त चतुर्भंगी मे वर्णित प्रथम भग का स्वामी है—क्षेत्र वर्षी है। जो पुरुप न तो दीन-दुखी को अनुकम्पा दान देता है और न पचमहाव्रती साधु को मोक्षार्थ दान देता है, परन्तु जिस को दान देने की आवश्यकता नही है या जिसको दान देने से उस दान के द्वारा हिंसादि महारंभ का कार्य किया जाता है, उन व्यक्तियो को उनके द्वारा किये जानेवाले दुष्कर्मो के लिए जो दान देता है, वह पुरुष दूसरे भग का स्वामी अक्षेत्र वर्षी है। जिस पुरुप को यह बोध नही है कि अमुक पुरुष को दान देना योग्य है और अमुक को अयोग्य, किन्तु पात्र-अपात्र सवको दान देता है या जो विशाल, उदार भाव के कारण या प्रवचन की प्रभावना के लिए सव को दान देता है, वह पुरुष तृतीय भग का स्वामी—उभय वर्षी है। जो क्षेत्र-अक्षेत्र किसी को भी कुछ नही देता, वह परम कृपण अनुभय वर्षी है।

इस चतुर्भंगी के तृतीय भग का स्वामी, जो तीन प्रकार का कहा गया है, उसमे पहला पुरुप जो विवेक विकल है, यद्यपि उसका दान पूर्ण फलप्रद नही है, तथापि सर्वथा निष्फल भी नही है। क्योकि अपात्र के साथ-साथ वह पात्र को भी देता है। दूसरा व्यक्ति जो विशाल, उदार भाव से सब को दान देता है, वह भी उदारता व रूप गुण की अपेक्षा से प्रशसनीय है। और तीसरा व्यक्ति जो प्रवचन की प्रभावना के लिए सवको दान देता है, वह पुरुष प्रवचन प्रभावना रूप महान् पुण्य का उपार्जन करता है। ज्ञाता सूत्र मे प्रवचन प्रभावना से तीर्थंकर नाम गोत्र का वन्ध कहा है—

"इमेहि य णं वीसाएहि य कारणेहिं आसेविय बहुली कएहि तित्थयर नाम गोयं कम्मं निवत्तिसु तं जहा—

"अरिहंत सिद्ध पवयण गुरु थेर बहुस्सुए तवस्सिसु।
वच्छल्लया य तेसि अभीक्ख णाणोवओगे य।
दंसण विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारं।
खणलव-तव च्चियाए वेयावच्चे समाही य॥
अप्पुव्वणाण-गहणे सुयभत्ती पवयण-पभावणया।
एए हि कारणेहिं तित्थयर तं लहइ जीवो॥"

—ज्ञाता सूत्र ८, ६४

प्रस्तुत पाठ मे प्रवचन प्रभावना से तीर्थंकर नाम कर्म का वन्ध होना कहा है। इसलिए जो प्रवचन प्रभावना के लिए सव को दान देता है, वह उत्तम पुण्य का उपार्जन करता है, एकान्त पाप का नही। अत. साधु से भिन्न सवको दान देने से एकान्त पाप कहना उचित नही है। प्रवचन प्रभावना के लिए साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने वाला पुरुष आगमानुसार पुण्य का कार्य करता है। परन्तु भ्रमविध्वसनकार उसे एकान्त पापी कहते है। अत उनकी यह आगम विरुद्ध प्ररूपणा सर्वथा त्यागने योग्य है।

यदि कोई यह कहे, "प्रवचन की प्रभावना के लिए सव को दान देने से पुण्य होता है, तो सव जीव दान देने योग्य क्षेत्र सिद्ध होते है, कोई भी अक्षेत्र या कुक्षेत्र नही रहता। ऐसी स्थिति में स्थानांग सूत्र के चतुर्थ स्थान मे क्षेत्र-अक्षेत्र को लेकर चतुर्भंगी क्यो लिखी?" इसका समाधान यह है कि यहाँ प्रवचन प्रभावना रूप पुण्य की अपेक्षा से क्षेत्र-अक्षेत्र का विचार नही रखा है। क्योकि प्रवचन प्रभावना के निमित्त दिए जानेवाले दान के सभी क्षेत्र है, कोई भी अक्षेत्र नही है। वेश्या, चोर, जार आदि को उनका दुष्कर्म छुडाकर सन्मार्ग मे प्रवृत्त करने के लिए दान देना भी प्रवचन प्रभावना है। अत. जो व्यक्ति जिस दान के योग्य नही है, वह यहाँ उस दान का अक्षेत्र समझा जाता है। जैसे साधु से भिन्न जीव मुख्य रूप से मोक्षार्थ दान के अक्षेत्र हैं और दीन-दुखी से भिन्न प्राणी अनुकम्पा दान के अक्षेत्र है। इस प्रकार क्षेत्र-अक्षेत्र का विभाग समझना चाहिए। यह नही कि साधु से भिन्न सव जीव अक्षेत्र या कुक्षेत्र है। अत. साधु से भिन्न सबको अक्षेत्र वता कर उनको दान देने मे एकान्तपाप वताना भारी भूल है।

शकडाल-पुत्र

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ८१ पर लिखते है—"अठ अठे पिण गोशाला ने पीठ-फलक, शय्या-संथारा शकडाल पुत्र दिया। तिहा धर्म-तप नही इम कह्यूं। तो गोशाला तो तीर्थंकर वाजतो थो, तिण ने दिया ही धर्म-तप नही, तो असयति ने दिया धर्म-तप केम कहिये। पुण्य पिण न श्रद्धवो। पुण्य तो धर्म लारे वंधे छै। ते निर्जरा विना पुण्य निपजे नही। ते माटे असयति ने दिया धर्म-पुण्य नही।"

भ्रमविध्वसनकार के मत मे पच महाव्रतधारी साधु के अतिरिक्त संसार के सव जीव कुपात्र हैं। उनको दान देने या किसी भी तरह से उनकी सहायता करने के कार्य को ये मास-भोजन, व्यसन-कुशीलादि की तरह एकान्त पाप का कार्य मानते है। यदि इनकी यह मान्यता आगम के अनुरूप होती और शकडालपुत्र श्रावक भी इसे मानता, तो वह गोशालक जैसे असंयति को शय्या-सथारा देकर मास-भोजनादि की तरह एकान्त पाप का कार्य क्यो करता? क्योकि ऐसा नही करने से उसका कोई कार्य विगड नही रहा था। वह भी आनन्द श्रावक की तरह अभिग्रह-निष्ठ वारह व्रतधारी श्रावक था। यदि अन्य तीर्थी को दान देने से श्रावक का अभिग्रह नष्ट होता है और उसको मांस-भोजन आदि की तरह एकान्त पाप होता है, तो शकडालपुत्र का अभिग्रह अवश्य ही नष्ट हो जाना चाहिए और उसे एकान्त पाप होना चाहिए। परन्तु आगम मे गोशालक को दान देने से न तो शकडाल-पुत्र के अभिग्रह के टूटने का उल्लेख है और न एकान्त पाप का। अत अन्य तीर्थी को दान देने से अभिग्रह भंग होने तथा एकान्त पाप होने की प्ररूपणा करना मिथ्या है। श्रावक अन्य तीर्थी को गुरु-बुद्धि से मोक्षार्थ दान नही देने का अभिग्रह

लेता है, परन्तु अनुकम्पा दान देने तथा प्रवचन प्रभावना के लिए दान देने का अभिग्रह नही लेता। अत. शकडालपुत्र ने गोशालक को जो शय्या-सथारा दिया था, उसे आगमकार ने एकान्त पाप का कार्य नही कहा है। किन्तु इस दान से धर्म और तप न होने का मूल पाठ मे वर्णन है, एकान्त पाप होने का या पुण्य नही होने का उल्लेख नही है।

"तएणं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी जम्हा णं देवाणुपिया! तुब्भे मम धम्मायरियस्स जाव महावीरस्स सन्तेहिं तच्चेहिं तहिएहिं सब्भूएहिं भावेहिं गुण कित्तणं करेह तम्हा णं अहं तुब्भे पडिहारिए णं पीठ जाव संथारए णं उव निमंत्तेमि णो चेव णं धम्मोति वा तवोति वा।"

—उपासकदशाग, अध्ययन ७

"शकडाल पुत्र श्रावक ने मंखलिपुत्र गोशालक से यह कहा कि देवानुप्रिय, तुमने मेरे धर्माचार्य यावत् महावीर स्वामी के विद्यमान और सत्य गुणों का कीर्तन किया है। इसलिए मैं तुम्हारे को पीठ-फलक, शय्या-संथारा आदि देने के लिए निमंत्रित करता हूँ, परन्तु इसे धर्म या तप समझकर नहीं।"

प्रस्तुत पाठ मे शकडाल पुत्र श्रावक गोशालक को शय्या-सथारा देने से धर्म और तप होने का निषेध करता है, पुण्य होने का नही। वह इस दान से एकान्त पाप होना भी नही बतलाता। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने से 'एकान्त पाप' होता, तो इस पाठ मे गोशालक को दान देने से शकडाल पुत्र को एकान्त पाप होना बतलाते, सिर्फ धर्म और तप का ही निषेध नही करते।

शकडाल पुत्र के इस उदाहरण से प्रवचन प्रभावना के लिए साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देना भी श्रावक का कर्त्तव्य सिद्ध होता है। शकडाल पुत्र ने भगवान महावीर के गुणानुवाद करने के कारण गोशालक को शय्या-सथारा देकर प्रवचन की प्रभावना की थी। प्रवचन प्रभावना को तीर्थंकर गोत्र बन्ध का कारण कहा है। इसलिए शकडाल पुत्र ने गोशालक को दान देने से पुण्य का निषेध नही किया।

कुछ लोग यह कहते हैं, "पुण्य का बन्ध निर्जरा के साथ ही होता है, इसलिए गोशालक को दान देने से शकडाल पुत्र को पुण्य भी नही हुआ।" उनका यह कथन नितान्त असत्य है। आगम मे ऐसा कही उल्लेख नही है कि निर्जरा के साथ ही पुण्य बन्ध होता है। अत. प्रवचन की प्रभावना के लिए दान देने से पुण्य का होना नही मानना आगम विरुद्ध है। शकडाल पुत्र का नाम लेकर साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने मे मासाहार, व्यसन-कुशील आदि की तरह एकान्त पाप बताना नितान्त असत्य है।

अनुकम्पा दान, कुकर्म नहीं

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ८२ पर विपाक सूत्र के आधार से साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने मे एकान्त पाप बतलाते हुए लिखते है—

"अथ इहा गौतम भगवन्त ने पूछयो। इण मृगालोढे पूर्व कोई कुकर्म कीधा, कुपात्र दान दीधा। तेहना फल ए नरक समान दु.ख भोगवे छै। तो जीवांनी कुपात्र दान ने चौड़े भारी कुकर्म कह्यो। छव कायरा शस्त्र ते कुपात्र छै। तेहने पोष्यां धर्म-पुण्य किम निपजे।"

विपाक सूत्र के पाठ का उल्लेख करके दीन-हीन जीवो पर दया करके दान देने मे एकान्त पाप बताना बिल्कुल मिथ्या है। इस पाठ मे गौतम स्वामी भगवान महावीर से पूछते हैं—"हे भगवन्! यह मृगालोढा किंवा दच्चा—क्या देकर ऐसा नरक के समान दु.ख भोग रहा है।" इसका अभिप्राय यह है कि यह मृगालोढा किस चोर-जार, एवं हिंसक आदि महारंभी प्राणियों को चोरी, जारी एव हिंसा आदि के लिए दान देकर ऐसा दुःख भोग रहा है। यहाँ दीन-हीन जीवो पर दया लाकर दान देने से दु ख भोग नही पूछा है। क्योकि जो दान संयति पुरुष को मोक्षार्थ दिया जाता है और जो दान अनुकम्पा लाकर दीन-हीन जीवों को दिया जाता है, उनसे दु ख का भोग नही होता। क्योकि इन दोनो दानो से पाप का बन्ध नही होता है। अत: विपाक सूत्र के आधार पर दीन-दु खी जीवो पर अनुकम्पा लाकर दान देने से एकान्त पाप बताना नितान्त असत्य है।

"से णं भन्ते! पुरिसे पुव्व भवे के आसि कि णामए वा किं गोए वा कयरंसि गामंसि वा नयरंसि वा कि वा दच्चा, कि वा भोच्चा, किं वा समायरित्ता केसि वा पुरा पोराणाणं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिकंताणं असुभाणं पावाणं कम्माणं पावगं फलवित्तिविसेसं पच्चणुभवमाणे जाव विहरइ।"

—विपाक सूत्र, अध्ययन १

"हे भगवन्! यह पुरुष पूर्व भव में कौन था? इसका क्या नाम था? क्या गोत्र था? किस ग्राम या नगर में रहता था? यह क्या देकर, क्या खाकर, क्या आचरण करके और प्रायश्चित

से नहीं हटाए हुए किस निन्दित पुराने अशुभ कर्म के पाप स्वरूप फल विशेष को यह भोग रहा है ?"

इस पाठ मे जैसे **'किं वा भोच्चा' 'किं वा समायरिता'** 'ये दो शब्द मास आदि भक्षण और हिंसादि आचरण के अर्थ मे प्रयुक्त हुए है, दाल-रोटी आदि का सात्विक भोजन करने एव न्याय वृत्ति से कुटुम्ब का पालन-पोषण करने के अर्थ मे नही । उसी तरह **"किं वा दच्चा'** का प्रयोग भी चोर, जार, हिंसक आदि को चोरी, जारी एव हिंसा आदि दुष्कर्म का सेवन करने के लिए दान देने के अर्थ मे हुआ है, न कि दीन-हीन जीवो को अनुकम्पा दान देने के अर्थ मे । अत. इस पाठ के आधार पर अनुकम्पा दान का खण्डन करना आगम से सर्वथा विरुद्ध है ।

यदि कोई 'क्या दिया' का अनुकम्पा दान अर्थ ग्रहण करके, उसमें एकान्त पाप कहता है, तो वह इससे साधु-दान का ग्रहण करके उसे भी एकान्त पाप क्यो नही कहता ? यदि यह कहते है कि साधु को दान देने से एकान्त पाप नही होता, इसलिए इस शब्द से उसे ग्रहण नही किया है, इसी प्रकार दीन-हीन जीवो पर दया करके दान देने से भी एकान्त पाप नही होता । जैसे पच महाव्रतधारी को मोक्षार्थ दान देना प्रशस्त है, उसी तरह दीन-हीन जीवो पर दया करके दान देना भी अनुकम्पा रूप गुण का हेतु है । अत. अनुकम्पा दान देने मे एकान्त पाप कहना युक्ति संगत नही है ।

टब्बाकार ने 'किं वा दच्चा' का अर्थ कुपात्र दान किया है । यहाँ कुपात्र दान का अर्थ—चोर, जार आदि को चोरी-जारी आदि दुष्कर्मो का सेवन करने के लिए दान देना है, न कि अनुकम्पा करके दीन-हीन जीवो को दान देना । क्योकि चोर, जार, एव हिंसक आदि दुष्कर्मो मे प्रवृत्त जीव ही कुपात्र है । भ्रमविध्वसनकार की स्व-कल्पित कपोल कल्पना के अनुसार साधु के अतिरिक्त सभी जीव कुपात्र नही है । इसलिए टब्बा अर्थ के अनुसार भी दीन-हीन जीवो को अनुकम्पा दान देने से एकान्त पाप सिद्ध नही होता । अत' उक्त टब्बा अर्थ का आश्रय लेकर भी अनुकम्पा दान मे पाप बताना नितान्त असत्य है ।

विपाक सूत्र का यह पाठ जो ऊपर लिखा है, भ्रमविध्वसन की पुरानी प्रति—प्रथम आवृत्ति मे अपूर्ण छपा है । उसमे **'किं वा भोच्चा', किं वा समायरिता'** यह पाठ नही है । और ईश्वरचन्द्र चोपडा द्वारा प्रकाशित नई आवृत्ति मे यह पाठ व्युत्क्रम से छपा है । विपाक सूत्र की शुद्ध प्रतियो मे सर्वत्र **'किं वा दच्चा, किं वा भोच्चा, किं वा समायरिता'** यह पाठ इसी क्रमसे मिलता है और ऐसा ही होना चाहिए । परन्तु भ्रमविध्वसन की नई आवृत्ति मे **"किं वा भोच्चा किं वा समायरिता'** यह पाठ **'किं वा दच्चा** के अनन्तर नही होकर **'पच्चणुभवमाणे'** के अनन्तर आया है । इस प्रकार क्रम विरुद्ध पाठ देने का क्या अभिप्राय है, यह भ्रमविध्वंसनकार एवं उनके अनुयायी ही जाने । परन्तु प्रत्युत्तर-दीपिका मे पुराने भ्रमविध्वसन मे प्रकाशित पाठ के सम्बन्ध मे जो विचार अभिव्यक्त किये थे, वे अक्षरश सत्य है । ऐसा लगता है कि प्रत्युत्तर-दीपिका की सच्ची बात को मिथ्या सिद्ध करने के लिए ही भ्रमविध्वसन की नई आवृत्ति मे इस पाठ को यथाक्रम से न देकर व्युत्क्रम से दिया है । भ्रमविध्वसन की पुरातन आवृत्ति मे प्रकाशित पाठ को देखने से पाठको को स्वय ही ज्ञात हो सकता है कि प्रत्युत्तर-दीपिका का कथन सत्य है या भ्रमविध्वसन के सशोधक का ।

पापकारी क्षेत्र

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ८३ पर उत्तराध्ययन सूत्र अ० १२ गाथा २४ की समालोचना करते हुए लिखते है—"अथ अठे ब्राह्मणा ने पापकारी क्षेत्र कह्या। तो बीजा ने स्यूं कहिवो।" इनके कहने का अभिप्राय यह है कि इस गाथा मे ब्राह्मणो को पापकारी क्षेत्र कहा है। जब ब्राह्मण ही पापकारी क्षेत्र है, तब अन्य लोगो की तो बात ही क्या है? अतः साधु से इतर सब जीव कुपात्र है, उनको दान देने से धर्म-पुण्य कैसे हो सकता है?

उत्तराध्ययन सूत्र की उक्त गाथा लिखकर समाधान कर रहे है—

"कोहो य माणो य वहो य जसि, मोसं अदत्तं च परिग्गहं च।
ते माहणा जाइविज्जा विहूणा, ताइं तु खेताइं सु पावगाइं॥"

—उत्तराध्ययन सूत्र १२, २४

"जो ब्राह्मण क्रोध, मान, माया और लोभ से युक्त हैं तथा हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रह का आसेवन करते हैं, वे जाति और विद्या से विहीन पापकारी क्षेत्र हैं।

वस्तुतः चारो वर्णों की सृष्टि गुण और कर्म के अनुसार हुई है। अन्य ग्रन्थो मे भी लिखा है—

"एक-वर्णमिदं सर्वं पूर्वमासीद्युधिष्ठिर।
क्रिया-कर्म विभागेन चातुर्वर्ण्यं व्यवस्थितम्॥"

"हे युधिष्ठिर! पहले सब लोग एक वर्ण के थे, पीछे से कर्म के अनुसार चार वर्ण बने हैं।"

"ब्राह्मणो ब्रह्मचर्येण यथा शिल्पेन शिल्पिकः।
अन्यथा नाम मात्रं स्यादिन्द्रगोपक कीटवत्।"

"जैसे शिल्प कर्म करनेवाला शिल्पी हुआ, उसी तरह ब्रह्मचर्य धारण करनेवाला ब्राह्मण। जो ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करता वह 'इन्द्रगोप' कीट की तरह नाम मात्र का ब्राह्मण है।"

ऐसे नाम मात्र के ब्राह्मणो से सत्शास्त्र रूप विद्या का सद्भाव नही होता। सभी शास्त्रो मे अहिंसा-सत्य आदि का विधान मिलता है—

"अहिंसा-सत्यमस्तेयं त्यागो मैथुन वर्जनम्।
पञ्चैतानिप वित्राणि सर्वेषां ब्रह्मचारिणाम् ॥"

"अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और मैथुन त्याग ये पांच सभी ब्रह्मचारियों के लिए पवित्र हैं। इनका आचरण करना ही विद्या पढ़ने का फल है।"

परन्तु जो व्यक्ति शास्त्र पढकर भी इनको आचरण मे नही लाकर क्रोध, मान, माया लोभ, हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह और मैथुन आदि दुष्कर्मो का सेवन करता है,प्रबुद्ध पुरुषो ने उसे विद्या-विहीन कहा है—

"तद्ज्ञानमेव न भवति यस्मिन्नुदिते विभाति राग गण:।
तमस. कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकर किरणाग्रत स्थातुम् ॥"

—मनु स्मृति

"जिस ज्ञान के उदित होने पर भी राग गण प्रकाशमान है, वह ज्ञान ही नहीं है। क्योंकि सहस्त्ररश्मि—सूर्य की एक किरण के निकलने पर उसकी ज्योति के सामने ठहरने के लिए अंधकार में शक्ति कहां है?"

जिस वस्तु के होने पर भी उससे उस प्रयोजन की सिद्धि नही होती, निश्चय नय के अनुसार वह वस्तु वास्तव मे वस्तु ही नही है। उसी तरह जो ब्राह्मण विद्या पढकर भी चोरी-जारी, हिंसा आदि दुष्कर्मो का आचरण करता है, वह वास्तव में ब्राह्मण ही नही है और उसकी वह विद्या भी वास्तव मे विद्या नही है। अत. ऐसे ब्राह्मण ब्राह्मणत्व एव विद्या दोनो से हीन है, उन ब्राह्मणो को पापकारी क्षेत्र समझना चाहिए।

प्रस्तुत गाथा मे क्रोध, मान, माया और लोभ से युक्त व्यभिचारी, हिंसक और चोर ब्राह्मण को पापकारी क्षेत्र कहा है, उक्त दोपो से रहित ब्राह्मण को नही। अत. इस गाथा का नाम लेकर ब्राह्मण मात्र को पापकारी क्षेत्र वताना नितान्त असत्य है। यदि आगमकार को ब्राह्मण मात्र को ही पापकारी क्षेत्र वताना इष्ट होता, तो बिना विशेषण लगाए सीधा ही कह देते कि ब्राह्मण पापकारी क्षेत्र है। परन्तु आगमकार ने ऐसा नही कहकर क्रोधी, मानी आदि दुष्कर्म-सेवी ब्राह्मणो को पापकारी क्षेत्र कहा है। मनुस्मृति के रचयिता मनु ने भी क्रोधी, मानी एव हिंसक ब्राह्मणो को पापी, नरकगामी और कुपात्र कहा है। अत ब्राह्मण मात्र को कुपात्र कहना आगम विरुद्ध है।

वस्तुत. भले ही ब्राह्मण हो या और कोई, जो चोरी-जारी, हिंसा आदि दुष्कर्म करता है, वह कुपात्र है, पापकारी क्षेत्र है। उसे चोरी-जारी आदि दुष्कर्म करने के लिए दान देना कुपात्र-दान है और वह एकान्त पापमय है। परन्तु सच्चरित्रवान व्यक्ति को सत्कर्म करने के लिए तथा दीन-दु खी जीवो को अनुकम्पा वुद्धि से दान देना एकान्त पाप नही है।

असंयति नहीं, असती पोषणता कर्म

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ८५ पर उपासकदशाग सूत्र का पाठ लिखकर साधु से इतर को दान देनेवाले श्रावक को पन्द्रहवे कर्मादान का सेवन रूप पाप होना लिखा है—

"तिवारे कोई इम कहे इहा असयति पोप व्यापार कह्यो छै। तो तुम्हे अनुकम्पा रे अर्थे असयति नें पोष्याँ पाप किम कहो छो ? तेहनो उत्तर—ते असयति पोपी पोपी नें आजीविका करे ते असयती पोष व्यापार छै। अनें दाम लिया विना असयति ने पोपे ते व्यापार नथी कहिये। पर पाप किम न कहिये ? जिम कोयला करी वेंचे ते 'अगालकर्म' व्यापार, अनें दाम विना आगला नें कोयला करी आपे ते व्यापार नथी। पर पाप किम न कहिये ?"

उपासकदशाग मे पन्द्रहवे कर्मादान का नाम "असई जण पोपणया" लिखा है। इसका अर्थ है—"असती-व्यभिचारिणी स्त्रियो का पोपण करके उन से भाड़े पर व्यभिचार—वेश्यावृत्ति कराने रूप व्यापार करना, न कि साधु से भिन्न सभी जीवो का पोपण करना।"

भ्रमविध्वसनकार ने उपासकदशाग सूत्र का जो पाठ उद्धृत किया है, उसमे पन्द्रहवे कर्मादान का नाम "असई जण-पोसणया" लिखा है और उसके टब्बा अर्थ मे साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देनें से उक्त कर्मादान का सेवन करना नही,प्रत्युत वेश्या आदि के पोपण करने रूप व्यापार को ही कर्मादान का सेवन कहा है। भ्रमविध्वसन पृष्ठ ८४ पर लिखा है कि "अ० वेश्या आदि नें पोषण आदिक व्यापार कर्म",इसमे साधु से भिन्न को पोपण रूप व्यापार न कहकर वेश्यादि के पोषण रूप व्यापार को कर्म-दान का सेवन वतलाया है। तथापि सत्य पर पर्दा डालने के लिए भ्रमविध्वसनकार ने अपने मन से पन्द्रहवे कर्मादान का 'असयति पोपणता' नाम रखा है। इसे पहले प्रश्न रूप मे दूसरे से स्वीकार करवाकर फिर स्वयं ने स्वीकार किया है। भ्रमविध्वसन मे पृष्ठ ८५ पर पूर्व पक्ष की स्थापना करते हुए लिखा है—

"तिवारे कोई इम कहे इहाँ असयति पोप व्यापार कह्यो छै। तो तुम्हे अनुकम्पा रे अर्थे असयति नें पोष्या पाप किम कहो छो ?"

विज्ञ पुरुष यह स्वय समझ सकते हैं कि जव पन्द्रहवें कर्मादान का "असयति पोपणता" नाम ही नही है, तव उसके सम्वन्ध मे कोई व्यक्ति भ्रमविध्वसनकार से कैसे प्रश्न कर सकता है ? परन्तु अपनी स्व-कपोल कल्पना से ऐसा प्रश्न वनाकर भ्रमवविध्वसनकार ने यह भ्रम फैलाने का

प्रयत्न किया कि अनुकम्पादान के समर्थक भी पन्द्रहवे कर्मादान का 'असंयति पोषणता' नाम स्वीकार करते है। परन्तु उनकी यह चाल उन्ही लोगो को भुलावे में रख सकती है, जो आगम का अध्ययन न करके केवल ढालो की बातो पर ही विश्वास रखते है। परन्तु जो आगम का अध्ययन करके तत्त्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना चाहते है, वे उनके भुलावे मे नही आ सकते। क्योकि जब पन्द्रहवें कर्मादान का 'असयति पोषणता' नाम ही नही है, तब उसका नाम लेकर दीन-दुखी को अनुकम्पा दान देनेवाले श्रावको को पन्द्रहवे कर्मादान का सेवन करने वाला कहना नितान्त असत्य है।

इसके आगे भ्रमविध्वसनकार पृष्ठ ८५ पर लिखते है—"आदिक शब्द मे तो सर्व असयति ने रोजगार रे अर्थे राखे ते असयति व्यापार कहिए", परन्तु भ्रमविध्वंसनकार का यह तर्क भी युक्ति सगत नही है। यदि पन्द्रहवे कर्मादान का नाम ही "असयति-पोषणता" है, तब आदि शब्द से सभी असयतियो का ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है? क्योकि उक्त नाम से ही असयति मात्र का ग्रहण हो जाता है। परन्तु आदि शब्द लगाने से ऐसा प्रतीत होता है कि भ्रम-विध्वसनकार को भी उक्त नाम स्वीकृत नही है। इसलिए वे आदि शब्द से सभी असयतियो का ग्रहण होना बतलाते हैं। परन्तु मूलपाठ एव उसकी टीका मे कही भी 'आदि' शब्द नही है। अत. 'आदि' शब्द की कल्पना करके भोले जीवो को भ्रम मे डालना सर्वथा अनुचित है।

यदि साधु के अतिरिक्त अन्य जीवो का पोषण करने मे पाप होता है, तो कोई भी व्यापारी श्रावक अपने बारह व्रतो का निरतिचार पालन नही कर सकता। क्योकि व्यापारी श्रावक को अपने व्यापार की सिद्धि के लिए—गाय, भैस, ऊँट, बैल, घोड़ा, नौकर आदि असयति प्राणियो का पोषण करना पड़ता है। यदि कोई इनके बिना भी काम चला ले, तब भी उसे अपने माता-पिता, पुत्र-पौत्र आदि परिजनो का पालन करना पडता है। ये सब असयति है और व्यापार मे सहायता देते है। इनका पोपण भी व्यापारार्थ कहा जा सकता है। अत इनके सिद्धान्तानुसार उसे अतिचार लगेगा। अत इनके विचार से कोई भी व्यापारी श्रावक कर्मादान के पाप से नही बच सकता। परन्तु यह कथन बिल्कुल मिथ्या है। क्योकि व्यापारी श्रावक बारह व्रतो का निरतिचार पालन कर सकता है। वह जो ऊट, बैल, घोडा, नौकर आदि का व्यापारार्थ पालन-पोषण करता है, इससे उसे कर्मादान का पाप एव उसके व्रतो मे अतिचार नही लगता। क्योकि पन्द्रहवे कर्मादान का नाम "असयति-पोषणता' है ही नही, 'असती जन पोषणता' है। अत जो व्यक्ति असती-वेश्यादि का पोषण करके उन से भाडे पर वेश्यावृत्ति कराने रूप व्यापार करता है, वह पन्द्रहवे कर्मादान के पाप का सेवन करता है, साधु से भिन्न सब प्राणियो का पोपण करने से नही।

यदि श्रावक अपने आश्रित व्यक्ति को आहार-पानी नही देता है, तो उसके प्रथम व्रत में अतिचार लगता है। अत. प्रथम व्रत का निरतिचार पालन करने के लिए श्रावक अपने आश्रित प्राणियो का पोषण करता है। इससे भ्रमविध्वसन के कथनानुसार उसके सातवे व्रत मे अतिचार लगता है। क्योकि साधु से भिन्न व्यक्ति को व्यापारार्थ आहार देना, वे कर्मादान का सेवन करना बताते है। ऐसी स्थिति मे बारह व्रतधारी श्रावक अपने आश्रित व्यक्ति को आहार-पानी देकर प्रथम व्रत का अतिचार टाले या उसे आहार नही देकर सातवे व्रत के अतिचार से बचे? उसकी साप-छछूंदर जैसी स्थिति है—यदि वह अपने आश्रित को भोजन देता है, तो सप्तम

व्रत में अतिचार लगता है और नही देता है तो प्रथम व्रत मे अतिचार लगता है। परन्तु आगम मे कही भी ऐसा उल्लेख नही है कि साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने से कर्मादान का पाप लगता है। यदि श्रावक अपने आश्रित को भोजन नही देता है, तो उसको प्रथम व्रत का अतिचार लगता है। अत. साधु से भिन्न व्यक्ति का पालन-पोषण करने से कर्मादान का पाप बताना एकान्त मिथ्या है।

आचार्य भीषणजी ने साधु से भिन्न व्यक्ति का पोषण करने से पन्द्रहवे कर्मादान का पाप लगना बतलाकर उसकी मर्यादा करके परिहार करने का उपदेश दिया है—

"साधु बिना सघला पोषीजे पन्नरमू असंयति पोष कहीजे।
रोजगार ले त्यां ऊपर रहवे खाणूं पिणूं असंयति ने देवे ॥
ए पन्द्रह कर्मादान विस्तार मर्यादा बांधी करे परिहार।"

परन्तु आचार्य श्री भीषणजी की उक्त प्ररूपणा सर्वथा आगम विरुद्ध है। भगवती सूत्र मे कर्मादानो को सर्वथा छोडने योग्य कहा है, आगार रखकर परिहार करने का नही।"

"जे इमे समणोवासगा भवन्ति जेंसि नो कप्पन्ति इमाइं पण्णरस कम्मादाणाइं सयं करेत्तए वा कारवेत्तए वा करं तं वा अण्णं समणुजाणेत्तए वा"।

—भगवती सूत्र ५, ३३०

"श्रमणोपासक को इन कर्मादानों का स्वयं सेवन करना, दूसरे से सेवन कराना और सेवन करनेवालों को अच्छा समझना नहीं कल्पता है।"

उपासकदशाग सूत्र मे भी कर्मादान को त्यागने योग्य कहा है।

"समणोवासए णं पण्णरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं न समायरियव्वाइं।"

"श्रमणोपासक को पन्द्रह कर्मादान जानने चाहिए, परन्तु आचरण नहीं करना चाहिए।"

यहाँ भगवती एवं उपासकदशाग सूत्र मे पन्द्रह ही कर्मादानो को सर्वथा छोडने योग्य कहा है, परन्तु उनमे आगार रखकर त्यागने योग्य नही कहा है। अत. आगार रखकर कर्मादानो के त्याग का उपदेश देना आगम विरुद्ध है। आगार रखकर कर्मादानो को छोड़ने की आज्ञा देना एक प्रकार से कर्मादान सेवन की अनुमति देना है। यदि आगार रखकर अतिचारो का सेवन करना आगम सम्मत माना जाए, तो फिर मर्यादा रखकर पर-स्त्री, झूठ, चोरी आदि का सेवन भी आगम सम्मत मानना पड़ेगा। परन्तु आगम अतिचारो का सर्वथा त्याग करने की आज्ञा देता है, आगार रखने की नही। परन्तु आचार्य भीषणजी ने आगार रखे विना अपनी कल्पना को नही चलते देखकर, अतिचारो मे आगार रखने की छूट दी। यदि आचार्य भीषणजी एव उनके अनुयायी आगम के अनुरूप पन्द्रहवे कर्मादान को 'असति जन पोषणता' मान ले, तो कर्मादानो मे आगार रखने की आवश्यकता ही न पडे। क्योकि उसका अर्थ है—असति-वेश्यादि को भाडे पर रखकर उनसे वेश्यावृति कराने रूप व्यापार करना। श्रावक ऐसे जघन्य कर्म का त्याग करके अन्य व्यापार द्वारा अपना काम चला सकता है। फिर उसे आगार रखकर ऐसा निन्दित कार्य करने की क्या आवश्यकता है? अत. पन्द्रहवे कर्मादान का नाम 'असयति पोषणता' रखकर साधु से भिन्न जीवो को पोषण करने से पन्द्रहवे कर्मादान का पाप बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

अतिचार की व्याख्या

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ८६ पर उपासकदशांग के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"इहा मारवाने अर्थे गाढे बन्धन बान्धे तो अतिचार कह्यो, अने थोडे बन्धन बान्धे तो अतिचार नही, पिण धर्म किम कहिए", आगे चलकर लिखते हैं—"तिम मारवाना अर्थे भात-पाणी रो विच्छेद पाया तो अतिचार, अने त्रस जीव ने भात-पाणी थी पोषे ते अतिचार नही, पिण धर्म किम कहिए ?"

त्रस प्राणी का वध करने के अभिप्राय से वध, बन्धन, छविच्छेद, अतिभार एव भात-पानी का विच्छेद करना, भाव से अपने व्रत का त्याग करना है। इसे आगमकार ने अतिचार नही, अनाचार कहा है। अतिचार वही तक होता है, जब तक व्रत की अपेक्षा रखकर कार्य किया जाए। परन्तु व्रत की अपेक्षा छोडकर अनुचित कार्य करने से वह अनाचार हो जाता है और उससे व्रत मूलत नष्ट हो जाता है। अत जो पुरुष किसी प्राणी के प्राणो का नाश करने के लिए उसे मारता-पीटता है, उसका खाना-पीना बन्द करता है, वह अपने व्रत को समूल नष्ट कर देता है। वह अतिचारी नही, अनाचारी है। इसलिए उपासकदशाग सूत्र मे ऐसे कार्य का कथन नही है। वहाँ यह बताया है कि जो क्रोधादि के वश वध—बन्धनादि किए जाते हैं, वे प्रथम व्रत के अतिचार है, न कि प्राणनाश करने की भावना से किए जानेवाले वध-बन्धनादि। अत. भ्रमविध्वसनकार जो प्राण वियोग करने की भावना से त्रस जीव के वध, बन्धन, छविच्छेद, अतिभार और भात-पानी विच्छेद करने से अतिचार होना कहते है, वह एकान्त मिथ्या है।

भ्रमविध्वसनकार ने उक्त पाठ का जो टब्बा अर्थ दिया है, उसमे मारने की इच्छा से उक्त कार्यों के करने से अतिचार होना कहा है। परन्तु यह टब्बा अर्थ उपासकदशाग के मूलपाठ से विरुद्ध है, अत. अप्रामाणिक है। उपासकदशाग मे मारने की इच्छा से वध, बन्धन आदि करने से अतिचार नही बताया है।

"तदणंतरं च णं थूलग पाणातिपात वेरमणस्स समणोवासए णं पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा—वधे, वहे, छविच्छेदे, अतिभारे, भत्तपाण वोच्छेत्ते।"

—उपासकदशांग १

"तदन्तर श्रमणोपासक के लिए प्रथम प्राणातिपात विरमण व्रत के पांच अतिचार जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं। वे ये हैं—१ वध, २ बन्धन, ३ छविच्छेद, ४ अतिभार, और ५ भात—आहार-पानी का विच्छेद करना।"

इस पाठ मे मारने की भावना का उल्लेख नही करके, सामान्य रूप से वध, बन्धन आदि करने से अतिचार होना बतलाया है, अत. मारने की इच्छा से उक्त कार्यो के आचरण को अतिचार मे गिनना और क्रोधादि वश इनके आचरण से अतिचार नही मानना, आगम विरुद्ध है।

जो लोग मारने के अभिप्राय से नही, बल्कि अपने गोदाम मे शीघ्र माल पहुँचाने के लिए ऊँट, घोडे, और बैल पर अतिभार भरते है, वे आगम के अनुसार अतिचार का सेवन करते है, परन्तु भ्रमविध्वसनकार के मत से वे अतिचार का सेवन करनेवाले नही हो सकते। क्योकि वे मारने के भाव से उक्त कार्य नही करते। परन्तु आगमकार इसे अतिचार कहते है। अत कषाय वश अपने पशु आदि का वध करना, उसे बन्धन मे डालना, उसका छविच्छेद करना, उस पर अधिक भार भरना, उसको समय पर आहार-पानी नही देना अतिचार है और मारने के परिणामो से उक्त कार्य करना अनाचार है।

जो श्रावक मारने के भाव से नही, किन्तु असयति को आहार-पानी देने से पाप होता है, यह जानकर उसे आहार-पानी नही देता, आगम के अनुसार उसे भी अतिचार लगता है। भ्रमविध्वसनकार के मत से उसे अतिचार नही होना चाहिए, बल्कि उसका व्रत अधिक निर्मल होना चाहिए, क्योकि वह असयति को देने मे पाप जानकर आहार-पानी बन्द करता है। परन्तु आगमकार इसे अतिचार कहते है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अपने आश्रित प्राणी को आहार-पानी देकर उस पर अनुकम्पा करना पुण्य कार्य है, एकान्त पाप नही।

भ्रमविध्वसनकार भोले लोगो को भ्रम मे डालने के लिए यह कहते है, "अपने आश्रित प्राणी को थोडा बन्धन बान्धे या लकडी आदि से हल्का प्रहार करे तो उसे अतिचार नही लगता, परन्तु पाप होता है। उसी तरह अपने आश्रित प्राणी को भात-पानी से पोषण करना अतिचार नही है, परन्तु पाप तो होता ही है।" यह कथन बिल्कुल असगत है।

यदि कोई यह कहे कि अपने आश्रित प्राणी को आहार-पानी देने से जो जीवो की विराधना होती है, उससे पुण्य कैसे हो सकता है? क्योकि हिंसा से पुण्य नही होता। पुण्य तो अहिंसा से होता है। इसका उत्तर यह है कि श्रावक लोग विभिन्न प्रकार के वाहनो मे बैठकर दूर-दूर तक साधु के दर्शनार्थ जाते है। उससे मार्ग मे अनेक जीवो की विराधना होती ही है, परन्तु उन्हे जो साधु दर्शन का लाभ होता है, वह बहुत ही उत्तम एव पुण्य कार्य है। उसी तरह अपने आश्रित प्राणी को आहार-पानी देने से उस प्राणी की जो रक्षा होती है, वह बहुत प्रशस्त है। यदि श्रावक उसे आहार-पानी न दे तो उसका प्रथम व्रत ही सुरक्षित नही रहेगा। आहार-पानी देते समय जो आरभजा हिंसा होती है, उसका त्याग श्रावक को नही है। परन्तु अपने आश्रित को आहार-पानी नही देने से अतिचार लगना कहा है। अत. इस कार्य मे एकान्त पाप की प्ररूपणा करना मिथ्या है।

श्रावक की उदारता

भ्रमविध्वसनकार, भ्रमविध्वसन पृष्ठ ८७ पर लिखते है—"बली कोई इम कहे। तुगिया नगरी रा श्रावका रा उघाड़ा बारणा कह्या छै। ते भिखार्थ ने देवा ने अर्थे उघाडा बारणा छै। इम कहे तेहनो उत्तर—उघाडा बारणा कह्या छै, ते तो साधु री भावना रे अर्थे कह्या छै। ते किम, जे और भिखारी तो किमाड खोलने पिण माहे आवे छै। अने साधु किमाड खोलने आहार लेवा न आवे। ते माटे श्रावका रा उघाडा बारणा कह्या छै।"

भगवती सूत्र शतक २, उद्देशा ५ मे तुगिया नगरी के श्रावको का वर्णन करते हुए, **"उस्सिय फलिहा अवंगुय दुवारा"** यह पाठ आया है। इस पाठ की टीका मे टीकाकार ने भिक्षुओं के प्रवेशार्थ द्वार का खुला रहना बतलाया है।

"उच्छ्रितोऽर्गला स्थानादपनीयोद्ध्वीं कृतो न तिरश्चीन. कपाट पश्चाद्भागादपनीत इत्यर्थः। परिघोऽर्गला येषां ते उच्छ्रित परिघाः अथवा उच्छ्रितः गृहद्वारादपगत परिघो येषां ते उच्छ्रित परिघाः औदार्य्यातिशयत्वेन भिक्षुकाणां प्रवेशार्थमनर्गलित गृहद्वारा इत्यर्थं। अवगुयदुवारे ति भिक्षुकाणां प्रवेशार्थमौदार्य्यादस्थगित गृहद्वारा इत्यर्थं।"

"तुंगिया नगरी के श्रावकों के द्वार की अर्गलाएँ कपाटों में नहीं लगाई जाकर बगल में खड़ी रहती थीं। तुंगिया नगरी के श्रावकों के मकानों का द्वार बन्द करने के लिए अर्गलाएँ नहीं होती थीं। उनके घर के द्वार बन्द नहीं किए जाते थे। क्योंकि वे श्रावक उदार और दानशील थे। भिक्षुओं का निर्बाध प्रवेश हो इस भावना से वे अपने घरों का द्वार खुला रखते थे।"

यहाँ टीकाकार ने मूलपाठ का अभिप्राय बताते हुए लिखा है कि तुगिया नगरी के श्रावको के द्वार भिक्षुओ के प्रवेशार्थ खुले रहते थे। अत. इस बात को नही मानना उक्त टीका के विरुद्ध एव निर्मूल समझना चाहिए।

यद्यपि टीकाकार ने वृद्ध व्याख्यानुसार तुगिया नगरी के श्रावको के द्वार खुले रहने का कारण सम्यक्त्व मे दृढता एव निर्भीकता भी बताया है, तथापि इस वृद्ध व्याख्या से भिक्षुओ के प्रवेशार्थ द्वार खुले रहने का खण्डन नही होता है। क्योकि व्याख्या मे भिक्षुओ के प्रवेशार्थ द्वार खुले रहने का विरोध नही किया है, किन्तु द्वार खुले रहने का इसके अतिरिक्त दूसरा कारण भी बताया है। इसी तरह सूत्रकृताग सूत्र श्रुतस्कध २, अध्ययन २ की दीपिका में कपाट खुला रहने का कारण

सम्यक्त्व में दृढ़ता एवं पर-पाषण्डी से नही डरना बताया है। इससे भी भिक्षुओ के प्रवेश की बात का खण्डन नही होता। यहाँ इसके अतिरिक्त दो और कारण बताए हैं। इस प्रकार तुंगिया नगरी के श्रावकों के द्वार खुले रहने के तीन कारण टीकाकारों ने बताये हैं—१ भिक्षुओं का प्रवेश, २ सम्यक्त्व मे दृढ़ता, ३ और पर-पापण्डियों से नही डरना। वस्तुतः ये तीनों कारण यथार्थ हैं। जो मनुष्य कृपण होता है, वह अपने घर के द्वार बन्द रखता है। दूसरों से डरनेवाला व्यक्ति भी घर के द्वार नही खोलता। परन्तु जो उदार है, निर्भय है, अपनी श्रद्धा मे स्थिर है, दृढ है, वह घर के द्वार बन्द नहीं करता। तुंगिया नगरी के श्रावक सम्यक्त्व मे दृढ, निर्भय, उदार एव दानशील थे, इसलिए वे अपने घरों के द्वार सदा खुले रखते थे। इस प्रकार तुंगिया नगरी के श्रावकों के वर्णन से अनुकम्पा दान का पूर्ण रूप से समर्थन होने पर भी उसे नहीं मानना, हठाग्रह का ही परिणाम है। किसी भी टीकाकार ने साधुओं की भावना से द्वार खुला रखने का नही कहा है, तथापि अनुकम्पा दान का उन्मूलन करने के लिए भ्रमविध्वंसनकार ने जो साधुओ की भावना से द्वार खुला रखने का कहा है, वह आगम एवं समस्त टीकाओं से विरुद्ध है।

वस्तुतः भगवती की टीका मे गृह द्वार खुले रहने का जो कारण बताया है, वह मूलपाठ से भी प्रमाणित है। इसलिए उसे नहीं मानना आगम के मूलपाठ का तिरस्कार करना है। जैसे भगवती सूत्र मे तुंगिया के श्रावकों का वर्णन आया है, उसी तरह उववाई सूत्र मे अम्बड सन्यासी के विषय मे लिखा है—

"नवरं उस्सिह-फलिहे अवंगुयदुवारे— चियत्त अन्तेउर पवेसी न उच्चरइ।"

"तुंगिया नगरी के श्रावकों के सम्बन्ध में जो पाठ आया है, वह अम्बड संन्यासी के सम्बन्ध में कहना चाहिए। परन्तु "उस्सिय फलिहे अवंगुय दुवारे चियत्त अन्तेउर पवेसी' ये तीन पाठ नहीं कहने चाहिए।"

इसमे अम्बड सन्यासी के विषय में तीन पाठ वर्जित किए हैं, इसका कारण बताते हुए टीकाकार ने लिखा है—

"औदार्य्यातिशयादतिशयदानदायित्वेन भिक्षुप्रवेशार्थमनर्गलित गृहद्वार इत्यर्थ.। इदं च किल अम्बडस्य न सम्भवति स्वयमेव तस्य भिक्षुक त्वात्। अतएव लिखितं पुस्तके यथा उस्सिह फलिहेत्यादि विशेषण त्रयं नोच्यते।"

"तुंगिया नगरी के श्रावक अति उदार होने के कारण अपने घर के द्वार खुले रखते थे, परन्तु यह बात अम्बड सन्यासी में संभव नहीं है। क्योंकि वह स्वयं भिक्षुक था। अतः अम्बड सन्यासी के विषय में 'उस्सिह-फलिहा' आदि तीन विशेषणों को नहीं लगाना मूल पाठ में कहा है।"

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि तुंगिया नगरी के श्रावकों के द्वार भिक्षुओं के लिए खुले रहते थे। इस पाठ का यही अर्थ है। अन्यथा अम्बड सन्यासी के लिए 'उस्सिह-फलिहा' आदि तीनों पाठो का निषेध करने की क्या आवश्यकता थी? क्योंकि अम्बड सन्यासी भी सम्यक्त्व में दृढ एव निर्भय थे। अतः भिक्षुओं के प्रवेशार्थ तुंगिया के श्रावकों के द्वार खुले रहना मूल पाठ से सम्मत अर्थ है।

श्रावक में अव्रत नहीं है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ९३ पर लिखते है—"जे श्रावक तपस्या करे ते तो व्रत छै, अने पारणो करे ते अव्रत माही छै। आगार सेवे छै, ते सेवन वाला ने धर्म नही तो सेवावन वाला ने धर्म किम हुवे ? ए अव्रत एकात खोटी छै। अव्रत तो रेणादेवी सरीखी छै।" इनके कहने का भाव यह है कि श्रावक का खाना, पीना, वस्त्र, मकान आदि सब अव्रत में है, अत श्रावक को अन्न-पानी आदि की सहायता देना उनसे अव्रत सेवन कराना है। और अव्रत वन कराना एकान्त पाप है। इसलिए श्रावक को अन्न-पानी देना एकान्त पाप है। जब ावक को आहार-पानी देना एकान्त पाप है, तब दीन-दुखी को दान देने से तो कहना ही क्या ?

श्रावक का खाना-पीना, वस्त्र, मकान आदि को अव्रत मे बताकर उसको आहार-पानी आदि की सहायता देने से एकान्त पाप और अव्रत का सेवन कराना कहना आगम विरुद्ध है। आगम मे उस व्यक्ति को अव्रत की क्रिया लगना कहा है, जिसमे स्वल्प—थोडा-सा भी व्रत नही होता। श्रावक तो देशव्रती है, अत उसे अव्रत की क्रिया कैसे लग सकती है ? जब श्रावक को अव्रत की क्रिया ही नही लगती, तब उसे अन्न-पानी आदि की सहायता देने से अव्रत का सेवन कराना कैसे हो सकता है ? प्रज्ञापना सूत्र मे स्पष्ट लिखा है कि श्रावक को अव्रत की क्रिया नही लगती।

"कति णं भन्ते ! किरिआओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! पच किरिआओ पण्णत्ताओ त जहा—आरभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया, मिच्छादंसणवत्तिया।

आरंभिया ण भन्ते ! किरिया कस्स कज्जइ ?

गोयमा ! अण्णयरस्स वि पमत्त सजयस्स।

परिग्गहिया णं भन्ते ! किरिया कस्स कज्जइ ?

गोयमा ! अण्णयरस्स वि संजयासजयस्स।

मायावत्तिया णं भन्ते ! किरिया कस्स कज्जइ ?

गोयमा ! अण्णयरस्स वि अपमत्त सजयस्स।

अपच्चक्खाण किरिया णं भन्ते ! कस्स कज्जइ ?
गोयमा ! अण्णयरस्स वि अपच्चक्खाणिस्स ।
मिच्छादंसणवत्तिया णं भन्ते ! किरिया कस्स कज्जइ ?
गोयमा ! अण्णयरस्स वि मिच्छादंसणिस्स ।

—प्रज्ञापना सूत्र, पद २२, २८४

"हे भगवन् ! क्रिया कितने प्रकार की है ? हे गौतम ! क्रिया पाँच प्रकार की है—१ आरम्भिया, २ परिग्रहिया, ३ माया-प्रत्यया, ४ अप्रत्याख्यान और ५ मिथ्यादर्शन-प्रत्यया ।

पृथ्वी आदि प्राणियो का नाश करने का नाम 'आरम्भ' है। कहा भी है—प्राणियो को संताप देने के लिए संकल्प करने का नाम 'संरम्भ' है और उनको संताप देना 'समारम्भ' कहलाता है और प्राणियों का नाश करना 'आरभ'। उस आरंभ के लिए जो क्रिया की जाती है, वह 'आरंभिकी क्रिया' कहलाती है।

धर्मोपकरण से भिन्न वस्तु को ग्रहण करना, धर्मोपकरण पर मूर्च्छा रखना परिग्रह है। परिग्रह से उत्पन्न होने वाली क्रिया को 'परिग्रहिकी क्रिया' कहते हैं।

माया कुटिलता का नाम है। यहाँ माया शब्द को उपलक्षण मानकर उससे क्रोध आदि कषाय भी लिए जाते हैं। अत. जो क्रिया माया आदि से की जाती है, उसे 'माया प्रत्यया क्रिया' कहते हैं।

विरति का थोड़ा भी परिणाम नहीं होना 'अप्रत्याख्यान' कहलाता है। उसी को 'अप्रत्याख्यान क्रिया' कहते हैं।

मिथ्यादर्शन के कारण जो क्रिया की जाती है उसे 'मिथ्यादर्शन क्रिया' कहते हैं।

हे भगवन् ! आरम्भिकी क्रिया किसको लगती है ?

हे गौतम ! किसी-किसी प्रमत्त संयत पुरुष को भी आरम्भिकी क्रिया लगती है। वह जब कभी प्रमादवश अपने शरीर आदि का दुष्प्रयोग करता है, तब उससे पृथ्वी आदि जीवो की विराधना होने से उसे आरम्भिकी क्रिया लगती है। यहाँ जो अपि शब्द आया है, उससे यह बताया है कि आरम्भिकी क्रिया जब किसी-किसी प्रमत्त-संयत को भी लगती है, तब उसके नीचे के गुणस्थानो में तो वह अवश्य ही लगती है। इस प्रकार इस पाठ में प्रयुक्त अन्य अपि शब्द का भी यथायोग्य अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

हे भगवन् ! परिग्रहिकी क्रिया किसको लगती है ?

हे गौतम ! देशविरत-श्रावक को भी परिग्रहिकी क्रिया लगती है। यहाँ भी अपि शब्द से यह बताया है कि जब पंचम गुणस्थान में परिग्रहिकी क्रिया लगनी है, तब उसके नीचे के गुणस्थानों में तो वह अवश्य ही लगती है।

हे भगवन् ! माया-प्रत्यया क्रिया किसको लगती है ?

हे गौतम ! माया-प्रत्यया क्रिया किसी-किसी अप्रमत्त-संयत को भी लगती है। क्योंकि अपने प्रवचन की बदनामी को दूर करने के लिए वे भी वल्लीकरण और समुद्देश आदि में माया की क्रिया करते हैं। यहाँ भी अपि शब्द से यह बताया गया है कि जब सप्तम गुणस्थान में भी

यह क्रिया लगती है, तब उसके नीचे के गुणस्थान वालों को तो यह क्रिया अवश्य ही लगती है।

हे भगवन् ! अप्रत्याख्यानिकी क्रिया किसको लगती है ?

हे गौतम ! जो थोड़ा-सा भी प्रत्याख्यान नहीं करता, उसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया लगती है।

हे भगवन् ! मिथ्यादर्शन-प्रत्यया क्रिया किसको लगती है ?

हे गौतम ! जो पुरुष आगम में कथित वीतराग वाणी के एक अक्षर पर भी अरुचि रखता है, उसको मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया लगती है।"

प्रस्तुत पाठ मे कहा है कि 'जो पुरुप थोड़ा-सा भी प्रत्याख्यान नही करता, उसे अप्रत्याख्यान क्रिया लगती है।' टीकाकार ने भी इसकी व्याख्या करते हुए यही लिखा है—

"अपच्चक्खाण किरिया इति अप्रत्याख्यान मनागपि विरति परिणामाभाव: तदेव क्रिया अप्रत्याख्यान क्रिया।"

—प्रज्ञापना २२,२८४ टीका

श्रावक प्रत्याख्यान करता है, अत उसे अव्रत की क्रिया नही लगती। इसलिए श्रावक के खान-पान, वस्त्र, मकान आदि को अव्रत मे वताकर उसको दान देने से एकान्त पाप कहना आगम विरुद्ध है। यदि कोई यह कहे, "यदि श्रावक का आहार-पानी, वस्त्र, मकान आदि अव्रत में नही तो क्या व्रत मे है ?" नही। श्रावक के अन्न-वस्त्रादि न व्रत में हैं और न अव्रत मे, किन्तु उसकी ममता परिग्रह मे है। भगवान ने व्रत और अव्रत को आत्मा का परिणाम वताया है और तेरहपन्थ के निर्माता आचार्य भीपणजी ने भी व्रत और अव्रत को जीव और अरूपी कहा है। उन्होंने तेरह द्वार में छट्ठे रूपी-अरूपी द्वार मे लिखा है—"अव्रत आश्रव ने अरूपी किण न्याय कहीजे ? जे अत्याग भाव परिणाम जीवरा अरूपी कह्या छै", अत. श्रावक के अन्न-वस्त्र आदि जो कि प्रत्यक्षरूप से रूपी और अजीव हैं, वे व्रत और अव्रत मे नही हो सकते। श्रावक के अन्न-वस्त्रादि को अव्रत मे वताकर उसे अव्रत की क्रिया लगने की प्ररूपणा करना नितान्त असत्य है। प्रज्ञापना सूत्र मे श्रावक को अव्रत की क्रिया लगने का निपेध किया है।

"जस्स णं भन्ते ! आरंभिया किरिया कज्जइ, तस्स अपच्चक्खाण किरिया पुच्छा?

गोयमा ! जस्स ण जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाण किरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। जस्स पुण अपच्चक्खाण किरिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया नियमा। एवं मिच्छादंसण वत्तियाए वि समं एवं परिग्गहिया वि तीहि उवरिल्लाहिं समं सचारेत्तव्वा। जस्स मायावत्तिया किरिया कज्जइ तस्स उवरिल्लाओ दोवि सिय कज्जन्ति, सिय णो कज्जन्ति। जस्स उवरिल्लाओ दो कज्जन्ति तस्स मायावत्तिया नियमा कज्जन्ति। जस्स अपच्चक्खाण

किरिया कज्जइ तस्स मिच्छादंसण वत्तिया किरिया सिय कज्जइ, सिय णो कज्जइ। जस्स पुण मिच्छादंसण-वत्तिया करिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाण किरिया नियमा कज्जइ।"

—प्रज्ञापना पद २२, २८४

"हे भगवन्! जिसको आरंभिकी क्रिया होती है, क्या उसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है?

हे गौतम! जिसे आरंभिकी क्रिया होती है, उसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती भी है और नहीं भी होती। परन्तु जिसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है, उसे आरभिकी क्रिया अवश्य होती है।

आरभिकी क्रिया छट्ठे गुणस्थान पर्यन्त होती है, परन्तु पंचम और षष्ठ गुणस्थान में प्रत्याख्यान होने से अप्रत्याख्यानिकी क्रिया नहीं होती। इसलिए यहाँ आरंभिकी क्रिया के साथ अप्रत्याख्यानिकी क्रिया की भजना कही है। परन्तु चतुर्थ गुणस्थान तक के जीवो में अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है और उनमें आरंभिकी क्रिया भी होती है। अतः अप्रत्याख्यानिकी क्रिया के साथ आरभिकी क्रिया की नियमा है।"

आरभिका क्रिया के साथ शेष चार क्रियाओ की नियमा-भजना का विचार किया गया है। अब परिग्रहिकी क्रिया के साथ उसके आगे की क्रियाओ की नियमा-भजना का विचार कर रहे है—

"हे भगवन्! जिसको परिग्रहिकी क्रिया होती है, क्या उसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है?

हे गौतम! जिसे परिग्रहिकी क्रिया होती है, उसे अप्रत्याख्यानिकी होती भी है और नहीं भी। परन्तु जिसे अप्रत्याख्यानिकी होती है, उसे परिग्रहिकी क्रिया अवश्य होती है। परिग्रहिकी क्रिया पंचम गुणस्थान तक होती है, क्योकि श्रावक परिग्रह धारी होता है। परन्तु पंचम गुणस्थान में अप्रत्याख्यानिकी क्रिया नहीं होती, क्योकि श्रावक प्रत्याख्यानी होता है। अतः परिग्रहिकी के साथ अप्रत्याख्यानिकी भजना कही है। चतुर्थ गुणस्थान तक अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है, वहाँ परिग्रहिकी भी विद्यमान है। इसलिए अप्रत्याख्यानिकी क्रिया के साथ परिग्रहिकी क्रिया की नियमा है।"

परिग्रहिकी क्रिया के साथ उसके आगे की क्रियाओ की नियमा-भजना कही गई है, अव माया प्रत्यया क्रिया के साथ उसके आगे की क्रियाओ की नियमा-भजना कह रहे है—

"हे भगवन्! जिसे माया प्रत्यया क्रिया होती है, क्या उसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है?

हे गौतम! जिसे माया प्रत्यया क्रिया होती है, उसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती भी है और नहीं भी होती। परन्तु जिसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है, उसे माया प्रत्यया अवश्य होती है। माया प्रत्यया क्रिया पंचम आदि गुणस्थानो में भी पाई जाती है, परन्तु वहाँ अप्रत्याख्यानिकी क्रिया नहीं होती, क्योकि वे प्रत्याख्यानी होते हैं, इसलिए माया प्रत्यया क्रिया के साथ अप्रत्याख्यानिकी क्रिया की भजना कही है। चतुर्थ गुणस्थान पर्यन्त के जीवो में अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है और उनमें माया प्रत्यया क्रिया भी होती है। अतः अप्रत्याख्यानिकी क्रिया के साथ माया प्रत्यया क्रिया की नियमा कही गई है।

प्रस्तुत पाठ मे परिग्रहिकी क्रिया के साथ अप्रत्याख्यानिकी क्रिया की भजना कही है। यह तव ही घट सकती है, जव कि किसी गुणस्थान मे परिग्रह तो हो, परन्तु अप्रत्याख्यान—अव्रत

न हो। ऐसा स्थान पंचम गुणस्थान के अतिरिक्त कोई नही है। क्योकि पष्ठम आदि गुणस्थानो मे परिग्रह नही होता और पचम से पूर्व के गुणस्थानो मे परिग्रह के साथ अप्रत्याख्यान भी विद्यमान है। अतः केवल श्रावक मे ही परिग्रह तो है, परन्तु अप्रत्याख्यान नही है। इसलिए प्रस्तुत पाठ मे जो परिग्रह के साथ अप्रत्याख्यान की भजना कही है, उसका पचम गुणस्थान ही उदाहरण समझना चाहिए। यदि भ्रमविध्वसनकार के सिद्धान्तानुसार श्रावक को भी अव्रत की क्रिया लगती है, ऐसा मान ले, तो उक्त पाठ मे जो परिग्रहिकी क्रिया के साथ अप्रत्याख्यानिकी क्रिया की भजना कही है, उसका उदाहरण कौन-सा गुणस्थान होगा ? भ्रमविध्वसनकार इसका कोई उदाहरण नही दे सकते। टीकाकारने भी उसी को अव्रत की क्रिया लगना कहा है, जो थोड़ा-सा भी प्रत्याख्यान नही करता।

"अप्रत्याख्यान क्रिया अन्यतरस्याप्यप्रत्याख्यानिन । अन्यतरदपि न किंचिद-पीत्यर्थं यो न प्रत्याख्याति तस्येत्यर्थः।"

"जो थोड़ा-सा भी प्रत्याख्यान नहीं करता, उसी को अप्रत्याख्यानिकी क्रिया लगती है।"

श्रावक देश से प्रत्याख्यान करता है, अत उसे अव्रत की क्रिया नही लगती। क्योकि अप्रत्याख्यानिकी क्रिया अप्रत्याख्यानी चोकडी के होने पर लगती है। पचम गुणस्थान में अप्रत्याख्यानी चोकडी का उदय नही रहता। इसलिए श्रावक को अप्रत्याख्यानिकी क्रिया नही लगती। तथापि भ्रमविध्वसनकार ने श्रावक के खान-पान, वस्त्र, मकान आदि को अव्रत मे बताकर उसको दान देने से एकान्त पाप एव अव्रत का सेवन कराना बताया, यह नितान्त असत्य एव आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

पञ्चम गुणस्थान में तीन क्रियाएँ

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ९१ पर सूत्रकृताग और उववाई सूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ अठे श्रावक रा व्रत-अव्रत जुदा-जुदा कह्या। मोटा जीव हणवारा, मोटा झूठरा, मोटी चोरी, मियुन, परिग्रह री मर्यादा उपरान्त त्याग कीधो ते तो व्रत कहीजे। अने पाँच स्थावर हणवारो आगार, छोटो झूठ, छोटी चोरी, मिथुन, परिग्रह री मर्यादा कीधी, ते मांहिला सेवन, सेवावन, अनुमोदन रो आगार ते अव्रत कहीजे।"

सूत्रकृताग सूत्र और उववाई सूत्र का नाम लेकर श्रावक को अव्रत की क्रिया लगती है, ऐसा कहना मिथ्या है। उक्त पाठ मे कहा है—"श्रावक अठारह पाप से अशत. हटा है और अशत. नही हटा है।" परन्तु जिस अश से वह पाप से नही हटा है, वह उसका अव्रत है, ऐसा आगम मे नही लिखा है। यदि कोई यह कहे कि श्रावक जिस अश से पाप से हटा है, जब वह उसके व्रत मे है, तब जिससे वह नही हटा है, वह अव्रत मे क्यो नही है ? इसका उत्तर यह है कि उक्त पाठ में श्रावक को अठारह पाप से अंशत हटना और अशत. नही हटना कहा है। इसलिए श्रावक मिथ्यादर्शन-शल्य से भी अशत. हटा है और अशत नही हटा है। श्रावक मिथ्यादर्शन के जिस अश से नही हटा है, उस अश की अपेक्षा से श्रावक को मिथ्यादर्शन की क्रिया नही लगती ? यदि यह कहें कि श्रावक मिथ्यादर्शन-शल्य पाप से सर्वथा नही हटा है, फिर भी सम्यक्त्व की प्राप्ति होने के कारण उसे मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया नही लगती। उसी प्रकार अठारह पापो के जिस अश से श्रावक नही हटा है, उसका सेवन करने पर भी प्रत्याख्यान होने के कारण उसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया नही लगती। भगवती सूत्र मे स्पष्ट लिखा है कि श्रावक को प्रथम की तीन क्रियाएँ लगती है। अप्रत्याख्यानिकी और मिथ्यादर्शन-प्रत्यया क्रिया नही लगती।

"तत्थ णं जे ते संजयासंजया तेसि णं आदिओ तिण्णि किरिआओ कज्जंति।"

—भगवती १, २, २२

"संयतासंयत-श्रावक को आदि की तीन क्रियाएँ लगती हैं—१ आरंभिकी, २ पारिग्रहिकी और ३ माया प्रत्यया। शेष अप्रत्याख्यानिकी और मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रियाएँ नहीं लगतीं।"

अतः श्रावक को अव्रत की क्रिया लगने की प्ररूपणा करना आगम विरुद्ध है। फिर भी यदि कहे कि अठारह पापों का अंश शेष रहने के कारण उसे अव्रत की क्रिया लगनी चाहिए, तो श्रावक मे जो मिथ्यादर्शन शल्य का अंश शेष रहा है, उससे उसे मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया भी लगनी चाहिए। यदि यह कहे कि श्रावक मे मिथ्यादर्शन-प्रत्यया क्रिया वर्जित की गई है, तो उसी तरह उसमे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया लगने का भी आगम मे निषेध किया है। अत. श्रावक को अव्रत की क्रिया लगती है, ऐसा मानना नितान्त असत्य है।

उववाई एव सूत्रकृतांग सूत्र मे श्रावक को अठारह पाप से अंशतः हटने और अंशतः नही हटने का उल्लेख है।

"एगच्चाओ पाणाइवायाओ पडिविरया जाव-जीवाए एगच्चाओ अपडिविरया एवं जाव परिग्गहाओ पडिविरया एगच्चाओ अपडिविरया। एगच्चाओ कोहाओ, माणाओ, मायाओ, लोहाओ, पेज्जाओ, दोसाओ, कलहाओ, अब्भक्खाणा ओ, पेसुणाओ, परपरिवायाओ, अरति-रतिओ, मायामोसाओ, मिच्छादंसणसल्लाओ। पडिविरया जाव-जीवाए एग-च्चाओ अपडिविरया जाव-जीवाए।"

—उववाई प्रश्न १२

"श्रावक यावज्जीवन प्राणातिपात से लेकर परिग्रह पर्यन्त एक-एक अंश से निवृत्त और एक अंश से निवृत्त नहीं है। इसी तरह क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, रति-अरति, माया-मृषा और मिथ्यादर्शन-शल्य के एक-एक अंश से हटा है और एक-एक अंश से नहीं हटा है।"

प्रस्तुत पाठ मे श्रावक को अठारह पाप से अंशत' निवृत्त होना नही कहा है। अत वह अठारहवे पाप मिथ्यादर्शन शल्य से भी अंशत नही हटा है। उससे अंशत. नही हटने पर भी जब श्रावक को मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया नही लगती है, तब अठारह पाप से अंशत नही हटने पर भी उसे अव्रत की क्रिया कैसे लगेगी? अत उक्त पाठ के आधार पर श्रावक को अव्रत की क्रिया लगती है, ऐसा कहकर उसको अन्न-पानी के द्वारा सहायता करने मे एकान्त पाप कहना भारी भूल है।

साता पहुँचाना : शुभ कार्य है

श्रावक को अव्रत की क्रिया नही लगती, यह मुझे ज्ञात हुआ। परन्तु श्रावक को साता पहुचाने से धर्म या पुण्य होता है, इसका क्या प्रमाण है ?

भगवती सूत्र का अवलोकन करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रावक को साता पहुँचाने से धर्म और पुण्य होता है।

"गोयमा ! सण कुमारे देविन्दे देवराया बहूणं समणाणं, बहूणं समणीण, बहूणं सावयाणं, बहूण सावियाणं, हिय-कामए, सुह-कामए, पत्थ-कामए, अणुकम्पिए, निस्सेयसिए, हिय-सुह-निस्सेयसकामए, से तेणट्ठेणं गोयमा ! सणं कुमारे भव सिद्धिए जाव णो अचरिमे।"

—भगवती सूत्र ३, १, १४०

"हे गौतम ! सनत्कुमार देवेन्द्र बहुत से साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओ के हित, सुख, पथ्य, अनुकम्पा और मोक्ष की कामना करते हैं। इसलिए वह भवसिद्धि से लेकर यावत् चरम है।"

प्रस्तुत पाठ मे सनत्कुमार देवेन्द्र को साधु-साध्वी की तरह श्रावक और श्राविकाओ का भी हित, सुख, पथ्य, अनुकम्पा एव मोक्ष चाहने से भवसिद्धि से लेकर यावत् चरम होना कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि श्रावक और श्राविकाओ को साता पहुँचाने से धर्म और पुण्य होता है। जब सनत्कुमार देवेन्द्र को श्रावक-श्राविकाओ के हित, सुख, पथ्य आदि की कामना मात्र करने से इतना बडा उत्तम फल प्राप्त हुआ, तब फिर साक्षात् उनका हित, सुख एवं पथ्य आदि करने से तो कहना ही क्या ? अत जो श्रावक को सुखप्रद वस्तु प्रदान करके उसे धर्म मे सहायता देते है, वे धर्म का कार्य करते है, एकान्त पाप का नही। टीकाकार ने लिखा है—

"हितं सुख-निबन्धनं वस्तु 'सुह-कामए' त्ति सुखं शम, 'पत्थ-कामए' त्ति पथ्यं दुःख त्राण कस्मादेवमित्यत्त आह—'अनुकम्पिए' त्ति कृपावान्।"

"सुख-साधक वस्तु का नाम 'हित' है। सुख पहुँचाना 'सुख' है और दुःख से त्राण-रक्षा करना 'पथ्य' है।"

सनत्कुमार देवेन्द्र साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविकाओ पर अनुकम्पा रखते हैं, इसलिए वे उनके हित, सुख एवं पथ्य की कामना करते हैं।

यदि कोई यह तर्क करे कि प्रस्तुत पाठ में श्रावक-श्राविकाओ के शारीरिक हित, सुख एव पथ्य की कामना नही, उनके मोक्ष सम्बन्धी हित, सुख एव पथ्य की कामना करना कहा है। अत. श्रावक को शारीरिक सुख देना धर्म नहीं है। परन्तु यह तर्क उपयुक्त नही है। क्योकि यह पाठ श्रावक-श्राविकाओ की तरह साधु-साध्वियो के लिए भी आया है। अत. यदि श्रावक-श्राविकाओ के शारीरिक हित, सुख एवं पथ्य करने में धर्म, पुण्य नहीं है, तो साधु-साध्वियो का शारीरिक हित, सुख एव पथ्य करने में भी धर्म एव पुण्य नही होगा। यदि साधु-साध्वी के शारीरिक हित, सुख एवं पथ्य करने में धर्म और पुण्य होना मानते हो, तो श्रावक-श्राविकाओ के शारीरिक हित, सुख, एवं पथ्य करने से भी धर्म एव पुण्य मानना होगा।

उववाई सूत्र में श्रावक को धार्मिक, सुशील, सुव्रत, धर्मानुराग और धर्मपूर्वक जीविका करने वाला कहा है।

"अप्पिच्छा, अप्पारंभा, अप्प-परिग्गहा, धम्मिया, धम्माणुया, धम्मिट्ठा, धम्मक्खाइ, धम्मप्पलोइया, धम्मप्पलज्जणा, धम्मसमुदायारा, धम्मेण चेव वित्ति कप्पेमाणा विहरंति, सुशीला, सुव्वया, सुप्पडियाणंदा साहू।"

—उववाई सूत्र

"श्रावक अल्प इच्छावाले, अल्पारंभी, अल्प-परिग्रही, धार्मिक, धर्मानुग, धर्मिष्ठ, धर्माख्यायी, धर्मप्रलोकी, धर्मप्ररंजन, धर्म समुदाचार, धर्म पूर्वक जीविका करनेवाले, सुशील, सुव्रत, सुप्रत्यानन्द और साधु तुल्य होते हैं।"

आगमकार ऐसे विशेषण लगाकर जिसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते है, ऐसे श्रावक को कुपात्र बताना और उसे दान देकर उसके धर्म में सहायता पहुँचाने के काम में एकान्त पाप कहना कितनी भारी भूल है, यह बुद्धिमान पाठक स्वय सोच सकते हैं। सूत्रकृताग सूत्र में भी श्रावक को धर्म पक्ष में माना है।

"तत्थ णं जा सा सव्वओ विरयाविरई एस ठाणे आरंभ णो आरंभ ठाणे। एस ठाणे आरिए, केवले, पडिपुन्ने, णेयाउए, संसुद्धे, सलग-त्तणे, सिद्धिमग्गे, मुत्तिमग्गे, निव्वाणमग्गे, निज्जाणमग्गे, सव्वदु.ख-प्पहीणमग्गे, एगंत सम्मे साहू।"

—सूत्रकृताग, सूत्र २, २, ३९

"पूर्व कथित स्थानों में जो विरताविरत स्थान है, वह 'आरंभ णो आरंभ' कहलाता है। यह स्थान आर्य, केवल, प्रतिपूर्ण, नैयायिक, संशुद्ध, इन्द्रिय संयम, सिद्धिमार्ग, मुक्ति-मार्ग, निर्वाण-मार्ग, सर्वविध दु.खों का विनाशक मार्ग, एकान्त सम्यग्भूत और साधुभूत है।"

यहाँ विरताविरत स्थान को सम्यग्भूत, साधुभूत कहकर धर्म पक्ष में स्थापित किया है। यद्यपि कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य आदि कार्य करते समय श्रावक से आरभजा हिंसा भी होती है,

तथापि उसमे धर्म बहुलता होने के कारण उसकी धर्मपक्ष में ही गणना की है। टीकाकार ने भी इसका यही अर्थ किया है—

"एतच्च यद्यपि मिश्रत्वाद् धर्माधर्माभ्यामुपेतं तथापि धर्मं भूयिष्ठत्वात् धार्मिक पक्ष एवावतरति तद्यथा बहुषु गुणेषु मध्य पातितो दोषो नात्मानं लभते, कलक इव चन्द्रिकाया। तथा बहूदकमध्यपतितो मृच्छकलावयवोनोदकं कलुषयितुमलम् एव अधर्मोऽपि धर्ममितिस्थितं धार्मिक पक्ष एवायम्।"

"यह विरताविरत नामक स्थान यद्यपि मिश्र होने से धर्म और अधर्म दोनों से युक्त है, तथापि धर्म की बहुलता होने से यह धर्म पक्ष में ही सिद्ध होता है। क्योकि बहुत गुणो के मध्य में पड़ा हुआ थोड़ा-सा दोष अपना प्रभाव नहीं दिखलाता। वह चन्द्रमा की किरणों में कलंक की तरह छिप जाता है। जैसे बहुत जल में पड़ा हुआ मिट्टी का कण जल को गन्दा करने में समर्थ नहीं होता, उसी तरह बहुत धर्म के मध्य में पड़ा हुआ थोड़ा-सा अधर्म, धर्म को कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकता।"

यहाँ टीकाकार ने प्रस्तुत पाठ के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए श्रावक को धर्म पक्ष मे बताकर उसमें स्थित स्वल्प पाप को अकिंचित्कर एव नगण्य बताया है। अत उक्त पाठ एव उसकी टीका से श्रावक सुपात्र और धर्म-निष्ठ सिद्ध होता है। इसलिए श्रावक की सेवा-शुश्रूषा करने और दान-सम्मान आदि के द्वारा उसे धर्म कार्य में सहायता देने से एकान्त पाप कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध समझना चाहिए।

श्रावक : अव्रत का शस्त्र नही

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ९३ पर स्थानांग का मूलपाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ अठे दश शस्त्र कह्या तिण मे अव्रत ने भाव शस्त्र कह्यो। तो जे श्रावक ने अव्रत सेवाया रूड़ाफल किम लागे? ए तो अव्रत शस्त्र छै, माटे जेतला-जेतला श्रावक रे त्याग छै, ते तो व्रत छै। अने जेतलो आगार छै—ते सर्व अव्रत छै। आगार अव्रत सेव्या, सेवाया शस्त्र तीखो कीधो कहिये। पिण धर्म किम कहिये?"

स्थानाग सूत्र की उक्त गाथा लिखकर इसका समाधान कर रहे है—

"दश विहे सत्थे पण्णत्ते तं जहा—
सत्थमग्गी, विसं, लोणं, सिणेहो, खारमंविलं।
दुप्पउत्तो-मणो, वाया, काया, भावो य अविरई॥"

—स्थानांग सूत्र १०, ७४३

"शस्त्र दस प्रकार के होते हैं—१ अग्नि, २ विष, ३ नमक, ४ तैल-घी आदि चिकने पदार्थ, ५ भस्म आदि क्षार पदार्थ, ६ खटाई, ७ से ९ अयतना-पूर्वक प्रयुक्त मन, वचन और काय योग, और १० अप्रत्याख्यान।"

इसमे प्रथम के छः द्रव्य शस्त्र है और अन्तिम चार भाव शस्त्र है। जिसमे ये भाव शस्त्र है, यदि वह कुपात्र समझा जाए और उसको दान देने से शस्त्र को तीक्ष्ण करना एवं एकान्त पाप समझा जाए, तो षष्ठम गुणस्थान वर्ती प्रमत्त साधु को भी कुपात्र मानना होगा और उसे दान देना

उसके प्रमाद रूप शस्त्र को तीक्ष्ण करना एवं एकान्त पापमय कहना होगा। क्योंकि प्रमत्त साधु में प्रमादवश मन, वचन और काय योग का दुष्प्रयोग रूप भाव शस्त्र विद्यमान है। यदि यह कहें कि प्रमत्त साधु को जो दान दिया जाता है, वह प्रमाद की वृद्धि के लिए नही, उसके ज्ञान, दर्शन और चारित्र की उन्नति के लिए दिया जाता है। इसलिए उसे दान देना पाप नही होता। इसी तरह सरल भाव से यह भी समझना चाहिए कि श्रावक को दोष वृद्धि के लिए नही, उसके गुणो का पोषण करने के लिए दान दिया जाता है। अत. श्रावक को धर्म वृद्धि के लिए दान देना न तो एकान्त पाप है और न शस्त्र को तीक्ष्ण करना ही है। श्रावक को अव्रत की क्रिया भी नही लगती, इसलिए उसे दान देना अव्रत का सेवन कराना नही है। इस विषय मे पहले विस्तार से लिख चुके है। वास्तव मे जैसे प्रमत्त साधु को उसके मन, वचन और काय योग के दुष्प्रयोग को कम करने के लिए दान दिया जाता है, उसकी वृद्धि करने के लिए नही, उसी तरह श्रावक को भी उसके दोषो की निवृत्ति के लिए दान दिया जाता है, उसकी वृद्धि के लिए नही। अत श्रावक को दान देने मे एकान्त पाप कहना नितान्त असत्य है।

भ्रमविध्वंसनकार साधु के भोजन को धर्म मे और श्रावक के भोजन को पाप मे कहकर श्रावक को दान देने मे एकान्त पाप बताते है। परन्तु उनका यह कथन आगम विरुद्ध है। राजप्रश्नीय सूत्र मे भोजन विशेष से पुण्य होना भी कहा है।

"सुरियाभे णं भन्ते देवेणं सा दिव्वा देविड्ढी, सा दिव्वा देव जुइ, से दिव्वे देवाणुभागे किण्णा लद्धे, किण्णा पत्ते किण्णा अभिसमण्णा-गए, पुव्व-भवे के आसी किं नामए वा को वा गुत्तेणं कयरंसि वा गामंसि वा जाव सन्निवेसंसि वा किं वा दच्चा किं वा भोच्चा किं वा किच्चा किं वा समायरित्ता कस्स वा तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अन्तिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा णिसम्म जण्णं सुरियाभे णं देवेणं सा दिव्वा देव-इड्ढी जाव देवाणुभागे लद्धे पत्ते अभिसमण्णागए।"

—राजप्रश्नीय सूत्र ४७

"हे भगवन्! इस सूर्याभ देव ने ऐसी उत्तम देव ऋद्धि, ऐसी उत्तम द्युति और ऐसा दिव्य प्रभाव कैसे प्राप्त किया? यह सूर्याभ देव पूर्व जन्म में कौन था? इसका नाम और गोत्र क्या था? यह किस ग्राम या नगर में रहता था? इसने पूर्व जन्म में कौन-सा दान दिया? किस नीरस पदार्थ का भोजन किया? कौन-सा उद्योग और तप किया? किस श्रमण-माहन से इसने एक भी धर्म सम्बन्धी वाक्य सुना? जिससे इसको दिव्य ऋद्धि से लेकर यावत् इस प्रकार का प्रभाव प्राप्त हुआ।"

इस पाठ मे जैसे तथारूप के श्रमण-माहन से आर्य-धर्म सम्बन्धी वाक्य सुनने, दान देने, तप करने से दिव्य ऋद्धि की प्राप्ति कही गई है, उसी तरह भोजन करने से भी कही गई है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु के अतिरिक्त दूसरे व्यक्ति का खाना-पीना एकान्त पाप मे नही है। यदि शुभ भाव से नीरस एव सात्विक पदार्थ का भोजन किया जाए, तो उससे भी पुण्य होता है। अत. श्रावक के खाने-पीने के कार्य को एकान्त पाप मे बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

बन्ध राग-द्वेष से होता है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ९४ पर भगवती सूत्र शतक १, उद्देशा ८ का मूलपाठ बताकर लिखते है—

"अथ अठे कह्यो जे श्रावक देश थकी निवृत्यो, देश थकी नथी निवृत्यो, देश पचखाण कीधो, देश पचखाण कीधो नथी। जे देश थकी निवृत्यो अने देश पचखाण कियो तेणे करी देवता हुवे। इहा पचखाणे करी देवता थाय कह्यो, ते किम जे पचखाण पालता कष्ट थी पुण्य बधे तेणे करी देवायुष बधे कह्यो। पिण अव्रत सेव्या, सेवाया देवगति नो बध न कह्यो।" इन के कहने का भाव यह है कि उक्त पाठ मे श्रावक को देश प्रत्याख्यान से देवता होना कहा है, आगार के सेवन से नही। इसलिए श्रावक का आगार एकान्त पाप मे है।

भगवती सूत्र का वह पाठ लिखकर समाधान कर रहे है—

"बाल-पंडिए णं मणुसे किं नेरइयाउयं पकरेइ जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ ?

गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेइ जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ।

से केणट्ठेणं जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ ?

गोयमा ! बाल-पडिए णं मणुसे तहारूवस्स समणस्स-माहणस्स वा अन्तिए एगमवि आरियं धम्मियं सोच्चा णिसम्म देसं उवरयइ, देसं नो उवरयइ, देसं पचक्खाइ, देसं नो पचक्खाइ से तेणट्ठेणं देसोवरइ देस पच्चाक्खाणे णं नो नेरइयाउयं पकरेइ जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ। से तेणट्ठेणं जाव देवेसु उववज्जइ।"

—भगवती सूत्र १, ८, ६४

"हे भगवन् ! बाल-पण्डित मनुष्य, नरक, तिर्यंच और मनुष्य की आयु बांध कर नरकादि योनि में जाता है या देव आयु बांध कर देवता होता है ?

हे गौतम ! वाल-पण्डित मनुष्य नरकादि का आयु बांधकर नरकादि में नहीं जाता, किन्तु देव आयु बांधकर देव योनि में जन्म ग्रहण करता है।

ऐसा क्यों होता है ?

हे गौतम ! वाल-पण्डित मनुष्य तथारूप के श्रमण और माहन से आर्य धर्म सम्बन्धी एक भी वचन सुनकर देश से निवृत्त होता है और देश से निवृत्त नहीं होता। देश से प्रत्याख्यान करता है और देश से प्रत्याख्यान नहीं करता। अतः देश विरति और देश प्रत्याख्यान से उसको नरक आयु का वन्ध नहीं होता, किन्तु देव आयु को बांधकर वह देवता होता है।"

प्रस्तुत पाठ मे देश विरति और देश प्रत्याख्यान से नरकादि गतियो का वन्ध रुकना वताया है, न कि देवायु का वन्ध होना। यदि विरति और प्रत्याख्यान से आयु वन्ध होने लगे, तो फिर मोक्ष किससे और कैसे होगा ? प्रज्ञापना सूत्र की टीका मे विरति से वध होने का स्पष्ट शब्दो मे निषेध किया है।

"ननु विरतस्य कथं बन्धो ? न हि विरतिर्बन्ध हेतुर्भवति, यदि पुनर्विरति-रपि वन्ध हेतु स्यात्तदा निर्मोक्ष प्रसंगः उपायाभावात्।" उच्यते—

"नहि विरतिर्बन्ध हेतुः, किन्तु विरतस्य ये कषायास्ते बन्धकारण, तथाहि सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकेष्वपि संयमेषु कषाया. संज्वलनरूपा उदयप्राप्ताः सन्ति योगाश्च, ततो विरतस्यापि देवायुष्कादीनां शुभ प्रकृतीनां तत्प्रत्ययो वन्धः।"

—प्रज्ञापना, पद २२, २८७ टीका

"विरत पुरुष को वन्ध क्यों होगा ? विरति वन्ध का कारण नहीं है। यदि विरति से भी वन्ध हो, तो मोक्ष किससे होगा ? क्योंकि विरति से भिन्न कोई मोक्ष का कारण नहीं है।

विरति से वन्ध नहीं होता है। किन्तु विरत पुरुषों में जो कषाय हैं, वह वन्ध का कारण है। सामायिक, छेदोपस्थापन और परिहारविशुद्धि आदि संयमों में भी संज्वलनात्मक कषाय और योग का उदय रहता है। अतः उससे विरत पुरुषों को भी आयु आदि का वन्ध होता है।"

प्रस्तुत टीका मे विरति से वन्ध होने का निषेध किया है। अत. भगवती के उक्त पाठ में विरति और प्रत्याख्यान से देव आयु का वन्ध होना नही कहा है। विरति और प्रत्याख्यान से नरक आदि का आयु वन्ध नही होता, परन्तु विरत पुरुषो में जो कषाय और योग रहता है, उससे देव आयु का वन्ध होता है। अत. विरति और प्रत्याख्यान से देव आयु का वन्ध वताना मिथ्या है।

देश विरति और देश प्रत्याख्यान से जो काय कष्ट होता है, उससे पुण्य वन्ध मानकर देव आयु वन्ध की कल्पना करना भी युक्ति संगत नही है। आगम एव उसकी टीका में कही भी नही लिखा है कि विरति और प्रत्याख्यान से जो काय-क्लेश—कष्ट होता है, उससे वह देवता होता है। प्रज्ञापना सूत्र की टीका मे विरत पुरुषो मे उदित कषाय एव योग से देवता होना वताया है। अत. विरति और प्रत्याख्यान से जो काय-कष्ट होता है, उससे कर्मो की निर्जरा होती है, पुण्य-वन्ध नहीं। यदि विरति और प्रत्याख्यान से होने वाले काय-कष्ट से पुण्य वन्ध होने लगे, तो फिर कर्मों की निर्जरा किससे होगी ? अत उक्त कष्ट से पुण्य वन्ध मानकर देव-आयु वन्धने की कल्पना करना मिथ्या है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि देश विरति और देश प्रत्याख्यान से देवता नही होता, तो श्रावक किस धर्म के प्रभाव से देवता होता है ?

श्रावक मे जो अल्पारभ, अल्प परिग्रह, अल्प क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आश्रव होते है, उससे वे देवता होते है, देश विरति या देश प्रत्याख्यान से नही। क्योकि वन्ध आश्रव से होता है, सवर और निर्जरा से नही। देश विरति और देश प्रत्याख्यान सवर है, आश्रव नही। इसलिए इन से देवता होने की कल्पना करना आगम विरुद्ध है।

भगवती सूत्र शतक २, उद्देशा ५ मे स्पष्ट कहा है कि व्रत-प्रत्याख्यान एव उससे होने वाले कष्ट से देवता का आयु वन्ध नही होता।

"संजमे णं भन्ते ! किं फले ? तवे णं भन्ते ! किं फले ?
सजमे णं अज्जो ! अणण्हय फले। तवे णं वोदाण फले।"

—भगवती २, ५, १११

"तुंगिया नगरी के श्रावकों ने भगवान् पार्श्वनाथ के स्थविरों से पूछा—हे भगवन्! संयम और तप का क्या फल है ?

स्थविरों ने कहा कि संयम का फल है—नवीन कर्मों का आगमन रुकना। और तप का फल है, पूर्वकृत कर्मों का नाश करना।"

प्रस्तुत पाठ मे भगवान पार्श्वनाथ के स्थविरो ने व्रत और प्रत्याख्यान से सवर और निर्जरा का होना कहा है। अत व्रत-प्रत्याख्यान से पुण्य वन्ध मानना आगम विरुद्ध है। इसके अनन्तर उक्त श्रावको ने उक्त स्थविरो से पूछा कि भगवन् ! जव सयम और तप से सवर और निर्जरा होती है, तव पुरुष देवता कैसे होता है ? इस प्रश्न का चार स्थविरो ने चार तरह से उत्तर दिया—

एक ने कहा—"सराग अवस्था की तपस्या से व्रतधारी और तपस्वी पुरुष स्वर्ग मे जाते है।"

दूसरे ने कहा—"सराग अवस्था के संयम से जीव स्वर्ग मे जाता है।"

तीसरे ने कहा—"क्षय होने से बचे हुए कर्मो के द्वारा जीव स्वर्ग में जाते हैं।"

चतुर्थ ने कहा—"सासारिक पदार्थो में आसक्त होने से जीव देवता होते है।"

उक्त उत्तरो मे से प्रथम के दो उत्तरो का अभिप्राय वताते हुए टीकाकार ने लिखा है—

"ततश्च सरागकृतेन संयमेन तपसा च देव त्वावाप्तिः रागांशस्य कर्म-बन्ध हेतुत्वात्।"

"सराग संयम और सराग तप में जो रागांश विद्यमान है, वही कर्म-बन्ध का हेतु है। उस राग से ही सराग संयमी एवं सराग तपस्वी देव बनते हैं, संयम और तप से नहीं।"

तीसरे उत्तर में क्षय होने से वचे हुए कर्मो के कारण वन्ध होना कहा है। चौथे उत्तर में तपस्वी और संयमी पुरुषो का अपने उपकरणो पर जो ममत्वभाव है, उससे देव भव पाना वताया है, परन्तु सयम एव तप से देव भव पाना किसी ने नही कहा है। अत व्रत-प्रत्याख्यान से तथा उनके परिपालन से होने वाले काय-कष्ट से देवता होने की प्ररूपणा करना नितान्त असत्य है। वस्तुत. श्रावक अल्पारभ एव अल्प-परिग्रह आदि से देवता होता है। अत. उनका शुभ भाव से भोजन करना एकान्त पाप में कैसे हो सकता है ? यह बुद्धिमान पाठक स्वयं सोच सकते हैं।

दान का अनुमोदन पाप नहीं है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १०२ पर लिखते है—"अथ इहा पिण कह्यो, ते गृहस्यादिक ने देवो ससार भ्रमण रो हेतु जाणी ने साधु त्याग्यो। इम कह्यो तो गृहस्थ में तो श्रावक पिण आयो। तो ते श्रावक ने दान री साधु अनुमोदना किम करे? तिण मे धर्म-पुण किम कहे?"

सूत्रकृताग सूत्र की उक्त गाथा एव टीका लिखकर समाधान कर रहे है—

"जेणेहं णिव्वहे भिक्खू अन्नपाणं तहा-विहं।
अणुप्पयाणमन्नेसि तं विज्जं परिजाणिया॥"

—सूत्रकृताग सूत्र ९, २३

"येन अन्नेन-पानेन वा तथाविधेनेति सुपरिशुद्धेन कारणापेक्षयात्वशुद्धेन वा इह अस्मिन्लोके इदं सयम-यात्रादिक दुर्भिक्ष-रोगांतकादिक वा साधु निर्वहेन्निर्वाहयेद्वा तदन्नपानं वा तथाविधं द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापेक्षया शुद्धं कल्प गृहणीयात्। तथैतेषामन्नादीनामनुप्रदानमन्यस्मै साधवे सयमयात्रा निर्वहणसमर्थमनुतिष्ठेत्। यदि वा येन-केनचिदनुष्ठिते न इद सयम निर्वहेदसारतामापादयेत् तथाविधमशनंपानमन्यद्वा तथाविधमनुष्ठान न कुर्यात् तथैतेषामशनादीनामनुप्रदान गृहस्थानां परतीर्थिकानां स्वयूथ्यानां वा सयमोपघातक नानुशीलयेदिति। तदेतत् सर्वं ज्ञ-परिज्ञया ज्ञात्वा सम्यक् परिहरेत्।"

"संयति पुरुष उत्सर्ग मार्ग में शुद्ध और अपवाद—कारण की अपेक्षा से अशुद्ध जिस अन्न-पानी से दुर्भिक्ष एवं रोगांतक आदि में संयम का निर्वाह करता हो, वह अन्न-पानी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से शुद्ध और कल्प के अनुसार ही ग्रहण करे और उसी तरह का अन्न-पानी वह दूसरे साधु को भी संयम निर्वाह के लिए प्रदान करे। परन्तु जिस अनुष्ठान से साधु का संयम नष्ट होता हो, वैसा अन्न-पानी या अन्य कोई भी पदार्थ ग्रहण न करे। जिस अन्न से साधु का संयम भ्रष्ट हो जाए ऐसा आहार-पानी गृहस्थ, स्वयूथिक या परयूथिक को न दे। किन्तु ज्ञ परिज्ञा से उसे जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग दे।"

प्रस्तुत गाथा मे जिस आहार-पानी से साधु का सयम का नाश होता हो, उस आहार-पानी को स्वय लेने और दूसरो को देने का निषेध किया है। परन्तु ऐसा नही कहा है कि "गृहस्थ को दान देना ससार भ्रमण का हेतु जानकर साधु छोड दे।" भ्रमविध्वसनकार ने उक्त गाथा के नीचे जो टव्वा अर्थ लिखा है, वह न तो मूल पाठ से मिलता है और न टीका से। इसलिए वह अशुद्ध एव गलत अर्थ का बोधक है। अत इस गाथा का आश्रय लेकर गृहस्थ के दान को ससार भ्रमण का हेतु बताना अनुचित है।

प्रस्तुत गाथा के चतुर्थ चरण मे 'त विज्ज परिजाणिया' यह पद आया है। यदि कोई खीच तान कर इसका यह अर्थ करे कि पूर्वोक्त कार्य को ससार भ्रमण का कार्य जानकर साधु छोड दे, तो इसके पूर्व गाथा मे भी यही पद आया है, वहाँ भी यही अर्थ करना होगा।

"जस्सं किात्ति सलोयं च जाय वंदण पूयणा।
सव्व लोगसि जे कामा तं विज्जं परिजाणिया॥"

—सूत्रकृताग सूत्र ९, २२

"यश-कीर्ति, श्लाघा, वन्दन-पूजन और सांसारिक सकल कामनाएँ साधु को छोड़ देनी चाहिए।"

प्रस्तुत गाथा मे भी 'त विज्ज परिजाणिया' पद आया है, इससे साधु के वन्दन-पूजन और सत्कार-सम्मान को भी ससार परिभ्रमण का हेतु मानना होगा। यदि कोई इस सम्बन्ध मे यह कहे कि यह बात साधु को अपने लिए कही है। अत यदि वह अपने वदन आदि की इच्छा करे, तो यह उसके ससार परिभ्रमण का हेतु होगा। परन्तु यदि गृहस्थ साधु का वदन-पूजन करे तो यह कार्य बुरा नही है। इसी प्रकार २३ वीं गाथा भी साधु के लिए कही गई है। इसलिए यदि साधु गृहस्थ को अनुचित दान दे, तो उसे २३वी गाथा मे बुरा कहा है। परन्तु यदि गृहस्थ को अनुकम्पा दान दे, तो वह बुरा नही है। अत गृहस्थ के द्वारा गृहस्थ को दिए जाने वाले अनुकम्पा दान को एकान्त पाप बताना भारी भूल है।

साधु मर्यादा

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १०३ पर निशीथ सूत्र उ० १५, बोल ७८-७९ की समालोचना करते हुए लिखते है—"अथ इहा गृहस्थ ने अशनादिक दिया अने देता ने अनुमोद्या चौमासी प्रायश्चित्त कह्यो छै। अने श्रावक पिण गृहस्थ इज छै, ते माटे गृहस्थ नो दान साधु ने अनुमोदनो नही। धर्म हुवे तो अनुमोद्या प्रायश्चित्त क्यो कह्यो। धर्म री सदा ही साधु अनुमोदना करे छै।"

साधु जिस-जिस कार्य का अनुमोदन नही करते है, उन कार्यो को एकान्त पाप बताना मिथ्या है। कई कार्य ऐसे है जिनका साधु अनुमोदन नही करते, तब भी उन मे एकान्त पाप नही होता। जैसे निशीथ सूत्र मे लिखा है—

"जे भिक्खू अण्ण-उत्थियं वा गारत्थियं वा पज्जोसवेई-पज्जोसवन्त वा साइज्जई।"

—निशीथ सूत्र, उ० १०, सूत्र ४६

"जो साधु पर-यूथिक या गृहस्थ को पर्युषण कराता है और कराते हुए का अनुमोदन करता है, उसको प्रायश्चित्त आता है।

प्रस्तुत पाठ मे अन्य-यूथिक और गृहस्थ को पर्युषण कराने का अनुमोदन करने से साधु को प्रायश्चित्त कहा है। अत साधु इसका अनुमोदन नही करते, तथापि अन्य-यूथिक एव गृहस्थ को पर्युषण कराना एकान्त पाप का कार्य नही है। इसलिए गृहस्थ परस्पर एक दूसरे को पर्युषण कराते है। भ्रमविध्वसनकार के उपासक भी परस्पर पर्युषण कराते है। वे स्वय भी पर्युषण करने एव अन्य को कराने मे पाप नही मानते। फिर भी वे कहते है कि साधु जिस कार्य का अनुमोदन नही करते वह एकान्त पापमय है, यह उनका साम्प्रदायिक दुराग्रह मात्र है।

इसी तरह उववाई सूत्र मे गोशालक के साधुओ की भिक्षाचरी आदि तपस्या का वर्णन करके, उसका फल स्वर्ग प्राप्ति बताया है। उक्त पाठ और उसका अर्थ मिथ्यात्व अधिकार मे दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि साधु जिस कार्य का अनुमोदन नही करते, वह एकान्त पाप का कार्य नही है। क्योकि गोशालक मत के साधुओ की भिक्षाचरी एव तपस्या का साधु

अनुमोदन नही करते, फिर भी वह एकान्त पाप का कार्य नही है। क्योकि आगम मे इसका फल स्वर्ग प्राप्ति बताया है। अत. साधु जिस कार्य का समर्थन नही करते, उसमे एकान्त पाप बताना मिथ्या है।

निशीथ सूत्र उ० १५ के पाठ का अभिप्राय यह है कि यदि साधु उत्सर्ग मे किसी गृहस्थ को अन्नादि दे, तो उसका अनुमोदन करने वाले साधु को प्रायश्चित्त आता है। यदि गृहस्थ किसी गृहस्थ को अनुकम्पा दान दे, तो उसका अनुमोदन करने वाले साधु को इसमे प्रायश्चित्त नही कहा है। क्योकि उक्त आगम मे पर्युषण कराने के सम्बन्ध मे उसका भी इसी प्रकार का अर्थ होता है। इसलिए इस पाठ का भी उसी शैली से अर्थ करना उचित है।

इस पाठ मे ऐसा उल्लिखित है कि "गृहस्थ और अन्य-तीर्थी को पर्युषण कराने वाले का अनुमोदन करने से प्रायश्चित्त आता है।" इसका भाव यह है कि यदि साधु किसी अन्य तीर्थी या गृहस्थ को पर्युषण कराए, तो उसका अनुमोदन करने वाले साधु को प्रायश्चित्त आता है। उसी तरह निशीथ सूत्र, उद्देशा १५ के ७८-७९ सूत्र का भी यही अभिप्राय है कि उत्सर्ग मे गृहस्थ को दान देने वाले साधु का अनुमोदन करने से साधु को प्रायश्चित्त आता है। परन्तु गृहस्थ को अनुकम्पा बुद्धि से दान देनेवाले गृहस्थ का अनुमोदन करने से प्रायश्चित्त नही आता है। यदि कोई आगम के इस अर्थ को न मानकर गृहस्थ को अनुकम्पा दान देने वाले गृहस्थ की अनुकम्पा का अनुमोदन करने से भी साधु को प्रायश्चित्त बताए, तो फिर उनके विचार से गृहस्थ या अन्य तीर्थी को पर्युषण कराने वाले गृहस्थ का अनुमोदन करने से भी साधु को प्रायश्चित्त आना चाहिए। और जिस कार्य का साधु अनुमोदन नही करते, ऐसे पर्युषण रूप कार्य को करने और कराने वाले गृहस्थ को एकान्त पाप होना चाहिए। परन्तु यह मान्यता आगम सम्मत नही है। पर्युषण करने एव कराने वाले गृहस्थ को एकान्त पाप नही होता और उसका अनुमोदन करने वाले साधु को भी प्रायश्चित्त नही आता। इसी तरह जो गृहस्थ, गृहस्थ को अनुकम्पा दान देता है, उसे एकान्त पाप नही होता और न उसका अनुमोदन करने वाले साधु को ही प्रायश्चित्त आता है। भ्रमविध्वसनकार ने उक्त पाठ के पूर्वापर का विचार किए बिना गृहस्थ को दान देने वाले गृहस्थ का अनुमोदन करने से साधु को प्रायश्चित्त आता है, ऐसा अर्थ किया है, वह अविवेक-पूर्ण है।

निशीथ सूत्र मे ऐसे अनेक पाठ मिलते है। यदि इन पाठो का भ्रमविध्वसनकार की सूझ-बूझ के अनुसार अर्थ किया जाए तो अर्थ का महा-अनर्थ हो जाएगा। जैसा कि निशीथ सूत्र में एक पाठ आया है—

"जे भिक्खू वासावासं पज्जोसवीयंसि गामाणुगामं दुइज्जइ दुइज्जंतं वा साइज्जइ।"

—निशीथ सूत्र उ० १०, सूत्र ७१

"जो साधु पर्युषण के पूर्व वर्षावास में विहार करता है या विहार करने वाले को अच्छा समझता है, उसे प्रायश्चित्त आता है।"

इस पाठ मे वर्षा ऋतु मे ग्रामानुग्राम विहार करने वाले एव उसे अच्छा समझने वाले साधु को प्रायश्चित्त बताया है। यदि कोई साधु गुरु दर्शन के लिए पावस ऋतु में विहार करता है और जो साधु उसके विहार का अनुमोदन करता है, उन दोनो को प्रायश्चित्त आता है। अत.

भ्रमविध्वंसनकार के मत से जो श्रावक वर्षावास मे साधु के दर्शनार्थ एक गाँव से दूसरे गाँव जाते हैं और जो साधु उस श्रावक का अनुमोदन करते है, उन दोनो को प्रायश्चित्त आना चाहिए। क्योकि जैसे गृहस्थ को अनुकम्पा दान देने वाले गृहस्थ का अनुमोदन करने वाले साधु को भ्रमविध्वंसनकार प्रायश्चित्त आना मानते हैं। अत. वर्षावास मे साधु के दर्शनार्थ विहार करने वाले श्रावक का अनुमोदन करने वाले साधु को भी प्रायश्चित्त आता है, ऐसा मानना होगा। यदि यह कहे कि उक्त पाठ का अभिप्राय यह है कि वर्षावास मे साधु के दर्शनार्थ साधु जाता हो और दूसरा साधु उसका अनुमोदन करता हो, तो उन दोनो को प्रायश्चित्त आता है, न कि साधु के दर्शनार्थ पावस ऋतु मे जाने वाले श्रावक एव उसका अनुमोदन करने वाले साधु को प्रायश्चित्त आता है। इसी सद्‌बुद्धि से यह समझना चाहिए कि गृहस्थ को दान देने वाले साधु का अनुमोदन करने से साधु को प्रायश्चित्त बताया है, गृहस्थ को दान देने वाले गृहस्थ का अनुमोदन करने से नही।

भ्रमविध्वंसनकार ने श्रावक को दिए जाने वाले दान मे एकान्त पाप सिद्ध करने के लिए निशीथ का जो पाठ लिखा है, उसकी चूर्णि मे अपवाद मार्ग मे अवसर आने पर साधु को भी गृहस्थ को दान देने का विधान किया है।

"जे भिक्खू अण्ण-उत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा असणं वा ४ देइ दयंतं वा साइज्जइ।"

—निशीथ सूत्र उ० १५, सूत्र ७५

"जत्थ गिहीणं अण्ण-तित्थियाणय साधुणेय अंचियकाले दुलभे भत्तपाणे दडियमादिणा साहारणं दिण्णं तत्थ ते गिही अण्ण-तित्थिया वा विभज्जावेयव्वा। अहते अनिच्छा साघु भण्णेजा। अहवा ते पंता ताहे साहू विभयति साधुणा विभयं तेण सव्वेसि बहु समागमे व विभइयव्वं एसुवदेसो।"

—निशीथ चूर्णि, उ० १५, भाष्यगाथा ४९६८

"यदि किसी अकाल या दुष्काल के समय दाता अन्य-तीर्थी, गृहस्थ और साधु को शामिल में ही भिक्षा दे, तो साधु उस आहार का विभाग अन्य-तीर्थी और गृहस्थो से ही कराए। यदि वे स्वयं विभाग न कर साधु से ही विभाग कराने की इच्छा प्रकट करे, तो साधु सब को बराबर बाँट कर दे। यही आगम का उपदेश है।"

प्रस्तुत चूर्णि मे स्पष्ट लिखा है—"कारण वश साधु अन्य-तीर्थी और गृहस्थ को शामिल मिली हुई भिक्षा को सबको बाँटकर दे सकता है।" जब साधु भी अकालादि के समय अपवाद मार्ग मे अन्य-तीर्थी और गृहस्थ को शामिल मे लाई हुई भिक्षा बाँटकर देता है, तब यदि दीन-हीन जीवो पर दया करके कोई गृहस्थ दान दे, तो उसमे एकान्त पाप कैसे हो सकता है? यह उल्लेख सिर्फ निशीथ चूर्णि में ही नही, आचाराग सूत्र में भी मिलता है।

"से भिक्खू वा २ से जं पुण जाणिज्जा समणं वा माहणं वा गामपिण्डोलगं वा अतिहि वा पुव्व-पविट्ठं पेहाए नो तेसि संलोए सपडिदुवारे चिट्ठिज्जा से तमायाय एगंतमवक्कमेज्जा अवक्कामित्ता अणावायमसंलोए चिट्ठिजा से परो अणावायमसंलोए चिट्ठमाणस्स असणं वा

४ आहट्टु दलइज्जा से य एवं वएज्जा,आउसंतो समणा! इमे भे असणं वा ४ सव्व जणाए निसट्ठे तं भुंजह वा-णं परिभाएह वा णं तं चेगइओ पडिगाहित्ता तुसिणीओ उवेहिज्जा, अवियाइं एयं ममभेव सिया, माइट्ठाण संफासे नो एवं करिज्जा, से तमायाए तत्थ गच्छिज्जा २ से पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसतो समणा! इमे भे असणे वा ४ सव्व-जणाए निसिट्ठे तं भुंजह वा णं जाव परिभाएह वा णं, सेणमेव वयं तं परोवइज्जा—आउ-संतो समणा ! तुम चेव णं परिभाएह, से तत्थ परिभाएमाणे नो अप्पणो खद्धं-खद्ध, डायं-डायं, ऊसढं-ऊसढं, रसियं-रसियं, मणुन्नं-मणुन्नं निद्धं-निद्धं, लुक्खं-लुक्खं से तत्थ अमुच्छिए अगिद्धे अगढिए अणज्झोववन्ने बहु सममेव परिभाइज्जा, से णं परिभाएमाणं परोवइज्जा—आउसतो समणा ! मा ण तुमं परिभाएहि सव्वे वेगइ आठिआ उ भक्खामो वा पहामो वा, से तत्थ भुंजमाणे नो अप्पणा खद्धं-खद्धं जाव लुक्खं, से तत्थ अमुच्छिए ४ बहु सममव भुंजिज्जा वा पइज्जा वा।"

—आचारांग सूत्र २, १, ५, २९

"स भिक्षुर्ग्रामादौ, भिक्षार्थं प्रविष्टो यदि पुनरेवं विजानीयात् यथाऽत्र गृहे श्रमणादि कश्चित्प्रविष्ट, तं च पूर्वं प्रविष्ट प्रेक्ष्य दातृ-प्रतिग्राहका समाधाना-न्तराय भयान्न तदालोके तिष्ठेत्, नापि तन्निर्गमद्वारं प्रति दातृ-प्रतिग्राहकास-माधानान्तराय भयात्, किन्तु स भिक्षुस्तं श्रमणादिकं भिक्षार्थमुपस्थितं 'आदाय' अवगम्यैकान्तमवक्रामेत् अपक्रम्य चान्येषां चानापाते—विजनेऽसंलोके च सतिष्ठेत्, तत्र च तिष्ठत स गृहस्थ 'से' तस्य भिक्षोश्चतुर्विधमप्याहार-माहृत्य दद्यात, प्रयच्छेश्चैतद् ब्रूयाद् यथा यूयं बहवो भिक्षार्थमुपस्थिता अहं च व्याकुलत्वान्नाहार विभजयितुमलमतो। हे आयुष्मन्ता श्रमणा ! अयमाहार-श्चतुर्विधोऽपि 'भ' युष्मभ्यं सर्वं जनार्थं मया निसृष्टोदत्तस्ततःसाम्प्रतं स्वरूच्या तमाहारमेकत्र वा भुङ्ध्वं परिभजध्वं वा विभज्य वा गृहणीतेत्यर्थः, तदेवंविधं-आहार उत्सर्गतो न ग्राह्य दुर्भिक्षेत्राऽध्वान निर्गतादौ वा द्वितीय पदे कारणे सति गृहणीयात् गृहीत्वा च नैव कुर्याद् यथा तमाहारं गृहीत्वा तूष्णीको गच्छन्नैव-मुत्प्रेक्षेत यथा ममैवायमेकस्य दत्तोऽपि चायमल्पत्वान्ममैवेकस्य स्याद्। एव च मातृस्थान सस्पृशेद्, अतो नैव कुर्यादिति। यथा च कुर्यात्तथा च दर्शयति—स भिक्षुस्तमाहार गृहीत्वा तत्र श्रमणाद्यान्तिके गच्छेद्, गत्वा च स. 'पूर्वमेव' आदावेव तेषामाहार 'आलोकयेत्' दर्शयेत् इदं च ब्रूयाद्—यथा भो आयुष्मन्त श्रमणादय ! अयमशनादिक आहारो युष्माकं सर्वं जनार्थमविभक्त एव गृहस्थेन

निसृष्टो–दत्तस्तद्यूयमेकत्र भुङ्क्ध्वं विभजध्वं वा, 'से' अथैनं साधुमेवं ब्रुवाणं कश्चिद् श्रमणादिरेव ब्रूयाद्–यथा भो आयुष्मन् श्रमण ! त्वमेवास्माकं परि-भाज्य, नैव तावत् कुर्यात् । अथ सति कारणे कुर्यात् तदाऽनेन विधिनेति दर्शयति। स भिक्षुर्विभाजयन्नात्मनः 'खद्धं-खद्धं' चुर-प्रचुर, 'डागं' ति शाकम् 'ऊसढं' ति उच्छ्रित वर्णादि गुणोपेत, शेषं सुगमम् यावद् रूक्षमिति न गृह्णीयादिति। अपि च 'स' भिक्षुः 'तत्र' आहारेऽमूर्छितोऽगृद्धोऽनादृतोऽनध्युपपन्न इति एतान्यादर-ख्यापनार्थमेकर्थिकान्युपात्तानि कथञ्चिद्भेदाद्वा व्याख्यातव्यानि इति, तदेवं प्रभूत समं परिभाजयेत् । तं च साधु परिभाज्य तं कश्चिदेव ब्रूयाद्–यथा आयुष्मन् श्रमण ! मा त्वं परिभाजय, किन्तु सर्वं एव चैकत्र व्यवस्थिता वयं भोक्ष्यामहे पास्यामो वा, तत्र पर-तीर्थिकै सार्द्धं न भोक्तव्य। स्व-यूथैश्च पार्श्वस्थादिभिः सह साम्भोगिकै सहौघालोचनां दत्वा, भुञ्जानानामयं विधि। तद्यथा नो आत्मन इत्यादि सुगममिति।"

—आचाराग टीका, आगमोदय समिति पृष्ठ ३३९

"किसी ग्राम या नगर में भिक्षा के लिए गए हुए साधु को यह ज्ञात हो जाए कि इस घर में दूसरा भिक्षु भिक्षार्थ गया हुआ है, तो साधु–दाता और याचक के असंतोष एवं अन्तराय के भय से उनके सम्मुख खड़ा न रहे और न उस घर के द्वार पर ही ठहरे, परन्तु वह वहाँ से हटकर किसी एकान्त स्थान में चला जाए और जहाँ मनुष्यों का गमनागमन कम होता हो तथा दाता एवं याचक की दृष्टि भी न पड़ती हो, वहाँ जाकर खड़ा रहे। ऐसे स्थान पर स्थित साधु के पास आकर यदि वह गृहस्थ चतुर्विध आहार देकर कहे, 'हे आयुष्मन् श्रमण ! आज आप बहुत से भिक्षुक मेरे द्वार पर भिक्षार्थ आए हैं, परन्तु मैं कार्य विशेष में व्यस्त रहता हूँ, अतः आप सब को अलग-अलग बाँटकर देने में असमर्थ हूँ। इसलिए यह चतुर्विध आहार आप सब को इकट्ठा देता हूँ। आप सब अपनी इच्छानुसार एक साथ खा लें या बाँटकर खा लें। उत्सर्ग मार्ग में तो साधु उस आहार को ग्रहण न करें, परन्तु दुर्भिक्ष आदि के समय या मार्ग की थकावट की हालत में साधु उस भिक्षा को ले सकता है। उसे लेकर यदि साधु यह सोचे कि यह भिक्षा गृहस्थ ने मुझ को ही दी है और यह है भी थोड़ी इसलिए इसे मैं ही खालूँ, तो वह कपट का सेवन करता है। साधु को ऐसा कार्य कदापि नहीं करना चाहिए। अतः उस भिक्षा को लेकर साधु अन्य भिक्षुकों के पास जाए और उन्हें दिखाकर यह कहे कि हे श्रमणो ! गृहस्थ ने यह आहार हम सब के लिए सम्मलित ही दिया है। अतः यदि आप चाहें तो हम सब साथ ही खा लें या परस्पर बाँटकर खा लें। यह सुनकर यदि वे यह कहें कि हे आयुष्मन् श्रमण ! आप ही बाँट कर दे दो। उत्सर्ग मार्ग में तो साधु इसे स्वीकार न करें, परन्तु अपवाद मार्ग में यदि उसे बाँटना पड़े, तो वह पदार्थों के प्रलोभन में आकर सुन्दर, सुवासित, स्निग्ध, रुक्ष और मनोज्ञ आहार अपने हिस्से में अधिक न रखे, परन्तु सब पदार्थों का सम विभाग करे। उस समय यदि वे यह कहें कि हे आयुष्मन् श्रमण ! आप इसे न बाँटें। हम सब साथ-साथ खा लेंगे, तो साधु पर-तीर्थियों के साथ भोजन न करे। अपने यूथ के पार्श्वस्थ साम्भोगिक साधु के साथ आलोचना लेकर खा लें। परन्तु आहार करते

समय साधु उस आहार में मूच्छित होकर अच्छे-अच्छे पदार्थ साथियो से अधिक न खाए, सबके साथ बराबर खाए।"

प्रस्तुत पाठ मे अपवाद मार्ग मे साधु को दूसरे भिक्षुओ के साथ प्राप्त हुई भिक्षा को बाँटकर देना कहा है। अत अपवाद मार्ग मे साधु भी अन्य तीर्थी एव गृहस्थ को दे सकते है। जब साधु भी उन्हे अपवाद मार्ग मे दे सकते है, तब यदि कोई गृहस्थ किसी गृहस्थ को दान देकर उसके धर्म की रक्षा करता है, तो उसे एकान्त पाप कैसे होगा? अत निशीथ सूत्र के पाठ का नाम लेकर गृहस्थ को अनुकम्पा दान देने मे एकान्त पाप बताना भारी भूल है।

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १०३ पर लिखते है, "इण निशीथ नें पनर मे उद्देशे एहवो पाठ कह्यो छै—

'जे भिक्खू सचित्त अंबं भुजइ-भुंज त वा साइज्जइ।'

इहा कह्यो सचित्त आबो भोगवें तो अने भोगवता ने अनुमोदे तो प्रायश्चित आवे। जो साधु भोगवतो हुवे तेहनें अनुमोदणो नही, तो गृहस्थ आबो भोगवें तेहने साधु किम अनुमोदे? जो गृहस्थ रा दान नें साधु अनुमोदे तो तिणरा लेखे आबो गृहस्थ भोगवे,तेहनें पिण अनुमोदणो।"

आम्र फल वाले पाठ का दृष्टान्त देकर गृहस्थ के दान को एकान्त पाप मे स्थापित करना मिथ्या है। सचित्त आम्र खाने मे प्रत्यक्षत जीवो की हिंसा होती है, इसलिए साधु उसका अनुमोदन नही कर सकता। सचित्त आम्र चाहे गृहस्थ खाए या साधु, साधु दोनो को बुरा समझता है, परन्तु गृहस्थ के दान मे यह मान्यता घटित नही होती। यदि कोई गृहस्थ अनुकम्पा करके किसी गृहस्थ को अचित्त आहार एव दधि आदि अचित्त पदार्थो का दान दे, तो उसमें कौन-से जीवो की हिंसा होती है? जिससे साधु अनुकम्पा दान का अनुमोदन न करे। साधु हिंसा का अनुमोदन नही करता, परन्तु अनुकम्पा का अनुमोदन करता है। अस्तु, सचित्त आम्र फल का दृष्टान्त देकर दीन-हीन जीवो को अनुकम्पा बुद्धि से दान देने में एकान्त पाप बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

विधि और निषेध

यदि गृहस्थ को दान देने से पुण्य होता है, तो साधु उत्सर्ग मार्ग मे गृहस्थ को दान क्यो नही देता? और निशीथ सूत्र मे गृहस्थ को दान देने वाले साधु को प्रायश्चित क्यो कहा?

गृहस्थ तथा अन्य-तीर्थी पर अनुकम्पा लाकर दान देने से एकान्त पाप होता है, इसलिए निशीथ सूत्र मे साधु के लिए गृहस्थ को दान देने का निषेध नही किया है। परन्तु ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप विराट् धर्म को छोडकर अनुकम्पा दान रूप साधारण पुण्य को ग्रहण करना साधु के लिए निषिद्ध कहा है। अनुकम्पा दान का पुण्य लाभ तो गृहस्थ अवस्था मे भी किया जा सकता है, परन्तु ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप धर्म का लाभ गृहस्थ अवस्था मे पूर्णत नही हो सकता। इसलिए गृहस्थ अवस्था का त्याग करके दीक्षा स्वीकार की जाती है। दीक्षित होने का उद्देश्य ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की उन्नति करना है। अत उस प्रमुख उद्देश्य का परित्याग करके, साधारण पुण्य कार्य मे प्रवृत्त होना साधु के लिए उचित नही है। यह कार्य उसकी उन्नति में बाधक है। यदि कोई रत्नो का व्यापारी रत्नो के व्यापार को छोडकर पैसो के व्यापार मे प्रवृत्त हो जाए, तो यह उसके लिए उचित नही कहा जा सकता। यद्यपि पैसो के व्यापार में केवल

घाटा ही नही, लाभ भी मिलता है, लेकिन रत्नो के व्यापार मे मिलने वाले लाभ के समक्ष वह सामान्य है। उसी तरह ज्ञान, दर्शन और चारित्र के महान् लाभ को ठोकर मारकर, जो पुण्य के साधारण लाभ के कार्य मे प्रवृत्त होता है, वह महान् लाभ को त्यागकर साधारण लाभ का कार्य करता है। इस अपेक्षा से आगम मे साधु को गृहस्थ को दान देने का निषेध किया है, परन्तु अनुकम्पा दान एकान्त पाप है, इसलिए नही।

यदि कोई यह तर्क करे कि "गृहस्थ को दान देने से साधु के ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की उन्नति मे क्या बाधा होती है?"

इसका समाधान यह है कि साधु को अपने शरीर निर्वाह से अधिक भोजन लेना नही कल्पता। यदि साधु अन्य-तीर्थी और गृहस्थ को अनुकम्पा दान दे, तो उसे अपनी आवश्यकता से अधिक आहार लाना पड़ेगा और आवश्यकता से अधिक आहार लेने पर उसकी निरवद्य भिक्षावृत्ति नही रह सकती। इस तरह चारित्र मे बाधा उपस्थित होती है। और गृहस्थो एव अन्य-तीर्थियो के साथ परिचय बढने से दर्शन मे गिरावट आ जाती है। इस कारण निशीथ सूत्र मे गृहस्थ को दान देने का निषेध किया है, एकान्त पाप जानकर नही। निशीथ सूत्र मे शिथिलाचारी साधु से अन्न, वस्त्र, कम्बल आदि लेने से साधु को प्रायश्चित्त कहा है।

"जे भिक्खू पासत्थस्स असणं, पाणं, खाइमं, साइमं पडिच्छइ-पडिच्छं तं वा साइज्जइ।"

"जे भिक्खू पासत्थस्स वत्थं वा पड़िग्गहं वा कम्बलं वा पाय-पुंच्छणं वा पडिच्छइ-पडिच्छं तं वा साइज्जइ।"

—निशीथ सूत्र उ० १५, सूत्र ७८ और ९०

"जो साधु पार्श्वस्थ साधु से अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य ग्रहण करता है, या ग्रहण करते हुए को अच्छा समझता है, उसे प्रायश्चित्त आता है।

जो साधु पार्श्वस्थ साधु से वस्त्र, पात्र, कम्बल, और पाद-प्रोंछन ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले को अच्छा समझता है, उसे प्रायश्चित्त आता है।"

इस पाठ मे शिथिलाचारी साधु से जो साधु अशन-पान एव वस्त्र आदि ग्रहण करता है, या ग्रहण करने वाले को अच्छा समझता है, उसे प्रायश्चित्त का अधिकारी कहा है। यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि साधु उक्त वस्तुएँ गृहस्थ से लेता है और गृहस्थ पार्श्वस्थ से निम्न श्रेणी का है। अत: जब गृहस्थ से उक्त वस्तुओ का लेना बुरा नही है, तब पार्श्वस्थ से लेने मे दोष क्यो कहा है? इसका उत्तर यही है कि शिथिलाचारी साधु के साथ लेन-देन का अधिक ससर्ग रखने से संसर्ग दोष के कारण साधु स्वय शिथिलाचारी हो सकता है। इस सभावना के कारण ही निशीथ सूत्र मे शिथिलाचारी साधु से अन्न, वस्त्र आदि लेने देने का निषेध किया है, एकान्त पाप जानकर नहीं। उसी तरह ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की उन्नति मे अवरोध न हो, इसलिए उत्सर्ग-मार्ग मे गृहस्थ एवं अन्य-तीर्थी को दान देने का निषेध किया है, एकान्त पाप समझकर नही।

उत्तराध्ययन सूत्र अ० १, गाथा ३५ मे साधु को ऐसे स्थानो मे आहार करने का विधान है, जो चारो ओर से आवृत्त हो। इस विधान का अभिप्राय बताते हुए टीकाकार ने लिखा है—

"तत्रापि प्रतिच्छन्ने उपरि प्रावरणान्विते अन्यथा-संपातिम सत्व संपात सभवात्। सकटे पार्श्वत-कट-कुड्यादिना संकट द्वारे अटव्यां कुडङ्गादिपु वा अन्यथा दीनादि याचने दानादानयो पुण्य-वन्ध प्रद्वेपादि दर्शनात्।"

"साधु को ऊपर से आच्छादित मकान में आहार करना चाहिए, अन्यथा उड़ने वाले जीव वहाँ आ सकते है। साधु को दीवार या चटाई के द्वारा चारों ओर से आवृत्त मकान में आहार करना चाहिए, अन्यथा दीन-दुःखी के मांगने पर देने से पुण्य और नहीं देने से विद्वेष होगा।"

यहाँ टीकाकार ने दीन-दुःखी जीवो को दान देने से पुण्य होना वताया है, एकान्त पाप नहीं। परन्तु ऐसे सामान्य पुण्य कार्य मे साधु को प्रवृत्त होना उचित नही है। इसलिए साधु को खुले स्थान मे भोजन करने का निषेध किया है। साधु स्वयं दीन-हीन जीवो को अनुकम्पा दान नही देता। इसलिए यदि कोई उसमे एकान्त पाप कहे तो उन्हे भगवती सूत्र का निम्न पाठ वताकर उनके भ्रम को दूर करना चाहिए—

"निग्गंथं च णं गाहावइ कुलं पिण्डवाय पडियाए अणुप्पविट्ठं केई दोहि पिण्डेहि उव निमन्तेज्जा। एगं आउसो! अप्पणा भुंजाहि, एगं थेराणं दलीयाहि। से यं तं पिण्डं पडिग्गाहेज्जा थेराय से अणुगवेसिय-व्वासिया जत्थेव अणुगवेसमाणे थेरे पासिज्जा तत्थेवाणुप्पदायव्वे सिया नो चेव णं अणुवेसमाणे थेरे पासिज्जा तं नो अप्पणा भुंजेज्जा, नो अन्नेसिं दावए, एगंते अणावाए अचित्ते वहुफासए थण्डिले प्डिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठावे सिया।"

—भगवती सूत्र ८, ६, ३३३

"यदि गृहस्थ के घर भिक्षार्थ गए हुए साधु को कोई गृहस्थ दो पिंड—लड्डू दे और यह कहे, 'हे आयुष्मन् श्रमण! इसमें से एक आप खा लेना और दूसरा स्थविर को देना।' तव वह साधु दोनों लड्डुओ को लेकर स्थविर की गवेषणा करे और जहाँ स्थविर को देखे, वहाँ जाकर उन्हें एक मोदक दे दे। यदि खोज करने पर भी स्थविर न मिले, तो वह मोदक स्वयं न खाए और न अन्य साधु को दे, परन्तु एकान्त और वहुत प्रासुक स्थान का प्रमार्जन एवं प्रतिलेखन करके उसे वहाँ परठ दे।"

इस पाठ में कहा है, "गृहस्थ से स्थविर के लिए दानार्थ मिला हुआ मोदक स्थविर के नहीं मिलने पर साधु किसी अन्य साधु को न दे।" अतः भ्रमविध्वंसनकार के मत से साधु को देना भी पाप होना चाहिए। क्योकि साधु स्थविर को देने के लिए मिला हुआ पिण्ड स्थविर से भिन्न दूसरे साधु को नहीं देता। यदि यह कहे कि साधु ने वह पिण्ड स्थविर को देने की प्रतिज्ञा से लिया है, इसलिए वह उस पिण्ड को अन्य साधु को नहीं देता, परन्तु साधु को देने में पाप नहीं है। इसी तरह साधु ने अपने एव अपने सांभोगिक साधुओं के खाने के लिए गृहस्थ से भिक्षा ली है, दूसरे को देने के लिए नहीं। इसलिए वह अपना भिक्षान्न किसी गृहस्थ या अन्य-तीर्थी को नही देता। परन्तु गृहस्थ या अन्य-तीर्थी को अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप नहीं है। अतः गृहस्थ या अन्य-तीर्थी को अनुकम्पा दान देने में एकान्त पाप कहना आगम विरुद्ध है।

दान-देना शुभ कार्य है

यदि साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने से पुण्य बन्ध होना कही मूलपाठ मे लिखा हो तो बताएँ।

दशवैकालिक सूत्र मे साधु से भिन्न व्यक्ति को अनुकम्पा दान देना पुण्य का कार्य कहा है।

"असणं पाणगं वावि खाइम साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा पुण्णट्ठा पगडं इमं ॥
तं भवे भत्त-पाणं तु संजया ण अकप्पिय।
दितिय पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥"

—दशवैकालिक सूत्र ५, १, ४९-५०

"भिक्षा के लिए गया हुआ साधु, यदि यह जाने या सुने कि यह अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य पुण्यार्थ बनाया गया है, तो उसे अपने लिए अकल्पनीय समझे। यदि कोई वह अन्न उसे देने लगे तो वह उसे कहे कि पुण्यार्थ बनाया हुआ अन्न मुझे लेना नही कल्पता।"

उक्त गाथा मे साधु से भिन्न व्यक्तियो को देने के लिए बनाए गए अन्न को 'पुण्यार्थ' कहा है। यदि साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने मे एकान्त पाप होता, तो यहाँ इस अन्न को पुण्यार्थ प्रकृत कैसे कहते ? अत साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने मे एकान्त पाप कहना गलत है। क्योकि जिस घर मे साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने के लिए आहार बनाते हैं,उस घर को टीकाकार ने शिष्ट घर कहा है—

"पुण्यार्थं प्रकृत परित्यागे शिष्ट कुलेषु वस्तुतो भिक्षा या अग्रहणमेव शिष्टानां पुण्यार्थमेव पाक प्रवृत्तः।"

मूल पाठ के गूढ अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत टीका मे शका करते हुए लिखा है—"यदि साधु पुण्यार्थ बनाया हुआ अन्न नही लेता तो फिर वह शिष्ट लोगो के घरो मे भिक्षा ले ही नही सकता। क्योकि शिष्ट लोगो की पुण्यार्थ ही पाक मे प्रवृत्ति होती है।"

यहाँ टीकाकार ने साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने के लिए जिस घर मे भोजन बनाया जाता है, उसे शिष्ट कहा है, एकान्त पापी नही। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने मे एकान्त पाप नही, पुण्य भी होता है। अत दीन-हीन जीवो को अनुकम्पा दान देने मे एकान्त पाप कहना मिथ्या है।

सेवा करना : धर्म है

यदि श्रावको की सेवा-भक्ति और दान-सम्मान करने का शुभ फल होता है, इसका कही मूल पाठ मे वर्णन हो तो बताएँ।

भगवती सूत्र श० २, उ० ५ के मूलपाठ मे श्रावक की सेवा-भक्ति करने से शुभ फल होने का का स्पष्ट उल्लेख किया है—

"तहारूवे णं भन्ते ! समण वा माहण वा पज्जुवासमाणस्स कि फला ?

पज्जुवासणा णाण फला।

से णं भन्ते ! णाणे कि फले ?

विण्णाण फले।

से ण भन्ते ! विण्णाणे कि फले ?

पच्चक्खाण फले।

से णं भन्ते ! पच्चक्खाणे कि फले ?

सजम फले।

से ण भन्ते ! संजमे कि फले ?

अणण्हय फले। एव अणण्हए तव फले। तवे वोदाण फले। वोदाणे अकिरिया फले।

से णं भन्ते ! अकिरिया कि फला ?

सिद्धि पज्जवसाण फला पण्णत्ता, गोयमा !"

—भगवती सूत्र २, ५, १११

"हे भगवन् ! तथारूप के श्रमण-साधु और माहन—श्रावक की सेवा करने का क्या फल है ? हे गौतम ! तथारूप के श्रमण-माहन की सेवा करने का फल शास्त्र श्रवण है। शास्त्र

श्रवण का फल—पदार्थ-ज्ञान है। पदार्थ-ज्ञान का फल विज्ञान, विज्ञान का फल प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान का फल संयम, संयम का फल आश्रव निरोध, आश्रव निरोध का फल तप, तप का फल कर्म-क्षय, कर्म-क्षय का फल क्रिया का अभाव और क्रिया के अभाव का फल मोक्ष प्राप्ति है।"

प्रस्तुत पाठ में जैसे तथारूप के श्रमण की सेवा करने का फल शास्त्र श्रवण से लेकर मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त कहा है। उसी तरह माहन—श्रावक की सेवा का भी वही फल कहा है। अत. श्रावक की सेवा शास्त्र श्रवण से लेकर मोक्ष प्राप्ति तक का फल देने वाली है। यदि कोई यह कहे कि इस पाठ में "श्रमण और माहन की सेवा का फल कहा है, श्रावक की सेवा का नहीं।" उनका यह कथन यथार्थ नहीं है। क्योंकि श्रमण नाम साधु का है और माहन नाम श्रावक का है। इसलिए इस पाठ में दोनों की सेवा का फल कहा है। इस पाठ की टीका में टीकाकार ने भी 'माहन' शब्द का श्रावक अर्थ किया है।

"श्रमण: साधुर्माहन: श्रावक:।"

"श्रमण नाम साधु का है और माहन नाम श्रावक का।"

इसके अतिरिक्त भगवती सूत्र में लिखा है—

"तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अन्तिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा।"

—भगवती सूत्र १, ७, ६२

इस पाठ में प्रयुक्त 'माहन' शब्द का टीकाकार ने श्रावक अर्थ किया है।

"माहणस्स त्ति माहन इत्येवमादिशति स्वय स्थूल प्राणातिपातादि निवृत्तत्वाद्य. स माहन:।"

—भगवती १, ७, ६२ टीका

"जो स्वयं स्थूल प्राणातिपात आदि से निवृत्त होकर दूसरे को नहीं मारने का उपदेश देता है, वह 'माहन' कहलाता है।"

वह पुरुष श्रावक है। क्योंकि जो स्थूल प्राणातिपात से निवृत्त है, वही श्रावक है। उस श्रावक की सेवा करने का फल शास्त्र श्रवण से लेकर मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त कहा है। श्रावक के धर्मोपदेश से अनेक जीवों ने अपना कल्याण किया है। जितशत्रु राजा ने सुबुद्धि नामक श्रावक के धर्मोपदेश से सम्यक्त्व और बारह व्रत का लाभ प्राप्त किया था। ऐसे श्रावक को कुपात्र कहना एवं अन्न आदि के द्वारा उनकी सेवा करने में एकान्त पाप बताना नितान्त असत्य है।

प्रवचन-वात्सल्य

स्थानांग सूत्र के दशवें स्थान में प्रवचन की वत्सलता से भविष्य में कल्याण होना बताया है। टीकाकार ने प्रवचन वात्सल्य का अर्थ करते हुए लिखा है—

"प्रकृष्ट प्रशस्तं प्रगतं वा वचनं आगम. प्रवचनं द्वादशांगम्। तदाधारो वा संघस्तस्य वत्सलता हितकारिता प्रत्यनीकत्वादिनिरासेनेति प्रवचन वत्सलता तया।"

—स्थानाग १०, १, ७५८ टीका

"सबसे उत्तम आगम को प्रवचन कहते हैं, वह प्रवचन द्वादशांग है। उस द्वादशांग के आधारभूत साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओं को प्रवचन कहते हैं। उनके विघ्न आदि

को हटाकर उनका हित संपादन करना 'प्रवचन वत्सलता' है। इससे जीव का भविष्य में कल्याण होता है।"

यहाँ साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओ का हित करना भावी कल्याण का कारण कहा है। इससे सिद्ध होता है कि साधु-साध्वी की तरह श्रावक-श्राविका का हित करना भी भावी कल्याण का हेतु है। इससे चतुर्विध सघ की रक्षा होती है, जो शासन की रक्षार्थ परमावश्यक है। इसलिए उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठावीसवे अध्ययन मे सहधर्मी भाई का आहार-पानी द्वारा उचित सत्कार-सम्मान करना सम्यक्त्व के आठ आचारो मे से एक आचार कहा है। वह गाथा यह है—

"निस्संकिय निक्कखिय निवित्तिगिच्छ अमूढदिट्ठीय।
उववूह थिरीकरणं वच्छलप्पभावणेऽट्ठे ते॥"

—उत्तराध्ययन सूत्र २८, ३१

ये सम्यक्त्व के आठ आचार हैं—"१ सर्वज्ञ भासित आगम में देश से या सर्व से शंका नहीं करना, २ सर्वज्ञ भाषित आगम से भिन्न शास्त्र की इच्छा नहीं करना, ३ साधु की निन्दा एवं तप के फल में सन्देह नहीं करना, ४ कुतीर्थी को धनवान देखकर उसके धर्म को श्रेष्ठ एवं स्व-धर्म को निकृष्ट नहीं मानना, ५ ज्ञान-दर्शन सम्पन्न पुरुष की प्रशंसा करना, ६ धर्माचारण करने में कष्ट पाते हुए पुरुष को धर्म में स्थिर करना, ७ अपने सहधर्मी भाई का आहार-पानी से यथोचित सत्कार करना और ८ अपने धर्म की उन्नति का सदा प्रयत्न करना।"

प्रस्तुत गाथा मे सहधर्मी भाई का आहार पानी आदि के द्वारा उचित सत्कार करना सम्यक्त्व के आचार का पालन करना कहा है। इसलिए श्रावक की आहार-पानी आदि से सेवा करना एकान्त पाप नही, सम्यक्त्व के आचार का पालन करना है। इसमे कुछ व्यक्ति ऐसा कहते है कि 'सहधर्मी' नाम साधु का है, श्रावक का नही। इसलिए साधु का आहार-पानी के द्वारा उचित सत्कार करना ही 'सहधर्मी वत्सलता' है, श्रावक का सत्कार करना नही। भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २६१ पर लिखते है—"अनें साधर्म्मी पिण साधु-साध्वीया ने इज कह्या छै। किणहिक देशे लोकरूढ भाषाइ श्रावको ने साधर्म्मी कहि बोलाविये छै, ते रूढ भाषाइ नाम छै।"

भ्रमविध्वसनकार का उक्त कथन एकान्त मिथ्या है। 'सहधर्मी' शब्द समान धर्मवाले व्यक्तियो का वाचक है। इसलिए साधु का सहधर्मी साधु और श्रावक का सहधर्मी श्रावक है तथा एक मान्यता रूप धर्म को लेकर साधु भी श्रावक का सहधर्मी है। प्रवचन की अपेक्षा से श्रावक को सहधर्मी साधु और श्रावक दोनो कहा है।

"पवयण सघे गयरो लिगे, रयहरण मुहपत्ती।"

—व्यवहार भाष्य उ० २, गाथा १५

'पवयण' त्ति प्रवचनत· सहधर्मिक संघ मध्ये एकतर श्रमण·, श्रमणी·, श्रावक, श्राविका चेति। लिंगे तु लिंगित· सार्धर्मिक रजोहरण मुहपोतिका युक्त·।"

"साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका इनमें से कोई भी प्रवचन के द्वारा सार्धमिक होता है।"

उक्त भाष्य और उसकी टीका मे प्रवचन के द्वारा श्रावक को भी साधर्मिक कहा है। इसी व्यवहार भाष्य की पन्द्रहवी गाथा की टीका मे लिंग और प्रवचन के द्वारा साधर्मिको की चतुर्भंगी कही है।

"तथा प्रवचनतः साधर्मिको न पुन लिंगे, लिंगत एष द्वितीय के ते एवंभूता इत्याह्—

'दश भवन्ति सशिखाकाः अमुण्डितशिरस्काः श्रावका इति गम्यते।' श्रावका हि दर्शनव्रतादि प्रतिमा भेदेन एकादश विधाः भवन्ति। तत्र दश सकेशाः एकादश प्रतिमा प्रतिपन्नस्तु लुंचित शिरा श्रमणभूतो भवति। ततस्तद् व्यवच्छेदाय सशिखाक ग्रहणं एते दश सशिखाका श्रावकाः प्रवचनतः साधर्मिका भवन्ति। तेषां सघान्तर्भूतत्वात् न तु लिंगं तो रजोहरणादि लिंग रहितत्वात्।"

—व्यवहार भाष्य, गाथा १५ टीका

"जो प्रवचन के द्वारा सार्धमिक है और लिंग के द्वारा नहीं है, वह दूसरे भंग का स्वामी है। वह कौन है?

जिसका सिर मुण्डित नहीं है, जो शिखाधारी है, वे दस प्रकार के श्रावक दूसरे भंग के स्वामी हैं। दर्शन व्रतादि और प्रतिमा के भेद से श्रावक ११ प्रकार के होते हैं। उनमें १० शिखाधारी और ग्यारहवां लुन्चित केश वाला साधु के सदृश होता है। उसकी व्यावृत्ति के लिए दूसरे भंग में उसे शिखाधारी श्रावक कहा है। ये दस शिखाधारी श्रावक प्रवचन से सार्धमिक होते हैं। वे चतुर्विध संघ में माने जाते हैं। इसलिए प्रवचन से सार्धमिक है, परन्तु लिंग से नहीं। क्योंकि उनके रजोहरण एवं मुख-वस्त्रिका नहीं है।"

यहाँ टीकाकार ने प्रवचन के द्वारा श्रावक को भी सार्धमिक कहा है। इसलिए श्रावक भी श्रावक का सार्धमिक है। अत. उसकी वत्सलता करना, प्रवचन वत्सलता रूप सम्यक्त्व के आचार का पालन करना है, एकान्त पाप नही। इसलिए श्रावक की वत्सलता करने मे एकान्त पाप की प्ररूपणा करना आगम विरुद्ध है।

सहधर्मी को भोजन कराना पाप नही है

भगवती सूत्र मे अपने से श्रेष्ठ सहधर्मी भाई को भोजन कराना पौषध-धर्म की पुष्टि करने वाला कहा है।

"तए णं अम्हे तं विपुलं असण पाणं खाइमं साइमं आसएमाणा विस्साएमाणा परिभाएमाणा परिभुंजेमाणा पक्खियं पोसहं पडिजागरमाणा विहरिस्सामो।"

—भगवती १२, १, ४३८

"शंख श्रावक ने कहा—हे देवानुप्रिय! आप विपुल अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य पदार्थ तैयार कराएँ। हम लोग चतुर्विध आहार कर पौषध करेंगे।"

इस पाठ से सहधर्मी भाई को भोजन कराना पौषध धर्म का पोषक माना है। इसलिए श्रावक को भोजन कराकर उसकी धर्म मे श्रद्धा बढाना एकान्त पाप नही, किन्तु पौषध धर्म का

परिपोषक है। यदि कोई यहाँ तर्क करे कि पौषध मे आहार का त्याग करने का विधान है, फिर यहाँ आहार करके पौषध करना कैसे कहा ? इस तर्क का समाधान देते हुए टीकाकार ने लिखा है–

"इह किल पौषध पर्वं दिनानुष्ठानम्, तच्च द्वेधा इष्टजन भोजनदानादि-रूपमाहारपौषधञ्च तत्र शख. इष्टजन भोजनदानादिरूपं पौषधं कर्तुकाम. यदुक्तवांस्तद्दर्शयतेदमुक्तम् ।"

—भगवती १२, १, ४३८ टीका

"पर्व के दिन धर्मानुष्ठान करना पौषध कहलाता है, वह दो प्रकार का है—१ अपने इष्ट जन को भोजन कराना और २ आहार का त्याग करना। इसमें से इष्ट जन को भोजन देने रूप पौषध करने का जो शंख ने कहा था, उसे बताने के लिए यह पाठ आया है।"

प्रस्तुत पाठ और उसकी टीका मे इष्ट जनो को भोजन कराना पौषध धर्म का परिपोषक कहा है। अत. श्रावक को भोजन देकर पौषध धर्म की पुष्टि कराने मे एकान्त पाप कहना भय-कर भूल है।

आचार्य श्री जीतमल जी ने प्रश्नोत्तर सार्ध शतक के ५८ वे प्रश्नोत्तर मे लिखा है—

"भगवती शतक १२, उद्देशा पहले शख पोखली कह्यो जीमी ने पोसह करस्या ते किम इति प्रश्न ?

उत्तर—भगवती शतक ७, उद्देशा २ बारह व्रतो मे ए ग्यारहवाँ व्रत रो नाम 'पोसहोव-वासे' कह्यो, ते माटे जीमि ने पाँच आस्रवना त्याग ते धर्मनी पुष्टि माटे पोसह कह्यो ते व्रत दशमो छै, पिण ग्यारमो नही।"

प्रस्तुत प्रश्नोत्तर मे आचार्य श्री जीतमलजी ने भगवती के पाठ का अभिप्राय बताते हुए भोजन कर के पाच आश्रव का त्याग करने को धर्म की पुष्टि मे कहा है। इसलिए अपने सह-धर्मी भाई को पाँच आश्रव का त्याग कराने के लिए आहार-पानी देने या भोजन कराने में एकान्त पाप कहना भ्रमविध्वसनकार का अपने कथन से भी विरुद्ध सिद्ध होता है।

प्रतिमाधारी को दान देना, पाप नहीं

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १०४ पर प्रतिमाधारी श्रावक को आहार देने मे एकान्त पाप की स्थापना करते हुए लिखते है—

"केतला एक एहवो प्रश्न पूछे, जे पडिमाधारी श्रावक ने दीधा काइ हुवे ? तेहनो उत्तर–पडिमाधारी पिण देशव्रती छै। तेहना जेतला-जेतला त्याग छै, ते तो व्रत छै। अने पारणे सूझता आहार नो आगार अव्रत छै, ते अव्रत सेवे छै, ते पडिमाधारी। तेहने धर्म नही तो जे अव्रत सेवावन वाला ने धर्म किम हुवे ? गृहस्थ रा दान ने साधु अनुमोदे तो प्रायश्चित आवे, तो पडिमाधारी श्रावक पिण गृहस्थ छै। तेहना दान अनुमोदन वाला ने ही पाप हुवे, तो देण वाला ने धर्म किम हुवे ?"

ग्यारहवी प्रतिमा को धारण करनेवाला श्रावक अठारह पापो का सम्पूर्ण रूप से त्यागी, दशविध यति धर्मो का अनुष्ठान करनेवाला एव बिल्कुल साधु के सदृश है। वह पवित्र आत्मा एव सुपात्र है। इसलिए आगम मे उसे श्रमणभूत—साधु के सदृश कहा है। इसका आचार-विचार प्राय. साधु के समान होता है। अत. उसे आहार देने से एकान्त पाप होता है, ऐसा कथन आगम विरुद्ध है। यदि ग्यारहवी प्रतिमा स्वीकार करनेवाले श्रावक को सूझता-प्रासुक आहार देना, यदि एकान्त पाप का कार्य होता, तो तीर्थंकर उसे सूझता आहार लेने का विधान क्यो करते ? क्योकि तीर्थंकर एकात पापरूप कार्य का विधान नही करते, निषेध करते हैं। अत ग्यारहवी प्रतिमा से सम्पन्न श्रावक का शुद्ध आहार लेना और उसे विशुद्ध आहार देना, दोनो ही धर्म के कार्य है, एकान्त पाप के नही।

कुछ व्यक्ति ऐसा भी कहते है, "ग्यारह प्रतिमाओ का तीर्थंकर देव ने विधान नही किया है, किन्तु ये प्रतिमाएँ श्रावको की कपोल-कल्पित है।" परन्तु यह कथन नितान्त असत्य है। ये ग्यारह प्रतिमाएँ श्रावको द्वारा कपोल-कल्पित नही, तीर्थंकर भगवान द्वारा प्ररूपित है। दशाश्रुतस्कध मे इसका स्पष्ट रूप से विधान किया है।

"सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं इह खलु थेरेहिं भग-वन्तेहिं एगारस उवासग पडिमाओ पण्णताओ।"

—दशाश्रुतस्कध, अध्ययन ६

"सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं, हे आयुष्मन्! इस जिन आगम में स्थविर भगवन्तों ने जिस प्रकार श्रावको को ग्यारह प्रतिमाएँ बताई हैं, उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान ने भी कही हैं, यह मैंने सुना है।"

इस पाठ मे ग्यारह प्रतिमाओ का तीर्थंकर देव के द्वारा विधान किया जाना कहा है। अत. उन्हें श्रावको की कपोल-कल्पना बताना एकान्त मिथ्या है। उपासकदशाग सूत्र मे आनन्द श्रावक ने कहा है—"मैंने इन प्रतिमाओ का आगम एव कल्प के अनुसार पालन किया है।"

"तएणं से आणदे समणोवासए उवासग पडिमाओ उवसंपजिताणं विहरइ। पढम उवासग-पडिमं अहासुत्तं, अहाकप्पं, अहामग्गं, अहातच्चं सम्म काएण फासेइ पालेइ सोहइ तिरइ कित्तइ आरोहेइ।"

—उपासकदशाग सूत्र अ० १

"अहासुत्तं त्ति सूत्रानतिक्रमेण, यथाकल्पं प्रतिमाचारानतिक्रमेण, यथामार्गं क्षपोयशमभावानतिक्रमेण, यथातत्त्वं दर्शन प्रतिमेति शब्दस्यान्वर्थानतिक्रमेण।"

—उपासकदशाग, १ टीका

"इसके अनन्तर आनंद श्रावक उपासक प्रतिमा को स्वीकार करके विचरने लगा। उसने पहली उपासक प्रतिमा को सूत्रानुसार, कल्पानुसार, क्षयोपशम भावानुसार और दर्शन प्रतिमा के शब्दार्थ के अनुसार ग्रहण किया। उसके पश्चात् उपयोग के साथ बार-बार प्रतिमाओं का परिशोध करके उनकी अवधि पूरी होने पर, वह थोड़ी देर तक ठहर जाता था। पारणे के दिन अपने अनुष्ठान का कीर्तन करता हुआ, वह यह कहता—"इस प्रतिमा में अमुक कार्य किया जाता है, इसका मैंने सूत्रानुसार एवं कल्पानुसार अनुष्ठान किया है। इस प्रकार आनंद उपासक ने तीर्थंकर की आज्ञा के अनुसार प्रथम प्रतिमा का आराधन किया। शेष दस प्रतिमाओं का भी उसने इसी प्रकार आराधन किया।"

इस पाठ मे यह बताया है कि आनन्द श्रावक ने आगम के अनुसार प्रतिमाओ के आचार का पालन किया। इस कथन से प्रतिमाओ का आगमोक्त होना स्पष्ट सिद्ध होता है। यदि ये प्रतिमाएँ श्रावको की कपोल-कल्पना से कल्पित होती, तो उक्त पाठ मे उनका आगम के अनुसार पालन करना कैसे कहा जाता? अत. इन प्रतिमाओ को श्रावको की कपोल-कल्पना बताकर ग्यारहवी प्रतिमा स्वीकार करने वाले श्रावको को सूझता-शुद्ध-निर्दोष आहार देने मे एकान्त पाप कहना सर्वथा आगम विरुद्ध है।

प्रतिमाधारी का स्वरूप

ग्यारहवी प्रतिमा को धारण करने वाले श्रावक को दस यति-धर्म पालन करने और साधु की तरह भण्डोपकरण रखने की आगम मे कही आज्ञा दी हो, तो वह पाठ बताएँ।

दशाश्रुतस्कंध मे ग्यारहवी प्रतिमा को धारण करने वाले श्रावक को दशविध यति-धर्म के अनुष्ठान करने और साधु की तरह भण्डोपकरण रखने की आज्ञा दी है।

"अहावरा एक्कारसमा उवासगपडिमा सव्वधम्मरुइया वि भवइ जाव उद्दिट्ठभत्तं से परिण्णा तं भवति। से ण खुरमुण्डए वा लुत्तसिरए वा गहित्तायार भडग ने वत्थो, जारिस समणाणं निग्गंथाण धम्मे पण्णत्ते, तं सम्मं काएणं फासेमाणे, पालेमाणे, पुरतो जुग-मायाए पेहमाणे दट्ठूण तसे-पाणे उदट्ठूपाय रीएज्जा, साहट्टु पाय रीएज्जा, तिरिच्छं वा पाय कट्टु रीएज्जा सति परक्कमेज्जा, सजयामेव परिक्कमेज्जा णो उज्जुय गच्छेज्जा।"

—दशाश्रुतस्कन्ध, अ० ६

"अब ग्यारहवीं उपासक प्रतिमा का वर्णन करते है। इसमें प्रविष्ट श्रावक को पूर्व प्रतिमाओ के सब धर्मों में रुचि रखनी चाहिए। और इसके निमित्त बनाए हुए उद्दिष्ट आहार को ग्रहण नहीं करना चाहिए। केश-लुंचन या क्षुर-मुण्डन कराकर साधुओ के आचार का पालन करने के लिए पात्र, रजोहरण और मुखवस्त्रिका आदि सब धर्मोपकरण रखने चाहिए। धर्मोपकरणो को रखकर साधु के समान वेश बनाकर श्रमण-निर्ग्रन्थों के सभी धर्मों का शरीर से स्पर्श और पालन करना चाहिए। यदि मार्ग में त्रस प्राणी दृष्टिगोचर हो, तो उसकी रक्षा के लिए अपने पैर के पूर्व भाग को ऊचा करके अग्रतल की सहायता से गमन करना चाहिए। जहाँ त्रस प्राणी न हो, वहाँ पर पैर रखकर चलना चाहिए। तात्पर्य यह है कि मार्ग में आनेवाले प्राणियो की रक्षा के लिए कभी पैर को संकोच कर और कभी एड़ी के ऊपर अपने पूरे शरीर का बोझ डालकर चलना चाहिए। परन्तु जैसे-तैसे चलना उचित नहीं है। यह विधान भी वहाँ के लिए

समझना चाहिए, जहाँ दूसरा मार्ग न हो। परन्तु जहाँ दूसरा मार्ग हो, वहाँ प्राणि-संकुल मार्ग से जाना उचित नहीं है।"

प्रस्तुत पाठ मे ग्यारहवी प्रतिमा को स्वीकार करने वाले श्रावक को दशविध यति-धर्मो का का अनुष्ठान करने और उसके लिए साधुओ के समान भण्डोपकरण रखने की स्पष्ट आज्ञा दी है। अत उक्त प्रतिमाधारी श्रावक दशविध यति-धर्म का परिपालक पवित्रात्मा एव सुपात्र है। इसे कुपात्र कहकर पारणे के दिन इसे सूझता आहार देने मे एकान्त पाप बताना, आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

कुछ व्यक्ति ऐसा कहते है—"इन ग्यारह प्रतिमाओ मे जितना-जितना त्याग है, वह सव तीर्थंकर और गणधरो की आज्ञा मे है, परन्तु उनमे जो आरभादि अश शेप है, वह उन सव की आज्ञा मे नही है। सातवी प्रतिमा मे सचित्त का त्याग है, परन्तु आरभ का नही। अत जैसे इसमे सचित्त का त्याग भगवान की आज्ञा मे है और आरभ करने का आगार भगवान की आज्ञा मे नही है। उसी तरह ग्यारहवी प्रतिमा मे तपस्या करना और दशविध यति-धर्म का अनुष्ठान करना भगवान की आज्ञा मे हैं, परन्तु साधु के समान वेश वनाना, निर्दोप आहार लेना एव भण्डोपकरण रखना इत्यादि कार्य वीतराग की आज्ञा मे नही हैं। ग्यारहवी प्रतिमा को धारण करनेवाला श्रावक इन कार्यो को अपनी इच्छा से करता है, अत. उसका साधु के समान वेश वनाना, भण्डोपकरण रखना एव पारणे के दिन सूझता आहार लेना ये सव एकान्त पाप मे है, धर्म या पुण्य मे नही।"

आगम मे जैसे साधु के पाँच कल्पो का विधान है—१ स्थितकल्पी, २ अस्थितकल्पी, ३ जिन-कल्पी, ४ स्थविरकल्पी और ५ कल्पातीत, उसीतरह ग्यारहवी प्रतिमा का भी विधान है। जैसे साधु के पाँचो कल्प जिन आज्ञा मे है, उसी तरह ग्यारहवी प्रतिमा का कल्प भी वीतराग की आज्ञा में है।

ग्यारहवी प्रतिमा मे स्थित श्रावक के लिए साधु के समान वेश वनाने, धार्मिक भण्डोपकरण रखने और पारणे के दिन शुद्ध-निर्दोप आहार लेने का दशाश्रुतस्कध मे विधान किया है। उस विधानानुसार वह साधु के समान वेश वनाता है, धार्मिक उपकरण रखता है और पारणे के दिन शुद्ध-निर्दोप आहार लेता है, अपनी इच्छा से नही। इसलिए इन कार्यो मे एकान्त पाप कहना सर्वथा अनुचित है।

सातवी प्रतिमा मे जो आरभ का त्याग नही होता, उसका दृष्टान्त देकर ग्यारहवी प्रतिमा मे भण्डोपकरण रखने को आज्ञा बाहर कहना अनुचित है। क्योकि सातवी प्रतिमा मे आरभ करने का आगम मे विधान नही है। इसलिए सातवी प्रतिमा वाले श्रावक का आरभ करना आगम के अनुसार नही, अपनी इच्छा के अनुरूप है। परन्तु ग्यारहवी प्रतिमा मे साधु के समान वेश वनाना, धार्मिक भण्डोपकरण रखना और पारणे के दिन शुद्ध-निर्दोप आहार ग्रहण करना, आगम की आज्ञा के अनुसार है, अपनी इच्छा के अनुरूप नही। अत यह सातवीं प्रतिमा वाले के आरभ के समान एकान्त पापमय नहीं है। सातवीं प्रतिमा मे "आरभे अपरिण्णाते भवइ" यह पाठ आया है। इसका अर्थ यह है—'सातवी प्रतिमा वाला श्रावक आरभ का त्याग नही करता है।' इस पाठ मे उसके आरभ करने का विधान नहीं किया है, सिर्फ उल्लेख मात्र किया है। यदि इस पाठ मे विधान करते, तो ऐसा लिखते—"श्रावक को सातवीं

प्रतिमा में आरभ करना चाहिए।" परन्तु ऐसा नही लिखा है। अतः सातवी प्रतिमा वाले का आरभ आगम की आज्ञा से नही, अपनी इच्छा से है और वह उसमे पहले से ही विद्यमान है। परन्तु ग्यारहवी प्रतिमा मे साधु के समान वेश वनाना आदि कार्यो का आगम मे विधान है और उस विधान के अनुसार वह उन कार्यो को करता है और ये सब क्रियाएँ श्रावक मे पहले से विद्यमान नही है। परन्तु वह ग्यारहवी प्रतिमा स्वीकार करने के वाद आगम की आज्ञा होने से इन्हे स्वीकार करता है। अत आरम्भ का दृष्टान्त देकर ग्यारहवी प्रतिमा स्वीकार करने वाले श्रावक के साधु तुल्य वेश वनाने, धार्मिक उपकरण रखने एव पारणे के दिन शुद्ध-निर्दोष आहार लेने आदि मे एकान्त पाप वताना भयकर भूल है।

प्रतिमाधारी का कल्प

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १०९ पर लिखते है—"तिवारे कोई कहे–जो पडिमाधारी ने दिया धर्म न हुवे तो दशाश्रुतस्कध मे इम क्यू कह्यो–जे पडिमाधारी न्यातीलारे घरे भिक्षा ने अर्थ जाय, तिहा पहिला उतरी दाल अने पछे उतरया चावल, तो कल्पे पडिमाधारी ने दाल लेणो, न कल्पे चावल लेवा" इत्यादि लिखकर इसके आगे लिखा है "इम कहे तेहनो उत्तर–ए कल्प नाम आज्ञा नो नही छै। ए कल्प नाम तो आचार नो छै। पडिमाधारी ने जेहवो आचार कल्पतो हुन्तो ते वतायो। पिण आज्ञा नही दिधी इम जो आज्ञा हुवे तो अम्वड ने अधिकारे पिण एहवो कह्यो।" इत्यादि लिखकर अम्वड सन्यासी के सम्वन्ध मे आया हुआ पाठ लिखा, और ग्यारहवी प्रतिमावाले के आचार को आज्ञा वाहर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

अम्वड सन्यासी एव अन्य परिव्राजको के अधिकार मे जो 'कल्प' शब्द आया है, वह परिव्राजको के शास्त्रो का कल्प है, वीतराग आज्ञा का नही। उसी तरह वरुणनाग नत्तूया के अधिकार मे जो यह कहा है—"जो मुझे पहले वाण मारेगा, उसी को मै वाण मारूगा" यह कल्प भी वरुणनाग नत्तूया की अपनी इच्छा का है, वीतराग आज्ञा का नही। किन्तु ग्यारहवी प्रतिमा वाले के अधिकार मे जो "कल्प" शब्द आया है, वह तीर्थंकर द्वारा विधान किया हुआ कल्प है, उसकी अपनी इच्छा का नही। क्योकि आगम मे तीर्थंकर एव गणधरो ने इसका विधान किया है।

"सुय मे आउस ! तेणं भगवया एवमक्खायं इह खलु थेरेहि भगवन्तेहिं एगारस्स उवासग पडिमाओ पण्णत्ताओ।"

प्रस्तुत पाठ मे ग्यारह प्रतिमाओ का आचार तीर्थंकर एव गणधरो द्वारा कथित है। इसलिए ग्यारहवी प्रतिमा स्वीकार करनेवाले का आचार-कल्प तीर्थंकर वोधित है, अपनी इच्छा का नही। अत प्रतिमाधारी श्रावक के कल्प को ऐच्छिक वताकर, उसे वीतराग आज्ञा से वाहर वताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

श्रावक के धर्मोपकरण : पाप में नहीं है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ११५ पर भगवती श० ७, उ० १ का पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते है—"अथ इहा पिण सामायक मे श्रावक की आत्मा अधिकरण कही छै। अधिकरण ते छव काय रो शस्त्र जाणवो। ते माटे सामायक पोषा मे तेहनी काया शस्त्र छै। शस्त्र तीखो किया धर्म नही। वली ठाणाग ठाणे दश अव्रत ने भाव शस्त्र कह्यो छै। ते सामायक मे पिण वस्त्र, गेहणा, पूजणी आदिक उपकरण अने काया ए सर्व अव्रत मे छै। तेहना यत्न किया धर्म नही।"

भगवती शतक ७,उ० १ मे जैसे श्रावक की आत्मा को अधिकरण कहा है, उसी तरह भगवती श० १६, उ० १ मे साधु की आत्मा को भी अधिकरण कहा है।

"जीवे णं भन्ते ! आहारगे सरीरं निवत्तिए माणे कि अधिकरणी अधिकरणं वा पुच्छा ?

गोयमा ! अधिकरणी वि अधिकरणं वि।

से केणट्ठेणं वा जाव अधिकरणं वि ?

गोयमा ! पमायं पडुच्च से तेणट्ठेणं जाव अधिकरणं वि।"

—भगवती १६, १, ५६६

"हे भगवन् ! आहारक शरीर को उत्पन्न करता हुआ जीव अधिकरणी होता है या अधिकरण ?

हे गौतम ! वह अधिकरणी भी होता है और अधिकरण भी।

इसका क्या कारण है ?

हे गौतम ! आहारक शरीर को उत्पन्न करने वाला जीव प्रमाद की अपेक्षा से अधिकरणी भी होता है और अधिकरण भी।"

प्रस्तुत पाठ मे प्रमत्त साधु की आत्मा को प्रमाद की अपेक्षा से अधिकरणी और अधिकरण कहा है। टीकाकार ने भी इसका यही अर्थ किया है—

"इहाहारक शरीरं संयमवतामेव भवति तत्र चाविरतेरभावेऽपि प्रमादादधिकरणत्वमवसेयम्।"

"आहारक शरीर संयमधारी का ही होता है। यद्यपि उसमें अविरति नहीं है, तथापि प्रमाद के कारण उसे अधिकरण समझना चाहिए।"

स्थानांग सूत्र के दसवें स्थान में अकुशल मन, वचन और काय को भाव शस्त्र कहा है। प्रमाद की अपेक्षा से प्रमादी साधु के भी मन, वचन और काय अकुशल होते हैं। भगवती सूत्र में प्रमादी साधु को आत्मारंभी, परारंभी और तदुभयारंभी कहा है।

"तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया ते सुहं-जोगं पडुच्च णो आयारंभा, णो परारंभा, णो तदुभयारंभा चेव। असुभं जोगं पडुच्च आयारंभा वि, परारंभा वि, तदुभयारंभा वि, णो अणारंभा।"

—भगवती १, १, १७

"प्रमत्त साधु शुभ-योग की अपेक्षा आत्मारंभी, परारंभी और तदुभयारंभी नहीं, अनारंभी है। अशुभ योग की अपेक्षा वह आत्मारंभी, परारंभी और तदुभयारंभी है, अनारंभी नहीं।"

इस पाठ में प्रमादी साधु को अशुभ योग की अपेक्षा से आत्मारंभी, परारंभी एवं तदुभयारंभी कहा है। और पूर्व लिखित भगवती के पाठ में प्रमत्त साधु की आत्मा को अधिकरण कहा है तथा स्थानांग के दसवें स्थान में दुष्प्रयुक्त मन, वचन और काय को भाव शस्त्र कहा है। अत. भ्रमविध्वंसनकार के मत से प्रमत्त साधु को आहार आदि का दान देना शस्त्र को तीक्ष्ण करना कहना चाहिए, धर्म या पुण्य नहीं। परन्तु यहाँ यदि यह कहें, "प्रमादी साधु को उसके प्रमाद की वृद्धि के लिए नहीं, प्रत्युत उसके ज्ञान, दर्शन और चारित्र की उन्नति के लिए दान देते हैं, इसलिए उसे दान देना शस्त्र को तीक्ष्ण करना नहीं है।" इसी तरह यहाँ भी यह समझना चाहिए कि श्रावक को उसके दोषों की अभिवृद्धि के लिए दान नहीं देते, प्रत्युत उसके व्रतों को परिपुष्ट करने के लिए देते हैं। अत. श्रावक को दान देना एकान्त पाप या शस्त्र को तीक्ष्ण करना नहीं है।

सामायिक एवं पौषध के समय श्रावक अपने धर्म का पालन करने के लिए प्रमार्जनिका—पूंजणी आदि धर्मोपकरण रखते हैं। उनको एकांत पाप में बताना अनुचित है। उपासकदशांग सूत्र में बिना प्रमार्जन किए पौषधोपवास करने से श्रावक को अतिचार लगता है, ऐसा कहा है। अत उस अतिचार की निवृत्ति एवं जीवों की रक्षा के लिए श्रावक प्रमार्जनिका आदि धर्मोपकरण रखता है, आरंभ आदि कार्य के लिए नहीं।

"तयाणंतरं च णं पोसहोववासस्स समणोवासए णं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा—अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय सिज्जा-संथारे, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय सिज्जा-संथारे, अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय उच्चार-पासवणभूमि, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय उच्चार-पासवणभूमि, पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपालणया।"

—उपाशकदशांग सूत्र, अध्ययन १

"श्रमणोपासक के पौषधोपवास व्रत के पांच अतिचार हैं, जो जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं—१ शय्या-संथारे का प्रतिलेखन नहीं करना या भली-भाँति प्रतिलेखन नहीं करना २ शय्या-संथारे का प्रमार्जन नहीं करना या अच्छी तरह से प्रमार्जन नहीं करना, ३ उच्चार-

पासवण भूमि का प्रतिलेखन नहीं करना या सम्यक्तया प्रतिलेखन नहीं करना। ४ उच्चार-पासवण भूमि का प्रमार्जन नहीं करना या सम्यक्तया प्रमार्जन नहीं करना। ५ पौषधोपवास व्रत का विधिवत् पालन नहीं करना।"

पौषध व्रत के ये पाच अतिचार है। इन अतिचारो मे प्रवृत्त नही होना आवश्यक है। इसलिए श्रावक सामायिक एव पोषध मे प्रमार्जनिका आदि धर्मोपकरण रखता है। यदि श्रावक इसे नही रखे, तो वह पोषध मे शय्या-पथारा एव उच्चार-पासवण भूमि का प्रमार्जन नही कर सकता और प्रमार्जन नही करने से पौषध व्रत मे अतिचार लगता है। उसकी निवृत्ति के लिए श्रावक प्रमार्जनिका आदि धर्मोपकरण रखता है। अत इन धर्मोपकरणो को एकान्त पाप मे बताना अनुचित है। ग्यारहवी प्रतिमा वाला श्रावक जो मुखवस्त्रिका, रजोहरण एव पात्रादि धर्मोपकरण रखता है, वह भी व्रत पालन के लिए रखता है, अन्य स्वार्थ साधने के लिए नही। अत धर्मोपकरण रखना उसके धर्म के लिए उपकारक है और उसके व्रत के अगभूत है। उन्हे एकान्त पाप मे कहना मिथ्या है। आगम मे ग्यारहवी प्रतिमा वाले के लिए धर्मोपकरण रखने का विधान है।

लुच-सिरए गहित्तायारभडगनेपत्था। जारिस समणाण निग्गंथाणं धम्मे तं धम्मं कएण फासेमाणे पालेमाणे।"

—दशाश्रुतस्कध, ६

"ग्यारहवीं प्रतिमावाले श्रावक को केश-लोच करके, मुखवस्त्रिका आदि सभी धर्मोपकरण साधु के आचार का पालन करने के लिए रखने चाहिए और साधु के तुल्य वेश बनाकर श्रमण-निर्ग्रन्थ धर्म का शरीर से स्पर्श एवं पालन करते हुए विचरना चाहिए।"

प्रस्तुत पाठ मे एकादश प्रतिमाधारी को साधु के तुल्य आचार पालनार्थ धर्मोपकरण रखने का विधान किया है। और पौषधोपवास मे अतिचार को हटाने के लिए प्रमार्जनिका आदि धर्मोपकरण रखना आवश्यक है। अत श्रावक के धर्मोपकरणो को एकान्त पाप मे बताना भयकर भूल है।

प्रमार्जनिका जीव रक्षा के लिए है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ११५ पर लिखते है—"ए पूजणी आदिक सामायक मे राखे ते अव्रत मे छै। ए तो सामायक मे शरीर नी रक्षा निमित्त पूजणी आदिक उपाधि राखै छै। ते पिण आपरी कचाई छै, पर धर्म नही। ते किम ? जे पूजणी आदिक न राखे तो काया स्थिर राखनी पडे। अने काया स्थिर राखण री शक्ति नही। माछरादिक रा फर्म खमणी आवे नही। ते माटे पूजणी आदिक राखे। माछरादिक पूजी खाज खणे। ए तो शरीर नी रक्षा निमित्ते पूजे, निण धर्म हेतु नही। कोई कहे दया रे अर्थे पूजे ते मिले नही। जो पूजणी विना दया न पले, तो अढाई द्वीप बारे असख्याता तिर्यच श्रावक छै। सामायक आदि व्रत पाले छै। त्यारे तो पूजणी दोसे नही। जे दया रे अर्थे पूजणी राखणी कहे—त्यारे लेखे अढाई द्वीप बारे श्रावका रे दया किम पले ?"

पौषध व्रत मे श्रावक अपने शरीर की रक्षा के लिए नही, प्रत्युत उपासकदशाग सूत्र के पाठ के अनुसार प्रमार्जन किए बिना होने वाले अतिचार को दूर करने के लिए प्रमार्जनी आदि उपकरण रखता है। अत उन्हे शरीर रक्षा का साधन बताकर अव्रत या एकान्त पाप मे बताना मिथ्या है।

प्रमार्जनी अपने शरीर की रक्षा का कोई प्रमुख साधन नही है । इसके बिना भी शरीर की रक्षा हो सकती है। परन्तु इसके बिना प्रमार्जन नही हो सकता और प्रमार्जन किए बिना श्रावक के पौषध व्रत मे अतिचार लगता है। उससे निवृत्त होने के लिए पौषध मे प्रमार्जनी रखना आवश्यक है। जो लोग इसे शरीर रक्षा का साधन मानकर पौषध मे शरीर रक्षार्थ उसे रखने का कहते है, उनके मत मे पागल कुत्ते आदि से शरीर की रक्षा करने के लिए श्रावक को एक डडा भी रखना चाहिए तथा अन्य साधन भी रखने चाहिए। अत प्रमार्जनी को शरीर रक्षा का साधन बताना नितान्त असत्य है। वस्तुत' प्रमार्जनी आदि धर्मोपकरणो के बिना दया नही पाली जा सकती। अत जीवो की रक्षा के लिए उसे रखते हैं।

भ्रमविध्वसनकार ने अढाई द्वीप के बाहर रहनेवाले तिर्यंच श्रावको का उदाहरण देकर यह बताया है कि प्रमार्जनी रखे बिना भी जीवो की दया का पालन हो सकता है। परन्तु इनका यह कथन एकान्त मिथ्या है। क्योकि अढाई द्वीप के बाहर रहने वाले तिर्यंच श्रावक मनुष्य श्रावक की तरह बारह व्रतो का शरीर से स्पर्श एव पालन करते हो, यह असभव है। उनमे मनुष्य श्रावक की तरह बारह व्रतो का शरीर से स्पर्श एव पालन करने की योग्यता नही है और आगम मे कही ऐसा उल्लेख नही मिलता कि तिर्यंच श्रावक मनुष्य श्रावक की तरह बारह व्रतो का शरीर से स्पर्श एव पालन करते है। अत तिर्यंच श्रावक कई व्रतो मे श्रद्धा रखने मात्र से बारह व्रतधारी माने जाते है, शरीर से स्पर्श एव पालन करने से नही। ज्ञाता सूत्र मे नन्दन मनिहार के जीव मेढक को बारह व्रतधारी कहा है। यदि मनुष्य की तरह बारह व्रतो का शरीर से स्पर्श एव पालन करने से तिर्यंच श्रावक बारह व्रतधारी होते, तो नन्दन मनिहार का जीव मेढक के भव मे कदापि बारह व्रतधारी नही कहा जाता। क्योकि मेढक योनि के जीव मे मुनि को दान देने रूप बारहवे व्रत का शरीर से स्पर्श करने की योग्यता नही है। उसमे आहारको सचित पदार्थ पर रखने एव सचित पदार्थ से ढकने पर,जो अतिचार आता है,उसे हटाने की भी योग्यता नही है। तिर्यंच श्रावक मनुष्य श्रावक की तरह पौषध व्रत का शरीर से स्पर्श और पालन करते हो, इसका आगम मे कोई प्रमाण नही मिलता। आगम मे कही भी ऐसा नही लिखा है कि अमुक तिर्यच श्रावक ने पौषध व्रत का शरीर से स्पर्श एव पालन किया, अत' तिर्यंच श्रावक के पास प्रमार्जनी आदि धर्मोपकरण नही होने पर भी कोई क्षति नही है। परन्तु मनुष्य श्रावक तो सभी व्रतो का शरीर से स्पर्श और पालन करता है, इसलिए बिना प्रमार्जन किए पौषध व्रत मे आनेवाले अतिचार को टालने के लिए मनुष्य श्रावक को पौषध व्रत मे प्रमार्जनी आदि धर्मोपकरण रखना आवश्यक है।

जो व्यक्ति श्रावक के प्रमार्जनी आदि धर्मोपकरणो को शरीर रक्षा का साधन बताते है, उनसे पूछना चाहिए कि आप प्रमादी साधु के रजोहरण-पात्र आदि धर्मोपकरणो को उनकी शरीर रक्षा का साधन क्यो नही मानते ? यदि वे प्रमादी साधु के उपकरणो को शरीर रक्षा का साधन माने, तो फिर उनके मत मे उनके वे उपकरण भी एकान्त पाप और अव्रत मे ठहरते है। क्योकि भगवती सूत्र मे प्रमादी साधु को अशुभ योग की अपेक्षा आत्मारभी, परारभी एव तदुभयारभी कहा है और उस की आत्मा को अधिकरण कहा है। इसलिए भ्रमविध्वसनकार के मत मे प्रमादी साधु के रजोहरण-पात्र आदि धर्मोपकरण एकान्त पाप रूप ठहरेगे। यदि वे यह कहे कि प्रमादी साधु रजोहरण आदि उपकरण प्रमाद सेवन और अपने शरीर की रक्षा के लिए नही, किन्तु जीव

रक्षा आदि धर्म के पालन करने हेतु रखते है, अत उनके धर्मोपकरण एकान्त पाप में नही है । यही वात श्रावक के सम्वन्ध में भी समझनी चाहिए। श्रावक पोपध व्रत मे होने वाले अतिचार की निवृत्ति और जीव रक्षा के लिए प्रमार्जनी आदि धर्मोपकरण रखते है, अपने दोपो मे वृद्धि करने एव अन्य किसी स्वार्थ से नही। अत· श्रावक के धर्मोपकरणो को एकान्त पाप एव अव्रत में बताना मिथ्या है।

यह बात अलग है कि यदि प्रमादी साधु धर्मोपकरणो पर ममता-मूर्छा रखे और उनका अयत्ना से व्यवहार करे,तो उसको परिग्रह एव आरभ का दोप लगता है। उसी तरह यदि श्रावक भी प्रमार्जनी आदि धर्मोपकरणो पर ममत्व भाव रखे तथा उनका अयत्ना से व्यवहार करे, तो उसे भी परिग्रह एव आरभ का दोप लगता है। परन्तु यदि वह उन धर्मोपकरणो को अममत्व भाव से यत्ना पूर्वक उपयोग मे लेता है, तो वे उपकरण धर्म के सहायक है, आरभ एव परिग्रह के हेतु नही। अत श्रावक के उपकरणो को एकान्त पाप मे कहना आगम विरुद्ध है।

धर्मोपकरण : सुप्रणिधान हैं

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ११३ पर स्थानांग सूत्र स्थान चार, उद्देशा एक के पाठ का उदाहरण देकर लिखते हैं —

"अथ इहां चार व्यापार कह्या—१ मन, २ वचन, ३ काया और चौथा उपकरण। ए चारूं व्यापार सन्निपंचेन्द्रिय रे कह्या। ए चारूं भूंडा व्यापार पिण १६ दंडक सन्निपंचेन्द्रिय रे कह्या। अने ए चारूं भला व्यापार तो एक संयति मनुष्यां रे इज कह्या। पिण और रे न कह्या। तो जोवोनी साधु ना उपकरण तो भला व्यापार में घाल्या अने श्रावक रा पूंजणी आदिक उपकरण भला व्यापार में न घाल्या। ते माटे पूंजणी आदिक श्रावक राखे ते सावद्य योग छै।'

स्थानांग सूत्र का पाठ एवं टीका लिखकर इसका समाधान कर रहे हैं—

"चउव्विहं पणिहाणे—मन पणिहाणे, वय पणिहाणे, काय पणिहाणे, उवगरण पणिहाणे। एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। चउव्विहे सुप्पणिहाणे पण्णत्ते तं जहा—मण सुप्पणिहाणे, जाव उवगरण सुप्पणि हाणे एवं संजय मणुस्साण वि। चउव्विहे दुप्पणिहाणे पण्णत्ते तं जहा—मण दुप्पणिहाणे जाव उवगरण। एवं पञ्चेन्द्रियाणं जाव वेमाणियाणं।"

—स्थानांग सूत्र ४, १, २५४

"प्रणिधानं प्रयोगः तत्र मनसः प्रणिधानं, आर्त्त-रौद्र-धर्मादिरूपतया प्रयोगो मनः प्रणिधानम्। एवं वाक्काययोरपि। उपकरणस्य लौकिक-लोकोत्तररूपस्य वस्त्र-पात्रादेः संयमासंयमोपकाराय प्रणिधानं प्रयोगः उपकरण प्रणिधानम्। एवमिति तथा सामान्यतस्तथा नैरयिकाणामिति। तथा चतुर्विंशति दण्डक पठितानां मध्ये ये पञ्चेन्द्रियास्तेषामपि वैमानिकान्तानामेवेति। एकेन्द्रियाणां मनः प्रभृतीनामसंभवेन प्रणिधाना संभवात्। प्रणिधान विशेषः सुप्रणिधानम्

दुष्प्रणिधानञ्चेति तत्सूत्राणि। शोभनं संयमार्थत्वात्प्रणिधानं मनः प्रभृतीनां प्रयोजन सुप्रणिधानमिति। इद च सुप्रणिधानं चतुर्विंशति दण्डक निरूपणायां मनुष्याणा तत्रापि सयतानामेव भवति चारित्र परिणतिरूपत्वात् सुप्रणिधान-स्येत्याह 'एवं सजमे' इत्यादि दुष्प्रणिधान सूत्रम् सामान्य सूत्रवत् नवरं दुष्प्रणिधानं असयमार्थं मन प्रभृतीना प्रयोग- इति।"

"प्रयोग करने का नाम 'प्रणिधान' है। आर्त्त-रौद्र और धर्म आदि ध्यान करना मन प्रणि-धान कहलाता है। इसी तरह वचन और शरीर के प्रयोग को क्रमशः वचन और काय प्रणिधान कहते हैं। उपकरण नाम वस्त्र-पात्र आदि का है। वह दो तरह का होता है—लौकिक और लोकोत्तर। उनका संयम और असंयम के लिए प्रयोग करना उपकरण प्रणिधान कहलाता है। ये चारों प्रणिधान नारकी से लेकर वैमानिक देव तक के जीवो में होते है। एकेन्द्रियादि जीव जो मनोविकल हैं, उनमें इनका व्यापार नहीं होता। प्रणिधान विशेष को सुप्रणिधान और दुष्प्रणिधान कहते हैं। सयम पालनार्थ मन,वचन,काय और उपकरण का प्रयोग करना सुप्रणिधान है। यह सुप्रणिधान चतुर्विंशति दण्डक के जीवों में केवल संयमधारी जीव को ही होता है, क्योकि सुप्रणिधान चारित्र का परिणाम स्वरूप है। इसी तरह असयम के लिए जो मन, वचन, काय और उपकरण का प्रयोग किया जाता है, वह दुष्प्रणिधान कहलाता है। यह पचेन्द्रिय से लेकर वैमानिक देव पर्यन्त के जीवो को होता है।"

प्रस्तुत पाठ मे सयमधारी जीवो के मन, वचन, काय और उपकरण को सुप्रणिधान कहा है। इसलिए देश से सयम के परिपालक श्रावको का देश सयम पालने के लिए, जो मन, वचन, काय और उपकरण का प्रयोग होता है, वह सुप्रणिधान है, दुष्प्रणिधान नही। अत इस पाठ का नाम लेकर श्रावक के मन. वचन, काय एव उपकरण के प्रयोग को दुष्प्रणिधान कहना आगम से सर्वथा विपरीत है। प्रस्तुत पाठ एव उसकी टोका मे सयत का सुप्रणिधान होना कहा है, वहाँ सयम पद से देश सयत-श्रावक और सर्व सयत-साधु दोनो का ही ग्रहण है, केवल सर्व सयत का नही। अत श्रावक अपने देश सयम का पालन करने हेतु मन से धर्म-ध्यान ध्याता है,वचन से अर्हन्त एव साधुओ का गुणानुवाद करता है, शरीर से साधु का मान-सम्मान करता है, उसे दान देता है और उपकरण से जीव रक्षा आदि शुभ कार्य करता है, ये सब व्यापार सुप्रणिधान ही है, दुष्प्रणिधान नही।

जो व्यक्ति उक्त चारो सुप्रणिधान एकमात्र साधुओ मे ही होना मानकर श्रावक के उपकरण के व्यापार को दुष्प्रणिधान में मानते है, उन से पूछना चाहिए—"श्रावक जो मन से धर्म-ध्यान ध्याता है, वचन से अर्हन्त, सिद्ध और साधु के गुणानुवाद गाता है और काय से साधु को मान देता है, उनका मान-सम्मान एव सेवा-शुश्रूषा करता है, उसे दुष्प्रणिधान मे क्यो नही मानते ? यदि यह कहें कि ये सब व्यापार सयम पालन के लिए किए जाते है,इसलिए दुष्प्रणिधान नही है। उसी तरह जो श्रावक सयम पालने के हेतु उपकरण का व्यापार करता है, वह भी दुष्प्रणिधान नही, सुप्रणिधान ही है। यदि उसके उपकरण के व्यापार को दुष्प्रणिधान कहते है, तो उसके पूर्वोक्त मन, वचन एव काय के व्यापारो को भी दुष्प्रणिधान कहना होगा। परन्तु जैसे श्रावक का पूर्वोक्त मन, वचन एव काय का व्यापार दुष्प्रणिधान नही है, उसी प्रकार सयम पालन के हेतु किया गया उपकरण का व्यवहार भी दुष्प्रणिधान नही है।

यदि कोई यह कहे कि श्रावक के ये चतुर्विध व्यापार सुप्रणिधान हैं, तो उक्त पाठ मे सयतियो के ही चतुर्विध सुप्रणिधान क्यो कहे ? तिर्यंच श्रावक के भी कहने चाहिए। तिर्यंच श्रावको के पास धर्मोकरण नही होते, इसलिए उपकरणो का सुप्रणिधान उनमे असभव है। इसलिए उनमें चतुर्विध सुप्रणिधान नही कहे है। यद्यपि तिर्यंच श्रावको के भी मन, वचन और काय व्यापार सुप्रणिधान होते है, तथापि उपकरण व्यापार नही होने से यहाँ तिर्यंच श्रावको का कथन नही किया है। यह स्थानाग सूत्र का चतुर्थ स्थान है, इसलिए जिसके चारो व्यापार–मन, वचन, काय और उपकरण सुप्रणिधान होते है, उन्ही का यहाँ कथन है। उक्त चारो सुप्रणिधान मनुष्य श्रावक एव साधु के ही होते है, तिर्यच श्रावक के नही। यदि कोई यह कहे कि श्रावक असयम का पालन करने के लिए भी मन, वचन, काय और उपकरण का प्रयोग करता है, अत. उसके ये व्यापार भी सुप्रणिधान में क्यो नही मानते ?

श्रावक सयम पालन करने के लिए, जो मन, वचन, काय और उपकरण का प्रयोग करते है, उन्ही व्रतो की अपेक्षा से वे देश सयत माने जाते हैं, असयम के हेतु उक्त चतुर्विध व्यापार का प्रयोग करने के कारण नही। अत. उक्त चतुर्विध व्यापार जो सयम पालन के लिए होते है, वे ही सुप्रणिधान हैं, दूसरे नही। असयम के लिए श्रावक के जो मन, वचन, काय और उपकरण का प्रयोग होता है, उसकी अपेक्षा वह असयत माना जाता है और सयम पालन के लिए जो उक्त चार व्यापारो का प्रयोग होता है, उसकी अपेक्षा सयत समझा जाता है। अत. आगम में श्रावक को सयतासयत कहा है। सयतासयत वही है, जो देश से सयमधारी है। और जिसके उक्त चतुर्विध व्यापार देश से सयम के उपकारी है। अत. सयम के उपकारार्थ जो श्रावक के उक्त चतुर्विध व्यापारो का प्रयोग होता है, वे सुप्रणिधान है और जो असयत के लिए इनका प्रयोग होता है, वे दुष्प्रणिधान हैं। परन्तु भ्रमविध्वसनकार सामायिक एव पोषध में स्थित श्रावक के मन, वचन और काय को सुप्रणिधान और उसके उपकरण के व्यापार को दुष्प्रणिधान कहते है, यह इनका एकान्त व्यामोह है। यदि सामायिक और पोषध में स्थित श्रावक के उपकरणो का व्यापार दुष्प्रणिधान है, तो उसके मन, वचन और काय का व्यापार सुप्रणिधान कैसे हो सकता है ? यदि मन, वचन और काय का व्यापार सुप्रणिधान है, तो उसका उपकारण का व्यापार दुष्प्रणिधान कैसे होगा ? अत सामायिक एव पोषध में स्थित श्रावक के प्रथम तीन व्यापारो को सुप्रणिधान में और चौथे उपकरण के व्यापार को दुष्प्र-णिधान में बताना आगम से सर्वथा विपरीत है।

भ्रमविध्वसनकार ने सुप्रणिधान के प्रसग मे प्रयुक्त सयति शब्द से केवल साधु को ही ग्रहण किया है, देश सयति–श्रावक को नही। ऐसी स्थिति में सामायिक एव पोषध में स्थित श्रावक के मन, वचन और काय व्यापार भी सुप्रणिधान में नही माने जायेंगे। क्योंकि उक्त पाठ मे सयति के मन, वचन और काया के व्यापार को ही सुप्रणिधान कहा है, अन्य को नही। यदि उक्त पाठ में प्रयुक्त 'सयत' शब्द से देश सयति श्रावक का ग्रहण होना मान कर उसके प्रथम के तीन व्यापारो को सुप्रणिधान मानते है, तो उसके उपकरण के व्यापार को भी सुप्रणिधान मानना होगा।

अनुकम्पा-अधिकार

रक्षा करना : अहिंसा है

ससार मे कुछ व्यक्ति ऐसे है, जो अहिसा के यथार्थ अर्थ को नही समझते। इसलिए वे अनुकम्पा एव जीवो की रक्षा करने की व्याख्या भी विचित्र ढग से करते है। वे अहिंसा का केवल निषेधार्थक अर्थ करते है—जीव को नही मारना अहिंसा है। जो व्यक्ति जीवो को नही मारता, वह अहिसा का परिपालन करता है, इसलिए वह धार्मिक है। परन्तु जो व्यक्ति मरते हुए प्राणियो को बचाने के भाव से हिंसा मे प्रवृत्तमान व्यक्ति को उपदेश देकर उसे हिंसा करने से रोकता है और प्राणियो की रक्षा करता है, वह धर्म नही, अधर्म या पाप कार्य करता है। भ्रम-विध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १२० पर लिखते है—

"श्री तीर्थंकर देव पिण पोताना कर्म खपावा तथा अनेरा ने तारवा ने अर्थे उपदेश देवे इम कह्यू छै। पिण जीव वचावा उपदेश देवे इम कह्यो नही।"

तेरह पथ के निर्माता आचार्य श्री भीषणजी ने अनुकम्पा दान की ढ़ाल में इससे भी कठोर भाषा मे लिखा है–

"कई अज्ञानी इम कहे, छः काया रा काजे हो देवां धर्म उपदेश।
एकन जीव नें समझावियां, मिट जावे हो घणां जीवांरा क्लेश॥
छः काया रा घरे शान्ति हुवे, एहवा भाखे हो अन्य-तीर्थी धर्म।
त्यां भेद न पायो जिन धर्म रो, ते तो भूल्या हो उदय आया अशुभ कर्म॥"

"कुछ अज्ञानी व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि वे छ काय के जीवो के घर मे शान्ति होने के लिए धर्मोपदेश देते है। क्योकि एक जीव को समझा देने से वहुत से जीवो का क्लेश मिट जाता है। परन्तु छ काय के जीवो के घर मे शान्ति होने के लिए उपदेश देना अन्य-तीर्थियो का धर्म वताता है, जैन-धर्म नही। अत छ काय के जीवो के घर मे शान्ति करने के लिए जो उपदेश देते है, वे जैन-धर्म के रहस्य को नही समझते, वे भूले हुए है और उनके अशुभ कर्म का उदय है।"

किसी मरते हुए प्राणी को वचाना तो दूर रहा, परन्तु उसके लिए मत मार कहना भी पाप है। इसके लिए वे लिखते है–

"मत मार कहे उण रो रागी रे, तीजे करणे हिंसा लागी रे।"
"मति मारण री कह्यो नहीं, ते तो सावज जाणी वाय रे॥"

"जो मनुष्य हिंसक के द्वारा मारे जाते हुए जीव को 'मत मार' कहकर उसे बचाने का प्रयत्न करता है, वह तीसरे करण से हिंसा का पाप करता है।"

"मत मार" इस भाषा को सावद्य—पाप युक्त जानकर इसके बोलने का निषेध किया है।"

परन्तु उक्त कथन यथार्थ नही है। जैन-धर्म 'मत मार' कहकर प्राणी की रक्षा करने के कार्यको सावद्य नही कहता और जैन-धर्म को जानने वाला कोई भी व्यक्ति इस सिद्धान्तका समर्थन नही कर सकता। कुछ व्यक्ति भोले-भाले लोगो के मस्तिष्क मे भ्रान्त धारणा बैठाने के लिए ऐसा अनर्गल उपदेश देते है। अपने मत को पुष्ट करने के लिए ऐसे उदाहरण भी देते है। जैसे भ्रमविध्वसनकार कहते है—"एक मनुष्य झूठ बोलता है, दूसरा झूठ नही बोलता और तीसरा सत्य बोलता है। इन मे जो झूठ बोलता है, वह एकान्त पापी है। जो झूठ नही बोलता वह एकान्त धर्मी है। परन्तु जो सत्य बोलता है, उसके भी दो भेद है—एक सावद्य सत्य बोलता है और दूसरा निरवद्य सत्य बोलता है। इसमे सावद्य सत्य बोलने वाला एकान्त पाप करता है और निरवद्य सत्य वक्ता धर्म करता है। इसी तरह एक मनुष्य हिंसा करता है, दूसरा हिंसा नही करता और तीसरा रक्षा करता है, इनमे जो व्यक्ति हिंसा करता है, वह एकान्त पापी है। जो हिंसा नही करता, वह एकान्त धर्मी है। परन्तु जो रक्षा करता है, उसके दो भेद हैं—एक हिंसा के पाप से बचाने के लिए उपदेश देता है और दूसरा हिंसक के द्वारा मारे जाने वाले प्राणी को बचाने के लिए नही मारने का उपदेश देता है। इसमे प्रथम व्यक्ति धर्म करता है और द्वितीय व्यक्ति एकान्त पाप करता है। क्योकि मरते हुए प्राणी की रक्षा करना जैन-धर्म का सिद्धान्त नही है।"

भ्रमविध्वसनकार ऐसा ही एक और दृष्टान्त देते है—"चोरी करने वाले चोर को साधु धनी के माल की रक्षा के लिए चोरी नही करने का उपदेश नही देते, किन्तु उसे चोरी के पाप से बचाने के लिए उपदेश देते है। उसी तरह साधु कसाई के हाथ से मारे जाने वाले बकरे की प्राण रक्षा के लिए उसे नही मारने का उपदेश नही देते, परन्तु कसाई को हिंसा के पाप से बचाने के लिए उपदेश देते है।"

इस तरह भ्रमविध्वसनकार अनेक तरह की कपोल-कल्पना करके जैन-धर्म के प्राणभूत रक्षा-धर्म का उन्मूलन करने का प्रयत्न करते है, परन्तु इनकी ये सब कल्पनाएँ कपोल-कल्पित है, आगम से सर्वथा विरुद्ध है। कसाई के हाथ से मारे जाने वाले प्राणी के प्राणो की रक्षा के लिए उसे नही मारने का उपदेश देना सावद्य सत्य की तरह एकान्त पाप नही, धर्म का कार्य है। मरते हुए प्राणी की रक्षा करना जैन-धर्म का प्रमुख उद्देश्य है। वास्तव में प्राणियो की रक्षा के लिए ही जैनागम का निर्माण हुआ है। तीर्थंकर भगवान के प्रवचन देने का मुख्य उद्देश्य बताते हुए आगम मे स्पष्ट लिखा है—

"सव्व जग-जीव रक्खण-दयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं।"

—प्रश्नव्याकरण सूत्र, प्रथम सवर द्वार

"संसार के सभी जीवों की रक्षा रूप दया के लिए तीर्थ कर भगवान ने प्रवचन—आगमों का उपदेश दिया।"

यदि हिंसक द्वारा मारे जाने वाले प्राणियो की रक्षा करने के लिए उपदेश देने मे एकान्त पाप होता, तो प्रश्नव्याकरण सूत्र मे ससार के सभी जीवों की रक्षा रूप दया के लिए तीर्थंकरो

द्वारा आगम का उपदेश देने के पाठ का उल्लेख क्यो करते ? अत. जीव रक्षा के लिए उपदेश देने मे एकान्त पाप बताना और इसे अन्य-तीर्थियो का धर्म कहना आगम के सर्वथा विरुद्ध है।

यदि कोई यह कहे कि प्रश्नव्याकरण के पाठ मे प्रयुक्त 'रक्षण' शब्द का अर्थ जीवो को बचाना नही, नही मारना है, तो उनका यह कथन नितान्त असत्य है। कोष, व्याकरण एवं व्यवहार मे 'रक्षण' शब्द का अर्थ—बचाना प्रसिद्ध है। भ्रमविध्वसनकार ने भी इस बात को स्वीकार किया है—"एक तो जीव हणे, एक न हणे, एक जीव छुडावे ए तीनू न्यारा-न्यारा छै।" इसमे उन्होने नही मारने वाले और रक्षा करनेवाले दोनो को एक नही, भिन्न-भिन्न माना है। इसलिए जीवो को नही मारने की क्रिया को रक्षा कहना और मरते हुए जीवो को बचाने की क्रिया को रक्षा करना नही मानना एकान्त दुराग्रह है।

जीवो की रक्षा के लिए उपदेश देना और सावद्य सत्य बोलना एक जैसा कार्य नही है। सावद्य सत्य बोलने से जीवो को दु ख होता है। जैसे—काणे को काणा, अन्धे को अन्धा कहना सत्य है, परन्तु इससे काणे एव अन्धे व्यक्ति के मन मे दु ख होगा। इसलिए आगम मे सावद्य सत्य को एकान्त पाप कहा है। परन्तु हिंसक के हाथ से मारे जाने वाले प्राणी की प्राण रक्षा के लिए उसे नही मारने का उपदेश देने से न तो हिंसक को ही दु.ख होता है और न मारे जानेवाले प्राणी को ही दु ख का सवेदन होता है, वल्कि हिंसक व्यक्ति हिंसा के पाप से बच जाता है और मारे जाने वाले व्यक्ति का आर्त-रौद्र ध्यान छूट जाता है, ऐसी स्थिति मे वचाने के लिए उपदेश देने वाले दयालु उपदेशक को पाप किस बात का हुआ ? यह बुद्धिमान एव दया-निष्ठ पाठक स्वय समझ सकते है।

आगम के अनुसार प्राणियो की रक्षा रूप दया के लिए उपदेश देना प्रशस्त कार्य है। उसमे एकान्त पाप बताना आगम के यथार्थ अर्थ को नही जानने का परिणाम है। आगम मे सत्य के दो भेद किए है—१ सावद्य और २ निरवद्य। परन्तु जीव-रक्षा को आगम मे कही भी सावद्य नही कहा है और न इसके सावद्य और निरवद्य दो भेद ही किए है। अत जीव-रक्षा को सावद्य कार्य कहना असत्य है।

जीव-रक्षा रूप धर्म को एकान्त पाप का कार्य सिद्ध करने के लिए भ्रमविध्वसनकार ने जो दूसरा चोर का दृष्टान्त दिया है, वह भी असगत है। क्योकि प्रश्नव्याकरण सूत्र मे 'जीव रक्षा रूप दया के लिए भगवान ने आगम का उपदेश दिया' कहकर जीव-रक्षा रूप धर्म को आगम का प्रमुख उद्देश्य बताया है। इसलिए साधु जीव रक्षा का उपदेश देते है, किन्तु धनी के धन की रक्षा के लिए नही। क्योकि आगम मे पर द्रव्य हरण रूप पाप से निवृत्ति रूप दया के लिए तीर्थंकर भगवान ने आगम का उपदेश दिया ऐसा कहा है—

पर-दव्व-हरण वेरमण दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।"

—प्रश्नव्याकरण सूत्र, तृतीय सवर द्वार

इस पाठ मे पर-द्रव्य के हरण रूप पाप से निवृत्ति के लिए प्रवचन का कथन होना बताया है, धनी के धन की रक्षा के लिए नही। परन्तु जीव-रक्षा के विषय मे ऐसा नही कहा है—"हिंसा की निवृत्ति के लिए जैनागम का कथन हुआ है, जीव-रक्षा के लिए नही।" परन्तु वहाँ तो स्पष्ट लिखा है—"ससार के सभी प्राणियो की रक्षा रूप दया के लिए भगवान ने प्रवचन कहा।"

अतः हिंसक के हाथ से जीवो को बचाने के लिए उपदेश देना आगम सम्मत एवं प्रशस्त कार्य है। इसमे एकान्त पाप नही होता है।

धन-रक्षा और जीव-रक्षा को एक समान बताना भयकर भूल है। धन अचित्त—जड पदार्थ है। उसकी अनुकपा-दया नही होती। परन्तु जीव चेतन है, उसकी रक्षा करना धर्म है। इसीलिए आगम मे अनेक जगह—"पाणानुकम्पयाए, भूयाणुकम्पयाए" आदि पाठ आए है। परन्तु आगम मे "धनानुकम्पयाए, वित्तानुकम्पयाए" आदि पाठ नही आए है। अत धन-रक्षा का दृष्टान्त देकर जीव-रक्षा के लिए धर्मोपदेश देने मे एकान्त पाप की प्ररूपणा करना आगम विरुद्ध है।

केशी श्रमण और प्रदेशी राजा

हिंसक के हाथ से मारे जाने वाले प्राणियो की प्राण-रक्षा के लिए किसी साधु ने उपदेश दिया हो, मूल पाठ के साथ ऐसा उदाहरण बताएँ?

राजप्रश्नीय सूत्र का पाठ लिखकर इसका समाधान कर रहे है—

"तं जइ णं देवाणुप्पिया! पएसिस्स रण्णो धम्म-माइक्खेज्जा बहु-गुणतरं खलु होज्जा, पएसिस्स रण्णो तेसि च बहूणं दुप्पय-चउप्पय-मिय पसु-पक्खी-सरीसवाण। तं जइ णं देवाणुप्पिया! पएसिस्स रणो धम्म-माइक्खेज्जा बहु गुणतरं फलं होज्जा, तेसि च बहूणं समण-माहण-भिक्खुयाणं। तं जइ णं देवाणुप्पिया! पएसिस्स बहु गुणतरं होज्जा, सव्वस्स वि जणवयस्स।"

—राजप्रश्नीय सूत्र

"हे देवानुप्रिय! यदि आप प्रदेशी राजा को धर्म सुनाएँ, तो बहुत गुणयुक्त फल होगा।

वह फल किसे होगा?

स्वयं प्रदेशी राजा को एवं उसके हाथ से मारे जाने वाले बहुत से द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु-पक्षी और सरी-सर्पो को।

हे देवानुप्रिय! यदि आप प्रदेशी राजा को धर्म सुनाएँ, तो बहुत से श्रमण-माहन, भिक्षुओं, प्रदेशी राजा एवं उसके सम्पूर्ण राष्ट्र को बहुत गुणयुक्त फल होगा।"

प्रस्तुत पाठ मे प्रदेशी राजा को धर्मोपदेश सुनाने से राजा एव उसके हाथ से मारे जाने वाले बहुत से द्विपद-चतुष्पद आदि प्राणियो, दोनो को गुण होने का कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रदेशी राजा को धर्म सुनाने से वह हिंसा का परित्याग कर के उसके पापसे वच सकता है और उसके हाथ से मारे जाने वाले प्राणियो के प्राणो की भी रक्षा हो सकती है। अत. राजा को हिंसा के पाप से वचने का गुण होगा और उसके हाथ से मारे जाने वाले प्राणियो को प्राणरक्षा रूप गुण होगा। उक्त उभय प्रकार के लाभ के लिए चित्त प्रधान ने केशी श्रमण से यह प्रार्थना की कि वे प्रदेशी राजा को धर्मोपदेश दे, केवल राजा को हिंसा के पाप से वचाने के लिए नही। अत. उक्त पाठ से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु केवल हिंसक को हिंसा के पाप से वचाने के

के लिए ही नहीं, प्रत्युत् उसके हाथ से मारे जाने वाले जीवो की रक्षा के लिए भी उपदेश देते हैं।

यहाँ कुछ लोग यह तर्क करते है—"यह पाठ चित्त प्रधान की प्रार्थना की अभिव्यक्ति करने के रूप मे आया है, इसलिए इस पाठ मे चित्त प्रधान ने द्विपद, चतुष्पद आदि जीवो की प्राण-रक्षा के लिए केशी श्रमण से धर्मोपदेश देने की प्रार्थना की, परन्तु इससे यह सिद्ध नही हो सकता कि साधु को मारे जाते हुए प्राणी की प्राण रक्षा के लिए धर्मोपदेश देना चाहिए। क्योकि चित्त प्रधान अज्ञान वश भी मुनि से मरते हुए जीवो की रक्षा के लिए धर्मोपदेश देने की प्रार्थना कर सकता है।"

वस्तुत यह तर्क युक्ति सगत नही है। क्योकि चित्त प्रधान सामान्य व्यक्ति नही, बारह व्रतधारी श्रावक था। वह जीव-रक्षा मे धर्म या अधर्म होना जानता था। अत उसने मुनि से अज्ञान वश नही,किन्तु धर्मादि तत्त्व को जानते हुए प्रार्थना की। यदि यह कार्य एकात पाप का ही था तो केशी श्रमण ने प्रार्थना करते ही चित्त प्रधान को क्यो नही समझाया, "हे देवानुप्रिय ! प्रदेशी राजा को तारने के लिए धर्मोपदेश देना तो उपयुक्त है,परन्तु उसके हाथ से मारे जानेवाले जीवो की प्राण रक्षा के लिए उसे उपदेश देना उचित नही है। क्योकि मरते जीवो की रक्षा के लिए उपदेश देने मे एकान्त पाप होता है।" परन्तु केशी श्रमण ने ऐसा नही कहा। इससे यह सिद्ध होता है कि जीव-रक्षा मे धर्म होता है। तथापि हिंसक के हाथ से मारे जाने वाले प्राणियो की रक्षा के उद्देश्य से धर्मोपदेश करने मे एकान्त पाप बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

अभयदान : सर्वश्रेष्ठ दान है

सूत्रकृताग श्रु० १, अ० ६, की गाथा मे प्रयुक्त "दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाण" पद का कुछ लोग यह अर्थ करते है—"अपनी ओर मे किमी प्राणी को भय नही देना अभय-दान है। परन्तु दूसरे मे भय पाते हुए प्राणी को भय मुक्त करना अभय-दान नही है।"

अभय-दान का केवल दूसरे को भय नही देना इतना ही अर्थ नही, वल्कि दूसरे मे भय पाते हुए प्राणीको भय मुक्त करना भी अभय-दान है। सूत्रकृताग की उक्त गाथा की टीका मे दूसरे से भयभीत व्यक्ति को भय मुक्त करना भी अभय-दान वताया है।

"स्वपरानुग्रहार्थमर्थिनेदीयत इति दानमेकधा तेषां मध्ये जीवानां जीविता-र्थिनां त्राणकारित्वादभय प्रदानं श्रेष्ठम्। तदुक्तम्—

"दीयते म्रियमाणस्य कोटिं जीवितमेव वा।
धन कोटिं न गृह्णीयात् सर्वो जीवितुमिच्छति॥"

गोपालाङ्गनादीनां दृष्टान्त द्वारेणार्थो बद्धो सुखेनारोहतीत्यतोऽभयदान प्राधान्य ख्यापनार्थं कथानकमिदम्—

वसन्तपुरे नगरे अरिदमनोराजा, स च कदाचित् चतुर्वधू समेतो वातायनस्थः क्रीडायमानस्तिष्ठति तेन कदाचिच्चोरो रक्त कणवीर कृत मुण्डमालो, रक्त परिधानो, रक्त चन्दनोपलिप्तश्च प्रहतवध्यडिण्डिमो राजमार्गेण नीयमान. सपत्नीकेन दृष्ट·। दृष्टवा च ताभिः पृष्ट किमनेनाकारि इति ? तासामेकेन राजपुरुषेणावेदितम्। यथा—परद्रव्यापहारेण राजविरुद्धमिति। तत एकया राजा विज्ञप्त यथा यो भवता मम प्राग् वर प्रतिपन्नः सोऽधुना दीयताम्, येनाहमस्योपकरोमि किंचित् राज्ञापि प्रतिपन्नम्। ततस्तया स्नानादि पुरस्सरमलकारेणालकृतो दीनार सहस्र व्ययेन पञ्चविधान् शब्दादीन् विषयानेकमहः प्रापितः। पुनर्द्वितीययाऽपि तथैव द्वितीयमहो दीनार शतसहस्र व्ययेन लालित। ततस्तृतीयया तृतीय महो दीनार कोटि व्ययेन सत्कारित·। .चतुर्थ्यातु राजानु-

मत्या मरणाद् रक्षितोऽभय प्रदानेन। ततोऽसावन्याभिर्हसिता नास्य त्वया किञ्चिद् दत्तमिति। तदेवं तासां परस्परं बहूपकार विषये विवादे जाते। राजाऽसावेव चौरः समाहूय पृष्ठः 'यथा केन तव बहूपकृतम्' तेनाप्यभाणि यथा न मया मरण-महाभय-भीतेन किञ्चित् स्नानादिकं सुखं व्यज्ञायि। अभय प्रदानाकर्णनेन पुनर्जन्मानमिवात्मानमवैमिति। अत सर्वदानानामभयप्रदानं श्रेष्ठमितिस्थितम्।"

—सूत्रकृताग सूत्र १, ६, २३ टीका

"अपने या पर के अनुग्रह के लिए याचक पुरुष को जो दिया जाता है, वह दान कहलाता है। वह अनेक प्रकार का है, उनमें अभय-दान सर्वश्रेष्ठ है। अभय-दान—जीने की इच्छा रखनेवाले प्राणियों के जीवन को रक्षा करना। इसलिए वह सब दानो में श्रेष्ठ माना गया है। कहा भी है—'यदि मरते हुए प्राणी को एक ओर करोड़ो का धन दिया जाए और दूसरी ओर जीवन दान, तो वह करोड़ो का धन न लेकर, जीवन को ही लेता है। क्योकि जीवो को जीवन सबसे अधिक प्रिय हैं।' अतः अभयदान सब दानो में श्रेष्ठ है। साधारण बुद्धि के लोगो को समझाने के लिए एक दृष्टान्त के द्वारा अभय-दान की श्रेष्ठता बता रहे हैं—

वसन्तपुर नगर में अरिदमन नाम का एक राजा रहता था। वह एक दिन अपनी चारो रानियो के साथ झरोखे में बैठकर क्रीड़ा कर रहा था। उस समय उसने अपनी रानियों के साथ गले में लाल कनेर के फूलो की माला पहिनाए हुए, लाल वस्त्र पहिनाए हुए और शरीर पर रक्त चंदन का लेप किए हुए एक चोर को ढोल बजाकर और उसका वध करने की घोषणा करते हुए राजमार्ग से ले जाते हुए देखा।

उसे देखकर रानियो ने पूछा—'इसने क्या अपराध किया है?'

यह सुनकर राजा ने कहा—'इसने चोरी करके राजा की आज्ञा का उल्लंघन किया है।'

इसके अनन्तर एक रानी ने राजा से कहा—'आपने मुझे पहले जो वरदान देना स्वीकार किया था, वह अभी दे दें, जिससे मैं इस चोर का कुछ उपकार कर सकूँ।'

यह सुनकर राजा ने वरदान देना स्वीकार कर् लिया।

रानी ने राजा से यह वर मांगा—'इस चोर को स्नान कराकर, आभूषण पहिनाकर, एक हजार मोहरो के व्यय से एक दिन तक शब्दादि पाँचो विषयो का सुख दिया जाए।'

इसके अनन्तर दूसरी रानी ने दूसरे दिन उस चोर को एक लाख मोहरो के व्यय से सुख देने का वर मांगा।

तीसरे दिन तीसरी रानी ने एक कोटि मोहरों के व्यय से उसे सुख देने को कहा।

चौथे दिन चौथी रानी ने राजा से वर मांगकर उस चोर को अभय-दान देकर मरने से बचा लिया।

यह देखकर पहली तीनों रानियाँ चौथी रानी की हंसी उड़ाने लगी। वे कहने लगीं—'इसने तो बेचारे को कुछ नहीं दिया।'

इसके अनन्तर उन रानियों में अपने-अपने उपकार के विषय में संघर्ष होना शुरु हुआ। उस संघर्ष को शान्त करने के लिए राजा ने चोर को बुलाकर पूछा—'इन रानियों में से तुम्हारा सबसे अधिक उपकार किसने किया।'

चोर ने कहा—'मैं मरण के महाभय से भयभीत था, अतः स्नानादि के सुख का मुझे कुछ भी आनन्द नहीं आया। परन्तु जब मैंने यह सुना कि मुझे अभय-दान मिला है, तब मुझे नव जीवन प्राप्ति के समान महान् आनन्द हुआ।"

यहाँ मारे जाने वाले प्राणी को मरने से बचाने को अभय-दान कहा है। और इस विषय को स्पष्ट करने के लिए चोर का दृष्टान्त दिया है। इस दृष्टान्त मे रानी ने अपनी ओर से चोर को भय देने का त्याग नही किया, बल्कि शूली या फासी द्वारा होने वाले मरण रूपी महाभय से उसे बचाया और इस कार्य को यहाँ अभय-दान कहा है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि दूसरे से भय पाते हुए प्राणी के भय को दूर करना भी अभय-दान है, अपनी ओर से भय नही देना मात्र ही नही। अत दूसरे से भयभीत प्राणी को भय से मुक्त करने मे एकान्त पाप बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

भगवान महावीर : क्षेमंकर थे

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १२१ पर सूत्रकृताग सूत्र की गाथा लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते है—

"अय अठे कह्यो पोताना कर्म खपावा तथा आर्य क्षेत्र ना मनुष्य ने तारिवा भगवान धर्म कहे। इम कह्यो पिण इम न कह्यो जे जीव बचावाने अर्थे धर्म कहे। इण न्याय असयति जीवा रो जीवणो वाछया धर्म नही।" इनके कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान महावीर आर्य क्षेत्र के मनुष्यो को तारने के लिए और अपने कर्मो का क्षय करने के लिए धर्मोपदेश करते थे। परन्तु हिंसक के द्वारा मारे जाने वाले प्राणियो की प्राण-रक्षा करने के लिए नही। अत मारे जाते हुए प्राणी की प्राण रक्षा के लिए उपदेश देना साधु का कर्त्तव्य नही है।

सूत्रकृताग सूत्र की उक्त गाथाओ को लिखकर इसका समाधान कर रहे है—

"नो काम किच्चा नय बाल किच्चा, रायाभियोगेण कुतो भये णं।
वियागरेज्जा पसिणं नवावि, सकाम किच्चे णिह आरियाणं॥
गन्तावतत्था अदुवा अगंता, वियागरेज्जा समिया सुपन्ने।
अनारिया दंसण तो परित्ता, इति संकमाणो न उवेति तत्थ॥"

—सूत्रकृतांग सूत्र २, ६, १७-१८

"गोशालक के मत का खण्डन करने के लिए आर्द्र मुनि कहते हैं—भगवान् महावीर बिना इच्छा के काम नहीं करते। जो बिना विचारे काम करता है, वह इच्छा के बिना भी काम करता है। वह ऐसा काम कर डालता है, जिससे स्व या पर का अनिष्ट हो, परन्तु सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवान महावीर परहित करने में तत्पर रहते हैं। वे ऐसा कोई कार्य नहीं करते जिससे स्व या पर का उपकार नही होता। भगवान महावीर किसी राजा आदि के दबाव से या अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए उपदेश नहीं देते। क्योकि उनकी प्रवृत्ति भय से नहीं होती। यदि कभी कोई पूछता है या उसका उपकार होता देखते हैं, तो भगवान उत्तर देते हैं, अन्यथा नहीं। और लाभ समझने पर भगवान बिना पूछे ही उपदेश देते हैं। अनुत्तर विमान वासी देवता और मनःपर्यवज्ञानी साधको के प्रश्नो का उत्तर भगवान मन से ही देते हैं, वाणी से नहीं। क्योकि उन्हें वाणी द्वारा उपदेश देने की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि भगवान

बीतरागी हैं, तथापि अपने तीर्थंकर नाम कर्म का क्षय करने के लिए और उपकार योग्य आर्य क्षेत्र के मनुष्यों का उपकार करने हेतु उपदेश देते हैं।"

भगवान महावीर परहित साधन मे तत्पर रहते है। इसलिए वे शिक्षा पाने योग्य पुरुष के निकट जाकर भी उपदेश देते है। वे जिस प्रकार भव्य जीवो का कल्याण देखते है, उसी तरह उपदेश देते है। वे कही नही जाकर भी उपदेश देते हैं। यदि उपकार होता देखते है, तो वहाँ जाकर उपदेश देते हैं और उपकार होता नही देखते है, तो वहाँ रहकर भी उपदेश नही देते। उन्हे किसी से भी राग-द्वेष नही है। चक्रवर्ती नरेश या दर-दर का भिखारी, वे सब को एक दृष्टि से देखते है। पूछने या नही पूछने पर सब को समान रूप से धर्मोपदेश देते है। भगवान अनार्य देश मे धर्मोपदेश देने इसलिए नही जाते कि वहाँ के निवासी दर्शन भ्रष्ट है और ऐहिक सुख को ही अपना अन्तिम लक्ष्य समझकर परलोक को स्वीकार करते है। अपितु उनकी भाषा और कर्म भी आर्य लोगो से विपरीत होते है। इसलिए वहाँ उपकार नही होनेसे भगवान अनार्य देश मे नही जाते।

प्रस्तुत गाथाओ मे यह बताया है कि भगवान महावीर आर्य-क्षेत्र के मनुष्यो के उपकार के लिए एव अपने तीर्थंकर नाम कर्म का क्षय करने हेतु उपदेश देते है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि भगवान हिंसक के द्वारा मारे जाने वाले जीवो की प्राण-रक्षा के लिए भी धर्मोपदेश देते है। क्योकि जैसे हिंसक को हिंसा के पाप से बचाना उसका उपकार करना है, उसी तरह उसके हाथ से मारे जानेवाले प्राणियो की रक्षा करना भी उनका उपकार करना है। उक्त गाथाओ के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने भी यह लिखा है—

"असावपि तीर्थकृन्नामकर्मण क्षपणाय न यथा कथचिदतोऽसावग्लानः इह अस्मिन् संसारे आर्यक्षेत्रे वा उपकार योग्ये आर्याणां सर्वहेयधर्मदूरवर्तिनां तदुपकाराय धर्मदेशनां व्यागृणीयादसाविति।"

—सूत्रकृताग २, ६, १७–१८ टीका

"भगवान् महावीर अपने तीर्थंकर नाम कर्म को क्षय करने के लिए इस संसार में अथवा उपकार करने योग्य आर्य क्षेत्र में त्यागने योग्य सभी बुरे धर्मो से अलग रहने वाले आर्यों के उपकार के हेतु धर्मोपदेश देते थे।"

प्रस्तुत टीका मे भी हिंसक के द्वारा मारे जाने वाले जीवो की रक्षा के लिए भगवान का उपदेश देना सिद्ध होता है। क्योकि मरते हुए प्राणी की प्राण रक्षा करना ही, उसका सबसे बडा उपकार है। अत उक्त गाथाओ एव उनकी टीका से यही प्रमाणित होता है कि भगवान महावीर आर्य क्षेत्र के प्राणियो की प्राणरक्षा रूप उपकार के लिए धर्मोपदेश देते थे। तथापि उक्त गाथाओ का नाम लेकर यह कहना कि भगवान् आर्य क्षेत्र के जीवो की प्राण-रक्षा करने हेतु उपदेश नही देते थे, नितान्त असत्य है।

सूत्रकृताग सूत्र मे स्पष्ट लिखा है कि भगवान मरते हुए जीव की प्राण रक्षा के लिए धर्मोपदेश देते हैं—

"समिच्च लोगं तस-थावरा ण खेमंकरे समणे-माहणे वा।
आइक्खमाणे वि सहस्समज्झे एगंत यं सारयति तहच्चे॥"

—सूत्रकृताग सूत्र २, ६, ४

"स्यादेतत् धर्मदेशनया प्राणिनां कश्चिदुपकारो भवत्युतनेति। भवतीत्याह 'समिच्च लोग' इत्यादि सम्यक् यथावस्थित लोकं षड्द्रव्यात्मकं मत्वा अवगम्य केवलालोकेन परिच्छिद्य त्रस्यन्तीति त्रसा. त्रसनामकर्मोदया द्वीन्द्रियादयः, तथा तिष्ठन्तीतिस्थावरा स्थावरनामकर्मोदयात्स्थावरा· पृथिव्यादयस्तेषामुभयेषामपि जन्तुनां क्षेम शान्तिः रक्षा तत्करणशील क्षेमंकर। श्राम्यतीति श्रमण द्वादश प्रकार तपोनिष्ठप्तदेह् तथा माहन इति प्रवृत्तिर्यस्यासौ माहनो ब्राह्मणो वा स एव भूतो निर्ममो राग-द्वेष रहित प्राणिहितार्थं न पूजालाभ ख्यात्यार्थं धर्ममाचक्षाणोऽपि प्राग्वत् छद्मस्थावस्थायां मौनव्रतिक इव वाक्संयत एव उत्पन्न-दिव्यज्ञानत्वाद् भाषागुणदोषविवेकज्ञ तया भाषणे नैव गुणवासे. अनुत्पन्न दिव्यज्ञा-नस्य तु मौन व्रतिकत्वेनेति। तथा देवासुर-नर-तिर्य्यक् सहस्रमध्येऽपि व्यवस्थित पकाधारपंकजवत्तद्दोषव्यासगा भावान्ममत्वविरहादाशसादोष विकलत्वादेकान्त-मेवासौ सारयति प्रख्याति नयति साधयतीति यावत्। ननु चैकाकि परिकरोये-तावस्थयोरस्ति विशेष प्रत्यक्षेणैवोपालभ्यमानत्वात्सत्यमस्ति विशेषो बाह्यतो न त्वांतरतोऽपि दर्शयति—तथा प्राग्वदर्चा लेश्या शुक्लध्यानाख्या यस्य स तथार्चं। यदि वा अर्चा शरीर तच्च प्राग्वद्यस्य स तथार्चं। तथाहि असावशोकाद्यष्ट प्रातिहार्य्योपेतोऽपि नोत्सेक याति नापि शरीरं संस्कार यत्रं विदधाति स हि भग-वान् आत्यन्तिक राग-द्वेष प्रहाणादेकाक्यपि जन परिवृतोऽप्येकाकी न तस्य तयो-रवस्थयो कश्चिद् विशेषोऽस्ति।" तथाचोक्तम्——

"राग द्वेषौ विनिर्जित्य किमरण्ये करिष्यसि ?
अथ नो निर्जितावेतौ किमरण्ये करिष्यसि ?"

"इत्यतो बाह्यमनंगमान्तरमेव कषाय जयादिक प्रधानं कारणमिति स्थितम्।"

"भगवान महावीर के धर्मोपदेश से प्राणियो का कुछ उपकार होता था या नहीं ? होता था।

भगवान् महावीर केवल ज्ञान से षट् द्रव्यात्मक लोक को यथार्थ रूप से जानकर द्वीन्द्रियादि त्रस और पृथ्वी आदि स्थावर प्राणियो की स्वभाव से ही रक्षा, शान्ति, क्षेम करते थे। वे बारह प्रकार की तपस्या से अपने शरीरको तपाते हुए और माहन—प्राणियो को अहिंसा का उपदेश देते हुए, ममता रहित होकर प्राणियो के हितार्थ धर्मोपदेश देते थे। उन्हें अपनी पूजा-प्रतिष्ठा एवं मान-सम्मान की इच्छा नहीं थी। भगवान धर्मोपदेश करते समय भी पूर्व की तरह—मौन-व्रतिक की तरह वाक् सयत थे। तात्पर्य यह है कि जैसे भगवान छद्मस्थ अवस्था में मौनव्रत-धारी थे, उसी तरह सर्वज्ञ होने के बाद धर्मोपदेश देते हुए भी मौन-व्रतधारी के समान थे। क्योकि दिव्य ज्ञान उत्पन्न होने पर उन्हें भाषा के गुण और दोष का पूर्ण ज्ञान हो जाने से उनके बोलने में गुण ही था, दोष नही। और जब तक सर्वज्ञ नहीं हुए तब तक मौन रखने में ही गुण था। भगवान महावीर हजारो देव,असुर, मनुष्य एवं तिर्यंचो के मध्य में रहते हुए भी कीचड़ में रहने

वाले कमल की तरह दोष से निर्लिप्त रहते थे। ममता एवं सांसारिक लाभ की इच्छा तथा दोष रहित होकर वे सदा-सर्वदा और सर्वत्र एकान्तता का अनुभव करते थे। यदि कोई यह कहे कि एकाकी रहने की अवस्था एवं शिष्यादि के साथ रहने की अवस्था में प्रत्यक्षत: भेद परिलक्षित होता है, फिर वे सब के मध्य में निवसित होकर एकान्तता का कैसे अनुभव करते थे? इसका उत्तर यह है कि एकाकी रहने और शिष्यादि के साथ रहने की अवस्था में जो भेद दिखाई देता है, वह बाह्य भेद है, आन्तरिक नहीं। क्योंकि शिष्यादि के साथ रहने पर भी भगवान की पूर्व के समान ही शुक्ल-ध्यान रूप लेश्या थी और वे पूर्ववत् अपने शरीर का सस्कार नहीं करते थे। अशोक वृक्षादि अष्ट प्रतिहारियो के साथ रहने पर भी वे गर्व रहित थे और उनमें राग-द्वेष का सर्वथा अभाव था। इसलिए सब के साथ रहने पर भी वे एकान्तता का अनुभव करते थे। एक आचार्य ने कहा भी है—

यदि तुमने राग-द्वेष पर विजय प्राप्त कर ली है, तो वन में जाकर क्या करोगे? और उस पर विजय नहीं पाई है, तब भी जगल की खाक छानकर क्या करोगे? इसका निष्कर्ष यह है कि बाह्याचार—क्रिया-काण्ड ही कल्याण का कारण नहीं है। मुक्ति का मूल कारण कषाय आदि पर विजय प्राप्त करना है। उस पर विजय पाने के पश्चात् भले ही जनता के बीच रहो या जगल में, सर्वत्र एकान्तता की ही अनुभूति होगी।"

प्रस्तुत गाथा मे यह बताया है कि भगवान महावीर त्रस और स्थावर समस्त प्राणियो की क्षेम—रक्षा करनेवाले थे। टीकाकार के शब्दो मे वे सब प्राणियो की रक्षा करते थे—

"क्षेमं शान्ति. रक्षा तत्करणशील क्षेमंकर:।"

इससे स्पष्टत. प्रमाणित होता है कि भगवान महावीर केवल हिंसक को पाप से मुक्त करने के लिए ही नही, प्रत्युत मरते हुए प्राणियो की रक्षा करने के लिए भी धर्मोपदेश देते थे। यदि कोई यह कहे कि हिंसा के पाप से बचा देना ही जीव की रक्षा या क्षेम है, मरने से बचाना नही। इस सम्बन्ध मे उन्हे यह सोचना-समझना चाहिए कि प्रस्तुत गाथा मे भगवान को त्रस की तरह स्थावर जीवो का भी क्षेम करनेवाला कहा है। यदि वे मरते जीवो की रक्षा के लिए उपदेश नही देते, तो उन्हे स्थावर जीवो का क्षेमकर कैसे कहा? क्योंकि स्थावर जीवो मे उपदेश ग्रहण करने की योग्यता नहीं है। अत. उन्हें हिंसा के पाप से बचाने के लिए उपदेश देना घटित नही होता। किन्तु उनकी प्राणरक्षा के लिए उपदेश देना घट सकता है। अत. इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवान मरते हुए प्राणों की रक्षा करने के लिए भी उपदेश देते थे।

कुछ व्यक्ति ऐसी कल्पना करते है कि हिंसक के हाथ से असयति जीव को बचाना उसके असयम का अनुमोदन करना है और साधु को असयम का अनुमोदन करना नहीं कल्पता। इसलिए हिंसक के हाथ से मारे जाते हुए प्राणी की प्राण रक्षा के लिए साधु को उपदेश नही देना चाहिए।

परन्तु उनकी यह कल्पना सत्य नही है। क्योकि साधु असयति जीव की प्राणरक्षा उसके असयम सेवन का अनुमोदन करने के लिए नही करता। साधु यह कामना नही करता कि यह असयति जीवित रहकर असयम का सेवन करे या असयम का सेवन करना अच्छा है। वह असयम सेवन को बुरा समझता है। अत वह असयम सेवन करने के लिए असयति की रक्षा नही करता। किन्तु साधु असयति को उसके आर्त्त-रौद्र ध्यान एव मरण भय से मुक्त करने

के भाव से उसकी रक्षा करता है। अत. असयति की प्राण-रक्षा करने हेतु धर्मोपदेश देने से साधु को असयम का अनुमोदन लगता है, ऐसा कहना पूर्णत· गलत है।

यदि इस प्रकार असयम का अनुमोदन लगता हो, तब तो हिंसक को हिंसा छोडने के लिए अहिंसा का उपदेश भी नही देना चाहिए। क्योकि इस उपदेश से प्रभावित होकर यदि हिंसक असयति को नही मारेगा, तो वह बच जाएगा और जीवित रहकर असयम का सेवन भी करेगा। फिर प्राण-रक्षा मे पाप की प्ररूपणा करनेवाले हिंसक को हिंसा का त्याग कराने के लिए क्यो उपदेश देते है? यदि यह कहें कि हम असयति की रक्षा के लिए उसे उपदेश नही देते, किन्तु उसे हिंसा के पाप से मुक्त करने हेतु उपदेश देते है। इसलिए हमे असयति की प्राणरक्षा या उसके असयम सेवन का अनुमोदन नही लगता। इसी तरह सरल हृदय से उन्हे यह समझना चाहिए कि हम असयम का सेवन कराने के लिए असयति की प्राण रक्षा नही करते, किन्तु उसका आर्त्त-रौद्र ध्यान मिटाकर उसे मरण भय से उन्मुक्त करने हेतु उसकी रक्षा करते है। अत हमे उसके असयम सेवन का अनुमोदन नही लग सकता। अस्तु हिंसक के हाथ से मारे जाते हुए प्राणी की प्राण-रक्षा करने मे असयम सेवन का नाम लेकर एकान्त पाप कहना नितान्त असत्य है।

जीव-रक्षा का उपदेश

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १२१ पर लिखते है—

"जिम कोई कसाई पाँच सौ-पाँच सौ पचेन्द्रिय जीव नित्य हणे छै। ते कसाई नें कोई मारतो हुवे तो तिणने साधु उपदेश देवें। तो तिण ने तारिवाने अर्थे, पिण कसाई ने जीवतो राखण ने उपदेश न देवे। ए कसाई जीवतो रहे तो आछो, इम कसाई नो जीवणो वाछणो नही। केई पचेन्द्रिय हणे, केई एकेन्द्रियादिक हणे छै। ते माटे असयति जीव तो हिंसक छै। हिंसक नो जीवणो वाछ्या धर्म किम हुवे ?"

इनके कहने का अभिप्राय यह है कि कोई व्यक्ति पचेन्द्रिय जीव को मारता है और कोई एकेन्द्रिय जीव को। इसलिए साधु के अतिरिक्त सभी व्यक्ति कसाई के समान हिंसक हैं। उनकी प्राण-रक्षा करने के लिए धर्मोपदेश देना धर्म नही, एकान्त पाप है। जो कसाई प्रतिदिन पाँच-सौ बकरे मारता है, यदि कोई उस कसाई को मार रहा हो, तो साधु उस मारनेवाले को हिंसा के पाप से मुक्त करने के लिए उपदेश देते है, परन्तु कसाई को बचाने के लिए नही। क्योकि यदि कसाई बचेगा तो वह पुन. प्रतिदिन पाँच-सौ बकरो का वध करेगा। उसी तरह यदि अन्य असयति बचे रहे तो वे भी प्रतिदिन एकेन्द्रिय जीवो का विनाश करेंगे। इसलिए साधु हिंसक को हिंसा छोडने के लिए उपदेश देते हैं, परन्तु उसके हाथ से मारे जानेवाले असयति जीवो की प्राण रक्षा करने के लिए नही।

साधु किसी भी जीव की हिंसा को अच्छा नही समझता। वह प्रत्येक प्राणी की रक्षा करने की भावना रखता है। वह जैसे कसाई का वध करने वाले को उपदेश देकर कसाई की प्राणरक्षा करने का प्रयत्न करता है, उसी तरह कसाई को उपदेश देकर प्रति-दिन उसकी छुरी से मारे जाने वाले बकरो की प्राण-रक्षा करने का प्रयत्न करता है। वह यह अभिलाषा नही रखता कि कसाई जीवित रहकर प्रति-दिन बकरो का वध करे। उसका एकमात्र यह भाव रहता है कि कसाई, बकरे एव अन्य प्राणी आर्त्त-रौद्र ध्यान एव मरण भय से मुक्त हो और इसके साथ-साथ साधु हिंसक को हिंसा के पाप से भी मुक्त करने का प्रयत्न करता है। साधु मरने वाले प्राणी को आर्त्त-रौद्र ध्यान एव मरण के महाभय से निवृत्त करने की ही भावना रखता है, उसके असयम सेवन आदि बुराइयो की नही। अत असयति जीव की प्राण-रक्षा के लिए धर्मोपदेश देने से, उस असयति के द्वारा सेवन किये जाने वाले असंयमादि का साधु को अनुमोदन नही लगता।

यदि असयम की इच्छा न रखने पर भी असयति को बचाने मात्र से साधु को असयम का अनुमोदन लगे, तो हिसक को अहिंसा का उपदेश देने से भी असयम का अनुमोदन लगना चाहिए। क्योकि अहिंसा का उपदेश सुनकर हिंसक यदि असयति को नही मारेगा, तो वह जीवित रहकर असयम का सेवन करेगा, ऐसी स्थिति मे हिंसक की हिंसा छुडानेवाले साधु को असयति के असयम सेवन का अनुमोदन क्यो नही लगेगा ? यदि उक्त अहिंसा का उपदेशक हिंसा छुडाने मात्र की भावना से उपदेश देता है, हिंसक के हाथ से मारेजाने वाले प्राणी की प्राण-रक्षा तथा उसके द्वारा सेवन किए जाने वाले असयम सेवन की इच्छा से नही, इसलिए उसे असयम का अनुमोदन नही लगता। उसी तरह जो साधु प्राणियो की प्राण-रक्षा एव उन्हे आर्त्त-रौद्र ध्यान तथा मरण भय से मुक्त करने मात्र की भावना से प्राणियो की रक्षा करता है, उनके असयम सेवन की इच्छा से नही, उसे भी असयति के द्वारा सेवन किए जानेवाले असयम सेवन का अनुमोदन नही लगता। किन्तु मरते हुए प्राणी की प्राण-रक्षा रूप महान् पुण्य का लाभ होता है। अत मरते हुए प्राणी की प्राण-रक्षा करने के लिए धर्मोपदेश देने से असयम एव हिंसा का समर्थन होता है, ऐसा कथन आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

नेमिनाथ ने जीव-रक्षा की

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १२७ पर लिखते हैं—"अथ इहां तो पाधरो कह्यो—जे म्हारे कारण या जीवाँ ने हणे तो ए कारणज मोनें परलोक में कल्याणकारी भलो नही। इम विचारी पाछा फिर्या। पिण जीवाँ ने छुड़ावा चाल्यो नही।" इसके अतिरिक्त पृष्ठ १२४ पर लिखते हैं—"त्यां जीवाँ रे जीवण रे अर्थे तो नेमिनाथ जी पाछा फिर्या नही। ए तो जीवाँ री अनुकम्पा कही तेहनो न्याय इम छै। जे म्हारा व्याह रे वास्ते यां जीवाँ ने हणे तो मोनें ए कार्य करवो नही। इम विचारी पाछा फिर्या।"

उत्तराध्ययन सूत्र की उक्त गाथाओं एवं उसकी टीका लिखकर इसका समाधान कर रहे हैं—

"सो ऊण तस्स वयणं बहुपाणि विनासनं।
चिन्तेइ से महापन्ने सानुक्कोसो जिये हिउ॥
जइ मज्झ कारणा ए-ए हम्मन्ति सु वहु जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं परलोगे भविस्सइ॥
सो कुण्डलाण जुगलं सुत्तगं च महाजसो।
आभरणानि य सव्वाणि सारहिस्स पणामइ॥"

—उत्तराध्ययन २२, १८से२०

"इत्थं सारथिनोक्ते यद् भगवान् विहितवांस्तदाह सुगममेव नवरं तस्य सारथेः वहूनां प्रभूतानां प्राणानां प्राणिनां विनाशनं हननं अभिधेयं यस्मिन् तद् वहुप्राणि विनाशनं। स भगवान् सानुक्रोशः सकरुणः केषु 'जीए हिउ' त्ति जीवेषु तु पाद पूरणे ममकारणादिति मद्विवाह प्रयोजने भोजनार्थत्वादमी-पामितिभावः। हम्मंति हन्यन्ते वर्तमान सामीप्ये लट् ततो हनिष्यन्ते इत्यर्थः। पाठान्तरतः 'हमिहंति' त्ति सुस्पष्टम्। सुवहवः अति प्रभूताः 'जिय' त्ति जीवाः एतदिति जीव हननं तु एवकारार्थे नेत्यनेन योज्यते ततः न तु नैव निःश्रेयसं

कल्याणं परलोके भविष्यति पापहेतुत्वादस्येति भाव, भवान्तरेषु परलोक भीरुत्व-स्यात्यन्तमभ्यस्ततयैवमभिधानमन्यथा चरमशरीरत्वादतिशय ज्ञानित्वाच्च भगवत: कुत एवं विध चिन्तावसर:। एवं च विदित भगवदाकूतेन सारथिना मोचितेषु सत्वेषु पारितोषितोऽसौ यत्कृतवांस्तदाह् 'सो' इत्यादि सुत्तकञ्चेति कटि-सूत्रमर्पयतीति योग: किमेतदेवेत्याह् आभरणानि सर्वाणि शेषाणीति गम्यते।"

"इस प्रकार सारथी के कहने पर भगवान नेमिनाथ ने जो कार्य किया, वह इन गाथाओं में बताया गया है---

बहुत से प्राणियों के विनाश रूप अर्थ को अभिव्यक्त करने वाली सारथी की वाणी सुनकर प्रबुद्ध विचारक भगवान नेमीनाथ उन प्राणियों पर दया-निष्ठ भाव से सोचने लगे---

'यदि ये बहुत से प्राणी मेरे निमित्त मेरे विवाह में आए हुए लोगों के भोजनार्थ मारे जाएँगे, तो यह कार्य मेरे लिए परलोक में कल्याणकारी नहीं होगा।' यद्यपि भगवान नेमिनाथ अति-शय ज्ञानवान एवं चरम शरीरी होने के कारण उसी भव में मोक्ष जाने वाले थे। अतः उन्हें पर-लोक की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं थी। तथापि दूसरे भवों में परलोक से डरने का उनका जो अत्यन्त अभ्यास था, उसी कारण वे चिन्तित हुए।

भगवान नेमिनाथ के अभिप्राय को समझ कर जब सारथी ने उन सब प्राणियों को बन्धन-मुक्त कर दिया, तब उन्होंने सारथी पर प्रसन्न होकर उसे अपने कानों के कुण्डल, कटिसूत्र एवं अन्य सब आभूषण उतार कर पारितोषिक के रूप में दे दिए।"

प्रस्तुत गाथाओ मे बताया है-"सानुक्कोसो जीये हिउ"-भगवान को उन प्राणियो पर अनु-क्रोश-दया उत्पन्न हुई। दया का अर्थ है-दूसरे के दु:ख को दूर करना, दुःखी व्यक्ति की रक्षा करना, दु:खी व्यक्ति को दुःख से मुक्त करने की भावना।

"पर-दुःख प्रहाणेच्छा दया।"

यदि मरते हुए प्राणी की रक्षा करना एकान्त पाप होता तो भगवान को उन जीवो पर दया क्यो उत्पन्न होती? अत उक्त गाथाओं से यह स्पष्टत सिद्ध होता है कि मरते हुए प्राणी की रक्षा करना पाप नही, धर्म है।

भ्रमविध्वसनकार का यह लिखना मिथ्या है कि भगवान नेमिनाथ यह विचार कर के वापिस लौट गये कि मेरे कारण इन जीवो को मारा जा रहा है, यह मेरे लिए परलोक मे कल्याणकारी एव अच्छा नही है, परन्तु जीवो को बचाने के लिए नही। वस्तुत. भगवान नेमीनाथ जीवो की रक्षा के लिए और उनकी मृत्यु से होने वाले पाप से बचने के लिए वापिस लौटे थे, केवल अपनी आत्मा को पाप से बचाने के लिए नही। इसलिए उक्त गाथा मे-'सानुक्कोसी जिये हिउ' पाठ आया है। यह पाठ तभी सार्थक हो सकता है, जब कि भगवान का उन सब जीवो की रक्षा के लिए वापिस लौटना माना जाए। जो व्यक्ति जीवो की रक्षा के लिए भगवान का वापिस लौटना नही मानते, उनके मत मे उक्त पाठ निरर्थक सिद्ध होता है। क्योकि पाप के भय से वापिस लौटना अपनी अनुकम्पा है, उन जीवो की नही। अत. भ्रमविध्वसनकार के मत से उक्त पाठ बिल्कुल सार्थक नही हो सकता। परन्तु इसका निरर्थक प्रयोग नही हुआ है। अत भगवान उन जीवो की रक्षा के लिए वापिस नही लौटे थे, यह कहना नितान्त असत्य है।

उपरोक्त बीसवीं गाथा में लिखा है—"भगवान ने अपने कानों के कुण्डल, कटिसूत्र एवं शेष सभी आभूषण उतारकर सारथी को इनाम रूप मे दे दिए।" पारितोषिक देने के कारण को स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

"विदित भगवदाकूतेन सारथिना मोचितेषु सत्वषु परितोषितोऽसौ यत्कृतवांस्तदाह।"

"भगवान के अभिप्राय को समझ कर जब सारथी ने उन सब जीवों को बन्धन से मुक्त कर दिया, तब भगवान ने सारथी पर प्रसन्न होकर उसे यह पारितोषिक दिया।"

यदि जीव रक्षा करने मे एकान्त पाप होता,तो भगवान उन जीवो की रक्षा करने के कारण सारथी पर प्रसन्न होकर उसे पारितोषिक क्यो देते ? भगवान के मन मे उन जीवो की रक्षा करने का भाव क्यो उत्पन्न होता ? इससे जीव की रक्षा करने मे पाप नही, धर्म सिद्ध होता है।

कुछ व्यक्ति एकेन्द्रिय एव पञ्चेन्द्रिय जीवो की हिंसा को एक समान मानकर उनमे अल्प और महान् के भेद का खण्डन करते है और अल्प और महान का भेद बतानेवाले विचारको को हिंसा का अनुमोदक कहते है। इसी तरह एकेन्द्रिय की दया से पञ्चेन्द्रिय की दया को प्रधान—श्रेष्ठ कहने वाले को भी हिंसा का समर्थक बताते है। परन्तु यह उनका केवल भ्रम है। क्योंकि उत्तराध्ययन सूत्र के बाईसवे अध्ययन मे भगवान नेमीनाथ के विवाह के निमित्त जल से स्नान करने का उल्लेख है। यदि सख्या की दृष्टि से विचार करे तो जल के जीव विवाह मे भोजनार्थ एकत्रित किए गए पशुओ से असंख्य गुणा अधिक थे। फिर भगवान स्नान करते समय जल के जीवो की हिंसा को देखकर उससे निवृत्त क्यो नही हुए ? इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान जल के जीवों की अपेक्षा भोजनार्थ बाँधे हुए पचेन्द्रिय जीवो की हिंसा को बहुत अधिक पापमय समझते थे और एकेन्द्रिय की अपेक्षा पचेन्द्रिय की दया को अधिक श्रेष्ठ समझते थे। इसलिए भगवान स्नान के समय निवृत्त नही हुए, परन्तु पशु रक्षा के समय तुरन्त वापिस मुड गये। यद्यपि भगवान नेमीनाथ तीन ज्ञान से युक्त होने के कारण यह जानते थे कि मेरा विवाह नही होगा और उनके पूर्व में हुए इक्कीस तीर्थंकरो ने भी बाईसवे तीर्थंकर को बाल ब्रह्मचारी रहकर दीक्षा ग्रहण करना कहा था। तथापि एकेन्द्रिय जीवो की अपेक्षा पचेन्द्रिय जीवो की दया का महत्व बताने के लिए भगवान ने स्नान करते समय कोई आपत्ति नही की, परन्तु भोजनार्थ बाँधे हुए पचेन्द्रिय जीवो की रक्षा करके वहाँ से बिना विवाह किए ही वापिस लौट आए।

इससे दिन के उजेले की तरह स्पष्ट हो जाता है कि एकेन्द्रिय की अपेक्षा पचेन्द्रिय की दया एव रक्षा करना अधिक महत्वपूर्ण है और मरते हुए प्राणियो की रक्षा करने मे एकान्त पाप नही, पुण्य होता है।

हाथी ने शशक की रक्षा की

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १२७ पर ज्ञाता सूत्र के प्रथम अध्ययन का पाठ लिखकर, उसके अवतरण मे कहते है—

"वली मेघकुमार रे जीव हाथी रे भवे एक सुसलारी अनुकम्पा करी परित ससार कियो। अने केइ कहे मडला मे घणा जीव बच्या त्या घणा प्राणी री अनुकम्पाइ करी परित ससार कियो कहे। ते सूत्रार्थ रा अजाण छै। एक सुसला री दया थी परित संसार कियो छै।"

हाथी ने अकेले शशक की अनुकम्पा करके परित्त ससार किया, परन्तु मण्डल मे जो वहुत से जीव बचे उनकी अनुकम्पा से परित्त ससार नही किया, यह कथन अविवेक की पराकाष्ठा का ज्वलत उदाहरण है। जव भ्रमविध्वसनकार एक शशक की अनुकम्पा करने से ससार परिमित होना स्वय स्वीकार करते है,तब अनेक जीवो की अनुकम्पा से भयभीत होने जैसी क्या वात है? जव एक प्राणी पर अनुकम्पा करने से ससार परित्त हो सकता है, तव अनेक जीवो पर अनुकम्पा करने से अधिक धर्म ही होगा। यह एक ऐसा साधारण विपय है, जिसे बाल-वृद्ध सव आसानी से समझ सकते है। फिर भी इस विपय को स्पष्ट करना आवश्यक है कि हाथी ने एक शशक की ही नही, अन्य प्राणियो पर भी अनुकम्पा की थी। यदि हाथी को शशक की अनुकपा करनी ही इष्ट थी दूसरो की नही, तो वह अपना उठाया हुआ पैर शशक के ऊपर न रखकर अन्य किसी प्राणी पर रख देता। परन्तु उसने ऐसा नही करके ढाई दिन तक अपने पैर को ऊपर ही उठाए रखा। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि हाथी शशक के साथ अन्य प्राणियो के प्राणो की भी रक्षा करना चाहता था। इस बात को आगम मे 'पाणाणुकम्पयाए' आदि चार पद देकर स्पष्ट कर दिया है।

कुछ विचारक कहते है कि हाथी ने शशक को वचाने रूप नही, प्रत्युत नही मारने रूप अनुकम्पा की थी और इसी से उसने ससार परित्त किया। पता नही, उन्होंने यह कैसे समझ एव जान लिया कि हाथी का विचार जीवो को वचाने का नही था। इसे जानने के दो ही मार्ग हैं—१—हाथी ने स्वय आकर ऐसा कहा हो, या २—उन्होने मन पर्यवज्ञान से जान लिया हो। परन्तु इन दोनोमे से एक भी सभव नही है। ऐसी स्थिति मे आगम में उल्लिखित पाठ का ही आश्रय लेना पडता हैं। आगम मे उल्लिखित पाठ मे एक भी ऐसा शब्द नही है, जिससे यह जाना जा सके कि हाथी का विचार जीव रक्षा करने का नही था। आगम मे स्पष्ट शब्दो मे 'पाणाणुकम्पयाए' आदि शब्दो का उल्लेख कर के प्राणियो की अनुकम्पा करना स्वीकार किया है। यदि उसने

पाप से वचने के लिए नही मारने रूप अनुकम्पा की होती, तो वह मुख्य रूप से हाथी की अपनी ही अनुकम्पा होती। परन्तु भ्रमविध्वसनकार ने स्वय ने भी ऐसा नही लिखा है कि हाथी ने अपनी अनुकम्पा करके ससार परित्त किया। वे भी शशक की अनुकम्पा कर के हाथी का ससार परित्त होना स्वीकार करते है और आगम मे भी 'आयाणुकम्पयाए, प्राणाहिंसयाए' आदि पाठ नही है। अत जो लोग पाप के भय से नहीं मारने रूप अनुकम्पा से ही ससार परित्त होना मानते है, जीव रक्षा रूप अनुकम्पा से नही, उनके मत के अनुसार 'पाणाणुकम्पयाए' आदि पाठ मिथ्या सिद्ध होते है। अत यह मानना आगम के अनुरूप है कि हाथी ने प्राणियो की रक्षा रूप अनुकम्पा कर के ससार परित्त किया। क्योकि 'पाणाणुकम्पयाए' आदि पाठ से वचाने रूप दया करने का अर्थ ध्वनित होता है।

शशक हाथी के पैर रखने के स्थान पर आया था। उसे दूसरे सशक्त प्राणी त्रास दे रहे थे। इसलिए हाथी ने अपना पैर रखने का स्थान देकर उसे सुरक्षित रूप से वहाँ ठहरने दिया। स्वय ने उसे मारा या हटाया नही। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवो को स्वय मारना नही और यदि दूसरा मारता या त्रास देता हो, तो उन्हें स्थान या सहारा देना, जिससे उसके प्राणो की रक्षा हो जाए। परन्तु कुछ लोग जीव रक्षा मे पाप सिद्ध करने के लिए विचित्र तरह की कल्पनाएँ करते हैं। जैसे आचार्य श्री भीपण जी लिखते है—

> "कष्ट सह्यो तिण पापसु डरतो, मन दृढ सेठि राखी तिण काया।
> वलता जीव दावानल देखी, सूढ सू ग्रही-ग्रही वाहिरे नही लाया॥"

"हाथी ने पाप से डर कर अपने मन को दृढ एव शरीर को मजबूत रखा। परन्तु दावानल मे जल रहे जीवो को सूड से पकडकर वाहर नही लाया। इसलिए मरते हुए प्राणी की रक्षा रूप दया करना एकान्त पाप है।"

परन्तु इनकी यह कपोल-कल्पना विल्कुल निराधार एव नितान्त असत्य है। हाथी ने जव मण्डल मे प्रवेश किया उसके पहले ही मण्डल जीवो से इतना भर गया था कि स्वय हाथी को अपने उठाए हुए पैर को पुन नीचे रखने के लिए स्थान नही मिला। ऐसी स्थिति में वह हाथी दावानल मे जलने वाले जीवो को लाकर कहाँ रखता? और उन्हे लाने के लिए किस रास्ते से जाता? क्योकि वह मण्डल जीवो से इतना भर गया था कि उसमे कही पैर रखने को भी स्थान नही था। अत अचार्य श्री भीपणजी का तर्क गलत है। वास्तव में हाथी ने शशक के प्राणो की रक्षा करने के लिए अपने उठाए हुए पैर को पुन नीचे नही रखा और अन्य प्राणियो की रक्षा के लिए अपने पैर को अन्य स्थान पर भी नही रखा। अत हाथी का उदाहरण देकर जीव रक्षा में पाप वतलाना आगम सम्मत नही है।

मत मार कहना : पाप नहीं

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १३४ पर सूत्रकृताग सूत्र की गाथा की समालोचना करते हुए लिखते है—

'अथ अठे कह्यो, जीवा ने मार तथा मत मार एहवू पिण वचन न कहिणो। इहा ए रहस्य महणो-महणो साधुनो उपदेश छै। ते नारिवा ने अर्थ उपदेश देवे। अने इहा वर्ज्यो द्वेप आणी ने हणो इम न कहिणो। अने त्या जीवा रो राग आणी ने मत हणो इम पिण न कहिणो। मध्यस्थ पणे रहिवो।" इनके कहने का तात्पर्य यह है कि हिसक के हाथ से मारे जाते हुए प्राणी की प्राण रक्षा करने के लिए 'मत मार' कहना मरते जीव पर राग लाना है। किसी जीव पर राग करना साधु के लिए उचित नही है। अत मरते हुए जीव की प्राण रक्षा करने के लिए साधु को 'मत मार' यह उपदेश नही देना चाहिए।

भ्रमविध्वसनकार ने सूत्रकृताग गाथा का जो अर्थ किया है, वह गलत है। वस्तुत वह गाथा के यथार्थ अर्थ को समझ ही नही पाए है। देखिए गाथा और उसका अर्थ यह है—

"वज्झा पाणा न वज्झेति, इति वाय न नीसरे।"

—सूत्रकृतांग सूत्र २, ५, ३०

"वध्याश्चौर पारदारिकादयोऽवध्या वा तत्कर्मानुमति प्रसंगादित्येवं भूतां वाचां स्वानुष्ठान-परायण साधु परव्यापार निरपेक्षो न निसृजेत्।"

"वध का दण्ड देने योग्य चोर और पारदारिक प्राणी को साधु वध का दण्ड नहीं देने योग्य निरपराधी नहीं कहे। क्योकि अपराधी को निरपराधी कहने से साधु को उसके कार्य का अनुमोदन लगता है। अतः अपने अनुष्ठान में संलग्न और दूसरो के व्यापार से निरपेक्ष साधु को पूर्वोक्त वात नहीं कहनी चाहिए।"

यहाँ "मार या मत मार" कहने का कोई प्रसग नहीं है। इस गाथा मे सिर्फ अपराधी को निरपराधी कहने का निषेध किया है। अत. इस गाथा का प्रमाण देकर प्राणी की प्राण रक्षा के लिए मत मार कहने का निपेध करना नितान्त असत्य है।

इस गाथा के अभिप्राय को वताते हुए भ्रमविध्वसनकार ने यह लिखा है—"द्वेप आणी ने हणो इम पिण न कहिणो, अने त्या जीवा रो राग आणी ने मत हणो इम पिण नही कहिणो",

नितान्त असत्य है। क्योकि उक्त गाथा में न तो राग शब्द का उल्लेख है और न द्वेष का। परन्तु भ्रमविध्वसनकार ने दया करने में पाप बताने के लिए अपने मन से ही राग-द्वेष को इसमें मिलाने का प्रयत्न किया है। इस गाथा मे भाषा-समिति का उपदेश दिया है। यहाँ राग-द्वेष की कोई चर्चा नही है। अत. मरते हुए प्राणी की रक्षा करने में राग का नाम लेकर पाप बताना बिल्कुल गलत है।

भ्रमविध्वसनकार ने आचार्य शीलाक की टीका का नाम लेकर मरते हुए प्राणी की प्राण-रक्षा करने का निषेध किया है, वह सर्वथा गलत है। आचार्य शीलाक ने अपनी टीका में प्राणी रक्षा करने का निषेध नही किया है। और न साधु के अतिरिक्त अन्य सब जीवो के प्रति मध्यस्थ भाव रखने का कहा है।

"तथाहि सिंहव्याघ्र-मार्जारादीन् परसत्वव्यापादन-परायणान् दृष्ट्वा साधुर्माध्यस्थमवलंबयेत्।" तथाचोक्तम्

"मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्यानि।
सत्व गुणाधिक क्लिश्यमानाविनयेषु॥"

—सूत्रकृताग २, ५, ३० टीका

"जीवों की हिंसा करने में तत्पर रहने वाले सिंह, व्याघ्र, मार्जार आदि प्राणियों को देखकर साधु मध्यस्थ होकर रहे। कहा भी है—समस्त जीवों के प्रति मैत्री भाव, अपने से अधिक गुण सम्पन्न व्यक्तियो के प्रति प्रमोद भाव, क्लेश पाते हुए दु.खी जीवों के प्रति करुणा भाव और अविनेय प्राणियों के प्रति मध्यस्थ भाव रखना चाहिए।"

प्रस्तुत टीका मे "सिंह-व्याघ्र-मार्जारादीन्" शब्दो के साथ जो आदि शब्द प्रयुक्त हुआ है, उससे पञ्चेन्द्रियो की घात करने वाले महारभी प्राणियो का ग्रहण होता है,साधु के सिवाय अन्य सभी प्राणियो का नही। इसलिए सिह, व्याघ्र, बिल्ली एव पञ्चेन्द्रिय जीवो की हिंसा करने वाले अन्य प्राणियो के प्रति मध्यस्थ भाव रखना आगम सम्मत है, सक्लेश पाते हुए दुःखी जीवो के प्रति नही। दुःखी जीवो पर करुणा एव दया करना साधु का परम कर्त्तव्य है। अत जो साधु मरते हुए प्राणी पर दया नही करता और दया करके उसकी रक्षा का उपदेश देने मे पाप समझता है, वह सम्यक्त्व के मूल गुण—अनुकम्पा से रहित है। जो व्यक्ति इस टीका मे प्रयुक्त आदि शब्द से साधु के अतिरिक्त अन्य सभी जीवो को ग्रहण करके उन्हे हिंसक मानते है और उनके विषय मे मध्यस्थ भाव रखने का उपदेश देते है, वे भयकर भूल करते है। यदि साधु के अतिरिक्त ससार के सब प्राणी हिंसक है, इसलिए सबके विषय मे मध्यस्थ भाव रखना आगम सम्मत है, तो फिर मैत्री, प्रमोद एवं करुणा भाव किस पर रखेंगे? अत उक्त टीका का प्रमाण देकर साधु के अतिरिक्त अन्य सब प्राणियो को हिंसक कहना और उपदेश के द्वारा उनकी प्राण रक्षा करने मे एकान्त पाप बताना मिथ्या है। वस्तुत पचेन्द्रिय जीवो का वध करने वाले क्रूर प्राणी जो उपदेश देने पर भी नही समझ सकते है,साधु को उनके विषय मे मध्यस्थ भाव रखने को कहा है। परन्तु मरते हुए प्राणी पर दया करके उपदेश देने का निषेध नही किया है। उन जीवो पर तो करुणा भाव रखना ही चाहिए।

साधु गृहस्थ के घर में न ठहरें

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १३६ पर आचाराग का पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ इहा कह्यो गृहस्थ माहो माही लडे छै, आक्रोश आदिक करे छै। तो इम चितवणो नही, एहने आक्रोशो, हणो, रोको, उद्वेग-दुख उपजावो। तथा एहने मत हणो, मत आक्रोशो, मत रोकी, उद्वेग-दुख मत उपजावो इम पिण चिन्तवणो नही। एहनो ए परमार्थ, जे राग आणि जीवणो वाछी, इम न चिन्तवणो। ए बापड़ा ने मत हणो, दुख-उद्वेग मत देवो, तो राग मे धर्म कहा थी? जीवणो वाछया धर्म किम कहिये? अने जे हणे तेहनो पाप टालवा ने, तारिवाने उपदेश देई हिंसा छोडावे ते धर्म छै।"

आचाराग सूत्र का उक्त पाठ लिखकर समाधान कर रहे हैं—

"आयाणमेयं भिक्खुस्स सागारिए उवस्सए संवसमाणस्स इह खलु गाहावई वा जाव कम्मकरी वा अन्नमन्नं आक्कोसंति वा पचंति वा रुंभंति वा उद्दर्विति वा अहभिक्खूणं उच्चावयं मणं नियंच्छेज्जा ए-ए खलु अन्नमन्नं आक्कोसंतु वा मा वा आक्कोसंतु जाव मा वा उद्दवितु वा।"

—आचाराग सूत्र २, २, १, ६८

"जिस मकान में गृहस्थ रहता है, उसमें साधु का रहना कर्मबन्ध का कारण होता है। क्योंकि उस मकान में साधु के रहते हुए यदि उसके सामने गृह स्वामी या कर्मकरी आदि परस्पर आक्रोश करते हो, एक दूसरे को डंडे आदि से मारते हों, रोकते हों, उपद्रव करते हो, तो यह सब देखकर साधु अपने मन को ऊंचा-नीचा करने लगे अर्थात् ये लोग परस्पर आक्रोश न करें, नहीं मारें, रोके नहीं, उपद्रव नहीं करें या ये लोग पूर्वोक्त कार्य करें, तो यह कार्य कर्म बन्ध का कारण होगा। इसलिए साधु को गृहस्थ के निवास स्थान में नहीं ठहरना चाहिए।"

प्रस्तुत पाठ मे यह बताया है कि जिस मकान मे गृहस्थ सपरिवार रहता हो, उसमें साधु का रहना कर्म बन्ध का कारण है। क्योकि गृहस्थ के घर में कभी-कभी घरेलू सघर्ष भी हो जाता

है। यदि कभी साधु के समक्ष ही संघर्ष हो जाए, तो उसे देखकर साधु के मन में अनेक प्रकार के ऊँचे-नीचे भाव आ सकते हैं। तुम इसे यहाँ मत मारो, मत रोको, उपद्रव मत करो, इस भावना को ऊंचा मन कहा और उक्त कार्य करो, इस भावना को नीचा मन कहा है। परिवार युक्त घर में निवसित साधु के मन में ऐसे भावो का उद्भव होना स्वाभाविक है। इसलिए आगम में साधु को परिवार युक्त गृहस्थ के मकान मे ठहरने का निषेध किया है।

प्रस्तुत पाठ से यह बिल्कुल ध्वनित नही होता कि कोई हिंसक पंचेन्द्रिय जीव का वध करना चाहता हो, उस समय उसे देखकर उसको नहीं मारने की भावना करने से साधु को कर्म बन्ध होता है या पाप लगता है। क्योंकि प्रस्तुत पाठ में पारिवारिक कलह का वर्णन है, जो कि परिवार में यदा-कदा होता रहता है। परन्तु वह संघर्ष किसी को मारने के लिए नही होता। क्योकि पारिवारिक जीवन पारस्परिक स्नेह-सूत्र मे आबद्ध रहता है। अत. वह संघर्ष भी एक प्रकार का स्नेह संघर्ष होता है। गृहस्थ के साथ रहने से साधु के मन पर भी उसका असर पड़ सकता है। इसलिए उससे बचे रहने के लिए साधु को गृहस्थ के साथ ठहरने का निषेध किया है।

जो व्यक्ति इस पाठ का यह तात्पर्य बताते हैं—"किसी मरते प्राणी की प्राण रक्षा करने की भावना करना अनुचित है"—उसे पूछना चाहिए कि आप गृहस्थ के निवास स्थान में क्यो नही ठहरते? क्योकि आप के विचार के अनुरूप मरते हुए प्राणी की प्राण रक्षा करने की भावना रखते हुए यदि साधु गृहस्थ के साथ निवास करे तो कर्म बन्ध नही होगा। और यदि वह अन्य स्थान पर रहते हुए भी मरते हुए प्राणी की प्राण रक्षा की भावना रखता है, तो उसके कर्म बन्ध होगा। ऐसी स्थिति में आगम मे गृहस्थ के निवास स्थान में ठहरने का निषेध क्यो किया? सिर्फ इतना ही आदेश देना पर्याप्त था कि साधु मरते हुए प्राणी के प्राणो की रक्षा करने की भावना न करे। परन्तु आगम में प्राणी के प्राणो की रक्षा करने की भावना का निषेध नही किया है। वहाँ तो केवल साधु के मन पर गृहस्थ के पारिवारिक संघर्ष का प्रभाव पड़ने से उसका मन साधना से हटकर अन्यत्र सक्लेश मे न लगे। गृहस्थ के पारिवारिक झगडे में न उलझ जाए। इस भावना से साधु को गृहस्थ के निवास स्थान मे ठहरने का निषेध किया है।

संकल्प-विकल्प जागृत न हो

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १३७ पर आचाराग का पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ अठे इम कह्यो। जे अग्नि लगाव तथा मत लगाव, बुझाव तथा मत बुझाव, इम पिण साधु ने चिंतवणो नहीं। तो लाय मत लगाव इहा स्यू आरंभ छै। ते माटे इसो न चिन्तवणो। इहां ए रहस्य—जे अग्नि थी कीडयां आदिक घणा जीव मरस्ये, त्यां जीवां रो जीवणो वाछी ने इम न चिंतवणो, जे अग्नि मत लगाव। अने अग्नि रो आरंभ तेहनो पाप टलावा, तारिवा अग्नि रो आरंभ करवा रा त्याग कराया धर्म छै। पिण जीवणो वाछया धर्म नही।"

आचाराग मे उल्लिखित पाठ का उद्देश्य जीव-रक्षा में पाप बताना नहीं, प्रत्युत साधु को संकल्प-विकल्प से दूर रखना है।

"आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावइहिं सद्धिं संवसमाणस्स इह खलु गाहावई अप्पणो सयट्ठाए अगणिकायं उज्जालिज्जा वा, पज्जालिज्जा वा,

विज्जाविज्जा वा। अह भिक्खू उच्चा वचं मणं नियंच्छिज्जा एते खलु अगणिकायं उज्जालेंतु वा मा वा उज्जालेंतु वा, पज्जालेतु वा मा वा पज्जालेतु वा, विज्जावेतु वा मा वा विज्जावेतु वा।"

—आचाराग सूत्र २, २, १, ६९

"गृहस्थ के निवास स्थान में साधु का रहना कर्म बन्ध का कारण है। गृहस्थ अपने कार्य के लिए आग जलाए या बुझाए, उस समय यदि साधु का मन ऊंचा-नीचा हो अर्थात् यह गृहस्थ आग जलाए या न जलाए, बुझाए या न बुझाए, तो यह कर्म बन्ध का कारण होता है। इसलिए साधु को गृहस्थ के निवास स्थान में नहीं ठहरना चाहिए।"

प्रस्तुत पाठ मे यह नही कहा है कि अग्नि जलाने से मरने वाले कीडे-मकोडे आदि की रक्षा के लिए साधु को अग्नि जलाने की भावना नही करनी चाहिए। अत अग्नि जलाने से मरने वाले जीवो की रक्षा के लिए अग्नि नही जलाने की भावना को कर्म बन्ध का कारण कहना आगम के यथार्थ अर्थ को नही समझना है।

भ्रमविध्वसनकार को इस पाठ का रहस्य जीव की रक्षा नही करना सूझा है। परन्तु क्या इसका कारण साधु का अपना स्वार्थ नही हो सकता है? जैसे साधु शीत से पीड़ित होकर काप रहा हो, उस समय उसके मन मे सहज ही यह भावना आ सकती है कि गृहस्थ आग जलाए तो अच्छा रहे और गर्मी के समय यह भाव आ सकता है कि गृहस्थ आग न जलाए तो अच्छा रहे। इस प्रकार अपने स्वार्थवश साधु के मन मे आग जलाने एव नही जलाने के सम्बन्ध मे भावना हो सकती है। गृहस्थ के निवास स्थान मे रहने वाले साधु के मन मे ऐसी भावना का उद्भव होने की सभावना को देखकर आगम मे गृहस्थ के निवास स्थान मे ठहरने का निषेध किया है, परन्तु जीवो को बचाने के लिए उक्त भावना को कर्म बन्ध का कारण जानकर नही। क्योकि जीव को बचाना एव जीव रक्षा के लिए उपदेश देना साधु का कर्त्तव्य है। आगमो का निर्माण ही जीव-रक्षा की भावना से हुआ है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में स्पष्ट लिखा है कि भगवान ने ससार के समस्त जीवो की रक्षा रूप दया के लिए प्रवचन दिया। अत. जीवरक्षा मे पाप कहना तथा जीव-रक्षा के हेतु आग नही जलाने की भावना को कर्म बन्ध का कारण कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

भ्रमविध्वसनकार ने इस पाठ की जो व्याख्या की है, यदि उसे मान ले तो आगम का सारा सिद्धान्त ही विपरीत हो जाएगा। वे कहते है—"आग मे जलकर मरने वाले जीवो की रक्षा करने के भाव से यदि साधु आग नही जलाने की भावना करे, तो यह कर्म बन्ध का कारण है।" यदि उनकी इस व्याख्या के अनुसार कोई साधु जीव रक्षा के भाव से नही, प्रत्युत अपने स्वार्थ के लिए आग नहीं जलाने की भावना करके गृहस्थ के निवास स्थान मे रहे, तो उसे दोष नही लगना चाहिए। इनके विचार से तो साधु को गृहस्थ के निवास स्थान में ही ठहरना चाहिए। क्योकि साधु वहाँ रहेगा तो गृहस्थ जब आग जलाना या बुझाना चाहेगा, तब साधु उसे समझाकर आग जलाने या बुझाने का निषेध कर देगा। इस प्रकार गृहस्थ के संसार-सागर से पार होने मे अधिक सुविधा होगी। परन्तु आगम में साधु को गृहस्थ के निवास स्थान मे ठहरने का निषेध किया है। इसका एकमात्र यही कारण है कि अपने स्वार्थ के लिए आग जलाने या बुझाने की भावना करना बुरा है। अत उक्त पाठ का प्रमाण देकर जीव-रक्षा में पाप बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

साधु : जीवन की इच्छा करता है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १३८ पर स्थानाग स्थान १० के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ अठे पिण जीवणो-मरणो आपणो-आपणो वाछणो नही, तो पारको क्या ने वाछसी" आदि लिखकर हिसक के हाथ से मारे जानेवाले प्राणी की रक्षा करने मे एकान्त पाप बताते है।

भ्रमविध्वसनकार ने भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३५४ पर लिखा है—"अथ अठे कह्यो—साध्वी पानी मे डूबती ने बाहिरे काढे तो आज्ञा उल्लघे नही।" अत भ्रमविध्वसनकार एव उनके अनुयायियो से पूछना चाहिए—"जब साधु अपना या दूसरे का जीवन नही चाहता, तब वह पानी मे डूबती हुई साध्वी को क्यो निकालता है ? तथा अपनी प्राण रक्षा के लिए साधु आहार क्यो करता है ?" उत्तराध्ययन सूत्र मे साधु को अपनी प्राण रक्षा के लिए आहार करने का विधान है।

"वेयण वेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाण-वत्तियाए, छट्ठं पुण धम्म चिन्ताए॥"

—उत्तराध्ययन सूत्र २६, ३३

"१—क्षुधा और पिपासा से उत्पन्न हुई वेदना की निवृत्ति के लिए, २—क्षुधा और पिपासा से व्याकुल साधु गुरु आदि की सेवा नहीं कर सकता, अतः गुरु की सेवा-शुश्रूषा के लिए, ३—क्षुधा-पिपासा से व्याकुल साधु विधि पूर्वक ईर्या-समिति का पालन नहीं कर सकता, अतः ईर्या-समिति का पालन करने के लिए, ४—यदि क्षुधातुर होकर कभी सचित वस्तु का आहार कर ले तो उसका संयम स्थिर नहीं रहता, अतः संयम की रक्षा के लिए, ५—अपने प्राणों की रक्षा के लिए और ६—धर्म की चिन्ता के लिए, साधु को आहार-पानी का अन्वेषण करना चाहिए।"

प्रस्तुत पाठ मे स्पष्ट लिखा है कि साधु को अपने प्राणो की, जीवन की रक्षा के लिए आहार-पानी की गवेषणा करनी चाहिए। टीकाकार ने भी इसका यही अर्थ किया है—

"पाणवत्तियाए" त्ति प्राणप्रत्यय जीवित निमित्त अविधिनाह्यात्मनोऽपिप्राणोपक्रमणे हिंसा स्यात्।"

"अपने जीवन की रक्षा करने के लिए साधु को आहार का अन्वेषण करना चाहिए। क्योकि आगम विधि से विपरीत अपने प्राणों को छोड़ना भी हिंसा है।"

प्रस्तुत गाथा एव उसकी टीका मे साधु को अपने जीवन की रक्षा के लिए आहार करना कहा है। अत यह कहना मिथ्या है कि साधु अपने जीवन की रक्षा नही करते। अस्तु बुद्धिमान पाठको को यह स्वय सोचना चाहिए कि जव साधु अपने प्राणो की रक्षा करते है, पानी मे डूबती हुई अपनी साध्वी की रक्षा करते है, तव दूसरे प्राणियो की प्राण-रक्षा के लिए उपदेश दे, तो इसमें पाप कैसे होगा ? जैसे उक्त गाथा मे अपने प्राणो की रक्षा के लिए साधु को आहार करने का आदेश दिया है, उसी तरह भगवती सूत्र मे पृथ्वीकाय आदि की रक्षा के लिए साधु को प्रासुक एव एषणीय आहार लेने का विधान किया है।

"फासु-एसणिज्जं भुंजमाणे समणे-निग्गंथे आयाए धम्मं नो आइक्कमइ, आयाए धम्मं अणइक्कमाणे पुढविकायं अवकंखइ जाव तसकायं अवकंखइ।"

—भगवतीसूत्र १, ९, ७८

"जो साधु प्रासुक और एषणिक आहार ग्रहण करता है,वह अपने धर्म का उल्लंघन नहीं करता। वह अपने धर्म का उल्लंघन नही करता हुआ पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के जीवों की प्राण-रक्षा करना चाहता है।"

प्रस्तुत पाठ में साधु को पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के जीवो की प्राण-रक्षा करने हेतु प्रासुक एव एषणीय आहार ग्रहण करने का आदेश दिया है। इससे स्पष्टत. सिद्ध होता है कि दूसरे प्राणो की प्राण-रक्षा करना भी साधु का कर्त्तव्य है।

स्थानाग सूत्र के दशवे स्थान मे साधु को प्राप्त जीवन की इच्छा करने का निषेध नही किया है। वहाँ साधु को चिरकाल तक जीवित रहने की अभिलाषा रखने का निषेध किया है। स्थानाग के पाठ ने 'जीवनाशसा' का निषेध किया है। 'आशसा'—नही पाई हुई वस्तु को प्राप्त करना। अभिधान राजेन्द्र कोष मे भी लिखा है—"अप्राप्त प्रापणमाशंसा"—"अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना आशसा है।" अस्तु जो जीवन अभी प्राप्त नही है, उसको प्राप्त करने की अभिलाषा रखना, चिरकाल तक जीने की इच्छा करना "जीवनाशसा" कहलाती है। साधु के लिए इसका निषेध किया गया है। परन्तु प्राप्त जीवन की इच्छा करने का निषेध नही किया है। अन्यथा उत्तराध्ययन एव भगवती के पाठ से स्थानाग का पाठ स्पष्टत. विरुद्ध होगा। अत. स्थानाग के पाठ का प्रमाण देकर यह कहना भयकर भूल है कि साधु अपना एव दूसरे का जीवन नही चाहता।

कुछ व्यक्ति ऐसा कहते है—"असयति की प्राण-रक्षा करने से असयम का अनुमोदन लगता है।" परन्तु उनका यह कथन गलत है। क्योकि जिस व्यक्ति को जो कार्य अच्छा नही लगता, उसे उस कार्य का अनुमोदन भी नही लगता। साधु असयति को असयम सेवन का उपदेश नही देता और वह उसके असयम सेवन को अच्छा भी नही समझता, वल्कि वह तो उसे असयम सेवन का त्याग करने का उपदेश देता है। अत. ऐसी स्थिति में उसकी प्राण-रक्षा के लिए उपदेश देने वाले साधु को असयति के असयम का अनुमोदन कैसे लग सकता है ? यदि उसके वच जाने

मात्र से साधु को असयम का अनुमोदन लग जाए, तो फिर कसाई को तारने के लिए उपदेश देने मे भी पाप होगा? क्योकि अहिसा का उपदेश सुनकर कसाई उसे नही मारेगा, इस तरह वह वच जाएगा और असयम का सेवन करेगा। परन्तु ऐसा कार्य करने पर भी साधु को असंयम का अनुमोदन नही लगता। क्योकि साधु ने असयम का सेवन कराने के भाव से कसाई को अहिसा का उपदेश नही दिया। इसी तरह यहाँ भी अनाग्रह बुद्धि से यह समझना चाहिए कि साधु मरते हुए प्राणी की प्राण रक्षा करने के लिए उपदेश देता है, वह उस प्राणी का आर्त्त-रौद्र ध्यान मिटाने एव कसाई को हिंसा के पाप से बचाने के भाव से देता है, इस भाव से नही कि असयति बचकर असयम का सेवन करे। अस्तु मरते हुए असयति प्राणी का आर्त्त-रौद्र ध्यान मिटाने एव उसे मरण-भय से विमुक्त करने की भावना से उसकी प्राण-रक्षा करने से असयम का अनुमोदन बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

वर्तमान जीवन जीना : पाप नही है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १३८ पर सूत्रकृतांग सूत्र श्रु० १, अ० १०, गाथा २४ और अ० १३ की गाथा २३ लिखकर यह बताते है—"इन गाथाओ मे साधु को अपने जीने और मरने की इच्छा करने का निषेध किया है। इसलिए दूसरो के जीने और मरने की इच्छा नही करनी चाहिए। इस प्रकार जब साधु दूसरे प्राणी के जीवन की इच्छा नही रखता, तब फिर वह मरते हुए प्राणी की प्राणरक्षा के लिए उपदेश कैसे दे सकता है? अत. मरते हुए प्राणी की प्राणरक्षा के लिए उपदेश देना एकान्त पाप है।"

सूत्रकृताग सूत्र की उभय गाथाओ का नाम लेकर हिसक के हाथ से मारे जाने वाले प्राणी की प्राण-रक्षा के लिए धर्मोपदेश देने मे एकान्त पाप कहना मिथ्या है। उक्त गाथाओ में कहे हुए "जीविताशंसा संप्रयोग", "मरणाशंसा संप्रयोग" शब्दो मे साधु को चिरकाल तक जीवित रहने और शीघ्र ही मर जाने की इच्छा करने का निषेध किया है, परन्तु प्राप्त जीवन और यथा-काल मरण की इच्छा करने का निषेध नही किया है। अन्यथा उत्तराध्ययन सूत्र एव भगवती के पूर्व कथित पाठ के साथ सूत्रकृताग की गाथाओ का विरोध होगा। क्योकि उत्तराध्ययन मे साधु को अपने प्राणो की रक्षा करने के लिए आहार करने का आदेश दिया है और भगवती सूत्र में पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के जीवो की प्राण-रक्षा करने के लिए साधु को प्रासुक एव एषणिक आहार ग्रहण करने का विधान किया है। ऐसी स्थिति मे सूत्रकृताग सूत्र मे साधु को अपने जीवन और मरण की इच्छा करने का कैसे निषेध किया जा सकता है? अत उनका भाव यह है कि साधु न तो चिरकाल तक जीवित रहने की कामना करे और न तुरन्त या शीघ्र मरने की अभिलाषा रखे। उक्त गाथाओ की टीका मे टीकाकार ने यही अर्थ किया है—

"जीवितमसंयमजीवितं दीर्घायुष्क वा स्थावर-जंगम जन्तुदण्डेन नाभिकांक्षी स्यात्।"

"साधु स्थावर या जंगम जन्तुओ को दण्ड देकर असंयम के साथ जीवित रहने की या चिर-काल तक जीवित रहने की इच्छा न करे।"

प्रस्तुत टीका मे प्राणियो की हिसा करके असयममय जीवन जीने की तथा चिरकाल तक जीवित रहने की इच्छा का निषेध किया है। परन्तु प्राणियो की रक्षा करके प्राप्त जीवन की

रक्षा करने का निषेध नही किया है। इसलिए साधु जीवो की प्राण-रक्षा करने के साथ अपने प्राप्त जीवन की रक्षा करने की अभिलाषा रखता है और इसी इच्छा से प्रेरित होकर वह मरते हुए प्राणी की प्राणरक्षा के लिए मारने वाले एव मरने वाले दोनो को जीवरक्षा करने का उपदेश देता है।

सूत्रकृताग की उक्त गाथाओ मे"नो जीविअं नो मरणावकखी"पद मे'नो अवकखी'शब्द का प्रयोग हुआ है। इस शब्द को देख कर कुछ व्यक्ति भ्रान्तिवश यह कहने लगते है कि "यहाँ जीवन की इच्छा रखने का स्पष्ट इन्कार किया है।" अत साधु मरते हुए प्राणी की रक्षा कैसे कर सकता है? उन भ्रान्त विचारको से यह कहना चाहिए कि जैसे यहाँ "नो अवकखई" शब्द आया है, उसी तरह भगवती सूत्र मे—"पुढवीकाय अवकखइ जाव तसकाय अवकखइ" पाठ मे भी 'अवकंखइ' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ है—पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के जीवो के जीवन-रक्षा की इच्छा करना। ऐसी स्थिति मे सूत्रकृताग की उक्त गाथाओ मे अपने जीवन की इच्छा नही करने का कैसे कहा जा सकता है? अत इस पाठ का वास्तविक अर्थ यह है कि साधु चिरकाल तक जीवित रहने की अभिलाषा न करे। अस्तु उक्त गाथाओ का प्रमाण देकर जीव-रक्षा के लिए उपदेश देने मे पाप कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

असंयम का निषेध

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १४०, १४१ और १४२ पर सूत्रकृतांग सूत्र श्रुत० १, अ० १५, गाथा १०, अ० ३, उ० ४, गाथा १५, अ० ५, गाथा ३, अ० १ गाथा ३, और अ० २, उ० ३, गाथा १६ का प्रमाण देकर हिंसक के हाथ से मारे जाने वाले प्राणी की रक्षा करने मे पाप बताते है।

भ्रमविध्वसनकार द्वारा उद्धृत उक्त गाथाओ मे छ काय के जीवो की हिंसा करके साधु को जीवित रहने की इच्छा का निषेध किया है, परन्तु छ काय के जीवो की रक्षा करते हुए जीवित रहने की इच्छा का निषेध नही किया है।

"जिवियं पीट्ठओ किच्चा।"

—सूत्रकृताग १,१५,१०

"साधु असंयम—हिंसा युक्त जीवन को पीछे रख दे।"

इससे प्राणियो की रक्षा करते हुए जीवित रहना स्पष्टत प्रमाणित होता है। इसी तरह प्रस्तुत आगम मे असयम युक्त जीवन जीने का निषेध किया है—

"नावकंखति जीवियं।"

—सूत्रकृताग सूत्र १, ३, ४, १५

"साधु असंयम युक्त जीवन जीने की अभिलाषा न करे।"

सूत्रकृताग सूत्र मे दूसरे प्राणियो को भय देने और हिंसा आदि पापो का आचरण करने से नरक योनि मे जाना कहा है।

"जे केई बाले इह जीवियट्ठी, पावाइं कम्माइं करेति रुद्दा।
ते घोर रूवे तिमिसंधयारे, तिव्वाभितावे नरए पतन्ति॥"

—सूत्रकृतांग १,५, ३

"जो अज्ञानी पुरुष अपने जीवन के लिए दूसरे प्राणियों को भय देता है और हिंसा आदि घोर-क्रूर कर्म करता है, वह तीव्रताप युक्त और अंधकार से परिपूर्ण घोर नरक के गर्त में गिरता है।"

प्रस्तुत गाथा में प्राणियो को भय देने एवं उनकी हिंसा करने से नरक गति मे जाना कहा है। परतु प्राणियो को अभय दान देने एव उनके प्राणो की रक्षा करने से नरक के गर्त में गिरने का नही लिखा है। अत. उक्त गाथा का प्रमाण देकर हिंसक के हाथ से मारे जाने वाले प्राणी की प्राण रक्षा करने के लिए उपदेश देने मे पाप बताना एकान्त मिथ्या है। इसी प्रकार उक्त आगम के दशवे अध्ययन का नाम लेकर जीव-रक्षा में पाप बताना भी गलत है।

"सुयक्खायधम्मे वितिगिच्छतिन्ने, लाढे चरे आय तुले पयासु।
आयं न कुज्जा इह जीवियट्ठी, चयं न कुज्जा सुतवस्सि भिक्खू॥"

—सूत्रकृतांग १, १०, ३

"वीतराग भाषित धर्म का आचरण करने वाला, संशय रहित, ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न, उत्तम तपस्वी साधु प्रासुक आहार से अपने जीवन का निर्वाह करे, संयम पालन में सदा संलग्न रहे सब प्राणियो को आत्म-तुल्य देखता हुआ आश्रव का सेवन न करे और असंयम जीवन—हिंसामय जीवन एवं परिग्रह-संग्रह करने की इच्छा न करे।"

प्रस्तुत गाथा मे कहा है कि साधु सब प्राणियो को अपने समान देखे। जब सब प्राणियो को अपने समान देखना साधु का कर्त्तव्य है, तब जिस प्रकार साधु अपनी रक्षा करने मे पाप नही समझता, उसी प्रकार दूसरे प्राणी की रक्षा करने मे भी उसे पाप नही समझना चाहिए। इस प्रकार इस गाथा से जीव-रक्षा मे धर्म सिद्ध होता है। फिर भी भ्रमविध्वसनकार इसी गाथा का नाम लेकर जीव-रक्षा मे पाप सिद्ध करने का असफल प्रयत्न करते है। परन्तु एक साधारण बुद्धिवाला व्यक्ति भी इस गाथा को पढकर जीव-रक्षा करने मे पाप नही, धर्म ही कहेगा। इसके अतिरिक्त इस गाथा मे पूर्व गाथा की तरह असयम पूर्वक जीवित रहने की इच्छा करने का निषेध किया है, जीवो की रक्षा करते हुए जीवित रहने का नही। उक्त आगम के दूसरे अध्ययन मे भी प्राणरक्षा करने मे पाप नही कहा है।

"नो अभिकंखेज्ज जीवियं, नो वि य पूयण पत्थए सिया।
अब्भत्थमुवेंति भेरवा, सुन्नागार गयस्स भिक्खुणो॥"

—सूत्रकृतांग १, २, १६

"यदि शून्यगृह में निवसित साधु के निकट भैरवादि कृत भयंकर उपद्रव हो, तो उसे उससे डर कर भागना नहीं चाहिए किन्तु अपने जीवन की परवाह न करके उस उपसर्ग को सहन करना चाहिए। यह सहिष्णुता अपनी मान-प्रतिष्ठा एवं पूजा के लिए नहीं, किन्तु स्वाभाविक होनी चाहिए।"

प्रस्तुत गाथा मे अभिग्रहधारी साधु के लिए भैरव आदि कृत उपद्रव को सहन करने का उपदेश दिया है। परन्तु यहाँ किसी हिंसक के हाथ से मारे जाने वाले प्राणी की प्राण रक्षा करने का निषेध नही किया है। अत इस गाथा का नाम लेकर मरते हुए जीव की रक्षा करने मे पाप कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

आहार : संयम का साधन है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १४३ पर उत्तराध्ययन सूत्र अ० ४,गाथा ७ की समालोचना करते हुए लिखते है—"अथ अठे पिण कह्यो, अन्न-पानी आदिक देई सयम जीवितव्य वधारणो पिण और मतलब नही । ते किम उण जीवितव्य री वाछा नही ? एक सयम री वाछा । आहार करता पिण सयम छै । आहार करण री पिण अव्रत नही । तीर्थंकर री आज्ञा छै । अने श्रावक नो तो आहार अव्रत मे छै । अव्रत छै ते अधर्म छै । ते माटे असयम मरण-जीवण री वाछा करे ते अव्रत मे छै ।"

उत्तराध्ययन सूत्र की उक्त गाथा लिखकर समाधान कर रहे है—

"चरे पयाइं परिसंकमाणो, ज किंचि पासं इह मन्नमाणो ।
लाभंतरे जीविय बूहइत्ता, पच्छा परिन्नाय मलावधंसी ॥"

—उत्तराध्ययन सूत्र ४, ७

"किसी भी त्रस प्राणी की विराधना न हो, इसलिए साधु अपने पैर को शंका के साथ पृथ्वी पर रखकर चले । यदि गृहस्थ लोग उसकी थोड़ी-सी भी प्रशंसा करे, तो वह उसे पाश के समान कर्म बन्ध का कारण समझे । ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विशेष लाभार्थ आहार-पानी आदि से अपने जीवन की रक्षा करे । जब ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना हो जाए, अपना शरीर रोग से ग्रस्त, या वृद्धावस्था से जर्जरित हो जाए और साधु को यह ज्ञात हो जाए कि इस शरीर से अब ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की साधना नहीं हो सकती, तब वह आगमिक विधान के अनुसार अपने शरीर का त्याग कर दे ।"

प्रस्तुत गाथा मे कहा है कि साधु ज्ञान, दर्शन एव चारित्र आदि गुणो का उपार्जन करने के लिए आहार-पानी के द्वारा अपने जीवन की रक्षा करे । इससे यह सिद्ध होता है कि मरते हुए प्राणी की प्राण रक्षा के लिए उपदेश आदि देना भी साधु का कर्त्तव्य है । क्योंकि प्रश्नव्याकरण आदि आगमो मे जीवो की रक्षा करना गुण कहा है और यहाँ गुण उपार्जन करने हेतु साधु को अपने जीवन की रक्षा करने का कहा है । अत जो साधु उपदेश आदि के द्वारा मरते हुए प्राणियो की प्राणरक्षा करता है, वह गुण का उपार्जन करता है, पाप का नही । अत. इस गाथा

का प्रमाण देकर मरते हुए प्राणी की प्राण रक्षा करने के लिए उपदेश देने मे एकान्त पाप कहना नितान्त असत्य है।

भ्रमविध्वसनकार ने साधु के भोजन को स्वत. व्रत मे वतलाया है, परन्तु यह भी इनकी भयकर भूल है। यदि भोजन करना स्वत व्रत मे है, तो जैसे अधिक से अधिक उपवास करना श्रेष्ठ है, उसी तरह अधिक-से-अधिक भोजन करना भी साधु के लिए गुण होना चाहिए। भ्रमविध्वसनकार के विचारानुसार जो साधु जितना अधिक एव वार-बार आहार करे, वह अधिक श्रेष्ठ समझा जाना चाहिए। जैसे अधिक से अधिक उपवास करने वाला साधु उत्कृष्ट व्रतधारी समझा जाता है,उसी तरह अत्यधिक आहार करने वाला साधु उत्कृष्ट श्रेणी का व्रतधारी गिना जाना चाहिए। परन्तु आगम मे ऐसा नही कहा है। आगम मे साधु को कारणवश आहार करने का आदेश दिया है और बिना कारण से, आवश्यकता से अधिक एव बार-वार आहार करने वाले साधु को पाप-श्रमण कहा है। अस्तु साधु का कारणवश आहार करना उसके व्रत का, सयम का उपकारक है। परन्तु उपवास आदि की तरह स्वत व्रत मे नही है। अत साधु के आहार को उपवास आदि की तरह साक्षात् व्रत रूप वताना आगम विरुद्ध है।

जैसे साधु का कारणवश आहार करना उसके व्रत का उपकारक होने से अव्रत मे नही है, उसी तरह बारह व्रतधारी श्रावक का भोजन भी उसके व्रत का उपकारक होने से अव्रत मे नही हैं। यह दानाधिकार मे स्पष्ट कर चुके है कि श्रावक को अव्रत की क्रिया नही लगती। अतः साधु के आहार को साक्षात् व्रत मे और श्रावक के भोजन को अव्रत मे वताना आगम विरुद्ध है।

संयम दुर्लभ है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १४४ पर सूत्रकृताग सूत्र की गाथा लिखकर उसकी समालोचन करते हुए लिखते है—"अथ अठे पिण सयम जीवितव्य दोहिलो कह्यो, पिण और जीवितव्य दोहिलो न कह्यो।"

सूत्रकृताग सूत्र की उक्त गाथा लिखकर समाधान कर रहे है—

"संबुज्झह कि न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
नो हूवणमंति राइयो, नो सुलभं पुनरावि जीवियं ॥"

—सूत्रकृताग

"हे प्राणियो! तुम सम्यग्ज्ञान आदि को प्राप्त करो। तुम इस बोध को क्यों नहीं प्राप्त कर रहे हो? यदि इस भव में नहीं किया, तो परलोक में करना दुर्लभ है। जो रात बीत जाती है, वह पुनः लौटकर नहीं आती। संसार में संयम प्रधान जीवन दुर्लभ है। जिस जीवन की आयु टूट गई है, वह फिर नहीं जुड़ सकती।"

इसमें सयम प्रधान जीवन को दुर्लभ कहा है। जो जीवन, हिसा से निवृत्त होकर जीव रक्षा मे व्यतीत होता है, वही सयमी जीवन है। इसलिए जो साधु मरते हुए प्राणी की रक्षा करता है, उसका जीवन संयम-निष्ठ जीवन है, असयम मय नही। उक्त गाथा में एक भी शब्द ऐसा नही है, जिससे जीवरक्षा करने में पाप होने की प्ररूपणा को समर्थन मिलता हो, तथापि भ्रमविध्वसनकार व्यर्थ ही इस गाथा का नाम लेकर रक्षा करने मे पाप कहते है। वस्तुतः बुद्धिमान पाठको को इनके कथन पर विश्वास नही करना चाहिए।

नमिराज ऋषि

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १४५ पर उत्तराध्ययन सूत्र अ० ९ की १२ से १५ तक की गाथाओ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ अठे इम कह्यो—मिथिला नगरी बलती देख नमीराज ऋषि साह्मो न जोयो। वली कह्यो म्हारे वाहलो-दुवाहलो एक ही नही। राग-द्वेष अण करवा माटे। तो साधु, मिनकियां आदि रे लारे पडने उदरादिक जीवा ने बचावे, ते शुद्ध के अशुद्ध ? असयति रा शरीर ना जावता करे ते धर्म के अधर्म ?"

नमिराज ऋषि का उदाहरण देकर मरते हुए जीव की रक्षा करने मे पाप कहना भारी भूल है। नमिराज ऋषि प्रत्येक बुद्ध साधु थे। प्रत्येक बुद्ध साधु का आचार स्थविर-कल्पी साधु सें कुछ अंश मे भिन्न होता है। वे किसी मरते हुए प्राणी की रक्षा नही करते। शिष्य भी नही बनाते, किसी को दीक्षा भी नही देते। आहार-पानी लाकर किसी साधु की सेवा भी नही करते और सघ से बाहर अकेले रहते है।

भ्रमविध्वंसनकार ने भी प्रतिमाधारी के विषय मे लिखा है—"जे पडिमाधारी किण ही ने सथारो पिण पचखावे नही, कोई ने दीक्षा देवे नही, श्रावक रा व्रत आदरावे नही, उपदेश देवे नही। पडिमाधारी धर्मोपदेशादि कोई ने देवे नही। ए तो एकान्त आपरोइज उद्धार करवाने उठ्या छै। ते पोते किण ही जीव ने हणे नही, ए तो आपरी अनुकम्पा करे, पिण पर नी न करे। जिम ठाणाग चोथे ठाणे उद्देशा चार मे कह्यो—'आयाणुकम्पए नाममेगे नो पराणुकम्पए' आत्मानीज अनुकम्पा करे पिण पर नी न करे ते जिनकल्पी आदिक। इहा पिण जिनकल्पी आदिक कह्यो ते आदिक शब्द मे तो पडिमाधारी भी आया, ते आपरीज अनुकम्पा करे पिण पर नी न करे। तो जीव ने न हणे ते आपरीज अनुकम्पा छै।"

भ्रमविध्वसनकार ने स्थानांग सूत्र का प्रमाण देकर प्रतिमाधारी साधु को अपने पर अनुकम्पा करनेवाला बताया है, दूसरे पर अनुकम्पा करनेवाला नही। मूल पाठ मे जिनकल्पी आदि शब्द नही है। परन्तु उसकी टीका मे अपने पर अनुकम्पा करनेवाले और दूसरो पर अनुकम्पा नही करनेवाले तीन प्रकार के जीव बताए है—१, प्रत्येक बुद्ध साधु, २ जिनकल्पी और ३. परोपकार बुद्धि से रहित निर्दयी।

प्रस्तुत टीका के अनुसार प्रत्येक बुद्ध साधु दूसरे की अनुकम्पा नही करते। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है, भ्रमविध्वसनकार भी इसे मानते है। ऐसी स्थिति मे प्रत्येक बुद्ध साधु नमिराज ऋषि का उदाहरण देकर स्थविर-कल्पी साधु को जीवरक्षा करने मे पाप बताना कितनी बडी भूल है, यह पाठक स्वय सोच सकते है? प्रत्येक बुद्ध अपनी ही अनुकम्पा करते है, पर की नही, परन्तु स्थविर-कल्पी स्व एव पर दोनो की अनुकम्पा करते है। प्रत्येक बुद्ध का कल्प स्थविर-कल्पी के कल्प से भिन्न है। अत. दोनो के कार्य एक-से कैसे हो सकते है? जो व्यक्ति नमिराज ऋषि का उदाहरण देकर जीवरक्षा मे पाप बताते है। उनकी दृष्टि से प्रत्येक बुद्ध जो कार्य नही करते, स्थविर-कल्पी को भी वे सब कार्य नही करने चाहिए या उसे उन कार्यो के करने मे पाप लगना चाहिए। जैसे प्रत्येक बुद्ध साधु शिष्य नही करते, दीक्षा नही देते, धर्मोपदेश नही करते, साधु को आहार-पानी लाकर नही देते, साधु की वैयावृत्य नही करते। अत. स्थविर-कल्पी साधु इन कार्यो को करे, तो उसे एकान्त पाप होना चाहिए। यदि यहाँ यह कहे कि दोनो का कल्प भिन्न होने के कारण स्थविर-कल्पी को उक्त कार्य करने मे पाप नही लगता, केवल प्रत्येक बुद्ध आदि को ही इन कार्यो को करने मे दोष लगता है। इसी तरह जीव-रक्षा के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही समझना चाहिए कि स्थविर-कल्पी को जीवरक्षा करने मे धर्म होता है। क्योकि उसका यह कल्प है। परन्तु प्रत्येक बुद्ध का यह कल्प नही है।

दूसरी बात यह है कि इन्द्र ने नमिराज ऋषि से यह नही पूछा—"मरते हुए जीव की रक्षा करने मे धर्म है या पाप?" यदि वह ऐसा प्रश्न करता और नमिराज ऋषि जीवरक्षा करने मे पाप बताते, तब तो जीव-रक्षा मे पाप माना जाता। परन्तु वहाँ ऐसा प्रश्न ही नही पूछा। वहाँ तो इन्द्र ने देवमाया करके नमिराज ऋषि की सासारिक पदार्थो एव भोगो मे आसक्ति है या नही, इसकी परीक्षा ली और नमिराज ऋषि ने यह कहकर स्पष्ट कर दिया—

"मिहिलाए डज्झमाणिए न मे डज्झइ किंचणं।"

—उत्तराध्ययन ९

"मिथिला के जल जाने पर मेरा कुछ भी नहीं जलता।"

इस उत्तर मे नमिराज ऋषि ने सासारिक पदार्थो एव भोगो पर से अपना ममत्व हट जाना अभिव्यक्त किया है, परन्तु मरते हुए जीव की रक्षा मे पाप होना नही कहा है। अत: उक्त उदाहरण देकर जीव-रक्षा मे पाप कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

शान्ति देना : सावद्य कार्य नहीं

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १४६ पर दशवैकालिक अ० ७, गाथा ५० की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ अठे पिण कह्यो–देवता, मनुष्य तथा तिर्यंच माहो-माही कलह करे, तो हार-जीत वांछणी नही। तो काया थी हार-जीत किम करावणी ? असयति ना शरीर नी साता करै, ते तो सावद्य छै।"

दशवैकालिक सूत्र की गाथा का प्रमाण देकर जीवरक्षा करने मे पाप बताना मिथ्या है। उक्त गाथा मे जीवरक्षा मे पाप होना नही कहा है—

"देवाणं मणुयाणं च तिरियाणं च कुग्गहे।
अमुगाणं जयो होऊ मा वा होउति णो वए॥"

—दशवैकालिक सूत्र ७, ५०

"देवता, मनुष्य और तिर्यंचों के परस्पर युद्ध होने पर साधु को कभी भी यह नहीं कहना चाहिए कि अमुक की जीत हो और अमुक की जीत न हो।"

प्रस्तुत गाथा मे देव, मानव और तिर्यंचो के युद्ध होने पर साधु को किसी एक पक्ष की हार या जीत के सम्बन्ध मे कहने का निषेध किया है। क्योकि साधु को मध्यस्थ भाव रखना ही आगम सम्मत है। परन्तु किसी पक्ष-विपक्ष की हार-जीत की घोषणा करना उचित नही है। अत. कभी दो दलो मे युद्ध होने पर साधु एक दल की हार और दूसरे की विजय होने की बात नही कहता। ऐसे समय मे यदि साधु उभय दलो को समझा-बुझाकर युद्ध मे मरने वाले जीवो की रक्षा के लिए युद्ध बन्द करा दे, तो इस गाथा मे उसका निषेध नही किया है। यहाँ एक दल के साथ पक्षपात एव दूसरे के साथ द्वेष करने का निषेध है।

इसी गाथा का प्रमाण देकर भ्रमविध्वसनकार कहते है—"बिल्ली के द्वारा मारे जाने वाले चूहे की रक्षा करना एकान्त पाप है। क्योंकि यह बिल्ली पर द्वेष और चूहे पर राग करना है तथा बिल्ली की हार एव चूहे की जीत कराना है।" परन्तु इनका यह कथन सत्य नही है। बिल्ली के द्वारा मारे जाने वाले चूहे की रक्षा करना, चूहे की अनुकम्पा करना है। अनुकम्पा करना पाप नही, धर्म है। और बिल्ली पर साधु का द्वेष भाव भी नही है। क्योंकि जो बिल्ली

चूहे को मारना चाहती है, उसी बिल्ली को यदि कुत्ता मार रहा हो, तो दयालु पुरुष उस समय बिल्ली पर अनुकम्पा करके, दया करके उसकी रक्षा करने का प्रयत्न करता है। यदि उसका बिल्ली पर द्वेष भाव होता, तो वह उसे कुत्ते से क्यो बचाता ?

भ्रमविध्वसनकार की यह एक उपहासास्पद कल्पना है कि बिल्ली से चूहे की रक्षा करना, बिल्ली की हार और चूहे की जीत कराना है। परन्तु इसमे जय-पराजय का प्रश्न ही नही उठता। क्योकि जय-पराजय का व्यवहार युद्ध मे होता है। परन्तु चूहे का बिल्ली के साथ कोई युद्ध नही होता। क्योकि युद्ध वहाँ होता है, जहाँ उभय पक्ष विजय की आकाक्षा से एक दूसरे पर आक्रमण करे। चूहा तो बिल्ली को देखते ही दुम दबाकर भागने का प्रयत्न करता है। वह तो भयभीत होकर अपने को बचाने के लिए बिल की ओर भागता है। परन्तु वह युद्ध करने के लिए बिल्ली के सामने नही जाता, इसलिए इसे युद्ध की सज्ञा देना, युद्ध के अर्थ को नहीं समझना है। कोई भी समझदार व्यक्ति इतनी भयकर भूल नहीं कर सकता।

अस्तु चूहे और बिल्ली का युद्ध नहीं होता है। यहाँ सशक्त हिंसक प्राणी के द्वारा एक दुर्बल एव कमजोर प्राणी की हिंसा का कार्य होता है। उस हिंसा को रोकने के लिए चूहे पर अनुकम्पा करना दयावान व्यक्ति का परम कर्त्तव्य है। उसे युद्ध बताकर चूहे की प्राणरक्षा करने के कार्य को चूहे की जीत और बिल्ली की हार बताना सर्वथा अनुचित है।

उपसर्ग दूर करना : पाप नहीं

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १४७ पर दशवैकालिक सूत्र अ० ७, गाथा ५१ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ अठे कह्यो—वायरो, वर्षा, शीत, तावडो, राजविरोध रहित सुभिक्ष पणो, उपद्रव रहित पणो, ए सात बोल हुवो इम साधुने कहिणो नही। तो करणो किम ? उदरादिक ने मिनकियादिक थी छुडाय ने उपद्रवपणा रहित करे ते सूत्र विरुद्ध कार्य छै।"

दशवैकालिक सूत्र की उक्त गाथा मे साधु को अपनी व्याधि-पीडा की निवृत्ति के लिए उक्त सात बातो की प्रार्थना करने का निषेध किया है। क्योकि साधु के लिए आर्त्त-ध्यान करना उचित नही है और यह आर्त्त-ध्यान है। परन्तु मरते हुए प्राणी की रक्षा करने के भय से उक्त बातो की प्रार्थना करने का आगम में निषेध नही किया है।

"वाओ वुट्ठं च सीउण्हं, खेमं धायं सिवंति वा।
कयाणु हुज्ज एयाणि, मा वा होउत्ति णो वए॥"

—दशवैकालिक सूत्र ७, ५१

पुनः किञ्च धर्मादिनाऽभिभूतोयतिरेव नो वदेदधिकरणादिदोष प्रसंगात्। वातादिषु सत्सु सत्त्व पीड़ा प्राप्तेः। तद्वचन तस्तथाऽभवतेऽप्यार्त्तध्यान भावादित्येवं नो वदेत्। तत् किं—वातो मलय. मरुतादि वृष्ट वा वर्षणं शीतोष्णं प्रतीतं क्षेमं राजविज्वर शून्यं पुन ध्मातं सुभिक्षं शिवमिति वा उपसर्ग रहित कदानुभवेयुरेतानि वातादीनि मा वा भवेयुरिति।"

—दशवैकालिक ७,५१ दीपिका

"गर्मी आदि से पीड़ित एवं संतप्त होकर साधु इन बातो को न कहे। क्योंकि इसमें अधिकरणादि दोष होता है। वायु आदि के चलने पर प्राणियों को पीड़ा होती है। यद्यपि साधु के कहने मात्र से वायु आदि नहीं चलते, तथापि साधु को आर्त्त-ध्यान करना उचित नहीं है। इसलिए वह उक्त सात बातों को न कहे—१. मलयानिल हवा, २ वर्षा, ३. शीत, ४. गर्मी, ५. राजरोग, ६. सुभिक्ष, और ७ उपसर्ग। इनके होने की या नहीं होने की बात साधु को नहीं कहनी चाहिए।"

प्रस्तुत गाथा मे अपनी पीड़ा से छुटकारा पाने के लिए साधु को इनकी प्रार्थना करने का निषेध किया है, परन्तु मरते हुए असयति प्राणियो की रक्षा करने मे पाप मानकर उससे निवृत्त होने के लिए नही। प्रस्तुत गाथा की टीका मे टीकाकार ने भी यही लिखा है—

"एतानि वातादीनि मा वा भवेयुरिति धर्माद्यभिभूतो नो वदेत् अधिकरणादि दोष प्रसंगात्। वातादिषु सत्सु सत्त्व पीड़ा प्राप्तेः। तद् वचन तस्तथाऽभवनेऽप्यार्त्तध्यान भावादिति सूत्रार्थ।"

—दशवैकालिक ७, ५१ टीका

"वायु आदि के चलने पर प्राणियों को पीड़ा होती है इसलिए गर्मी आदि से पीड़ित होकर साधु वायु आदि सात बातों के होने या न होने की प्रार्थना न करें। क्योकि इसमें अधिकरणादि दोषो का प्रसंग होता है। यद्यपि साधु के कहने मात्र से सातो बातें नहीं हो जातीं, तथापि साधु को आर्त्त-ध्यान करना उचित नहीं है। इसलिए वह उन्हें न कहे।"

प्रस्तुत गाथा के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने भी यही बताया है—"साधु को अपनी पीडा की निवृत्ति के लिए इन सात बातो की प्रार्थना नही करनी चाहिए।" परन्तु प्राणियो की रक्षा करने मे पाप जानकर उसकी निवृत्ति के लिए इन सात बातो की प्रार्थना करने का निषेध नही किया है। टीकाकार ने उक्त निषेध का एक कारण यह बताया है—"वायु आदि के चलने पर प्राणियो को पीडा होती है।" इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि दूसरे प्राणी को पीड़ा न हो, इसलिए गर्मी से सतप्त साधु-स्वय पीडा एव कष्ट पाते हुए भी हवा आदि के चलने की प्रार्थना नही करता। प्रस्तुत प्रसग मे जीवो की रक्षा करने का नही, प्रत्युत जीवो को पीड़ा देने का निषेध किया है।

वस्तुत. इस गाथा मे जो सात बातो का निषेध किया गया है, वह पूर्ण रूप से जिनकल्पी के लिए है, स्थविर-कल्पी के लिए नही। स्थविर-कल्पी साधु के लिए उनके कल्प की मर्यादा के अनुसार कुछ बातो का निषेध किया है, सबका नही। क्योकि स्थविर-कल्पी साधु रोगी साधु को रोग की निवृत्ति के लिए औषध देता है। पानी मे डूबती हुई साध्वी को पानी मे से निकाल कर उसके उपसर्ग को दूर करता है और उपदेश देकर जनता के उपसर्ग एव उपद्रव को दूर करता है। सूत्रकृताग सूत्र मे बताया है कि श्रमण भगवान महावीर त्रस और स्थावर समस्त प्राणियो के क्षेम के लिए उपदेश देते थे—

"समिच्च लोगं तस-थावराणां खेमंकरे समणे-माहणे वा।"

—सूत्रकृताग सूत्र २, ६, ४

यदि दशवैकालिक की गाथा के अनुसार साधु का किसी के क्षेम-कल्याण के लिए प्रार्थना करना बुरा होता, तो भगवान महावीर त्रस एव स्थावर के क्षेम-कल्याण के लिए क्यो उपदेश देते? अत. दशवैकालिक में बताई गई बाते जिनकल्पी के लिए पूर्ण रूप से निषिद्ध है। परन्तु स्थविर-कल्पी के लिए सबका नही, कुछ का निषेध है। इसी कारण इस गाथा से उपसर्ग दूर करने एवं रोग निवृत्ति के लिए प्रार्थना करने का निषेध होने पर भी स्थविर-कल्पी साधु रोगी के रोग की निवृत्ति के लिए उसे औषध देता है, उसकी परिचर्या करता है, पानी मे डूबती हुई साध्वी को

उपसर्ग एवं कष्ट से मुक्त करने के लिए उसे बाहर निकालकर उसके उपसर्ग को दूर करता है। अतः उक्त गाथा में कथित सातों बातों को स्थविर-कल्पी के लिए बताना गलत है।

प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'खेम' शब्द का टीकाकार ने 'राजविज्वर शून्यम्' राज रोग का अभाव होना ऐसा अर्थ किया है। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार "राजविज्वर शून्यम्" का अर्थ समझ ही नहीं पाए। अतः उन्होंने इसका यह अर्थ किया है—'राजादिक ना कलह रहित हुवे ते खेम।"

भ्रमविध्वंसनकार ने स्वयं उपसर्ग निवारण करने को साधु का कर्त्तव्य बताया है। "धर्म नी घोषणा करी ने पर ने उपदेशे जिम अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग कर्त्ता ने वारे।" परन्तु दुराग्रहवश अपने कथन के विरुद्ध उपसर्ग निवारण को दोष बताया है। अस्तु बुद्धिमान विचारकों को इनके आगम विरुद्ध कथन को नहीं मानना चाहिए।

साधु सबकी रक्षा करता है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १४७ पर स्थानांग स्थान चार के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ अठे पिण कह्यो—जे साधु पोता नी अनुकम्पा करे, पिण आगला नी अनुकम्पा न करे। तो जे पर जीव ऊपर पग न देवे, ते पिण पोतानीज अनुकम्पा निश्चय नियमा छै। ते किम ? एहने मार्यां मोनें इज पाप लागसी, इम जाणी न हणे। ते भणी पोतानी अनुकम्पा कही छै। अनें आपने पाप लगाय आगला नी अनुकम्पा करे ते सावद्य छै।"

स्थानांग सूत्र की चतुर्भंगी में मरते हुए जीव की रक्षा करना स्थविर-कल्पी साधु का कर्त्तव्य बताया है। अपनी भूल को छिपाने के लिए भ्रमविध्वंसनकार ने उसका स्पष्ट अर्थ नहीं लिखा।

"चत्तारी पुरिस जाया पण्णत्ता, तंजहा—आयाणुकम्पए नाममेगे, णो परानुकम्पए।"

—स्थानांग सूत्र, ४, ४, ३५२

"आत्मानुकम्पकः आत्महितप्रवृत्तः प्रत्येकबुद्धो जिनकल्पिको वा परानपेक्षो निर्घृणः। परानुकम्पकः निष्ठितार्थतया तीर्थंकरः आत्मानपेक्षो वा दयैकरसो मेतार्य्यवत्। उभयानुकम्पकः स्थविरकल्पिकः। उभयाननुकम्पक पापात्मा कालशौकरिकादिरिति।"

"पुरुष चार प्रकार के होते हैं—१. जो अपनी ही अनुकम्पा करते हैं, परन्तु दूसरे की नहीं करते। ऐसे तीन पुरुष होते हैं—१. प्रत्येक बुद्ध, २. जिनकल्पी और ३. दूसरे की अपेक्षा नहीं करने वाला निर्दयी। २. जो दूसरे की अनुकम्पा करता है, अपनी नहीं करता। ऐसे श्रेष्ठ व्यक्ति तीर्थंकर भगवान, या अपने जीवन की परवाह नहीं रखने वाले मेतार्य मुनि जैसे परम दयालु पुरुष होते हैं। ३. जो स्व और पर दोनों की अनुकम्पा करता है, ऐसा पुरुष स्थविर-कल्पी साधु होता है और ४ जो स्व और पर दोनों की अनुकम्पा नहीं करता, ऐसा पुरुष कालशौरिक कसाई की तरह अतिशय पापी होता है।"

इससे बताया है कि स्थविर-कल्पी मुनि उभयानुकम्पी होता है। वह स्व-पर दोनों की अनुकम्पा करता है। अतः मरते हुए प्राणी की रक्षा करना स्थविर-कल्पी साधु का परम कर्त्तव्य है। जो स्थविर-कल्पी साधु दूसरे जीव की रक्षा नहीं करता, वह साधुत्व के कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। उक्त चतुर्भंगी में कथित प्रथम भंग का स्वामी जिनकल्पी और प्रत्येक बुद्ध मुनि

दूसरे की अनुकम्पा नही करते, वे केवल अपने हित मे प्रवृत्त होते है। उनकी तरह जो व्यक्ति दूसरे की अनुकम्पा नही करता, वह उन दोनो से भिन्न निर्दयी व्यक्ति है।

भ्रमविध्वसनकार ने भी भ्रमविध्वसन पृष्ठ १४७ पर इस चतुर्भंगी के प्रथम भग का यही अर्थ किया है—"जे पोता ना हित ने विषे प्रवर्त्ते ते प्रत्येक वुद्ध अथवा जिनकल्पी अथवा परोपकार बुद्धि रहित निर्दयी पारका हित ने विषे न प्रवर्त्ते।"

इनके इस अर्थ से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जो जिनकल्पी और प्रत्येक वुद्ध साधु से भिन्न पुरुष दूसरे प्राणी की अनुकम्पा-रक्षा नही करता, वह दयाहीन पुरुष है, साधु नही। ऐसे निर्दयी व्यक्ति को साधु समझना भयकर भूल है।

इस पाठ की समालोचना करते हुए भ्रमविध्वसनकार ने सभी साधुओ को प्रथम भग मे सम्मिलित कर लिया है। उन्होने लिखा है—"अथ अठे पिण कह्यो साधु पोतानी अनुकम्पा करे पिण आगला नी अनुकम्पा न करे। तो जे पर जीव ऊपर पग न देवे ते पिण पोतानी ज अनुकम्पा निश्चय नियमा छै।" परतु इनका यह कथन नितान्त असत्य है। आगम मे स्पष्ट कहा है कि स्थविर-कल्पी मुनि स्व और पर दोनो की अनुकम्पा करते है। इन्होने स्वयं इस पाठ का यह अर्थ किया है—"तीजे भ्रेहूने वाछे ते स्थविर-कल्पी"—इससे भी यह प्रमाणित होता है कि स्थविर-कल्पी केवल अपनी ही नही, प्रत्युत दूसरे प्राणी की भी अनुकम्पा करते हैं।

अब प्रश्न यह है कि दूसरे जीव पर पैर नही रखना तो निश्चय नय से अपनी अनुकम्पा है, दूसरे की नही। ऐसी स्थिति मे स्थविर-कल्पी साधु दूसरे की अनुकम्पा कैसे करते है? इसका सीधा-सा उत्तर यह है कि वह दूसरे मरते हुए प्राणी की प्राण-रक्षा करता है, यह पर की अनुकम्पा है। अत उक्त पाठ का नाम लेकर मरते हुए प्राणी की प्राणरक्षा करने मे पाप वताना सर्वथा अनुचित है।

यदि कोई यह कहे कि स्थविर-कल्पी दूसरे को धर्मोपदेश देते है,यह उनकी दूसरे पर अनुकम्पा है और स्वय किसी जीव को मारते नही,यह निश्चय नय के अनुसार उनकी अपनी अनुकम्पा है, परन्तु मरते जीव की रक्षा करना पर की अनुकम्पा नही है। किन्तु उनका यह कथन मिथ्या है। क्योकि तीर्थंकर भगवान भी धर्मोपदेश देते है और वे स्वय भी किसी को नही मारते। फिर आपकी दृष्टि से वे दूसरे भग परानुकम्पक के स्वामी न रहकर,तृतीय भग उभयानुकम्पक के स्वामी ठहरेंगे। क्योकि दूसरे जीव की रक्षा करना परानुकम्पा है। इस प्रकार जो जीव अपनी रक्षा पर ध्यान न देकर दूसरे जीव की रक्षा करता है, वह द्वितीय भग का स्वामी है। ऐसे व्यक्ति तीर्थंकर या मेतार्य मुनि जैसे परम दयालु पुरुष होते है। जो स्व और पर दोनो की रक्षा करते है, वे तृतीय भग के स्वामी स्थविर-कल्पी साधु है।

प्रस्तुत चतुर्भंगी के अनुसार मरते हुए प्राणी के प्राणो की रक्षा करना स्थविर-कल्पी साधु का कर्त्तव्य सिद्ध होता है। जो व्यक्ति न तो स्वय किसी प्राणी की रक्षा करता है और दूसरे व्यक्ति को भी रक्षा करने मे पाप का उपदेश देता है, इस पाठ के अनुसार वह परोपकार बुद्धि से रहित निर्दय पुरुष सिद्ध होता है।

मेघ कुमार के जीव ने हाथी के भव मे और धर्मरुचि अणगार ने अपनी रक्षा की परवाह न करके दूसरे की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझा था। इसलिए वे महापुरुष इस चतुर्भंगी के द्वितीय भग के स्वामी थे। अस्तु इस चतुर्भंगी का नाम लेकर जीव-रक्षा करने में एकान्त पाप वताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

जीवरक्षा आदि परोपकार के कार्य में अपने धन को लगाना परिग्रह का त्याग करना है; धन पर रही हुई आसक्ति एव तृष्णा को घटाना है। जिस व्यक्ति की धन के प्रति तृष्णा एवं आसक्ति कम होती है, वही अपने द्रव्य का परोपकारार्थ त्याग कर सकता है। परन्तु जिसके मन मे धन के प्रति लोभ, तृष्णा एव आसक्ति है, वह परोपकारार्थ उसका कभी भी त्याग नही कर सकता। अस्तु जीव-रक्षा के लिए धन का परित्याग करने वाला दयालु पुरुप अपने लोभ, मोह एव आसक्ति को कम करता है और मरते हुए प्राणी की रक्षा भी करता है। इस-लिए वह एकान्त पापी नही, धार्मिक है। परिग्रह से ममत्व घटाना और जीव-रक्षा करना दोनो धर्म के कार्य है। इनमे पाप वताना भारी भूल है।

धन देकर जीव-रक्षा करने मे एकान्त पाप सिद्ध करने के लिए आचार्य श्री भीपणजी ने व्यभिचार का सेवन करके जीवो को वचाने वाली वेश्या का जो दृष्टान्त दिया, वह युक्ति संगत नही है। इससे केवल उनका दया के प्रति रहा हुआ विद्वेप भाव ही अभिव्यक्त होता है। क्योंकि परिग्रह का त्याग और व्यभिचार सेवन दोनो एक-से कार्य नही है। परिग्रह का त्याग करना धन पर रहे हुए मोह, तृष्णा एव आसक्ति को कम करना है, घटाना है। परन्तु व्यभि-चार का सेवन करना मोह, आसक्ति एव तृष्णा को घटाना नही, वढाना है। इसलिए ये दोनो कार्य प्रकाश और अन्धकार की तरह एक-दूसरे से बिल्कुल विपरीत है। इन्हे एक समान वताकर परोपकारार्थ धन का परित्याग करनेवाले और व्यभिचार का सेवन करके जीवरक्षा करने वाले उभय व्यक्तियो को एक समान पापी वताना दृष्टि का विकार एव भयकर भूल है।

यदि आचार्य श्री भीपणजी एव भ्रमविध्वसनकार उक्त दोनो कार्य एक-से मानते है, तो उनके अनुयायियो को यह स्पष्ट करना चाहिए कि कोई दो गरीव वहने वहुत दूर के प्रात से आपके वर्तमान आचार्य श्री के दर्शनार्थ आई। उनसे आचार्य श्री ने पूछा—"तुमने इतनी दूर आने के लिए द्रव्य कहाँ-से प्राप्त किया ?" तव एक वहन ने उत्तर दिया—"मैंने अपने जेवर वेचकर आपके दर्शनार्थ द्रव्य प्राप्त किया" और दूसरी ने वताया "मैंने वेश्यावृत्ति के द्वारा धन प्राप्त करके आपके दर्शनो का लाभ लिया।" वहाँ कोई मध्यस्थ एव निप्पक्ष विचारशील श्रावक उपस्थित था। उसने आचार्य श्री से पूछा कि इन दोनो मे धार्मिक एव पापी कौन है ? क्या भ्रमविध्वसनकार दोनो को एक समान धार्मिक कहेगे ? उनके मत से दोनो ही धार्मिक होनी चाहिए। परन्तु यहाँ उन्हे विवश होकर कहना पडता है—"जिसने जेवर वेचकर दर्शन का लाभ लिया, वह धार्मिक है और दूसरी धर्म को लज्जित करने वाली दुराचारिणी है। साधु के दर्शन से होने वाला धर्म उसे नही हो सकता, उसका साधु-दर्शन का नाम लेना दभ है, पाखण्ड है।"

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है—"एक ने पाँचवे आश्रव का सेवन किया है और दूसरी ने चौथे आश्रव का। ऐसी स्थिति मे दोनो को एक-सी क्यो नही मानते ? जिसने पाँचवे आश्रव का सेवन कर आपके दर्शन किए उसे धर्मात्मा और जिसने चौथे आश्रव का सेवन कर आपके दर्शनो का सौभाग्य प्राप्त किया, उसे पापात्मा क्यो कहते है ? यहाँ इतना भेद क्यो ?"

इसके उत्तर मे यही कहना पड़ेगा, "जिसने साधु के दर्शनार्थ जेवर वेचा है, उसने अपने शृगार एव धन पर से ममत्व हटाया है और आभूपणो को वेचने से उसके चारित्र मे, उसके आचरण में किसी तरह का दोप नही आया, अत वह धर्म-निष्ठ श्राविका है। परन्तु जिसने वेश्यावृत्ति के

द्वारा धन का संग्रह किया है, उसने मोह और आसक्ति मे अभिवृद्धि की है, तथा अपने चारित्र और आचरण मे दोष लगाया है। अत. वह विषयानुरागिणी है, धर्मानुरागिणी नही।"

यही दृष्टि जीव-रक्षा के सम्बन्ध मे समझनी चाहिए। जिस प्रकार आप दर्शनार्थ आई हुई बहनो मे जेवर बेचकर दर्शन करने वाली को धर्मात्मा और दूसरी को पापात्मा कहते है। उसी प्रकार अपने जेवर की ममता का परित्याग करके जीवो की रक्षा करने वाली बहिन को धर्मात्मा और व्यभिचार का सेवन करके जीव बचानेवाली बहिन को पापात्मा कहना चाहिए। दोनो को एक-सी नही, एक दूसरे मे भिन्न समझना चाहिए।

जब साधु के दर्शनार्थ जेवर के ममत्व का त्याग करने वाली स्त्री धर्मात्मा हो सकती है, तब जीव-रक्षाके लिए अपने जेवर के ममत्व एव धन की आसक्ति का त्याग करने वाली स्त्री धर्मात्मा क्यो नही होगी ? अत. द्रव्य देकर जीव-रक्षा करने मे पाप कहना भयकर भूल है।

पथ-भूले को पथ बताना

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १४९ पर निशीथ सूत्र का पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ अठे गृहस्य तथा अन्यतीर्थी ने मार्ग भूला ने अत्यन्त दु खी देखी मार्ग वताया चौमासी प्रायश्चित कह्यो। ते माटे असयति री सुखसाता वाछ्या धर्म नही।"

निशीथ सूत्र का उक्त पाठ लिखकर समाधान कर रहे है—

"जे भिक्खू अन्न उत्थियाण वा गारत्थियाण वा णट्ठाणं मुढाणं विप्परियासियाणं मग्गं वा पवेएइ, संधि वा पवेएइ, मग्गाओ (मग्गेण) वा संधिं पवेएइ, सधीओ वा मग्गं पवेएइ पवेएंतं वा साइज्जइ।"

—निशीथ सूत्र १३, २८

"जो साधु पथ-भ्रष्ट या मूढ़ होकर विपरीत मार्ग से जाते हुए गृहस्थ या अन्य-यूथिक को मार्ग या मार्ग की सन्धि अथवा सन्धि से मार्ग या मार्ग से सन्धि वताता है और वताते हुए को अच्छा जानता है, उसे चौमासी प्रायश्चित आता है।"

यहाँ यह प्रश्न होता है कि साधु अन्य-तीर्थी या गृहस्थ को मार्ग या उसकी सन्धि क्यो नही वताते ? इसका क्या कारण है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए चूर्णिकार ने उक्त पाठ की चूर्णि मे लिखा है—

"तेण वा पहेण गच्छंता ते सावयोवद्दवं सरीरोवहि तेणोवद्दवं पावेंति त्ति, जं वा ते गच्छंता अन्नेसिं उवद्दवं करेंति।"

—निशीथ उ० १३, भाष्य गाथा ४३१०

"साधु के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से जाते हुए अन्य-तीर्थी या गृहस्थ को यदि कभी जगली जानवरो का उपसर्ग हो अथवा चोर उन्हें लूट लें, या वे स्वय किसी जीव पर प्रहार कर दें। अत. इन कारणों से साधु उन्हें मार्ग नहीं वताते।"

यहाँ चूर्णिकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अन्य-तीर्थी या गृहस्थ पर चोट एव जगली जानवरो द्वारा होने वाले या उनके द्वारा जगल के जानवरो पर किए जाने वाले उपद्रव की संभावना

से साधु उन्हें मार्ग नही वताते, परन्तु उनकी रक्षा करने एव उन्हें दु ख से वचाने को बुरा समझकर नही।

इसी पाठ के आधार पर आचार्य श्री भीपणजी ने अनुकम्पा को सावद्य वताया है। उन्होंने लिखा है—

"गृहस्थ भूलो ऊजड़ वन में, अटवी ने वले ऊजड़ जावे।
अनुकंपा आणी साधु मार्ग वतावे, तो चार महीना रो चारित्र जावे।
आ अनुकम्पा सावज जाणो॥"

—अनुकम्पा ढाल १

आचार्य श्री भीपणजी का कथन सत्य नही है। आगम मे कही भी अनुकम्पा को सावद्य नही कहा है। निशीथ चूर्णि मे भी रास्ता नही वताने का कारण अनुकम्पा का सावद्य होना नही लिखा है; प्रत्युत भावी उपद्रव की आशका से मार्ग वताने का निपेध करके अनुकम्पा का समर्थन किया है।

अनुकम्पा को सावद्य मानने वालो से यह पूछा जाय कि यदि कुछ व्यक्ति सामूहिक रूप मे आपके आचार्य के दर्शनार्थ जाना चाहे और उसके लिए वे आप मे मार्ग पूछे, तो क्या आप उन्हे मार्ग वताएगे ? यदि यह कहें कि हम नही वता सकते तो इसमे यह प्रश्न उठेगा कि आपके आचार्य का दर्शन करना सावद्य कार्य है ? यदि वह सावद्य नहीं हैं, तो आप दर्शनार्थियो को रास्ता क्यो नही वताते ? यदि यह कहे, "दर्शन करने का कार्य सावद्य नही है, परन्तु रास्ता वताना साधु का कल्प नही है।" तो इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकम्पा करना, प्राणी का दु ख दूर करना सावद्य कार्य नहीं है। परन्तु मार्ग वताना साधु का कल्प नही होने से साधु रास्ता नही वताते। यदि कोई यह कहे कि आचार्य श्री के दर्शनार्थ जाने वाले व्यक्तियो को निरवद्य भापा मे रास्ता वताने में कोई दोप नही है, तो उसी प्रकार दु खित प्राणियो के दु ख को दूर करने के लिए निरवद्य भापा में उन्हे मार्ग वताना भी दोप एव पाप का कार्य नही है।

साधु आत्म-रक्षा कैसे करे ?

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १५० पर स्थानाग सूत्र, स्थान ३ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ अठे पिण कह्यो—हिंसादिक अकार्य करता देखी धर्म उपदेश देई समजावणो तथा अणबोल्यो रहे। तथा उठि एकात जावणो कह्यो। पिण जबरी सू छुडावणो न कह्यो। तो रजोहरण ओघा थी मिनकी ने डराय ने ऊदरा ने बचावे। त्या ने आत्म-रक्षक किम कहिए ?"

स्थानाग सूत्र के पाठ का प्रमाण देकर जीव-रक्षा का निपेध करना पूर्णत मिथ्या है। उक्त पाठ मे प्राणी की प्राण-रक्षा करने का निषेध नही किया है। वह पाठ एव उसकी टीका निम्न है—

"तओ आयरक्खा पण्णत्ता तं जहा—धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएत्ता भवइ, तुसिणीए वा सिया उट्ठित्ता वा आतति एगंतमवकम्मेज्जा।"

—स्थानाग सूत्र ३, ३, १७२

"आत्मानं रागद्वेषादेरकृत्याद्भवकूपाद्वारक्षन्तीति आत्मरक्षाः। धम्मियाए पडिचोयणाए त्ति धार्मिकेणोपदेशेन नेदं भवदृशां विधातुमुचितमित्यादिना प्रेरयिता उपदेष्टा भवति अनुकूलेत्तरोपसर्ग कारिण। ततोऽसावुपसर्ग करणान्निवर्तते ततोऽकृतया सेवा न भवतीत्यात्मा रक्षितो भवतीति। तुष्णीको वा वाचयम उपेक्षक इत्यर्थं स्यादिति प्रेरणाया अविषये उपेक्षणा सामर्थ्ये च ततः स्थानादुत्थाय 'आय-आए' त्ति आत्मना एकान्तं विजनं अन्य भूमिभागमवक्रमेद् गच्छेत्।"

"जो पुरुष राग-द्वेष, अनुचित आचरण एवं भवकूप से अपनी आत्मा की रक्षा करता है, वह आत्मरक्षक कहलाता है। यदि उस आत्मरक्षक के निकट आकर कोई अनुकूल उपसर्ग करे, तो उसे धर्मोपदेश के द्वारा समझाना चाहिए—"आप जैसे पुरुष के लिए यह आचरण करने योग्य नहीं है।" यदि इस उपदेश को सुनकर वह उपसर्ग देना बन्द कर दे तो साधु अकार्य का सेवन नहीं करता, किन्तु साधु की आत्मा अकृत्य के आचरण से बच जाती है। या साधु चुप रहकर शान्त-भाव से उपसर्ग सहन कर ले,तब भी उसकी आत्मा अनुचित आचरण से बच जाती है। यदि उपसर्ग देनेवाला व्यक्ति धर्मोपदेश देने योग्य नहीं है और साधु भी उपसर्ग नहीं सह

सकता है, तो वह वहाँ से उठकर एकान्त स्थान में चला जाए। इस प्रकार साधु को अनुचित आचरण से अपनी आत्म-रक्षा करनी चाहिए।"

प्रस्तुत पाठ मे आत्म-रक्षक साधु को अनूकूल या प्रतिकूल उपसर्गकर्त्ता के प्रति राग-द्वेष एवं अकृत्य आचरण से बचने के लिए तीन उपाय वताए है–१. धर्मोपदेश देना, २ उपसर्ग सह लेना और ३. वहा से उठकर एकान्त स्थान मे चले जाना। इसमे हिंसक के द्वारा मारे जाने वाले प्राणी की प्राणरक्षा करने या प्राणरक्षा करने के लिए धर्मोपदेश देने का निषेध नही किया है। अत. उक्त पाठ का प्रमाण देकर मरते हुए प्राणी की प्राणरक्षा करने मे पाप वताना नितान्त असत्य है।

उक्त पाठ की समालोचना में भ्रमविध्वसनकार ने लिखा है—"पिण जवरी सुं छोड़ावणो न कह्यो।" इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये जवरदस्ती से जीव वचाने मे पाप कहते है, परन्तु उपदेश देकर जीव बचाने में पाप नही कहते। वस्तुत: ये उपदेश देकर जीव वचाने में भी पाप ही कहते हैं। इस विषय मे भ्रमविध्वसनकार का मन्तव्य एवं आचार्य भीषण जी की ढालें लिखकर विस्तार के साथ बता चुके है। इसलिए इनका यह लिखना 'पिण जवरी सुं छोडावणो न कह्यो।' जनता को भ्रम मे डालना है। इसके आगे भ्रमविध्वसनकार ने लिखा है—"रजोहरण-ओघा थी मिनकी ने डराय ने ऊंदरा ने वचावे त्या ने आत्मरक्षक किम कहिए ?" इनका यह कथन असगत है। क्योकि जो दयालु साधु रजोहरण से विल्ली को एक ओर हटाकर चूहे की प्राण-रक्षा करता है, वह कौन-सा अनुचित कार्य करता है, जिससे उसे आत्मरक्षक न कहा जाए ? यदि यह कहे—"किसी को भय देना उचित नही है और वह विल्ली को भय देकर चूहे की रक्षा करता है, इसलिए वह आत्मरक्षक नही है।" यदि ऐसा है तो कभी साधु को गाय-भैंस मारने को आए या कुत्ते काटने को दौडे, उस समय साधु गाय, भैंस या कुत्ते को रजोहरण-ओघा से डराकर अपनी रक्षा करता है, उसे भी आत्म-रक्षक कैसे कह सकते है ? क्योकि वह भी गाय, भैंस एव कुत्ते को रजोहरण से डराकर या भयभीत करके दूर करता है। इसलिए आप के मत से उसे आत्मरक्षक नही कहना चाहिए। यदि यह कहे कि साधु को मारने या काटने के लिए आने वाली गाय, भैंस या कुत्ते को साधु रजोहरण-ओघा से डराकर अपनी रक्षा करता है,उसमें कुछ भी अनुचित कार्य नही करता। तो उसी तरह यह भी समझना चाहिए कि दया-निष्ठ साधु रजोहरण से विल्ली को एक ओर हटाकर चूहे की रक्षा करता है, वह भी अनुचित कार्य नही करता, प्रत्युत विल्ली को हिंसा के पाप से बचाता है और चूहे की प्राण-रक्षा करता है।

बिल्ली से चूहे को बचाने वाले साधु का अभिप्राय बिल्ली को त्रास देने का नही, प्रत्युत चूहे को वचाने का होता है। जैसे किसी व्यक्ति को हिंसा आदि दुष्कर्म से रोकने के लिए नरक के दुखो का भय वताया जाता है, उसी तरह चूहे की रक्षा करने के लिए रजोहरण आदि से बिल्ली को एक ओर हटाने का प्रयत्न करते है, किन्तु उसे त्रास देने की भावना से नही।

निशीथ सूत्र के उद्देशक ११ मे किसी जीव को त्रास देने के अभिप्राय से भयभीत करने की क्रिया को पापमय कहा है और इसी के लिए उसे प्रायश्चित कहा है। परन्तु स्व और पर की रक्षा के लिए अवोध प्राणी को डडे आदि से दूर हटाने मे न तो एकान्त पाप होता है और न उसके लिए प्रायश्चित का ही विधान है।

साध्वाचार और जीव-रक्षा

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १५१ पर निशीथ सूत्र, उ० १३ के सूत्र की समालोचना करते हुए लिखते है–

"अथ अठे गृहस्थ नी रक्षा निमित्त मन्त्रादि किया, अनुमोद्या चौमासी प्रायश्चित कह्यो। तो ऊदरादिक नी रक्षा साधु किम करे ? अने जो इम रक्षा किया धर्म हुवे तो डाकिनी-शाकिनी, भूतादिक काढना, सर्पादिक ना जहर उतारला, औषधादिक करी असयति ने बचावना। अने जो एतला बोल न करणा, तो असयति ना शरीर नी रक्षा पिण नही करणी।"

निशीथ सूत्र का उक्त पाठ लिखकर समाधान कर रहे हैं—

"जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा भुइ कम्मं करेइ–करेतं वा साइज्जइ।"

—निशीथ सूत्र १३, १८

"जो साधु गृहस्थ या अन्ययूथिक के लिए भूतिकर्म करता है या भूतिकर्म करने वाले को अच्छा समझता है, उसे प्रायश्चित्त आता है।"

प्रस्तुत पाठ मे साधु को भूतिकर्म करने का निषेध किया है। परन्तु अपने कल्प एवं मर्यादा के अनुसार मरते हुए प्राणी की रक्षा करने का निषेध नही किया है। निशीथ सूत्र मे निम्नोक्त पाठ भी आए है—

"जे भिक्खू विज्जापिण्डं भुंजइ-भुंजंतं वा साइज्जइ।
जे भिक्खू मंतपिण्डं भुंजइ-भुजंतं वा साइज्जइ।
जे भिक्खू जोग पिण्डं भुंजइ-भुजंत वा साइज्जइ।"

—निशीथ सूत्र १३, ७४-७५ और ७८

"जो साधु विद्या, मंत्र एवं योग-वृत्ति से आहार पानी लेता है या लेने वाले साधु को अच्छा समझता है, उसे प्रायश्चित आता है।"

इस पाठ मे साधु को विद्या, मत्र एव योग-वृत्ति से आहार-पानी लेने का निषेध किया है, परन्तु साधु की मर्यादा के अनुसार आहार-पानी लेने का नही। इसी तरह पूर्वोक्त पाठ मे भूतिकर्म

करने का निषेध किया है, परन्तु अपने कल्प एवं मर्यादा का पालन करते हुए जीव-रक्षा करने का निषेध नही किया है। यदि जीव-रक्षा करने से प्रायश्चित आता है,ऐसा विधान करना होता तो भूतिकर्म का ही उल्लेख क्यो करते ? क्योकि केवल भूतिकर्म से ही जीवो की रक्षा नही होती। रक्षा करने के और भी अनेक साधन है। यदि आगम मे सामान्य रूप से ऐसा उल्लेख होता—

"जे भिक्खू अन्नउत्थियं वा गारत्थियं वा रक्खइ-रक्खंतं वा साइज्जइ।"

तो जीव-रक्षा करने का स्पष्ट रूप से निषेध हो जाता। परन्तु आगम मे ऐसा नही लिखकर भूतिकर्म करने का निषेध किया है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि आगमकार ने भूतिकर्म करने का प्रायश्चित बताया है, जीवरक्षा करने का नही।

जैसे किसी व्यक्ति को प्रतिवोध देना पाप का कार्य नही है। परन्तु यदि कोई साधु किसी व्यक्ति को भूतिकर्म के द्वारा प्रतिवोध दे, तो उसे निशीथ सूत्र के इस पाठ के अनुसार अवश्य ही प्रायश्चित आएगा। परन्तु यह प्रायश्चित प्रतिवोध देने का नही, भूतिकर्म करने का है।

इसी तरह डाकिनी-शाकिनी और भूत आदि निकालना, सर्प आदि का जहर उतारना एवं औषध आदि बाँटना साधु का कल्प नही है। इसलिए साधु उक्त कार्यो को नही करते। परन्तु अपने कल्प के अनुसार साधु मरते हुए प्राणी की रक्षा कर सकता है। क्योकि जीवरक्षा का कार्य प्रतिवोध देने के कार्य की तरह एकान्त धर्म का काम है। इसलिए विभिन्न असत्य कल्पनाओ के द्वारा मरते हुए प्राणी की रक्षा करने मे पाप सिद्ध करने का प्रयत्न करना दयायुक्त धर्म के विमुख होना है।

चुलनीप्रिय श्रावक

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १५९ पर उपासकदगाग सूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ अठे पिण कह्यो—चुलणी पिया श्रावक रा मुहड़ा आगे देवता तीन पुत्रा ना शूला किया, पिण त्याने बचाया नही। माता ने वचावा उठ्यो तो पोपा, नियम, व्रत भाग्यो कह्यो। तो उंदरादिक ने साधु किम वचावे ?"

भ्रमविध्वसनकार का यह सिद्धान्त है कि हिंसक को हिंसा के पाप से वचाने के लिए उपदेश देना चाहिए, मरते जीव की रक्षा करने के लिए नही। अत इनके मतानुसार यहाँ यह प्रश्न होता है कि चुलनी प्रिय श्रावक ने अपने सामने हिंसा करते हुए हिंसक पुरुष को हिंसा के पाप से वचाने के लिए धर्मोपदेश क्यो नही दिया ?

यदि इस विषय मे यह कहे कि हिंसक को हिंसा के पाप से वचाने के लिए धर्मोपदेश देना धर्म है,परन्तु वह पुरुष बिल्कुल अनार्य एव अयोग्य था, अत. उसे उपदेश देना निष्फल जानकर चुलनी-प्रिय ने उपदेश नही दिया। ऐसे ही सरल भाव एव निष्पक्ष वुद्धि से यह समझना चाहिए कि जीव-रक्षा के लिए धर्मोपदेश देना धर्म है, परन्तु उस अनार्य एव अयोग्य पुरुप को जीवरक्षा का उपदेश देना निष्फल जानकर ही चुलनीप्रिय ने उपदेश नही दिया, अत चुलनीप्रिय श्रावक का दृष्टान्त देकर जीवरक्षा करने मे पाप कहना भयकर भूल है।

इसी तरह माता की रक्षा के लिए प्रवृत्त होने से चुलनीप्रिय के व्रत-नियम का भग होना वताना भी मिथ्या है। क्योकि हिंसक पर क्रोध करके उसे मारने के लिए अयत्ना पूर्वक दौडने से उसके व्रत-नियम नष्ट हुए थे, माता के प्रति रक्षा का भाव आने से नही।

"तएणं सा भद्दा सत्थवाही चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी नो खलु केइ पुरिसे तव जाव कणीयसं पुत्तं सा ओ गिहाओ निणेइ-निणेइत्ता तव आगओ घाएइ। एस णं केइ पुरिसे तव उवसग्गं करेइ। एस णं तुमे विदरसिणे दिट्ठे। ते ण तुमं एयाणि भग्ग-वए, भग्ग-णियमे,भग्ग-पोसहे विहरति।"

—उपासकदगाग सूत्र ३, १४७

"इसके अनन्तर उस भद्रा सार्थवाही ने कहा—हे चुलनीप्रिय ! तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र से लेकर कनिष्ठ पुत्र को घर से बाहर लाकर तुम्हारे समक्ष किसी ने नही मारा है। यह तुम्हारे पर किसी ने उपसर्ग किया है। तुमने जो देखा है, वह मिथ्या दृश्य था। इस समय तुम्हारे व्रत, नियम और पौषध नष्ट हो गए।"

इस पाठ मे भद्रा ने चुलनीप्रिय के व्रत आदि के भग होने की जो बात कही है, उसका कारण बताते हुए टीकाकार ने लिखा है—

"भग्गवए" त्ति भग्नव्रत स्थूल प्राणातिपातविरतेर्भावितो भग्नत्वात् तद्वि-नाशार्थं कोपेनोद्धात्रनात् सापराधस्यापिव्रतविषयीकृतत्वात्। भग्न नियम कोपोदयेनोत्तरगुणस्य क्रोधाभिग्रहरूपस्य भग्नत्वात्। भग्नपौषध अव्यापारपौष-रूपस्य भग्नत्वात्।"

—उपासकदशाग ३, १४७ टीका

"चुलनीप्रिय श्रावक का स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत भाव से नष्ट हो गया। क्योकि वह क्रोध करके हिंसक को मारने के लिए दौड़ा था। व्रत में अपराधी प्राणी को भी मारने का त्याग होता है। उत्तर गुण—क्रोध नहीं करने का जो अभिग्रह था, वह क्रोध करने से टूट गया और अयत्ना पूर्वक दौड़ने से उसका पौषध नष्ट हो गया।"

प्रस्तुत टीका मे व्रत,नियम एव पौषध के भग होने का स्पष्ट कारण यह बताया है—"चुलनी-प्रिय क्रोध करके हिसक को मारने के लिए दौडा"–परन्तु मातृ-रक्षा का भाव आने से उसके व्रत आदि का भग होना नही कहा है। अत मातृ-रक्षा का भाव आने से उसके व्रत आदि का भग होना बताना आगम के सर्वथा विपरीत है। परन्तु आचार्य श्री भीषणजी ने लोगो के मन मे भ्रम फैलाने के लिए माता की रक्षा के भाव आने से उसके व्रतादि भग हो गए ऐसा लिखा है—

"इम सुणने चुलणीपिया चल गयो,मां ने राखण रो करे उपाय रे।
ओ तो पुरुष अनार्य कहे जिसो, झाल राखूं ज्यों न करे घात रे॥
ओ तो भद्रा बंचावण ऊठियो, इणरे थांबो आयो हाथ रे।
अनुकम्पा आनी जननी तणी, तो भाग्या व्रत ने नेम रे॥
देखो मोह अनुकम्पा एहवीं, तिण में धर्म कही जे केम रे?"

—अनुकम्पा ढाल ७, ३५

इनके कहने का अभिप्राय यह है कि किसी मरते हुए प्राणी की प्राणरक्षा–अनुकम्पा करना मोह अनुकम्पा है। चुलनीप्रिय ने माता की रक्षार्थ अनुकम्पा की थी। इससे उसका व्रत भग हुआ, क्योकि वह मोह अनुकम्पा थी। परन्तु इनका यह कथन आगम विरुद्ध है। यह ऊपर बता चुके है कि व्रत आदि हिसक को मारने के लिए अयत्नापूर्वक दौडने से टूटे थे, माता की रक्षा करने के भाव से नही। क्योकि पौषध व्रत के समय श्रावक को सापराधी हिंसा का भी त्याग होता है, अनुकम्पा करने का नही। अत उसके मन मे सापराधी हिसा के भाव उद्भूत होने एव हिंसक को मारने के लिए दौडने से उसके व्रत आदि भग हुए, अनुकम्पा के भाव आने से नही। आचार्य श्री भीषणजी ने भी सामायिक एव पौषध के समय अग्नि एव सर्प आदि का भय होने पर श्रावक को यत्ना पूर्वक निकलने के लिए लिखा है—

"लाय सर्पादिक रा भय थकी, जयणा सूं निसर जाय जी।
राख्या ते द्रव्य ले जावतां, समाइ री भंग न थाय जी॥
पोषा ने सामायक व्रत ना, सरीखा छै पचक्खान जी।
पोषा ने सामायक व्रत में, सरीखा छै आगार जी॥"

—श्रावक धर्म विचार, नवम व्रत की ढाल

इस ढाल मे आचार्य श्री भीषणजी ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है—"अग्नि, सर्प आदि का भय होने पर सामायिक एव पौपध मे अपने रखे हुए द्रव्य लेकर यत्ना पूर्वक निकल जाए, तो उसका व्रत नष्ट नही होता।" यदि सामायिक एव पौपध मे अनुकम्पा करना बुरा है, तो अग्नि आदि का उपद्रव होने पर श्रावक यत्ना पूर्वक कैसे निकल सकता है ? क्योकि यह भी तो स्व अनुकम्पा करना है। यदि यह कहे कि अपने पर अनुकम्पा करने मे व्रत भग नही होता, दूसरे पर अनुकम्पा करने से व्रत भग होता है। इसलिए अग्नि आदि के समय सामायिक या पौपध मे बैठा हुआ श्रावक यत्ना पूर्वक निकल जाए तो उसमें कोई दोप नही है। यदि ऐसा है, तो सुरादेव श्रावक का व्रत क्यो भग हुआ ? उसने किसी अन्य पर नही, अपने पर ही अनुकम्पा की थी।

"तए ण से सुरादेवे समणोवासए धन्न भारिय एव वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिए ! के वि पुरिसे तहेव कहइ जाव चुलणीपिया। धन्ना वि भणइ—जाव कणियस नो खलु देवाणुपिया ! तुब्भ केऽवि पुरिसे सरीरगसि जमग-समग सोलस रोगायके परिपक्खिवइ। तए णं के वि पुरिसे तुब्भं उवसग्ग करेइ सेस जहा चुलणीपियस्स तहा भणइ।"

—उपासकदशाग सूत्र ४, १५७

"इसके अनन्तर सुरादेव श्रावक ने अपनी धन्या नामक पत्नी को अपना समस्त वृत्तान्त चुलनीप्रिय श्रावक की तरह सुनाया। वह सुनकर धन्या ने कहा—हे देवानुप्रिय ! किसी ने तुम्हारे ज्येष्ठ से लेकर कनिष्ठ पुत्र को नहीं मारा है और न तुम्हारे शरीर में एक साथ सोलह ही रोग प्रविष्ट कर रहे हैं। किन्तु तुम्हारे पर किसी ने उपसर्ग किया है। शेष बातें चुलनीप्रिय की माता की तरह धन्या ने अपने पति से कही, अर्थात् उसने सुरादेव से कहा कि तुम्हारे व्रत, नियम एवं पौषध भंग हो गए हैं।"

प्रस्तुत पाठ मे चुलनीप्रिय श्रावक की तरह सुरादेव श्रावक के व्रत-नियमादि भग होना कहा है। आप के मत से उसके व्रत आदि भग नही होने चाहिए। क्योकि सुरादेव ने स्व की अनुकम्पा की थी, पर की नही। आचार्य श्री भीषणजी सामायिक एव पौपध मे अपनी अनुकम्पा करने से व्रत आदि का भग होना नही मानते। फिर सुरादेव श्रावक के व्रत आदि के भग होने का क्या कारण है ? यदि इस विपय मे यह कहे कि सुरादेव के व्रत आदि अपनी अनुकम्पा करने के कारण नही, प्रत्युत अपराधी को मारने के लिए क्रोधित होकर अयत्ना से दौड़ने के कारण भग हुए। तो फिर चुलनीप्रिय के सम्बन्ध मे भी आपको यही बात माननी चाहिए। उभय श्रमणोपासको के सम्बन्ध मे प्रयुक्त पाठ बिल्कुल समान है। केवल भेद इतना ही है कि चुलनीप्रिय श्रावक ने माता पर अनुकम्पा की थी और सुरादेव श्रावक ने अपने पर। यदि माता पर

अनुकम्पा करने से चुलनीप्रिय का व्रत भग होना मानते है, तो यहाँ सुरादेव का अपने पर अनुकम्पा करने से व्रत भग होना मानना पडेगा। जैसे चुलनीप्रिय की मातृ-अनुकम्पा को सावद्य कहते हैं, वैसे सुरादेव की स्व अनुकम्पा को भी सावद्य कहना होगा। और आचार्य श्री भीषणजी ने अपनी ढाल मे सामायिक और पौषध मे अग्नि आदि के समय यत्न पूर्वक बाहर निकल जाने की आज्ञा दी है, वह भी मिथ्या सिद्ध होगी। अत आचार्य श्री भीषणजी के अनुयायी अपनी अनुकम्पा को सावद्य नही कह सकते। अस्तु जैसे सुरादेव की अपनी अनुकम्पा सावद्य नही थी, उसी तरह चुलनीप्रिय की मातृ-अनुकम्पा भी सावद्य नही थी। दोनो के व्रत आदि स्व या मातृ-अनुकम्पा करने से नही, प्रत्युत हिंसक पर क्रोध करके मारने के लिए अयत्ना पूर्वक दौड़ने से भग हुए थे। इसलिए चुलनीप्रिय का उदाहरण देकर अनुकम्पा को सावद्य बताना नितान्त असत्य एव आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

साधु अनुकम्पा कर सकता है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १६० पर आचाराग सूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ अठे कह्यो—जे पानी नाव मे आवे घणा मनुष्य नाव मे डूबता देखे तो पिण साधु ने मन-वचन करी पिण बतावणो नही। जो असयति रो जीवणो बाछ्या धर्म हुवे तो नाव मे पानी आवतो देखी साधु क्यो न बतावे ? केतला एक कहे—जे लाय लाग्या ते घर रा किवाड उघाडना तथा गाडा हेठे बालक आवे तो साधु ने उठाय लेणो। इम कहे, तेहनो उत्तर जो लाय लाग्यां ढाँढा बाहिरे काढणा, तो नाव मे पानी आवे ते क्यू न बतावणो ?"

भ्रमविध्वसनकार दूसरे प्राणी की रक्षा करना पाप मानते है, परन्तु अपनी रक्षा करना पाप नही मानते। अपनी रक्षा करना वे साधु का कर्त्तव्य मानते है। ऐसी स्थिति मे साधु अन्य की रक्षा के लिए नही, प्रत्युत अपनी रक्षा के लिए नाव मे आते हुए पानी को क्यो नही वताते ? क्योकि नाव मे पानी भरने पर अन्य लोगो की तरह साधु स्वय भी डूब जाएगा। फिर वह अपने आप को बचाने के लिए नाव मे भरते हुए पानी को क्यो नही वताता ? यदि यह कहें कि अपनी रक्षा करना साधु का कर्त्तव्य है परन्तु पानी बताने की जिन-आज्ञा नही है। अत यह साधु का कल्प नही होने से वह नाव मे भरता हुआ पानी नही वताता। इसी तरह अन्य प्राणियो के सम्बन्ध मे भी यही समझना चाहिए कि जीवो की रक्षा करना साधु का धर्म है, परन्तु पानी वतलाने का कल्प नही है, इसलिए साधु नाव मे आते हुए पानी को नही वताता।

परन्तु आचार्य श्री भीपणजी ने तो यहाँ अनुकम्पा मात्र का निपेध करते हुए लिखा है—

"आप डूबे अनेरा प्राणी, अनुकम्पा किण री नहीं आणी।"

"नौका मे बैठा हुआ साधु स्वय भी डूबे और अन्य प्राणी भी डूब जाएँ, परन्तु वह किसी पर भी अनुकम्पा न करे।"

यदि ऐसा मान ले तो आचार्य श्री भीपणजी की परपरा के सभी साधु-साध्वी स्थानाग सूत्र मे कथित चतुर्भगी के चौथे भग के स्वामी होगे। क्योकि उसमें कथित चौथे भगवाला जीव ही स्व और पर किसी की भी अनुकम्पा नही करता। जैसे कालशौरिक कसाई आदि किसी की

अनुकम्पा नहीं करते। परन्तु यह कथन आगम विरुद्ध है। भ्रमविध्वंसनकार ने भी इस बात को स्वीकार किया है—"पोतानी अनुकम्पा करे पिण आगला नी अनुकम्पा न करे।" यहां भ्रमविध्वंसनकार ने अपनी अनुकम्पा करना साधु का कर्तव्य बताया है। गाय, भैंस, कुत्ते आदि से भी इनके साधु अपनी रक्षा करते हैं और अपने शरीर की सुरक्षा के लिए आहार-पानी की गवेषणा भी। अस्तु, आचार्य श्री भीखणजी का यह कथन, "आप डूबे अनेरा प्राणी, अनुकम्पा किणरी नहीं आणी", आगम से ही नहीं इनके अपने सिद्धान्त एवं आचार से भी विरुद्ध है। परन्तु पर जीव की रक्षा करने में पाप बताकर जन-मन में से दयाभाव का उन्मूलन करने के आवेग में अपनी परम्परा के विरुद्ध पर-रक्षा के साथ स्व-रक्षा करने का भी निषेध कर दिया, परन्तु आचारांग में जीव-रक्षा करने का निषेध नहीं किया है।

वस्तुतः स्थानांग में कथित चतुर्भंगी के अनुसार स्थविर-कल्पी साधु स्व और पर दोनों की अनुकम्पा करते हैं। परन्तु नौका में प्रविष्ट पानी गृहस्थ को बताना मुनि का कल्प नहीं होने से, वे उसे नहीं बताते। पर इसके निकट के सूत्र में साधु को प्रसंगवश तैर कर नदी पार करने का कहा है। यदि आचार्य श्री भीखणजी के कथनानुसार अपनी रक्षा करना साधु का धर्म नहीं होता, तो आगमकार साधु को तैरकर नदी पार करने की आज्ञा कैसे देते?

"से भिक्खू वा उदगंसि पवमाणे णो हत्थेण-हत्थं, पाएण-पायं, काएण-कायं, आसाइज्जा से अणासायणाए अणासायमाणे तओ संजयामेव उदगंसि पविज्जा। से भिक्खू वा उदगंसि पवमाणे नो उम्मुग्ग-निमुग्गियं करिज्जा मामेयं उदगं कन्नेसु वा, अच्छीसु वा, नक्कंसि वा, मुहंसि वा, परियावज्जिज्जा तओ संजयामेव उदगंसि पविज्जा। से भिक्खू वा उदगंसि पवमाणे दुव्वलियं पाउणिज्जा खिप्पामेव उवहिं विगिंचिज्ज वा विसोहिज्ज वा नो चेव णं साइज्जिज्जा। अह पुण एवं जाणेज्जा, पारए सिया उदगाओ तीरं पाउणित्तए तओ संजयामेव उदउल्लेण वा ससिणिद्धेण वा काएण उदगतीरे चिट्ठिज्जा"।

आचारांग सूत्र २, ३, २, १२२

"साधु या साध्वी नदी के पानी को तैरकर पार करते समय अपने हाथ का हाथ से, पैर का पैर से और शरीर का शरीर से स्पर्श न करे। वह अपने अंगों का परस्पर स्पर्श न करते हुए यत्ना पूर्वक नदी पार करे। वह तैरते समय जल में डुबकी-गोता न लगाए और अपनी आँख, नाक, कान एवं मुख आदि में जल प्रविष्ट नहीं होने दे। यदि तैरते समय साधु को दुर्बलता का अनुभव हो, तो वह अपने उपकरणों को तुरन्त वहीं त्याग दे, उन पर जरा भी ममत्व भाव न रखे। यदि उपकरणों को लेकर वह तैरने में समर्थ हो, तो उसे उनका त्याग करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार नदी पार करने के बाद जब तक शरीर से जल की बूंदें गिरती रहें, शरीर भीगा हुआ रहे, तब तक साधु नदी के किनारे पर ही खड़ा रहे।"

प्रस्तुत पाठ मे साधु को तैरकर नदी पार करने का आदेश दिया है, जल मे डूबकर मरने का नही। अतः इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु स्व-रक्षा करने में पाप नही समझता। जब उसे अपनी रक्षा करने मे पाप नही लगता, तब दूसरे की रक्षा करने मे पाप कैसे होगा ? अत. आचार्य श्री भीषणजी ने साधु के लिए जो जल मे डूब मरने का लिखा है, वह पूर्णत मिथ्या है।

यदि कोई यह कहे, "नदी पार करते समय साधु के द्वारा पानी के जीवो की विराधना होती ही है, फिर भी नाव मे आता हुआ पानी बताकर स्व और पर की रक्षा क्यो नही करता ?" इसका उत्तर यही है कि साधु आगम के विधानानुसार ही स्व और पर की रक्षा करता है, आगम-आज्ञा का उल्लघन करके नही। जैसे यदि गृहस्थ के हाथ की रेखा भी सचित्त जल से भीगी हुई है, तो साधु उसके हाथ से आहार नही लेता, क्योकि उसका कल्प नही है। परन्तु वही साधु अपवाद मार्ग में नदी पार करता है। नदी पार करना साधु के कल्प के विरुद्ध नही है। क्योकि आगम मे नदी पार करने की आज्ञा दी है। परन्तु नौका के छिद्र से प्रविष्ट होते हुए पानी को बताने का आगम में निषेध किया है, इसलिए साधु उसे नही बताता। परन्तु वह साधु की मर्यादा मे रहकर स्व और पर की रक्षा करने में पाप नही समझता।

त्रस जीव को बांधना-खोलना

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ पर १६२ पर निशीथ सूत्र, उ० १२ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहाँ कह्यो—'कोलुण पडियाए' कहिता अनुकम्पा निमिते त्रस जीव ने बाधे, बांधता ने अनुमोदे—भलो जाणे तो चौमासी दड कह्यो। अने बाध्या जीव ने छोड़े, छोडता ने अनुमोदे-भलो जाणे तो पिण चौमासी दड कह्यो। बाधे छोडे तिण ने सरीखो प्रायश्चित कह्यो।"

निशीथ सूत्र का उक्त पाठ लिखकर समाधान कर रहे हैं—

"जे भिक्खू कोलुण पडिआए अण्णयरि तसपाणजाइं तण-पासएण वा मुंज-पासएण वा कट्ठ-पासएण वा चम्म-पासएण वा बंधइ-बंधंतं वा साइज्जइ।

जे भिक्खू वद्धेल्लयं मुयइ-मुंयंतं वा साइज्जइ।"

—निशीथ सूत्र १२, १–२

"जो साधु अनुकम्पा की प्रतिज्ञा से किसी त्रस प्राणी को तृण पाश से, मुंज पाश से, काष्ट पाश से या चर्म पाश से बांधता है या बांधने वाले को अच्छा समझता है तथा जो साधु बंधे हुए त्रस प्राणी को छोड़ता है, या छोड़ते हुए को अच्छा समझता है, तो उसे चौमासी प्रायश्चित आता है।"

साधु के अनुकम्पा की प्रतिज्ञा है, अत. उस अनुकम्पा का नाश न हो जाए, इस भावना से प्रस्तुत पाठ में त्रस प्राणी को बाधने और छोड़ने से साधु को प्रायश्चित कहा है, परन्तु उन जीवों पर अनुकम्पा करने से नहीं। क्योंकि अनुकम्पा करने की आगम की आज्ञा है। जैसे—साधु को आहार-पानी लेने से प्रायश्चित नहीं आता, क्योंकि इसके लिए आगम की आज्ञा है। परन्तु यदि कोई साधु मत्र, विद्या या योग-वृत्ति से आहार ग्रहण करता है, तो उसे उसका प्रायश्चित आता है। यह प्रायश्चित आहार ग्रहण करने का नहीं प्रत्युत मत्र, विद्या या योगवृत्ति करने का है। इसी तरह त्रस प्राणी पर अनुकम्पा करने का प्रायश्चित नहीं है, वह तो उन्हे बाधने-छोडने का है। त्रस प्राणी पर अनुकम्पा करना, उन्हे शान्ति पहुँचाना एव किसी जीव की रक्षा करना पाप

नहीं है, अत. अनुकम्पा करने से प्रायश्चित कैसे हो सकता है? त्रस प्राणी को बांधने और उसे बन्धन से मुक्त करने का जो प्रायश्चित बताया है,उसका कारण यह है कि बांधने-छोड़ने में अनेक तरह का अनर्थ भी हो सकता है। उक्त सूत्र के भाष्य एव चूर्णि में इस पाठ के पीछे रहे हुए उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"अच्चावेढन मरणंतराय फड्डंत आत्त-परहिंसा।
सिग-खुरणोल्लणं वा उड्डाहो भद्द-पंता वा।"

—निशीथ सूत्र उ० १२, भाष्य ३९८१

"अईव आवेढियं परितावज्जइ मरइ वा अन्तराइयं च भवइ। वद्धं च तडफडित अप्पाणं पर वा हिंसइ। एसा संजम विराहणा, तं वा वज्झंत सिंगेण, खुरेण वा, काएण वा, साहुं णोल्लेज्जा। एवं च साहुस्स आयविराहणा। तं च दट्ठुं जणो उड्डाहं करेज्ज। 'अहो दुद्दिट्ठ धम्मा परतत्ति वाहिणो' एव पवयणोवघाओ। भद्दपत दोषा व भवे।

भद्दो भणइ—'अहो इमे साहवो अम्हं परोक्खाण घरे वावारं करेंति।' पंतो पुणो भणेज्जा 'दुद्दिट्ठ धम्मा चाडुकारिणो कीस वा अम्हं वच्छे वधंति-मुयंति वा' दिवा वा राओ वा णिच्छुभेज्जा, वोच्छेयं वा करेज्ज, ए-ए वंधणे दोसा।"

—निशीथ सूत्र उ० १२, चूर्णि ३९८१

"रस्सी आदि बन्धन से बांधे हुए पशु अत्यन्त आंटा खाकर-उलझकर दु.ख पाते हैं एवं बंधन से पीड़ित होकर तड़-फड़ाते एवं छटपटाते हुए अपनी या अन्य प्राणियो की हिंसा भी कर देते हैं। इस प्रकार पशुओ को बांधने से संयम की विराधना होती है। पशुओं को बांधते समय यदि वे सींग या खुर से साधु को मार दें, तो साधु की अपनी विराधना भी होती है।

यदि उक्त घटनाएं न भी हों, तब भी गृहस्थ के पशुओं को बांधते-खोलते हुए साधु को देखकर लोग साधु की निंदा करते हैं—इन साधुओ का धर्म अच्छा नहीं है, ये लोग गृहस्थ की नौकरी करते हैं। इस प्रकार प्रवचन की निन्दा होती है।

उक्त साधु पर श्रेष्ठ एवं साधारण दोनों तरह के लोग दोष लगाते हैं। श्रेष्ठ पुरुष कहते हैं—ये साधु मेरे घर का काम-काज करते हैं और साधारण जन कहते हैं—ये गृहस्थ की खुशामद करते हैं। ये हमारे बछड़े बांधते और खोलते हैं, अतः इनका धर्म अच्छा नहीं है। उक्त कारणों से साधु को पशुओं को बांधना एवं खोलना नहीं चाहिए।"

उक्त गाथा एवं चूर्णि मे पशुओ को बांधने से अनर्थ होने की संभावना बताकर प्रायश्चित कहा है, परन्तु अनुकम्पा करने का नहीं। अत. इस पाठ के आधार पर गाय आदि प्राणियो पर अनुकम्पा करने का प्रायश्चित बताना भयकर भूल है।

यहाँ यह प्रश्न होता है, "त्रस प्राणियो को बांधने से तो अनर्थ होने की संभावना है,इसलिए उक्त पाठ में उसका प्रायश्चित कहा। परन्तु उन्हें खोलने से कौन-सा अनर्थ होता है, जिससे बंधे हुए पशुओं को छोड़ने मे भी प्रायश्चित कहा? इसका उत्तर इसी भाष्य एव चूर्णि में दिया है—

"छक्काय अगड विसमे, हिय णट्ठ पलाय खइंय पीए वा।
जोगक्खेम वहन्ति मणे, बंधण दोसा य जे वुत्ता ॥"

—निशीथ सूत्र उ० १२, भाष्य ३९८२

"तन्नगाइमुक्कमडंत छक्कायविराहणं करेज्ज। अगडे विसमे वा पडेज्ज, तेणेहिं वा हीरेज्ज, नट्ठं अटवीए रुलतं अच्छेज्ज, मुक्क वा पलाइय पुणो बंधिउं न सक्कइ। वृगादि सणफ्फडे (ए) हिं वा खज्जइ। मुक्क वा माउए थणात खीरं पीएज्जा। जइ वि एयाइ दोसा न होज्ज तहावि गिहिणो विसत्था अच्छेज्ज, अम्हं घरे साहवो सुत्थ-दुत्थ-जोगक्खेम वावार वहति, मण त्ति एव मणेण चिन्तिता अणुत्तसत्ता अप्पणो कम्मं करेंति। अह तद्दोसभया मुक्कं पुणो बंधंति। तत्थ बधणे जे दोसा वुत्ता ते भवन्ति। जम्हा ए-ए दोसा तम्हा ण बधति, ण मुयति वा।"

—निशीथ सूत्र उ० १२, चूर्णि ३९८२

"बंधन से मुक्त हुए बछड़े दौड़कर छःकाय के जीवो की विराधना करते हैं, खाई या गड्ढे आदि में गिर जाते हैं, उन्हें चोर चुरा सकते हैं, जगल में भूलकर इधर-उधर भटकते फिरते हैं, भागते-फिरते हुए बछड़ो को पुनः बाधने में कठिनाई होती है। सिंह आदि हिंस्र जीव उन्हें मार दें या वे अपनी माता का दूध पी जाएँ, जिससे घर का मालिक साधु पर नाराज हो, इत्यादि अनेक दोष बछड़े आदि पशुओ को खोलने से, होने की संभावना रहती है।

यदि उक्त दोष न भी हो, तब भी इस कार्य में साधु को प्रवृत्त देखकर गृहस्थ के मन में यह विश्वास हो जाता है कि मुझे अपने घर का कार्य करने की जरा भी चिंता करने की आवश्यकता नहीं है, क्योकि मेरे घर को संभाल कर रखने के लिए साधु वहाँ हैं ही। ऐसा सोचकर गृहस्थ गृह-कार्य की चिन्ता से मुक्त होकर अन्य कार्यो में प्रवृत्त हो जाता है। तब साधु यदि उसके पशुओ को बांधे तो उसे बांधने का दोष लगता है। अतः साधु गृहस्थ के पशुओ को बाधते एवं छोड़ते नहीं हैं।"

इसमे स्पष्ट लिखा है—बछडे आदि पशुओ को बधन से मुक्त करने से अनेक प्रकार के उपद्रव होने की सभावना है। इसलिए साधु उन्हें नही खोलता। यदि साधु छोडता है, तो इन्ही उपद्रवो के कारण उसे प्रायश्चित लेने को कहा है, अनुकम्पा करने का नही। गाय आदि प्राणियो पर अनुकम्पा करना पाप नही, धर्म है। अस्तु जहाँ उनको बाधने एव खोलने मे अनर्थ होने की सभावना है, वहाँ उन्हे बाधने-खोलने पर साधु को प्रायश्चित कहा है। परन्तु जहाँ ऐसी परिस्थिति हो कि गाय आदि को बाँधे या खोले बिना उनकी रक्षा नही हो सकती, वहाँ निशीथ भाष्य एव चूर्णि मे बाधने एव छोडने का भी विधान किया है—

"बिइयपदमणप्पज्झे, बन्धे अविकोविते व अप्पज्झे।
विसमऽगड अगणि आऊ, सणफ्फगादीसु जाणमवि ॥"

—निशीथ सूत्र १२, चूर्णि ३९८३

"अणप्पज्झो बंधइ अविकोविओ वा सेहो। अहवा-विकोविओ अप्पज्झो इमेहिं कारणेहिं बधंति-विसमा, अगड, अगणि, आऊसु मरिज्जिहितित्ति, वृगादितण-प्फएण वा मा रवज्जिहितित्ति, एव जाणगो वि बंधइ-मुंचइ।"

—निशीथ सूत्र १२, चूर्णि ३९८३

"जहाँ पशु के आगमें जलकर, गड्ढे में गिरकर या जंगली जानवरों के द्वारा मरने की संभावना हो, वहाँ साधु उन्हें बांधते एवं छोड़ते भी हैं। परन्तु बन्धन प्रगाढ़ नहीं होना चाहिए।"

यहाँ यह स्पष्ट कहा है कि यदि त्रस प्राणी को बाधे या मुक्त किए विना उसकी रक्षा नही हो सकती हो, तो ऐसी स्थिति मे साधु उसे बाध भी सकता है और छोड भी सकता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि निशीथ सूत्र के पाठ मे बाँधने एव खोलने से अनर्थ की सभावना होने के कारण ही त्रस प्राणी को बाधने एव खोलने का प्रायश्चित कहा है। परन्तु उनकी रक्षा करने से प्रायश्चित नही कहा है।

यदि यह कहे—"अपवाद मार्ग मे गाय आदि को बाधने एव खोलने का विधान भाष्य मे किया है, मूल पाठ मे नही।" तो उनसे पूछना चाहिए—"आप अपने पानी के पात्र मे पड़कर शीत से मूर्च्छित हुई मक्खी को कपडे मे बाधकर क्यो रखते है? उसकी मूर्छा हटने पर उसे क्यो छोडते है? मक्खी भी तो त्रस प्राणी है। इसके अतिरिक्त यदि आपका साधु पागल हो जाय तो उसे क्यो बाँधते है? उसका पागलपन ठीक होते ही उसे पुन. क्यो छोडते है? साधु भी तो त्रस प्राणी से भिन्न नही है।" अत निशीथ भाष्य एव चूर्णि मे जो विधान किया है, उसका आप मक्खी एव पागल साधु पर तो व्यवहार करते है, परन्तु गाय आदि पशुओ की रक्षा का प्रश्न आने पर इसमे पाप कहते है। यह केवल दृष्टि दोष एव दुराग्रह के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

भ्रमविध्वसनकार ने भी निशीथ चूर्णि को प्रमाण माना है, उन्होने लिखा है—"कोलुण पडियाए रो अर्थ चूर्णि मे अनुकम्पा-करुणा इज कियो छै।" उसी चूर्णि मे प्रसंग वश पशु के वन्धन एव विमोचन का भी विधान किया है। अत. उक्त चूर्णि की आधी वात मानना और आधी नही मानना, केवल साम्प्रदायिक अभिनिवेश मात्र है। वस्तुत शास्त्र से मिलती हुई सभी चूर्णि मान्य है।

सुलसा के पुत्रों की रक्षा

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १६८ पर लिखते हे—

"अथ अठे कह्यो— सुलसा नी अनुकम्पा ने अर्थ देवकी पासे सुलसा ना मुआ बालक मेल्या। देवकी ना पुत्र सुलसा पासे मेल्या ए पिण अनुकम्पा कही। ए अनुकम्पा आज्ञा माहि, के बाहरे ? सावद्य, के निरवद्य छै ? ए तो कार्य प्रत्यक्ष आज्ञा बाहिरे सावद्य छै। ते कार्य नी देवता ना मन में उपनी जे ए दु.खिनी छै, तो एहनो ए कार्य करी दु ख मेटू। ए परिणाम रूप अनुकम्पा पिण सावद्य छै।"

हरिणगमेशी देव ने अनुकम्पा करके छ. बालकों के प्राण बचाए थे, इस अनुकम्पा को सावद्य कहना भारी भूल है। ये छहो बालक चरम शरीरी थे और दीक्षा लेकर मोक्ष गए। यदि वह देव उनकी रक्षा नही करता, तो वे किस तरह जीवित रहते और दीक्षा लेकर मोक्ष जाते ? अत. हरिणगमेशी देव ने बालको पर अनुकम्पा करके उनके प्राण बचाए और सुलसा के दु ख की निवृत्ति की, उसे सावद्य कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

उन बालको की रक्षा करने के लिए देव ने जो आवागमन की क्रिया की उसका नाम लेकर अनुकम्पा को सावद्य कहना मिथ्या है। अनुकम्पा के परिणाम आने-जाने की क्रिया से सर्वथा भिन्न है। अत. आवागमन की क्रिया से अनुकम्पा सावद्य नही हो सकती। तीर्थ करो को वन्दन करने के लिए देव आते-जाते है, परन्तु उनकी इस क्रिया से वन्दन करना सावद्य नही होता। क्योकि वन्दन करने की भावना आवागमन की क्रिया से भिन्न है। यदि आने-जाने की क्रिया से अनुकम्पा सावद्य होती है, तो देवो की आवागमन की क्रिया से तीर्थ करो को किया जाने वाला वन्दन-नमस्कार भी सावद्य होगा ? यदि आवागमन की क्रिया से तीर्थ कर की वन्दना सावद्य नही होती, तो इससे अनुकम्पा भी सावद्य नही होगी।

हरिणगमेशी देव ने बालको एव सुलसा पर जो अनुकम्पा की उसका यह परिणाम निकला कि छहो लडके कस की मृत्यु के भय से मुक्त हो गए और सुलसा भी आर्त्त-रौद्र ध्यान से मुक्त हो गई। अत हरिणगमेशी देव की अनुकम्पा को सावद्य कहना आगम के अर्थ को नही जानने का परिणाम है।

अनुकम्पा सावद्य नही है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १६८ पर अन्तकृतदशाग के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ इहा कृष्णजी डोकरा री अनुकम्पा करी हस्ति स्कध पर बैठा इंट उपाडि तिणरे घरे मूकी, ए अनुकम्पा आज्ञा मे के बाहिरे, सावद्य, के निरवद्य छै ?"

श्रीकृष्णजी भगवान नेमीनाथ को वन्दन करने जा रहे थे। रास्ते मे उन्होने जरा से जीर्ण, अति दुखी एव कॉपते हुए एक वृद्ध को देखा। उसे देख कर श्रीकृष्णजी के हृदय मे अनुकम्पा उत्पन्न हुई और उन्होने अपने हाथ से ईंट उठाकर बुड्ढे के घर पर रखी। उनकी यह अनुकम्पा स्वार्थ से रहित थी। परन्तु इसे सावद्य सिद्ध करने के लिए भ्रमविध्वसनकार ने यह तर्क दिया है—"साधु ईंट उठाकर रखने की आज्ञा नही देते, इसलिए यह अनुकम्पा सावद्य थी।" यह तर्क पूर्णत अनुचित है। ईंट उठाने की क्रिया सावद्य होने से अनुकम्पा सावद्य नही हो सकती, क्योकि अनुकम्पा के भाव क्रिया से भिन्न है।

श्रीकृष्णजी के मन मे जब भगवान के दर्शन की भावना उत्पन्न हुई, तब उन्होनें चतुरगिणी सेना सजाई। साधु सेना सजाने की आज्ञा नही देते, परन्तु तीर्थंकर के वन्दन को अच्छा समझते है। सेना सजाकर जाने पर भी तीर्थंकर को वन्दन करने का कार्य सावद्य नही समझा जाता। क्योकि वन्दन करने का भाव सेना सजाने की क्रिया से सर्वथा भिन्न है। उसी तरह साधु ईंट उठाने एव रखने की आज्ञा नही देते, परन्तु अनुकम्पा करने की आज्ञा देते है। यदि ईंट उठाने की क्रिया से अनुकम्पा सावद्य होती है, तो सेना सजाकर वन्दन करने जाने से वन्दन भी सावद्य होगा। परन्तु जैसे सेना सजाकर जाने पर भी वन्दन सावद्य नही होता, उसी तरह ईंट उठाने से अनुकम्पा भी सावद्य नही हो सकती। अत ईंट उठाने की क्रिया का नाम लेकर अनुकम्पा को सावद्य बताना मिथ्या है।

उत्तराध्ययन सूत्र के २९वे अध्ययन मे वन्दन का फल उच्च गोत्र बन्ध कहा है और भगवती सूत्र मे अनुकम्पा करने का फल साता वेदनीय कर्म का बन्ध बताया। अत. दोनो कार्य प्रशस्त है। इसलिए वृद्ध पर की गई श्रीकृष्णजी की अनुकम्पा को सावद्य बताना भयकर भूल है।

यक्ष ने मुनि पर अनुकम्पा की

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १६९ पर उत्तराध्ययन अ० १२, गाथा ८ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ इहा हरिकेशी मुनि नी अनुकम्पा करी यक्षे विप्रा ने ताड्या, ऊधा पाड्या, ए अनुकम्पा सावद्य छै, के निरवद्य छै ? आज्ञा मे छै के आज्ञा बाहिरे छै ? ए तो प्रत्यक्ष आज्ञा बाहिरे छै।"

उत्तराध्ययन सूत्र की उक्त गाथा लिखकर समाधान कर रहे है—

"जक्खो तहि तिंदुय रुक्खवासी, अणुकम्पओ तस्य महामुनिस्स।
पच्छायइत्ता नियगं सरीरं, इमाइ वयणाइ मुदाहरित्था॥"

—उत्तराध्ययन सूत्र १२, ८

"तिंदुक वृक्ष पर निवसित यक्ष, जो उस महामुनि का अनुकम्पक एवं उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति रखने वाला था, उसने अपने शरीर को छिपाकर ब्राह्मणों से इस प्रकार कहा।"

प्रस्तुत गाथा का नाम लेकर आचार्य श्री भीषणजी और भ्रमविध्वसनकार अनुकम्पा को सावद्य कहते है। वे कहते हैं—"यक्ष ने ब्राह्मण कुमारो को मारा-पीटा था, उसने हरिकेशी मुनि पर अनुकम्पा की"—परन्तु उनका यह कथन मिथ्या है। यक्ष ने मुनि पर अनुकम्पा करके ब्राह्मणो को सदुपदेश दिया था। जब ब्राह्मण कुमार उसे मारने लगे, तब उसने भी मारने के प्रतिशोध मे उन्हे मारा-पीटा, परन्तु अनुकम्पा के कारण नही मारा। आगम मे अनुकम्पा करके मारने का नही, सदुपदेश देने का उल्लेख है।

"समणो अहं संजयो बंभयारी, विरओ धण, पयण परिग्गहाओ।
परप्पवित्तस्स उ भिक्ख काले, अन्नस्स अट्ठा इह आगओमि॥
वियरिज्जइ, खज्जइ, भुञ्जइ अन्नपभूयं भवयाणमेयं।
जाणाहि मे जायण जीविणुत्ति सेसावसेस लहओ तवस्सी॥"

उतराध्ययन सूत्र १२, ९-१०

मैं श्रमण हूँ, सयत—सर्व सावद्य योगों से निवृत्त हूँ, ब्रह्मचारी हूँ और धन, पचन, पाचन तथा परिग्रह से रहित हूँ। मैं आपके यहाँ भिक्षा के समय भिक्षार्थ आया हूँ। गृहस्थ अपने खाने के लिए जो आहार बनाते हैं, मै उसकी भिक्षा लेने आया हूँ। इस यज्ञ स्थान में प्रचुर अन्न दीन, अनाथ एवं दरिद्रों को दिया जाता है, स्वयं खाया और खिलाया जाता है। यह सब अन्न आपका है। मैं भिक्षा-जीवी तपस्वी हूँ। अतः आपके यहाँ अवशिष्ट भोजन में से जो अवशेष रहा हुआ हो, वह मुझे मिलना चाहिए।"

प्रस्तुत गाथा में यक्ष ने मुनि पर अनुकम्पा करके ब्राह्मणो को नम्रता पूर्वक मुनि को भिक्षा देने का उपदेश दिया है। यह उपदेश देना बुरा नही है। जैसे कोई व्यक्ति क्षुधातुर साधु को भिक्षा देने के लिए लोगो को उपदेश दे, तो वह बुरा नही कहा जा सकता। उसी तरह मुनि को भिक्षा देने के लिए यक्ष का ब्राह्मणो को उपदेश देना बुरा नही है।

जब यक्ष के उपदेश से ब्राह्मण लोग समझे नही, बल्कि अधिक उत्तेजित होकर मारने को दौडे, तब यक्ष ने भी क्रोधवश उनको मारा। यक्ष ने यह कार्य क्रोधवश किया था, अनुकम्पा करके नही। क्योकि आगम मे जहाँ मारने-पीटने का विषय आया है, वहाँ यह नही लिखा है कि यक्ष ने मुनि पर अनुकम्पा करके ब्राह्मण कुमारो को मारा पीटा। अतः यक्ष का यह कार्य अनुकम्पा के कारण नही, क्रोधवश हुआ था। अनुकम्पा करके उसने ब्राह्मणो को उपदेश दिया था, मारा नही। अत उसका यह मारने रूप कार्य सावद्य होने पर भी इसके पूर्व उसने ब्राह्मणो को जो उपदेश दिया था, वह सावद्य नही हो सकता।

जैसे कोई साधु-भक्त श्रावक साधु पर अनुकम्पा करके लोगो को भिक्षा देने का उपदेश दे, परन्तु उसके उपदेश को सुनकर लोग भिक्षा तो न दे, उल्टे उत्तेजित होकर मुनि को मारने के लिए दौडे। यह देखकर यदि वह भक्त भी लोगो को मारे-पीटे, तो उसके इस कार्य से, उसका प्रथम कार्य—साधु को भिक्षा देने का उपदेश देना बुरा नही कहा जा सकता। इसी प्रकार यक्ष ने जो ब्राह्मणो को मारा था, इससे उसका प्रथम कार्य—मुनि पर अनुकम्पा करके मुनि को भिक्षा

देने का उपदेश देना सावद्य नही हो सकता। अत. उक्त गाथा का प्रमाण देकर हरिकेशी श्रमण पर की गई यक्ष की अनुकम्पा को सावद्य बताना नितान्त असत्य है।

अनुकम्पा मोह रूप नही है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १७० पर ज्ञाता सूत्र के मूलपाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ इहा धारणी रानी गर्भ री अनुकम्पा करी मन गमता आहार जीम्या, ए अनुकम्पा सावद्य छै, के निरवद्य छे? ए तो प्रत्यक्ष आज्ञा बाहिरे छै।"

ज्ञाता सूत्र का पाठ और अर्थ लिखकर समाधान कर रहे है—

"तए णं सा धारणी देवी तं सि अकालदोहलंसि विणियंसि सम्माणिय दोहला तस्स गब्भस्स अणुकम्पणट्ठयाए, जयं चिट्ठइ, जयं आसइ, जयं सुवइ, आहारं पियणं आहारेमाणी नाइ तित्तं, नाइ कडुअं, नाइ कसायं, नाइ अंबिलं, नाइ महुरं। ज तस्स गब्भस्स हियं, मियं, पत्थयं, देसेय कालेय आहर आहरेमाणी, णाइ चिन्तं, णाइ सोग, णाइ देण्णं, णाइ मोहं, णाइ भयं, णाइ परितासं, ववगय चिन्ता-सोग-मोह-भय-परित्ता सा भोयण छायणगन्ध-मल्लालंकारेहि तं गब्भं सुहं-सुहेणं परिवहति।"

—ज्ञाता सूत्र १, १७

"इसके अनन्तर वह धारिणी रानी अकाल दोहद को पूर्ण करके गर्भ की अनुकम्पा के लिए यत्ना से खड़ी होती, यत्ना पूर्वक बैठती और यत्ना पूर्वक शयन करती थी। वह मेधा और आयु को बढ़ानेवाले, इन्द्रियों के अनुकूल, नीरोग और देश काल के अनुसार न अधिक तिक्त, न अति कटु, न अति कसाय, न अति खट्टा, न अति मधुर पदार्थ खाती थी, परन्तु वह उस गर्भ के हित-कारक, परिमित तथा पथ्य—आहार करती थी। वह अति चिन्ता, अति शोक, अति दीनता, अति मोह, अति भय, तथा अति परित्रास नहीं करती थी। वह चिन्ता, शोक, मोह, भय और परित्रास से रहित होकर भोजन, आच्छादन, गन्ध, माल्य और अलंकारों से युक्त होकर सुखपूर्वक उस गर्भ का पालन करती हुई विचरती थी।"

भ्रमविध्वसनकार प्रस्तुत पाठ का नाम लेकर कहते है—"धारणी रानी ने गर्भ पर अनुकम्पा करके मन वाछित आहार किया था।" परन्तु उक्त पाठ मे मनोवाछित आहार करने का नही, प्रत्युत उसका त्याग करना तथा गर्भ के हितकारक आहार करने का लिखा है। अस्तु भ्रमविध्वसन-कार का उक्त कथन आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

धारणी ने गर्भ की अनुकम्पा के लिए अयत्ना से चलना, खडे रहना एव शयन करने का तथा चिन्ता, शोक, मोह और भय का त्याग कर दिया था। भ्रमविध्वंसनकार के मत से गर्भ की अनुकम्पा के लिए किए गए धारणी के उक्त कार्य भी सावद्य होने चाहिए। यदि उसका अयत्ना चिन्ता, शोक, मोह एवं भय आदि का त्याग करना सावद्य नही था, तो उसने जो गर्भ पर अनुकम्पा की, वह सावद्य कैसे हो सकती है?

इस पाठमें स्पष्ट लिखा है कि धारणी ने गर्भ पर अनुकम्पा करके मोह का त्याग कर दिया। फिर भी भ्रमविध्वंसनकार की बुद्धि को देखिए कि वह उसकी गर्भ-अनुकम्पा को मोह-अनुकम्पा कहते हैं। जो व्यक्ति अनुकम्पा के हेतु मोह करना छोड दे, उसकी उस अनुकम्पा को मोह अनुकम्पा कहना कितनी असत्य कल्पना है ?

धारणी रानी गर्भ पर अनुकम्पा करके गर्भ का हित करने वाला आहार करती थी। इस आहार करने की क्रिया का नाम लेकर गर्भ की अनुकम्पा को सावद्य कहना भारी भूल है, क्योकि गर्भ का आहार गर्भवती के आहार पर निर्भर है। यदि गर्भवती आहार न करे, तो गर्भ को भी आहार नही मिलेगा और विना आहार के गर्भ का जीव मर भी सकता है। और उसकी हिंसा का पाप गर्भवती को लगेगा। अत. गर्भ की हिंसा से निवृत्त होने तथा गर्भ की रक्षा के लिए धारणी का आहार करना एकान्त पापमय नही है। यदि गर्भवती श्राविका भोजन न करे, तो उसके प्रथम व्रत मे अतिचार लगता है। क्योकि अपने आश्रित प्राणी को भूखा रखना प्रथम व्रत का अतिचार है। इसलिए गर्भवती को उपवास भी नही करना चाहिए। परन्तु दया का उन्मूलन करने वाले व्यक्ति इस वात को नही समझते—वे गर्भवती वहिन को उपवास करने का उपदेश देते हैं और गर्भ के जीव पर दया नही करने को धर्म मानते हैं।

भगवती सूत्र श० १, उ० ७ में स्पष्ट शब्दो मे लिखा है—"माता के आहार में से गर्भ को आहार मिलता है।" अत गर्भवती स्त्री को उपवास कराना या उसके आहार को छुडाना गर्भस्थ जीव को भूखा रखना है। अस्तु विवेक सम्पन्न सम्यग्दृष्टि कभी भी ऐसा कार्य नही करता।

यह सिद्धान्त केवल गर्भस्थ प्राणी के लिए ही नही, प्रत्युत अपने आश्रित द्विपद-चतुष्पद सभी प्राणियो के लिए है। श्रावक अपने अधीनस्थ किसी भी प्राणी को भूखा नही रखता। यदि वह उन पर अनुकम्पा नही करके उन्हें भोजन नही दे, तो उसके प्रथम व्रत में अतिचार लगता है। अत धारणी के द्वारा गर्भ पर की गई अनुकम्पा को मोह एव सावद्य अनुकम्पा कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

अभय कुमार

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १७० पर ज्ञाता सूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहा अभयकुमार नी अनुकम्पा करी देवता मेह वरसायो ए पिण अनुकम्पा कही। ते सावद्य छै, के निरवद्य छै ? ए तो प्रत्यक्ष आज्ञा वाहिरे छै।"

अभय कुमार ने तीन दिन का उपवास किया और ब्रह्मचर्य धारण करके तीन दिन तक वैठा रहा। उसका कष्ट देखकर देवता के हृदय में अनुकम्पा उत्पन्न हुई तथा अभय कुमार के जीव के साथ उसका जो पूर्वभव में स्नेह, प्रेम एव वहुमान था, उसका स्मरण करके उसके मन में मित्र-विरह का क्षोभ भी हुआ। मूलपाठ में अनुकम्पा करके पानी वरसाने का नहीं कहा है। परन्तु अनुकम्पा करके पानी वरसाने की कल्पना भ्रमविध्वसनकार की अपनी कपोल-कल्पित है, इससे उसमें सत्यता का अभाव है। आगम मे पानी वरसाने का कारण अनुकम्पा नही, प्रेम कहा है—

"अभयकुमारमणुकम्पमाणे देवे पुव्वभव जणिय नेह पीई बहुमान जाय सोगे ।"

—ज्ञाता सूत्र, अध्ययन १

"हा तस्य अष्टमोपवासस्य रूप कष्ट विद्यते इति विकल्पयन् ।"

"मेरे मित्र को अष्टमोपवास जनित कष्ट हो रहा है, यह सोचते हुए उस देव के हृदय में पूर्व-जन्म की प्रीति, स्नेह, बहुमान के स्मरण होने से उसे मित्र विरह रूप खेद उत्पन्न हुआ ।"

प्रस्तुत प्रसग मे अनुकम्पा कर के पानी बरसाने का नही लिखा है। इसके आगे जहाँ पानी बरसाने का वर्णन आया है, वहाँ उसका कारण अनुकम्पा नही, प्रीति लिखा है।

"अभयकुमार एव वयासी एवं खलु देवाणुप्पिया ! मए तव प्पिय-ट्ठयाए सगज्जिया सफुसिया दिव्वा पाउससिरी विउव्विया ।"

—ज्ञाता सूत्र, अ० १

"देव ने अभय कुमार से कहा—हे देवानुप्रिय ! मैंने तुम्हारे प्रेम के लिए गर्जन, विद्युत और जल बिन्दु पात के साथ दिव्य वर्षा ऋतु की शोभा उत्पन्न की है।"

प्रस्तुत पाठ मे अभयकुमार के साथ प्रीति होने के कारण पानी बरसाना कहा है, अनुकम्पा के लिए नही। अत अनुकम्पा से वर्षा करने की बात कहना आगम से सर्वथा विपरीत है।

जैसे गुणो से प्रेम रखने वाले देव तप-सयम से सम्पन्न मुनि पर अनुकम्पा करके उत्तर वैक्रिय शरीर बनाकर हर्ष के साथ उनके दर्शनार्थ आते है, उस समय उन देवो के गुणानुराग, मुनि पर अनुकम्पा भाव एव साधु-दर्शन को वैक्रिय शरीर बनाने और आने-जाने की क्रिया करने के कारण आगमकार बुरा नही, श्रेष्ठ ही बताते है। क्योकि उनका गुणानुराग, अनुकम्पा भाव एव साधु-दर्शन उत्तर वैक्रिय करने एव आवागमन की क्रिया से भिन्न है। इसी तरह अनुकम्पा आवा-गमनादि की क्रियाओ से सर्वथा भिन्न है। उक्त क्रियाएँ सावद्य होने पर भी अनुकम्पा सावद्य नही होती। अत अभय कुमार पर की गई देवता की अनुकम्पा को सावद्य कहना भारी भूल है।

जिनरक्षित और रयणा देवी

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १७१ पर ज्ञाता सूत्र, अ० ९ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ इहा रयणादेवी री अनुकम्पा करी जिनऋषि साहमो जोयो ए पिण अनुकम्पा कही। ए अनुकम्पा मोह कर्म रा उदय थी, के मोह कर्म रा क्षयोपशम थी ? ए अनुकम्पा सावद्य, के निरवद्य छै ? आज्ञा मे छै, के आज्ञा बाहिरे छै ? विवेक लोचने करी विचारी जोयजो।"

जिनरक्षित ने रयणादेवी पर अनुकम्पा करके देखा था, यह आगम का पाठ नही, केवल भ्रमविध्वसनकार की असत्य कल्पना है, जिसके द्वारा वे जन-मन से दया के भाव का उन्मूलन करने का प्रयत्न करते है। आगम मे इस जगह "अनुकम्पा" नही "समुपन्न कलुणभाव" पाठ आया है और इसमे प्रयुक्त 'कलुण' शब्द का अर्थ अनुकम्पा नही, करुण रस है। क्योकि रयणादेवी पर जिनरक्षित के मन मे अनुकम्पा उत्पन्न होने का यहाँ कोई प्रसग नही था। परन्तु प्रेमिका के वियोग से प्रेमी के मन मे जो करुण रस उत्पन्न होता है, उसकी वहाँ सम्पूर्ण सामग्री विद्यमान थी। अत जिनरक्षित के मन मे अनुकम्पा का नही, करुण रस का प्रवाह प्रवहमान हुआ।

आगम मे स्पष्ट शब्दो मे लिखा है—"रयणादेवी के विचित्र हाव-भाव, कटाक्ष एव मुख-सौन्दर्य का स्मरण करके तथा उसके मनोहर शब्द एव आभूषणो की मधुर ध्वनि सुनकर जिनरक्षित के मन मे करुण भाव उत्पन्न हुआ।" यह तो सूर्य के प्रखर प्रकाश की तरह स्पष्ट है कि प्रेमिका के हाव-भाव, कटाक्ष एव मुख-सौन्दर्य के स्मरण करने एव उसके मधुर शब्द तथा आभूषणो की मधुर ध्वनि सुनने से करुण रस ही उत्पन्न होता है, अनुकम्पा नही। अनुकम्पा के भाव प्रेमिका के विषय वासना युक्त संकेतो को देखकर नही, दु.खी व्यक्ति की दु खमय एव कष्टमय आवाज को सुनकर या दु खद स्थिति को देखकर जागृत होते है। परन्तु यहाँ जिनरक्षित के सामने रयणा देवी की दु.खद जीवन की नही, प्रत्युत विषय सुख भोगने की तस्वीर थी। ज्ञाता सूत्र मे भी लिखा है—

"तएण से जिणरक्खिए चल मणे तणेव भूसणरवेण कण्णसुह मनोहरेणं तेहिय सप्पणय सरल महुर भासिएहि संजाय विउणराए रयणदेवीस्स देवयाए तीसे सुदर थण जहण वयण कर चरण नयण लावण्ण

रूव जोवण सिरी च दिव्वं सरभस उवगूहियाइं जाति विव्वोय विल-
सिताणिय विहसिय सकडक्खदिट्ठी निस्ससिय मलिय उवललिय ठिय
गमण पणय खिज्जिय पासादियाणिय सरमाणे रागमोहियमइ अवसे
कम्मवसगए अवयक्खति मग्गतो सविलिय। तत्तेणं जिणरक्खियं
समुप्पण्ण कलुणभावं मच्चुगल्लत्थल्लणोल्लियमइ अवयक्खत तहेव
जक्खेय सेलए जाणिऊण सणिय-सणिय उव्विहति नियग पिट्ठाहि विगय-
सत्थं। तत्तेणं सा रयणदेवी देवता निस्संसा कलुण जिणरक्खिय सकलुसा
सेलग पिट्ठाहि उवयंत। दास! मओसीत्ति जम्पमाणी अप्पत्त सागर
सलिलं गेण्हिय वाहाहि आरसतं उड्ढ उव्विहति अंबरतले ओवयमाण
च मंडलग्गेणं पडिच्छित्ता नीलुप्पणधवल अयसिप्पगासेण असिवरेण
खडाखडि करेति।"

—ज्ञाता सूत्र, अध्ययन ९

"इसके अनन्तर जिनरक्षित का मन रयणादेवी पर चलायमान हो गया। रयणादेवी के कर्णमनोहर आभूषण के शब्द और प्रेम-युक्त सरल-मृदु वाणी से जिनरक्षित का राग-मोह रयणा-देवी पर पूर्व से भी अधिक बढ़ गया। उसके सुन्दर स्तन, जंघा, मुख, हाथ, पैर और नयनो के लावण्य, उसके शरीर सौन्दर्य, दिव्य यौवन की शोभा का हर्ष पूर्वक आलिंगन करना, स्त्री चेष्टा, विलास, मधुर-हास्य, सकटाक्ष दर्शन, निश्वास, सुखद अग स्पर्श, रति कूजित अंक, आसनादि पर बैठना, हंसवत् चलना, प्रणय, क्रोध एवं प्रसन्नता आदि का स्मरण करके वह रयणादेवी पर मोहित हो गया और अपने-आप को वश में नहीं रख सका। जिनरक्षित अवश और कर्म के वशीभूत होकर पीछे आती हुई रयणादेवी को लज्जा के साथ देखने लगा।

इसके अनन्तर प्रेमिका के वियोग से जिसे करुण रस उत्पन्न हो गया था, मृत्यु के द्वारा जिसका कण्ठ पकड़ लिया गया था, जो यमपुरी की यात्रा के लिए तैयार हो गया था और जो प्रेम युक्त नेत्रों से रयणादेवी को देख रहा था, ऐसे जिनरक्षित को उस शैलक यक्ष ने धीरे-धीरे अपनी पीठ पर से नीचे फेंक दिया। इसके अनन्तर मनुष्यों का वध करने वाली और द्वेष युक्त हृदय वाली रयणा-देवी ने शैलक यक्ष की पीठ पर से गिरते हुए करुण रस से युक्त उस जिनरक्षित को—अरे दास! मरा, ऐसे कहती हुई समुद्र में गिरने के पूर्व ही अपनी भुजाओ में ग्रहण करके उसे ऊपर आकाश में उछाल दिया और उसके पश्चात् उसे अपने तीक्ष्ण शूल के ऊपर रखकर तीक्ष्ण तलवार से उसके शरीर का खण्ड-खण्ड कर दिया।"

इस पाठ में स्पष्ट लिखा है कि रयणादेवी के आभूषणो के मनोहर शब्द एव उसके मधुर शब्दो को सुनकर उसका रयणादेवी पर पहले से भी अधिक राग हो गया। उसके शारीरिक सौन्दर्य को देखकर वह उस पर मोहित हो गया और मोहित होकर उसकी ओर देखने लगा। यहाँ रयणादेवी पर मोहित होकर देखने को कहा है, अनुकम्पा करके देखने का नहीं। अत उसे उस पर मोह उत्पन्न हुआ, अनुकम्पा नही।

प्रस्तुत पाठ में 'समुप्पन्न कलुणभावं' यह जिनरक्षित का विशेषण है। अतः इसका अर्थ-रयणा-देवी पर प्रिय-वियोग से उत्पन्न होने वाले करुण रस की उत्पत्ति होना है। अनुयोग द्वार सूत्र मे प्रिय के वियोग मे करुण रस का उत्पन्न होना बताया है।

"नव कव्व रसा पण्णत्ता, तं जहा—
वीरो, सिगारो, अब्भुओ, रोद्दो, होइ वोद्धव्वो।
वेलेणओ, वीभच्छो, हासो, कलुणो, पसतो अ॥"

—अनुयोगद्वार सूत्र, गाथा १

"काव्य के नव रस होते हैं—१ वीर, २ शृंगार, ३ अद्भुत, ४ रौद्र, ५ व्रीडनक, ६ बीभत्स, ७ हास्य, ८ करुण और ९ प्रशान्त रस।"

इस मे प्रयुक्त करुण रस की उत्पत्ति का इसी पाठ मे निम्न कारण बताया है—

"पिय विप्पयोग वंध वह वाहि विणिवाय सम्भमुप्पण्णो।
सोइय विलविय अपम्हाण रुण्णलिंगो रसो करुणो॥
पज्झाय किलामिअयं वाहागय पप्पु अच्छिय वहुसो।
तस्स वियोगे पुत्तिय दुव्वलयते मुहं जायं॥"

—अनुयोगद्वार सूत्र, गाथा १६-१७

"प्रिय के साथ वियोग होने से तथा वन्धन, वध, व्याधि, पुत्रादि मरण और पर-राष्ट्र के भय से करुण रस उत्पन्न होता है।

चिन्ता करना, विलाप करना, उदास होना और रोगी होना इसके लक्षण हैं। इसका उदाहरण यह है—प्रिय वियोग से दुःखित वाला को कोई वृद्धा कहती है—हे पुत्री! अपने प्रिय की अत्यन्त चिन्ता करने से तेरा मुख खिन्न हो गया है और अविरल अश्रुधारा से तेरी आँखें सदा सजल रहती हैं।"

प्रस्तुत गाथाओ मे प्रिय के वियोग से करुण रस की उत्पत्ति वताकर वियोग से अत्यन्त दुःखित वाला का उदाहरण दिया है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि रयणा देवी के वियोग से जिनरक्षित के हृदय में करुण रस की उत्पत्ति हुई थी, अनुकम्पा की नही। अतः करुण रस को अनुकम्पा वताकर अनुकम्पा को सावद्य वताना नितान्त असत्य है।

भक्ति और नाटक

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १७५ पर राजप्रश्नीय के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ अठे सूर्याभ री नाटक रूप भक्ति कही। तेहनी भगवान आज्ञा न दीघी। अनु-मोदना पिण न कीधी। अनें सूर्याभ वन्दना रूप सेवा-भक्ति किधी तिहा एवो पाठ छै—"अब्भ-णुणायमेयं सुरियाभा" एव वन्दना रूप भक्ति री म्हारी आज्ञा छै। इम आज्ञा दीर्घ, तो ए वन्दना रूप भक्ति निरवद्य छै, ते माटे आज्ञा दीघी। अने नाटक रूप भक्ति सावद्य छै। ते माटे आज्ञा न दीघी। अनुमोदना पिण न कीधी। जिम सावद्य-निरवद्य भक्ति छै-तिम अनुकम्पा पिण सावद्य-निरवद्य छै। कोई कहे सावद्य अनुकम्पा किहा कही छै, तेहने कहिणो सावद्य भक्ति किहा कही छै ?"

राजप्रश्नीय सूत्र का उक्त पाठ लिखकर समाधान कर रहे हैं—

"तए णं से सूरियाभे देवे समणे णं भगवया महावीरे णं एवं वुत्ते समाणे हट्ठ-तुट्ठ चित्तमाणंदिए परम सोमणस्से समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसंति एव वयासि तुब्भे णं भन्ते ! सव्वं जाणह, सव्वं पासह, सव्वं कालं जाणह, सव्वं कालं पासह, सव्वे भावे जाणह, सव्वे भावे पासह। जाणंति णं देवाणुप्पिया ! मम पुव्विं वा पच्छा वा ममेयं रूवं, दिव्वं देविड्ढिं, दिव्वं देव जुइं, दिव्वंदेवाणुभागं लद्धं-पत्तं अभिसम-ण्णागयं त्ति तं इच्छामि णं देवाणुप्पियाणं भत्तिपुव्वगं गोतमादियाणं समणाणं निग्गथाण दिव्वं देविड्ढिं, दिव्वं देवजुइं, दिव्वं देवाणुभागं, दिव्वबत्तीसति बद्धं नट्टविहिं उवदंसित्तए। तए णं समणे भगवं महावीरे सूर्याभेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे सूरियाभस्स देवस्स एवमट्ठं नो आढाति, नो परिजाणाइ तुसिणिए सोचिट्ठइ।"

—राजप्रश्नीय सूत्र, २२

"श्रमण भगवान महावीर से इस प्रकार सुनकर सूर्याभदेव हृष्ट-तुष्ट और आनन्दित होकर, भगवान को वन्दन-नमस्कार करके कहने लगा—हे भगवन्! आप सब कुछ, सब काल तथा सब भावों को जानते-देखते हैं, मुझे सदा-सर्वदा इस प्रकार की दिव्य ऋद्धि, देव द्युति और देव प्रभाव प्राप्त है, यह भी आप जानते-देखते हैं। अतः आपको भक्ति पूर्वक मैं गौतम आदि निर्ग्रन्थों को दिव्य देवऋद्धि, देव द्युति, देव प्रभाव, एवं बत्तीस प्रकार की नाट्य विधि दिखाना चाहता हूँ। यह सुनकर भगवान ने उसके कथन का आदर नहीं किया, अनुमोदन भी नहीं किया किन्तु मौन रहे।"

इस पाठ मे सूर्याभ ने भक्ति पूर्वक नाटक दिखाने की बात कही, परन्तु भक्ति को ही नाटक नही कहा है। यदि नाटक ही भक्ति होता, तो इस पाठ मे नाटक का "भत्तिपुव्वगं" के स्थान पर "भत्तिरूवं" ऐसा विशेषण आता। परन्तु यहाँ "भक्ति पूर्वक" यह विशेषण आया है। इससे स्पष्ट होता है कि नाटक अलग वस्तु है और भगवान की भक्ति उससे भिन्न है। वीतराग मे परमानुराग रखना उनकी भक्ति है। और वेश-भूषा एव भाषा के द्वारा किसी श्रेष्ठ पुरुष का अनुकरण करना नाटक है। नट नाटक के पूर्व विघ्न निवारणार्थ भगवान की भक्ति करता है। यदि नाटक स्वय भक्ति स्वरूप होता, तो उसे नाटक के पूर्व भगवान की भक्ति करने की क्या आवश्यकता है? राग आदि वासना के उदय से नाटक किया एव देखा जाता है, परन्तु वीतराग की भक्ति राग आदि वासना का क्षयोपशम होने से की जाती है। अतः भगवद्भक्ति एव नाटक दोनो एक नही, परस्पर भिन्न है। अत भगवान ने भक्ति करने की आज्ञा दी थी, परन्तु नाटक करने की नही। अस्तु नाटक को ही भक्ति बताना भारी भूल है।

उक्त पाठ की टीका मे लिखा है—नाटक स्वाध्याय का विघातक है और भगवान वीतराग थे, इसलिए उन्होने नाटक की आज्ञा नही दी। यदि नाटक ही भक्ति होता, तो टीकाकार स्पष्ट लिख देते—नाटक रूप भक्ति सावद्य है, इसलिए वीतराग ने आज्ञा नही दी।

तत· श्रमणो भगवान् सूर्याभेन एवमुक्तः सन् सूर्याभस्य देवस्यैनमनंतरोदितमर्थं नाद्रियते न तदर्थं करणायादरपरो भवति नापि परिजानाति अनुमन्यते स्वतो वीतरागत्वात् गौतमादीनां च नाट्य विधेः स्वाधयायादि विघात कारित्वात्। केवलं तुष्णीकोऽवतिष्ठते।"

—राजप्रश्नीय, २२ टीका

"सूर्याभ देव के ऐसा कहने पर भगवान महावीर ने उसके कथन का आदर एवं अनुमोदन नहीं किया। भगवान स्वयं वीतराग थे और नाटक गौतमादि मुनियों के स्वाध्याय का विघातक था। अतः वे इस विषय में मौन रहे।"

प्रस्तुत टीका मे नाटक की आज्ञा नही देने का कारण भगवान का वीतराग होना एव नाटक का गौतमादि के स्वाध्याय का विघातक होना बताया है। परन्तु उससे वीतराग भक्ति का सावद्य होना नही बताया है। अत नाटक को भक्ति मानकर, उसकी आज्ञा न देने से भक्ति को सावद्य कहना भारी भूल है। न तो मूल पाठ मे नाटक को भक्ति रूप कहा है और न टीकाकार ने ही भक्ति को सावद्य कहा है। अत उक्त पाठ का प्रमाण देकर वीतराग भक्ति को सावद्य कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

सेवा और प्रताड़न

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १७६ पर उत्तराध्ययन सूत्र, अ० १२ गाथा,३२ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ अठे हरिकेशी मुनि कह्यो—ए छात्रा ने हण्या ते यक्षे व्यावच कीधी छै, पर म्हारो दोष तीनु ही काल मे नथी। इहा व्यावच कही ते सावद्य छै, आज्ञा वाहर छै, अने हरिकेशी आदि मुनि ने अशनादिक दान रूप जे व्यावच ते निरवद्य छै। तिम अनुकम्पा पिण सावद्य-निरवद्य छै।"

यक्ष ने जो ब्राह्मण कुमार को मारा था,उसे मुनि की वैयावृत्य—सेवा-शुश्रूपा कहना मिथ्या है। क्योकि वैयावृत्य और मारना दोनो एक नही, भिन्न-भिन्न है। आगम मे मारने को वैयावृत्य नही कहा है।

"ईसिस्स वेयावडियट्ठयाए जक्खा कुमारे विणिवारयन्ति।"

—उत्तराध्ययन सूत्र १२, २४

"ऋषि की वैयावृत्य करने हेतु यक्ष ब्राह्मण कुमारो का निवारण करने लगा।"

प्रस्तुत पाठ मे वैयावृत्य के लिए ब्राह्मण कुमारो को मारना कहा है, न कि मारने को ही वैयावृत्य कहा है। जैसे भगवान महावीर को वन्दन करने के लिए जहाँ देवो ने वैक्रिय समुद्घात किया है, वहाँ 'वन्दनवत्तियाए' पाठ आया है, वैसे ही यहाँ "वेयावडियट्ठयाए" पाठ आया है। अत. जैसे भगवान को वन्दन करने के लिए देवो द्वारा कृत-वैक्रिय समुद्घात वन्दन स्वरूप नही है, किन्तु उससे भिन्न है। उसी तरह मुनि का वैयावृत्य करने हेतु यक्ष के द्वारा ब्राह्मणो को प्रताड़ित करना वैयावृत्य स्वरूप नही, किन्तु उससे भिन्न है।

इतना स्पष्ट होने पर भी यदि कोई दुराग्रह वश मारने को ही वैयावृत्य कहे, तो उन्हे भगवान के वन्दन के निमित्त देवो द्वारा कृत-वैक्रिय समुद्घात को भी वन्दन स्वरूप मानना पड़ेगा। और भगवान का वन्दन भी वैक्रिय समुद्घात स्वरूप होने से सावद्य मानना होगा। जब वैक्रिय समुद्घात वन्दन स्वरूप नहीं, किन्तु उससे भिन्न मानते हो, तब वैयावृत्य को भी मारने से भिन्न मानना होगा।

उत्तराध्ययन सूत्र मे मुनि ने भी ब्राह्मणो को मारने के कार्य को अपनी वैयावृत्य नहीं कहा है।

"पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च,
मनप्पदोसो न मे अत्थि कोइ।
जक्खा हु वेयावडियं करेंति,
तम्हा हु ए-ए निहया कुमारा॥"

—उत्तराध्ययन सूत्र १२, ३२

"हरिकेशी मुनि ने ब्राह्मणो से कहा—आपके प्रति मेरे मन में न कभी द्वेष था, न अब है और न भविष्य में होगा। यह यक्ष मेरी वैयावृत्य करता है, इसलिए ये लड़के मारे गए।"

यहाँ मुनि ने यह नही कहा कि यक्ष ने जो ब्राह्मण कुमारो को मारा है, वह मेरा वैयावृत्य है। इसलिए मारने को वैयावृत्य मानना भारी भूल है। यद्यपि यक्ष ने मुनि की सेवा करने के लिए ब्राह्मण कुमारो को प्रताडित किया, तथापि जैसे तीर्थंकर को वन्दन करने के लिए देवो द्वारा कृत-वैक्रिय समुद्घात वन्दन से भिन्न है,उसी तरह प्रताडन की क्रिया वैयावृत्य से भिन्न है। आज-कल भी श्रावक लोग मोटर-कार, रेल, हवाई जहाज आदि विभिन्न वाहनो में बैठकर मुनियो के दर्शनार्थ दूर-दूर जाते हैं, उनका आना-जाना दर्शनार्थ ही होता है, फिर भी जैसे आवागमन रूप क्रिया से मुनि-दर्शन भिन्न है, उसी तरह सेवा की भावना मारने से भिन्न है। और मुनि के दर्शन के समान मुनि का वैयावृत्य भी निरवद्य ही है, सावद्य नही।

यदि कोई यह कहे—"मुनि का वन्दन तो हम अपने लिए करते है, परन्तु वैयावृत्य अपने लिए नही, मुनि के लिए करते है, अत वन्दन और वैयावृत्य एक-से नही है।" यह कथन अनुचित है। क्योकि वैयावृत्य भी वन्दन के समान अपने लाभ के लिए किया जाता है। वैयावृत्य करने से जो निर्जरा होती है, वह वैयावृत्य करने वाले के कर्मो की ही होती है। अत वैयावृत्य को बारह प्रकार की निर्जरा मे सम्मिलित किया गया है। मुनि तो वैयावृत्य करने के लिए एक निमित्त मात्र है। अत. मुनि का वैयावृत्य भी वन्दन के समान निरवद्य है। और वह अपने लिए ही किया जाता है। अत. यक्ष के द्वारा प्रताडित ब्राह्मण कुमारो के प्रताडन को वैयावृत्य स्वरूप मानकर उसे सावद्य बताना एव उसका दृष्टान्त देकर अनुकम्पा को सावद्य कहना आगम से सर्वथा विपरीत है।

शीतल लेश्या

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १७७ पर लिखते हैं—

"वली केतला एक कहे—गोशाला ने भगवान वचायो, ते अनुकम्पा कही छै, ते माटे धर्म छै। तेहनो उत्तर—जो ए अनुकम्पा मे धर्म छै, तो अनुकम्पा तो घणे ठिकाणे कही छै" इत्यादि लिखकर बूढे पर कृष्णजी की और सुलसा पर हरिणगमेशी आदि की अनुकम्पा का दृष्टान्त देकर भगवान ने जो गोशालक पर अनुकम्पा की उसे सावद्य बताया है।

भगवान ने गोशालक पर अनुकम्पा करके उसके प्राण बचाये थे। इस अनुकम्पा को सावद्य कहना अनुकम्पा के प्रति विद्वेष भाव अभिव्यक्त करना है। प्रश्नव्याकरण के पाठ का प्रमाण पहले दे चुके है कि मरते हुए जीव पर दया करके उसकी प्राण-रक्षा करना आगम का प्रमुख उद्देश्य है। इसी भाव से भगवान ने गोशालक पर अनुकम्पा करके उसके प्राण बचाए थे।

यदि कोई यह कहे कि गोशालक को बचाने के लिए भगवान को शीतल लेश्या प्रकट करनी पडी और शीतल लेश्या प्रकट करने से जीवो की विराधना होती है। इसलिए भगवान द्वारा की गई अनुकम्पा निवरद्य नही, सावद्य है। उनका यह कथन असत्य है। क्योकि शीतल लेश्या से जीवो की विराधना नही, प्रत्युत रक्षा ही होती है। अत शीतल लेश्या का नाम लेकर अनुकम्पा को सावद्य कहना भारी भूल है। शीतल लेश्या से जीवो की विराधना नही होती, इस-पर आगे लब्धि प्रकरण मे विस्तार से विचार करेगे।

श्रीकृष्णजी ने वृद्ध पर जो अनुकम्पा की थी, वह भी सावद्य नही है। ईट उठाने की क्रिया अनुकम्पा से भिन्न हैं। इसलिए ईट उठाने की क्रिया सावद्य होने पर भी अनुकम्पा सावद्य नही हो सकती। इस विषय को एव हरिणगमेशी देव आदि की अनुकम्पा के विषय को पीछे के अध्यायो में स्पष्ट कर चुके हैं। अत. श्रीकृष्णजी आदि की अनुकम्पा के उदाहरण देकर भगवान महावीर द्वारा गोशालक पर की गई अनुकम्पा को सावद्य बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

अनुकम्पा और क्रिया

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १७८ पर लिखते है—

"ए कार्य नी मन में उपनी हियो कम्पायमान हुयो ते माटे ए अनुकम्पा पिण सावद्य छै। इहा अनुकम्पा अने कार्य सलग्न छै। जे कृष्णजी ईट उपाड़ी ते अनुकम्पा ने अर्थे 'अणुकम्पण-

ट्ठयाए" एहवूं पाठ कह्यो। ते अनुकम्पा ने अर्थे ईंट उपाडी मूकी इम, ते माटे ए कार्य थी अनुकम्पा संलग्न छै। ए कार्य रूप अनुकम्पा सावद्य छै। इम हरिणगमेषी देव तथा धारणी अनुकम्पा कीधी तिहाँ पिण "अणुकम्पणट्ठयाए" पाठ कह्यो। ते माटे अनुकम्पा पिण सावद्य छै। जिम भगवती श० ७, उ० २ कह्यो "जीवदव्वट्ठयाए सासए, भावट्ठयाए असासए"—जीव द्रव्यार्थ सासतो भावार्थे आसासतो कह्यो। ते द्रव्य-भाव जीव थी न्यारा नहीं। तिम कृष्णादि जे सावद्य कार्य किया ने नो अनुकम्पा अर्थे किया, ते माटे ए कार्य थी अनुकम्पा न्यारी न गिणवी।"

अनुकम्पा के निमित्त जो कार्य किया जाता है, वह कार्य यदि अनुकम्पा से भिन्न नहीं है, तो फिर भगवान महावीर एवं साधुओं के दर्शनार्थ जो कार्य किया जाता है, वह भी उनके दर्शन से भिन्न नहीं होना चाहिए। जैसे अनुकम्पा के निमित्त की जाने वाली क्रिया मे श्रमविध्वंसनकार अनुकम्पा को सावद्य कहते है, उसी तरह दर्शन के निमित्त की जाने वाली क्रिया के कारण दर्शन को भी सावद्य कहना चाहिए। जैसे कृष्णजी के द्वारा की गई अनुकम्पा के विषय मे 'अणुकम्पणट्ठयाए" पाठ आया है, उसी तरह कौणिक राजा ने भगवान महावीर के दर्शनार्थ चतुरंगिणी सेना सजाई थी, और अपने शहर का सस्कार कराया था, वहाँ भी, "निज्जाइस्सामि समणं भगवं महावीरं अभिवन्दए" पाठ आया है। यहाँ कौणिक ने भगवान महावीर के दर्शनार्थ सेना को सजाने और नगर का सस्कार करने की आज्ञा दी है। अत. वन्दन के निमित्त किए जाने वाले इस कार्य से वन्दन को सलग्न मानना होगा। और उक्त क्रिया से सलग्न होने के कारण वंदन को सावद्य भी मानना होगा। यदि वंदन के लिए किए जाने वाले कार्य से उसे सलग्न एव सावद्य नही मानते, तो अनुकम्पा के लिए किए जाने वाले कार्य से अनुकम्पा को भी उस कार्य से संलग्न एवं सावद्य नही मानना चाहिए।

वस्तुत. जैसे भगवान को वन्दन करने के लिए किए जाने वाले कार्य वन्दन से भिन्न हैं और भिन्न होने के कारण वे सावद्य एवं आज्ञा बाहर होने पर भी उनसे वन्दन सावद्य एव आज्ञा बाहर नहीं होता। उसी तरह अनुकम्पा के लिए भी की जाने वाली क्रिया अनुकम्पा से भिन्न है। अत. भिन्न होने के कारण वह क्रिया सावद्य एव आज्ञा बाहर होने पर भी उससे अनुकम्पा सावद्य एवं आज्ञा बाहर नहीं हो सकती। भगवान महावीर को वन्दन करने के लिए कौणिक ने चतुरंगिणी सेना सजाई थी और अपने नगर को सस्कारित कराया था।

"तए णं से कुणिए राया भंभसार पुत्ते वलवाउअं आमंतेइ-आमं [तेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! अभिसेक्कं हत्थिरयणं परिकप्पेहि हय, गय, रह, पवर जोह, कलिअं च चाउरंगिणी सेण्णं सन्नाहीहि। सुभद्दा पमुहाणय देवीण वाहिरियाउ उवट्ठाण सालाए पाडिएक्क-पाडिएक्काइं जत्ताभिमुहाइं जुत्ताइं जाणाइं उवट्ठवेह। चम्पं नयरी सब्भिंतर वाहिरियं आसित्त सित्त सुइ समट्ठ रथंतरावण वीहियं मंचाइ मंच कलियं नानाविहराग उच्छिय झय पडागाइ पडागमंडियं लाउल्लोइयमहियं गोसीस सरस रत्तचंदन जाव गंधवट्टिभूयं करेह-

कारवेह, करित्ता-कारवेत्ता ए असाणात्तियं पचपिण्णाहि, निज्जाइस्सामि समण भगवं महावीरं अभिवन्दए।"

—उववाई सूत्र, ३०

"इसके अनन्तर बिम्बसार के पुत्र कौणिक राजा ने अपने सेनापति को बुलाकर कहा—हे देवानुप्रिय! मेरे प्रधान हस्ती रत्न को शीघ्र तैयार करो और हाथी, घोड़े, रथ, तथा योद्धाओं से युक्त चतुरंगिणी सेना सजाओ। सुभद्रा आदि रानियो के जाने के लिए प्रत्येक के निमित्त अलग-अलग रथ तैयार करो। झाड़ू से कूड़ा-करकट साफ करवाकर सिंचन-लेपन आदि से चम्पा नगरी के बाजार, सड़क एवं गलियो का संस्कार कराओ। सेना की यात्रा को देखने हेतु आनेवाले दर्शको के बैठने के लिए मंच आदि बंधा दो। नगर को कृष्णागुरु धूप आदि से सुगन्धित करो। मेरी इस आज्ञा का शीघ्र पालन कराकर मुझे सूचना दो। मैं श्रमण भगवान महावीर को वन्दन करने के लिए जाऊंगा।"

प्रस्तुत पाठ मे कौणिक ने भगवान के दर्शनार्थ सेना को सजाया एव नगर को साफ तथा सुवासित करवाया।

सूर्याभदेव ने भी भगवान महावीर को वन्दन करने के लिए जाते समय सुघोप नामक घण्टा बजाकर देवो को सूचित किया था।

"सूरियाभे देवे गच्छइ णं भो सूरियाभे देवे! जम्बूदीवं २ भारहवास आमलकप्प नयरी अम्बासालवणं चेइयं समण भगव महावीरं अभिवन्दए। त तुब्भेऽपि ण देवाणुप्पिया! सव्विड्ढिए अकाल परिहीणा चेव सूरियाभस्स अतिय पाउब्भवइ।"

—राजप्रश्नीय सूत्र, २२

"सूर्याभ देव ने भगवान महावीर को वन्दन करने के लिए जाते समय सुघोष नामक घन्टा बजाकर अपने विमानवासी देवों को सूचित किया—हे देवानुप्रिय! सूर्याभदेव जम्बूद्वीप में स्थित भारतवर्ष में भगवान महावीर को वन्दन करने हेतु आम्रकल्पा नगरी के आम्रशाल वन में जा रहा है। अत आप भी अपनी सम्पूर्ण ऋद्धि से युक्त होकर शीघ्र ही सूर्याभदेव के समीप आ जाएँ।"

यहाँ सूर्याभ देव के हृदय मे जब भगवान के दर्शन की भावना उत्पन्न हुई, तब उसने सुघोप नामक घन्टा बजाकर अपने विमान मे स्थित सब देवो को इसकी सूचना दी। साधु घन्टा बजाने की आज्ञा नही देते, इसलिए यह कार्य आज्ञा बाहर है और भ्रमविध्वसनकार के मतानुसार वन्दन के कार्य के साथ सलग्न है। क्योकि जैसे अनुकम्पा के भाव आने से अनुकम्पा का कार्य किया जाता है, उसी तरह वन्दन के भाव आने पर वन्दन को जाने के लिए सुघोप घन्टा बजाकर अन्य देवो को सूचित किया। यदि कार्य करने मात्र से अनुकम्पा सावद्य है, तो फिर इस कार्य से बन्दन भी सावद्य होना चाहिए। यदि वन्दन घन्टा बजाने के कार्य से भिन्न होने मे सावद्य नही है तो इसी प्रकार अनुकम्पा भी उसके लिए की जाने वाली क्रिया से भिन्न होने के कारण सावद्य नही है।

सूर्याभदेव की आज्ञा प्राप्त कर जब देव भगवान के दर्शनार्थ गए, उस समय का वर्णन आगम मे इस प्रकार मिलता है—

"एयमट्ठं सोच्चा-णिसम्म हट्ठ-तुट्ठ जाव हियया अप्पेगइया वन्दन-वत्तियाए, अप्पेगइया पूयणवत्तियाए, अप्पेगइया सक्कारवत्तियाए, अप्पेगइया असुयाइं सुणिस्सामो, सुयाइं अट्ठाइं, हेउइ पासिणाइं कारणाइं वागरणाइं पुच्छिस्सामो, अप्पेगइया सूरियाभस्स वयणमणुवत्तमाणा, अप्पेगइया अन्न-मन्न मणुयतमाणा, अप्पेगइया जिणभत्तिरागेणं, अप्पे-गइया धम्मोत्ति, अप्पेगइया जियमेयंत्ति कट्टु सव्विड्ढिए जाव अकाल परिहीणा चेव सूरियाभस्स देवस्स अन्तियं पाउब्भवंति।"

—राजप्रश्नीय सूत्र, १२

"यह सुनकर हृष्ट-तुष्ट हृदयवाले देवगण—कोई भगवान को वन्दन करने, कोई उनकी पूजा करने, कोई सत्कार-सम्मान करने, कोई कौतूहल देखने, कोई अश्रुत उपदेश सुनने और श्रुत विषय में रहे हुए संदिग्ध अर्थ को पूछने, कोई सूर्याभ या अपने मित्र की आज्ञा का पालन करने तथा कोई भगवद्-भक्ति के अनुराग से, कोई धर्म समझकर एवं कोई अपना जीत आचार है ऐसा जानकर भगवान का दर्शन करने हेतु सम्पूर्ण ऋद्धि से युक्त होकर सूर्याभ देव के निकट उपस्थित हुए।"

इस पाठ में बताया है कि देव देवऋद्धि से सम्पन्न होकर भगवान के दर्शनार्थ जाने के लिए सूर्याभ देव के पास आए। अस्तु देवों के मन में जब भगवान को वन्दन-नमस्कार करने, उनका सत्कार-सम्मान एवं सेवा-शुश्रूषा करने के भाव उत्पन्न हुए तब वे सूर्याभ के पास एकत्रित हुए। अत: भ्रमविध्वंसनकार के मत से भगवान का वन्दन भी सावद्य सिद्ध होगा। क्योंकि साधु किसी को कहीं आने-जाने की आज्ञा नहीं देते। यदि वन्दन आवागमन की क्रिया से भिन्न है, इसलिए क्रिया के सावद्य होने पर भी वन्दन सावद्य नहीं होता, तो अनुकम्पा के भाव भी क्रिया से भिन्न होने के कारण सावद्य नहीं हो सकते।

भ्रमविध्वंसनकार का यह कथन भी सत्य नहीं है—"जिस कार्य की मुनि आज्ञा नहीं देते वह एकान्त पाप का कार्य है।" क्योंकि मुनि किसी गृहस्थ को साधु के दर्शनार्थ जाने की आज्ञा नहीं देते, तथापि साधु का दर्शन करने के लिए जाना एकान्त पाप का कार्य नहीं है। इस विषय में भगवती एवं राजप्रश्नीय सूत्र में लिखा है—

"तहारूवाणं अरिहंताणं भगवंताणं नाम गोयस्स वि सवणयाए महाफलं। किमंग पुण अभिगमण वन्दण-नमंसण परिपुच्छण पज्जुवास-णाए!"

"तथा रूप के अरिहन्त भगवन्त के नाम गोत्र का श्रवण करने से भी महाफल होता है। तब फिर उनके सम्मुख जाकर वन्दन-नमस्कार करने, कुशल प्रश्न पूछने एवं सेवा-शुश्रूषा करने से तो कहना ही क्या! उससे तो अवश्य ही महाफल का लाभ होता है।"

साधु किसी व्यक्ति को अरिहन्तों के सम्मुख जाने की आज्ञा नहीं देते, तब भी आगम में अरिहंतों के सम्मुख जाने से महान् फल की प्राप्ति होना कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिस कार्य के लिए साधु आज्ञा प्रदान नहीं करते, उसमें एकान्त पाप ही होता है, यह नियम नहीं है। अत: आज्ञा बाहर के सब कार्यों को एकान्त पाप कहना तथा इसके आधार पर अनु-कम्पा करने में एकान्त पाप की प्ररूपणा करना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

लब्धि-अधिकार

शीतल-लेश्या और तेज-समुद्घात

पाँच क्रियाएँ

गोशालक द्वारा तेजोलेश्या का प्रयोग

तेजोलेश्या के पुद्गल अचित हैं

शीतल लेश्या और तेज समुद्घात

अनविध्वंसनकार कहते हैं—"भगवान महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में शीतल लेश्या को प्रकट करके गोशालक की प्राणरक्षा की थी, इसमे भगवान को जघन्य तीन और उत्कृष्ट पाँच क्रियाएँ लगी थी। क्योकि पन्नवणा, पद ३६ मे तेज समुद्घात करने से जघन्य तीन एव उत्कृष्ट पाँच क्रियाओ का लगना लिखा है। शीतल लेश्या भी तेजोलेश्या ही है अत. उसमें भी तेज समुद्घात होता है। इसलिए भगवान ने शीतल लेश्या प्रकट करके, जो गोशालक की रक्षा की उसमे उन्हे जघन्य तीन एव उत्कृष्ट पाँच क्रियाएँ लगी।"

आगम में तेज समुद्घात करने से जघन्य तीन एव उत्कृष्ट पांच क्रियाएँ लगने का कहा है। परन्तु उष्ण-तेजो लेश्या प्रकट करने मे तेज समुद्घात होता हैं, शीतल लेश्या के प्रकट करने में नही। भगवती सूत्र में उष्ण-तेजो लेश्या के प्रकट करने मे तेज समुद्घात बताया है, शीतल लेश्या मे नही।

"तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते वेसियायणं बालतवस्सि पासइ-पासइत्ता ममं अंतियाओ 'तुसिणियं-तुसिणियं पच्चोसक्कसि जेणेव वेसियायणे बालतवस्सी तेणेव उवागच्छइ-उवागच्छइत्ता, वेसियायणं बालतवस्सि एवं वयासी—किं भवं मुणी-मुणिए उदाहु जूयासेज्जायर ?

तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स एयमट्ठं नो आढाइ, नो परिजाणइ, तुसिणीए संचिट्ठइ।

तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते वेसियायणं बालतवस्सि दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी किं भवं मुणी-मुणिए जाव सेज्जायरए ?

तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे आसुरत्ते जाव मिस-मिसे माणे आयावण भूमिओ पच्चोसक्कइ २ त्ता तेयासमुग्घाएणं संमोहणइ-संमोहणइत्ता

सत्तट्ठ पयाइं पच्चोसक्कइ-पच्चोसक्कइत्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स वहाए सरीरगं तेय लेस्सं निस्सरई। तए णं अहं गोयमा! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अणुकम्पणट्ठयाए वेसियायणस्स बालतवसिस्ससा उसिण तेयलेस्सा पडिसाहरणट्ठयाए एत्थ णं अंतरा सीयलीयं तेयलेस्सं निस्सरामि। जाए सा ममं सियलियाए तेय लेस्साए वेसियायणस्स बालतवसिस्स सा उसिण तेय लेस्सा पडिहया।"

भगवती सूत्र १५, १, ५४३

"इसके अनन्तर गोशालक मंखलिपुत्र ने वैश्यायन बाल तपस्वी को देखा और धीरे-धीरे मेरे पास से हट कर उसके पास गया। वहाँ जाकर गोशालक ने उस तपस्वी से कहा— "तुम मुनि हो या जूं आदि जीवों के शय्यान्तर हो? यह सुनकर उस तपस्वी ने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया, किन्तु मौन रहा। परन्तु गोशालक ने इस वाक्य को दो-तीन बार दुहराया। यह सुनकर क्रोध के वश मिस-मिस करते हुए उस तपस्वी ने आतापना भूमि से पीछे हटकर तेज समुद्घात किया और तेज समुद्घात कर के सात-आठ पैर पीछे हटकर गोशालक का वध करने के लिए अपने शरीर से सम्बन्धित तेज को गोशालक पर फेंका।

हे गौतम! उस समय गोशालक को अनुकम्पा करने के लिए मैंने उसकी ओर आती हुई उष्ण-तेजो लेश्या के निवारणार्थ शीतल लेश्या छोड़ी। मेरी शीतल लेश्या से वैश्यायन बाल तपस्वी की उष्ण-तेजो लेश्या प्रतिहत हो गई।"

प्रस्तुत पाठ में उष्ण-तेजो लेश्या के वर्णन मे तेज-समुद्घात करने का उल्लेख है, परन्तु शीतल लेश्या का प्रयोग करने मे नही। अत शीतल लेश्या का प्रयोग करने मे तेज समुद्घात होने की कल्पना करना आगम विरुद्ध है। जब शीतल लेश्या का प्रयोग करने में तेज समुद्घात ही नही होता, तब उसमें जघन्य तीन एव उत्कृष्ट पाँच क्रियाएँ कैसे लग सकती हैं?

तेज समुद्घात

"तेज समुद्घात" का सप्रमाण अर्थ बताएँ, जिससे यह स्पष्ट हो जाए कि शीतल लेश्या का प्रयोग करने मे तेज समुद्घात क्यो नही होता?

प्राचीन आचार्यों ने तेज समुद्घात का अर्थ इस प्रकार किया है—

"तेजो निसर्ग लब्धिमान् क्रुद्धः साध्वादि सप्ताष्टौपदानि अवष्वक्य विष्कंभ वाहल्याभ्यां शरीरमानमायामतस्तु संख्येय योजन प्रमाणं जीवप्रदेशदण्डं शरीराद्वहिः प्रक्षिप्य क्रोधविषयीकृतं मनुष्यादिं निर्दहति, तत्र च प्रभूतास्तैजस शरीरनाम कर्म पुद्गलान् शातयति।"

प्रवचन सारोद्धार, द्वार २३१

"तेजो लब्धिधारी साधु आदि क्रोधित होकर सात-आठ पैर पीछे हटकर अपने शरीर

के समान स्थूल और विस्तृत तथा संख्यात योजन पर्यन्त लम्बायमान जीव प्रदेश दण्ड को बाहर निकाल कर, क्रोध विषयीभूत मनुष्य आदि को जला देता है। इसमें बहुत से तैजस शरीर नामक पुद्गल अलग हो जाते हैं, इसलिए इसे तेज समुद्घात कहते हैं।"

इसमे तेजोलब्धिधारी साधु क्रोधित होकर किसी को जलाने के लिए जो उष्ण-तेजो लेश्या का प्रक्षेप करता है, उसमें तेज समुद्घात का होना कहा है। परन्तु किसी मरते हुए प्राणी के प्राणो की रक्षा करने के लिए जो शीतल लेश्या छोडी जाती है, उसमें तेज समुद्घात का होना नही कहा है। अस्तु भगवान-महावीर ने गोशालक की प्राणरक्षा करने हेतु, जो शीतल लेश्या छोडी थी उसमें तेज समुद्घात का नाम लेकर जघन्य तीन एव उत्कृष्ट पाँच क्रियाएँ लगने की बात कहना आगम से सर्वथा विपरीत है।

पाँच क्रियाएँ

उष्ण-तेजो लेश्या के प्रकट करने में जो क्रियाएँ लगती हैं, उनके नाम एवं अर्थ बताएँ?

उष्ण-तेजो लेश्या का प्रयोग करने में उत्कृष्ट पाँच क्रियाएँ लगती हैं—१. कायिकी, २. आधिकरणिकी, ३ प्राद्वेषिकी, ४. पारितापनिकी, और ५ प्राणातिपातिकी। उक्त पाँचों क्रियाएँ हिंसा के साथ सम्बन्ध होने से लगती हैं, रक्षा-करने वाले को नहीं। स्थानाग सूत्र में इनका इस प्रकार उल्लेख किया है—

"काइया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—अनुवरयकाय किरिया चेव, दुप्पउत्तकाय किरिया चेव। आहिकरणिया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-संजोयणाधिकरणिया चेव, निवत्तनाधिकरणिया चेव। पाउसिया किरिया दुविहा पण्णत्ता तं जहा—जीव-पाउसिया चेव, अजीवपाउसिया चेव। पारियावणिया किरिया दुविहा पण्णत्ता तं जहा—सहत्थ पारियावणिया चेव, परहत्थ पारियावणिया चेव। पाणाइवाय किरिया दुविहा पण्णत्ता तं जहा—सहत्थ पाणाइवाय किरिया चेव परहत्थ पाणाइवाय किरिया चेव।"

—स्थानांग सूत्र, स्थान २, ६०

"जो क्रिया शरीर से की जाती है, वह कायिकी क्रिया है। वह दो तरह की है—१. अनुपरत काय क्रिया और २ दुष्प्रयुक्त काय क्रिया। जो क्रिया सावद्य कार्य से अनिवृत्त मिथ्यादृष्टि एवं अविरत सम्यग्दृष्टि पुरुष के शरीर से उत्पन्न होकर कर्म बन्ध का कारण बनती है, वह 'अनुपरत काय क्रिया' कहलाती है। और प्रमत्त संयत पुरुष अपने शरीर से इन्द्रियों को इष्ट या अनिष्ट लगने वाली वस्तु की प्राप्ति और परिहार के लिए आर्त्त-ध्यान वश जो क्रिया करता है, वह 'दुष्प्रयुक्त काय क्रिया' कहलाती है। अथवा मोक्ष-मार्ग के प्रति दुर्व्यवस्थित संयत पुरुष अशुभ मानसिक संकल्प पूर्वक शरीर से जो क्रिया करता है, वह भी 'दुष्प्रयुक्त काय क्रिया' कहलाती है।

आधिकरणिकी क्रिया दो तरह की है—१. संयोजन आधिकरणिकी और २. निर्वर्त्तन आधिकरणिकी। तलवार में उसकी मूठ को जोड़ने की क्रिया को 'संयोजन आधिकरणिकी' और तलवार एवं उसकी मूठ बनाने को क्रिया को 'निर्वर्त्तन अधिकरणिकी क्रिया' कहते हैं।

जो क्रिया किसी पर द्वेष करके की जाती है, वह 'प्राद्वेषिकी क्रिया' है। वह भी दो प्रकार की है—१ जीव प्राद्वेषिकी और २. अजीव प्राद्वेषिकी। किसी जीव पर द्वेष करके जो क्रिया की जाती है उसे 'जीव-प्राद्वेषिकी' और जो अजीव पर द्वेष करके की जाती है, उसे 'अजीव-प्राद्वेषिकी' क्रिया कहते हैं।

किसी व्यक्ति को प्रताड़न आदि के द्वारा परिताप देना 'पारितापनिकी' क्रिया है। वह भी दो प्रकार की है—१ स्वहस्त पारितापनिकी और २ परहस्त पारितापनिकी। अपने हाथ से किसी को परिताप देना या दूसरे के हाथ से किसी को परिताप दिलाना क्रमशः स्वहस्त और परहस्त पारितापनिकी क्रिया कहलाती है।

किसी जीव को घात करना 'प्राणातिपातिकी क्रिया' है। वह भी दो प्रकार की है—१. स्वहस्त प्राणातिपातिकी और २. परहस्त प्राणातिपातिकी। अपने हाथ से जीवों का वध करना और दूसरे के हाथ से जीवों की घात कराना क्रमशः स्वहस्त और परहस्त प्राणातिपातिकी क्रिया कहलाती है।"

इसमें कायिकी आदि पाँचो क्रियाओ का जो स्वरूप बताया है, इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि किसी मरते हुए जीव की रक्षा करने के लिए, जो शीतल लेश्या का प्रयोग किया जाता है, उसमें इनमे से एक भी क्रिया नही लगती, किन्तु उष्णतेजो-लेश्या के प्रयोग मे ये क्रियाएँ लगती है। किसी जीव की घात करना प्राणातिपातिकी क्रिया है, मरते हुए जीवो की रक्षा करने मे यह क्रिया कैसे लग सकती है ? क्योकि जीवो की रक्षा करना उनकी घात करना नही है। इसी तरह जो व्यक्ति किसी को प्रताडित नही करता, किसी पर द्वेष नही करता, तलवार आदि घातक शस्त्रो को तैयार नही करता और अपने शरीर का दुष्प्रयोग न करके उन्हे शान्ति देने के लिए हिंसक हथियारो या काय के दुष्प्रयोग से मरते हुए प्राणी के प्राणो की रक्षा के लिए अपने शरीर का सदुपयोग करता है, उसे ये क्रियाएँ कैसे लग सकती है ? अत. भगवान ने शीतल लेश्या का प्रयोग कर के जो गोशालक की रक्षा की उसमें भगवान को क्रिया लगी, ऐसा कहना नितान्त असत्य है।

उक्त क्रियाओ के सम्बन्ध में स्वय भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १८१ पर लिखते हैं—

"अथ अठे वैक्रिय समुद्घात करी पुद्गल काढे। ते पुद्गलां सू जेतला क्षेत्र में प्राण भूत, जीव, सत्व नी घात हुवे ते जाव शब्द में भोलाया छै। ते पुद्गला थी विराधना हुवे तिण सूं उत्कृष्टी पाँच क्रिया कही छे। इम वैक्रिय लब्धी फोड़िया पाँच क्रिया लागती कही। हिवे तेजू लेश्या फोडे ते पाठ लिखिये छै।" इसके आगे लिखते है—"अथ इहा वैक्रिय समुद्घात करता पाँच क्रिया कही, तिम हिज तेजू समुद्घात करता पाँच क्रिया जाणवी।"

यहाँ भ्रमविध्वसनकार ने भी जीव विराधना होने के कारण उत्कृष्ट पाँच क्रिया लगना स्वीकार किया है। परन्तु भगवान ने गोशालक की प्राणरक्षा करने के लिए जो शीतल लेश्या का प्रयोग किया, उसमें कौन-सी जीव विराधना हुई, जिससे भगवान को पाँच

क्रियाएँ लगेंगी ? शीतल लेश्या से किसी भी जीव की विराधना नहीं होती। उससे जीवो को सुख-शान्ति मिलती है। अतः इससे पाँच क्रियाओ के लगने की बात कहना अनुचित है।

पन्नवणा पद ३२ में तेज समुद्घात करने से जघन्य तीन एवं उत्कृष्ट पाँच क्रियाओ का लगना कहा है। हम यह पहले बता चुके है कि तेज समुद्घात उष्ण-तेजो लेश्या का प्रयोग करने मे होता है, शीतल लेश्या का प्रयोग करने मे नही। अस्तु शीतल लेश्या का प्रयोग करने मे उक्त क्रियाएँ नही लगती।

शीतल-लेश्या

शीतल लेश्या किसे कहते है ? सप्रमाण बताएँ ?

पूर्वाचार्यों ने शीतल लेश्या का इस प्रकार अर्थ किया है—

"अगण्यकारुण्यवशादनुग्राह्यं प्रति तेजोलेश्या-प्रशमन-प्रत्यल-शीतलतेजोविशेषविमोचनसामर्थ्यं।"

प्रवचन सारोद्धार, द्वार २७०

"अतिशय दयालुता के कारण, दया करने योग्य पुरुष के प्रति तेजो-लेश्या को शान्त करने में समर्थ शीतल तेज विशेष छोड़ने की शक्ति का नाम 'शीतल लेश्या' है।"

इससे स्पष्ट परिज्ञात हो जाता है कि उष्ण-तेजो लेश्या जलाने का काम करती है, वहाँ शीतल लेश्या शान्ति का कार्य करती है। उष्ण-तेजो लेश्या का प्रयोग जीवो का वध करने के लिए किया जाता है और शीतल लेश्या का प्रयोग जीवो की रक्षा करने हेतु। उक्त उभय लेश्याएँ धूप-छाया की तरह परस्पर विरुद्ध गुणवाली है। इसलिए दोनो के प्रयोग में एक समान क्रियाएँ नही लग सकती। क्योंकि उष्ण-तेजो लेश्या के प्रयोग मे जीवो की विराधना होती है, इसलिए इसका प्रयोग करने मे उत्कृष्ट पाँच क्रियाएँ लगती है। परन्तु शीतल लेश्या के प्रयोग से किसी भी जीव की विराधना नही होती, प्रत्युत जीवो की रक्षा होती है, इसलिए जीव विराधना से लगने वाली पाँचो क्रियाएँ शीतल लेश्या के प्रयोग मे नही लगती। अस्तु गोशालक को बचाने के लिए शीतल लेश्या का प्रयोग करने से भगवान को पाँच क्रियाएँ लगने की प्ररूपणा करना पूर्णतः गलत है।

गोशालक द्वारा तेजो लेश्या का प्रयोग

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १८९ पर लिखते है—"अने० जो लब्धि फोड़ी गोशाला ने बचाया धर्म हुए तो केवल ज्ञान उपना पछै गोशाले दोय साधा ने बाल्या त्या ने क्यूं न बचाया ? जो गोशाला ने बचायां धर्म छै, तो दोय साधा ने बचायां घणो धर्म हुवे। तिवारे कोई कहे भगवान केवली था, सो दोय साधा रो आयुषो आयो जाण्यो तिण सूं न बचाया। इन कहे तेह नो उत्तर—जो भगवान केवल ज्ञानी आयुषो आयो जाण्यो तिणसूं न बचाया, तो गौतमादिक छद्मस्थ साधु लब्धीधारी घणाइ हुन्ता त्यांने आयुषो आयारी खबर नही, त्या साधा ने लब्धि फोडी ने क्यू न बचाया ?

सर्वज्ञ होने के बाद भगवान ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति इन दोनो मुनियो को नहीं बचाया, इसलिए मरते हुए प्राणी की प्राण-रक्षा करने में पाप बताना गलत है। आगम और उसकी टीका में कही भी ऐसा उल्लेख नही मिलता कि भगवान ने जीवरक्षा करने में पाप समझकर उक्त उभय मुनियो को नही बचाया। इस विषय में टीकाकार ने स्पष्ट लिखा है—गोशालक के द्वारा सुनक्षत्र और सर्वानुभूति मुनियो का मरना अवश्यम्भावी था, वह अवश्य होनहार था, इसलिए भगवान ने उनकी रक्षा नही की.—

"अवश्यम्भावी भावात्वाद्वेत्यवसेयम्।"

यदि रक्षा करने में पाप होता, तो यहाँ टीकाकार स्पष्ट लिखते कि भगवान ने जीवरक्षा में पाप होने के कारण उक्त उभय मुनियो को नही बचाया। परन्तु टीकाकार ने ऐसा नही लिखकर, उनके नही बचाने का कारण अवश्य होनहार बताया है। अत. उक्त मुनियो का उदाहरण देकर गोशालक की प्राण-रक्षा करने में भगवान को पाप लगने की प्ररूपणा करना मिथ्या है।

भ्रमविध्वसनकार मरते हुए जीव को बचाने में पाप कहते है, परन्तु साधु को विहार कराने में तो पाप नही मानते। अत गोशालक के आगमन के समय भगवान महावीर ने उक्त उभय मुनियो को विहार क्यो नही कराया ? क्योकि सर्वज्ञ होने के कारण वे

यह जानते थे कि गोशालक दोनों मुनियों को तेजो लेश्या से भस्म करेगा। ऐसा ज्ञान होने पर भी भगवान ने उन्हें वहाँ से विहार नहीं कराया। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उभय मुनियों की गोशालक की क्रोध-अग्नि से जलकर मृत्यु होना अवश्यंभावी भाव था। अस्तु इसी कारण भगवान ने उन्हें बचाने का प्रयत्न नही किया। परन्तु रक्षा करने में पाप होता है, यह जानकर नही।

आगम मे तीर्थंकरो के अतिशय के वर्णन में कहा है—"तीर्थंकर मे ऐसा अतिशय होता है, जिससे उनके निवास स्थान से पन्द्रह-योजन तक किसी प्रकार का उपद्रव नही होता। सभी प्राणी पारस्परिक वैर-विरोध का त्याग करके मित्रवत् रहते है। भगवान का इतना विशिष्ट अतिशय होते हुए भी गोशालक ने उनके समक्ष ही उनके दो शिष्यो को जलाकर भस्म कर दिया, यह होनहार का ही प्रभाव था, अन्यथा उनके अतिशय से ही यह घटना नही घटती। परन्तु जिस समय जिस प्रकार से मृत्यु होना है, उसे भगवान भी नही रोक सकते। अत सुनक्षत्र एवं सर्वानुभूति मुनिवरो को नही बचाने का उदाहरण देकर जीव-रक्षा मे पाप बताना प्रश्नव्याकरण आदि आगमों से विरुद्ध समझना चाहिए।

भ्रमविध्वंसनकार कहते है—"यद्यपि केवलज्ञानी होने के कारण भगवान सुनक्षत्र और सर्वानुभूति का आयु पूर्ण होना जानते थे, तथापि गौतमादि छद्मस्थ मुनियो को इसका ज्ञान नही था। यदि रक्षा करने में धर्म था, तो उन्होने उनकी रक्षा क्यो नही की? इससे यह स्पष्ट होता है कि जीव-रक्षा करने में धर्म नही है।" परन्तु भ्रमविध्वंसनकार का यह कथन सत्य नही है। क्योकि चवदह पूर्वधर साधु छद्मस्थ होने पर भी उपयोग लगाकर आयु पूर्ण होना जान सकते हैं। धर्मघोष मुनि ने छद्मस्थ होने पर भी उपयोग लगाकर धर्मरुचि मुनि का सम्पूर्ण वृत्तान्त जान लिया और उनकी आत्मा को सर्वार्थसिद्ध-विमान में देखा। अतः गौतमादि मुनि सुनक्षत्र और सर्वानुभूति के आयुष्य का पूर्ण होना नही जानते थे, यह कहना सत्य नही है।

दो मुनियों की मृत्यु

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १९० पर भगवती सूत्र की टीका लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते है— "अथ टीका मे पिण इम कह्यो-ते गोशालानो रक्षण भगवन्ते कियो ते सराग पणे करी अने सर्वानुभूति-सुनक्षत्र मुनि नो रक्षण न करस्ये ते वीतराग पणे करी। ए गोशाले ने बचायो ते सराग पणो कह्यो, पिण धर्म न कह्यो। ए सरागपणा ना अशुद्ध कार्य मे धर्म किम होय?"

भ्रमविध्वंसनकार का यह कथन नितान्त असत्य है कि सराग पणे के कार्य में धर्म नहीं होता। अपने धर्म, धर्माचार्य एवं दया आदि उत्तम गुणो मे राग-अनुराग रखना, सरागता का कार्य है। आगम में उक्त कार्य करने मे पाप नही कहा है, प्रत्युत इनकी प्रशंसा की है। इनकी प्रशसा मे आगम में निम्न वाक्यो का प्रयोग किया है—

"धम्मायरिया पेमाणुरागरत्ता।" "अट्ठिमिज्जा पेमाणुरागरत्ता।" "तीव्व धम्माणुरागरत्ता।"

"अपने धर्माचार्य में प्रेमानुराग से अनुरक्त। हड्डी और मज्जाओ में प्रेम और अनुराग से अनुरंजित। धर्म के तीव्र अनुराग में अनुरक्त।"

आगम में धर्म आदि पर अनुराग रखनेवालो की प्रशसा मे ये शब्द आये है। धर्माचार्य मे प्रेमानुराग रखना, धर्म मे तीव्र अनुराग रखना, आचार्य एव धर्म के प्रति हड्डी तथा मज्जा का प्रेमानुराग से अनुरजित होना, ये सब सरागता के कार्य है। इसलिए भ्रमविध्वसनकार के मत से इन सब कार्यो मे पाप होना चाहिए। परन्तु आगम में उक्त कार्यो को पाप रूप नही कहा है, प्रत्युत उनमे धर्म जानकर उनकी मुक्त कण्ठ से प्रशसा की है। अत सरागता के सभी कार्यो मे पाप बताना अनुचित है। वस्तुत. हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि पाप कार्यो मे राग रखना बुरा है, पाप का कारण है। परन्तु धर्म, धर्माचार्य, अहिंसा, सत्य, तप, सयम एव जीव-रक्षा आदि मे अनुराग रखने मे पाप नही, धर्म है।

भ्रमविध्वसनकार ने भी भिक्खू-जस रसायन ग्रन्थ मे लिखा है—

"छडे चित्त भेला रह्या बरषद् सन्त वदीत हो।
जाव-जीव लगि जाणियो, परम माहो-मांही प्रीति हो॥"

प्रस्तुत पद्य मे भ्रमविध्वसनकार ने लिखा है—"छ. साधुओ का जन्म भर आचार्य श्री भीषणजी पर परम प्रेम था।" क्या यह सरागता का कार्य नही है? यदि है, तो फिर भ्रमविध्वसनकार एव उनके अनुयायी इसे पाप क्यो नही मानते? यदि अपने धर्माचार्य और धर्म पर अनुराग रखना सरागता का कार्य होने पर भी पाप कार्य नही है, तब जीव दया मे अनुराग रखना पाप कार्य कैसे हो सकता है? भगवती सूत्र की टीका मे भगवान के द्वारा की गई गोशालक की रक्षा मे पाप नही कहा है।

"इह च यद् गोशालकस्यसंरक्षण भगवता कृतं तत्सरागत्वेन दयैकरसत्वाद्भगवत.। यच्च सुनक्षत्र-सर्वानुभूति मुनि पुगवयोर्न करिष्यति तद्वीतरागत्वेन लब्ध्यनुपजीवकत्वादवश्यं भाविभावत्वाद्वेत्यवसेयम्।"

"यहाँ भगवान ने जो गोशालक की रक्षा की थी, उसका कारण यह है कि सराग संयमी होने के कारण भगवान दया के अत्यधिक प्रेमी थे। सुनक्षत्र और सर्वानुभूति मुनि पुंगवो की रक्षा नहीं करेंगे इसका कारण वीतराग होने से लब्धि का प्रयोग नहीं करना और गोशालक के द्वारा उनके मरण का अवश्य होनहार होना समझना चाहिए।"

भ्रमविध्वंसनकार ने इसी टीका का नाम लेकर जीव-रक्षा में पाप होना बताया है। परन्तु टीका मे जीवरक्षा में पाप होना कही नही लिखा है। इसमें गोशालक की रक्षा का कारण भगवान का दया करने में परम अनुराग बताया है। दया मे अनुराग रखना पाप नही, धर्म है। अतः गोशालक की प्राणरक्षा करने से भगवान को पाप नहीं, धर्म हुआ।

सुनक्षत्र और सर्वानुभूति मुनिवरो की रक्षा नही करने का कारण भी टीकाकार ने जीवरक्षा मे पाप होना नही, प्रत्युत उस समय वीतराग होने के कारण लब्धि का प्रयोग नही करना और अवश्य होनहार बताया है। यद्यपि दोनो मुनियो को वहाँ से विहार कराकर विना लब्धि का प्रयोग किए ही उनकी रक्षा कर सकते थे, तथापि गोशालक द्वारा उनकी मृत्यु होने वाली है, यह जानकर भगवान ने उन्हे बचाने का प्रयत्न नही किया। अत. टीकाकार ने उभय मुनियो की रक्षा नही करने का सैद्धान्तिक कारण बताते हुए "अवश्यंभावि भावत्वात्" लिखा है। अस्तु भगवती सूत्र की उक्त टीका का नाम लेकर जीव-रक्षा मे पाप बताना नितान्त असत्य है।

तेजोलेश्या के पुद्गल अचित्त हैं

कुछ व्यक्ति कहते है—जैसे पानी के द्वारा आग बुझाने से हिंसादि रूप आरम्भ होता है, उसी तरह शीतल लेश्या के द्वारा तेजो लेश्या को बुझाने मे भी आरभ होता है। इसलिए भगवान ने शीतल लेश्या के द्वारा, तेजो लेश्या को शान्त करके जो गोशालक की प्राण-रक्षा की, उसमे उनको आरभ का दोष लगा।

शीतल लेश्या के द्वारा तेजो लेश्या को उपशान्त करने मे आरभ का दोष बताना आगम को नही समझने का फल है। भगवती सूत्र मे तेजो लेश्या के पुद्गल को अचित्त कहा है—

"कयरे णं भन्ते! अचित्ता वि पोग्गला ओभासंति जाव पभासेति?

कालोदाइ! कुद्धस्स अणगारस्स तेयलेस्सा निसट्ठा समाणी दूरं गंता, दूरं निपत्तइ, देसं गंता देसं निपत्तइ, जहिं-जहिं च णं सा निपत्तइ तहिं-तहिं च ण ते अचित्ता वि पोग्गला ओभासंति जाव पभासेंति।"

—भगवती सूत्र ७ १०, ३०७

"हे भगवन्! कौन-से अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं? हे कालोदायिन्! क्रोधित हुए अनगार के द्वारा फैंकी हुई तेजो लेश्या—दूर तक फैंकी हुई दूर और निकट में फैंकी हुई निकट में—जाकर पड़ती है। वह तेजो लेश्या जहाँ-जहाँ पड़ती है, वहाँ-वहाँ उसके अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं।"

प्रस्तुत पाठ मे तेजो लेश्या के पुद्गलो को अचित्त कहा है। इसलिए अग्नि एवं पानी के सचित्त पुद्गलो का दृष्टान्त देकर शीतल लेश्या के अचित्त परमाणुओ के द्वारा तेजो लेश्या के अचित्त पुद्गलो को शान्त-उपशान्त करने मे आरम्भ का दोष बताना आगम-ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञता प्रकट करना है।

शीतल लेश्या का प्रयोग

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १८७ पर भगवती सूत्र श० २०, उ० ९ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ टीका में कह्यो–ए लब्धि फोडे ते प्रमाद नो सेववो ते आलोयां बिना चारित्र नी आराधना नही, ते माटे विराधक कह्यो। इहा पिण लब्धि फोड्या रो प्रायश्चित्त कह्यो, पिण धर्म नही। ठाम-ठाम लब्धि फोडणी सूत्र मे बर्जी छै। ते भगवन्त छट्ठे गुणठाणे थका तेजू लब्धि फोडी नें गोशाला ने बचायो, तिण मे धर्म किम कहिये ?"

भगवती श० २० उ० ९ की टीका मे जघा-चरण और विद्या-चरण लब्धि के विषय मे विचार किया गया है, अन्य लब्धियो का नही। वहाँ उक्त दोनो लब्धियो का प्रयोग करना प्रमाद का सेवन करना कहा है, परन्तु शीतल लेश्या का प्रयोग करना प्रमाद का सेवन करना नही है। तथापि यदि कोई व्यक्ति दुराग्रह वश लब्धि मात्र का प्रयोग करना प्रमाद का सेवन करना बतलाए, तो उसे–आगम मे कथित ज्ञान लब्धि, दर्शन लब्धि, चारित्र लब्धि, क्षीर, मधु, और सर्पिराश्रव लब्धि का प्रयोग करना भी प्रमाद का आसेवन करना मानना चाहिए। परन्तु इनके प्रयोग मे प्रमाद का सेवन करना क्यो नही मानते ? यदि इनका प्रयोग करना प्रमाद का सेवन करना नही, गुण है। तो उसी तरह शीतल-लेश्या का प्रयोग करना भी प्रमाद का सेवन करना नही है।

उपसंहार

वस्तुत आचार्य श्री भीषणजी और आचार्य श्री जीतमलजी का लब्धि की चर्चा करना व्यर्थ है। क्योकि यदि लब्धि का प्रयोग न करके, किसी अन्य साधन से भी मरते हुए जीव की रक्षा की जाए, तब भी ये उसमे एकान्त पाप मानते है। जीवरक्षा करने की विशुद्ध दया-भावना को ये मोह अनुकम्पा, सावद्य-अनुकम्पा और एकान्त पापमय बताते है। अतः यदि भगवान महावीर लब्धि का प्रयोग न करके, उपदेश द्वारा भी गोशालक की प्राणरक्षा करते, तब भी इनके मतानुसार उसमे पाप ही होता। इस विषय मे आचार्य श्री भीषणजी ने शिशुहित शिक्षा ढाल ५ मे लिखा है—

> "कोई एक अज्ञानी इम कहे, छः काया रा काजे हो देवा धर्म उपदेश।
> एकण जीवने समझावियां, मिट जावे हो घणा जीवा रा क्लेश॥
> छः काया रे घरे शान्ति हुवे, एहवा भाखे हो अन्य-तीर्थी धर्म।
> त्यां भेद न पायो जिनधर्म रो, ते तो भूल्या हो उदय आया अशुभ कर्म॥"

"कई अज्ञानी ऐसा कहते है कि छ काय के जीवो के घर मे शाति करने के लिए वे धर्मोपदेश देते है। वे कहते है कि एक जीव को समझाने से बहुत से जीवो का क्लेश मिट जाता है। परन्तु छ काय के घर मे शान्ति करने के लिए उपदेश देना जैन धर्म का सिद्धान्त नही, अन्य तीर्थियो के धर्म का सिद्धान्त है। अत. वे भूले हुए हैं और उनके अशुभ कर्म का उदय है।"

इस विषय मे भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १२० पर लिखते है—"श्री तीर्थंकर देव पोताना कर्म खपावा तथा अनेरा ने तारिवा ने अर्थे उपदेश देवे इम कह्यूं, पिण जीव बचावा उपदेश देवे इम कह्यो नही।"

इस प्रकार भ्रमविध्वसनकार एव उनके पूर्वाचार्य दोनो ने जीवरक्षा के लिए उपदेश देना भी जैन धर्म के विरुद्ध माना है। इसका उत्तर पीछे विस्तार से दे चुके हैं।

प्रायश्चित-अधिकार

प्रायश्चित क्यों ?
भगवान महावीर ने प्रमाद नहीं किया
भगवान और उनके शिष्यों की साधना
गणधर गौतम की साधना
चवदह पूर्वधर नहीं चूकता
साधु का स्वप्न दर्शन
तीर्थंकर कल्पातीत होते हैं
गोशालक को शिष्य बनाया
भगवान ने पाप-सेवन नहीं किया

प्रायश्चित क्यों ?

जीव रक्षा मे धर्म मानने वाले मुनियो का कहना है—यदि गोशालक की रक्षा करने मे भगवान को पाप लगा होता, तो भगवान उस पाप की निवृत्ति के लिए अवश्य ही प्रायश्चित लेते। परन्तु इसके लिए भगवान के प्रायश्चित लेने का आगम मे कही भी उल्लेख नहीं मिलता। अतः शीतल लेश्या का प्रयोग करके गोशालक की रक्षा करने मे भगवान पर पाप का आरोप लगाना नितान्त असत्य है। इस कथन का खण्डन करने के लिए भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १९६ पर लिखते है—

"अथ इहा सीहो अणगार ध्यान ध्यावतां मन में मानसिक दुःख अत्यन्त उपनो। मालुवा कच्छ मे जाई मोटे-मोटे शब्दे रोयो, वाग पाडी एहवो कह्यो, पिण तेहनो प्रायश्चित चाल्यो नही, पिण लियो इज होसी। तिम भगवान लब्धी फोड़ी गोशाला ने बचायो। तेहनो पिण प्रायश्चित चाल्यो नही, पिण लियो इज होसी।" इसी तरह पृष्ठ २०८ तक अतिमुक्त अणगार रहनेमि, धर्मघोष के शिष्य सुमगल अणगार और सेलक राजर्षि का उदाहरण देकर उन्होंने कहा है—जैसे उक्त साधुओ ने प्रायश्चित के कार्य किए, परन्तु आगम मे उनके प्रायश्चित करने का नही कहा, उसी तरह आगम मे भगवान महावीर के प्रायश्चित करने का भी उल्लेख नहीं किया। परन्तु जैसे इन साधुओ ने प्रायश्चित लिया होगा, उसी तरह भगवान महावीर ने भी प्रायश्चित लिया ही होगा।"

आगम के विधिवाद मे जिस कार्य के करने से पाप होना कहा है, उसके अनुष्ठान से पाप होता है और उसके लिए प्रायश्चित भी बताया है। परन्तु जिस कार्य के करने मे आगमकार पाप नही बताते, उसके प्रायश्चित का विधान भी नहीं करते। जैसे शीतल लेश्या का प्रयोग करने से आगम मे कहीं भी पाप होना नही कहा है और न इसके लिए प्रायश्चित का ही विधान है। ऐसी स्थिति मे शीतल लेश्या का प्रयोग करने मे भगवान को पाप का लगना एवं उसकी निवृत्ति के लिए प्रायश्चित लेने की कल्पना करना केवल कपोल कल्पना मात्र है। क्योकि जब शीतल लेश्या का प्रयोग करके गोशालक की रक्षा करने मे भगवान को पाप नहीं धर्म हुआ तब फिर वे प्रायश्चित क्यो लेते ?

जिस साधु ने आगम के अनुसार दोष का सेवन किया था, यदि आगम मे उसके प्रायश्चित सेवन का वर्णन नही है, तो उसकी कल्पना की जा सकती है। परन्तु जिसने प्रायश्चित योग्य कार्य ही नही किया, उसके लिए दोप सेवन एव प्रायश्चित की असत्य कल्पना करना बिल्कुल निराधार एव आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

भ्रमविध्वसनकार ने भ्रमविध्वसन पृष्ठ २१० पर जो नियठा की विचार-चर्चा की है, उसके अनुसार भगवान महावीर दोप के अप्रतिसेवी सिद्ध होते है। क्योकि कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ मूल एव उत्तर गुण का अप्रतिसेवी होता है। छद्मस्थ तीर्थ कर दीक्षा लेने के पश्चात् कषाय-कुशील ही होते है। अत भगवान महावीर को दोष का प्रतिसेवी बताना नितान्त असत्य है।

भगवान महावीर की साधना

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २१४ पर लिखते है—"ए कषाय-कुशील नियठा ने अपडिसेवी कह्यो–ते अप्रमत्त तुल्य अपडिसेवी जणाय छै। कपाय-कुशील नियठा मे गुणठाणा ५ छै—छट्ठा थी दसवा ताई, तिहा सातमे, आठमे, नवमे, दशमे गुणठाणे अत्यन्त शुद्ध निर्मल चारित्र छै। ते अपडिसेवी छै। अने छट्ठे गुणठाणे पिण अत्यन्त विशिष्ठ निर्मल परिणाम नो घणी शुभ योग मे प्रवर्ते छै। ते अपडिसेवी छै।" इत्यादि लिखकर भगवान् महावीर को अत्यन्त विशुद्ध निर्मल परिणाम युक्त मानकर भी दोष का प्रतिसेवी बताते है।

भ्रमविध्वसनकार स्वय षष्ठ गुणस्थान वर्ती कपाय-कुशील निर्ग्रन्थ को निर्मल परिणाम युक्त मानकर उसे दोप का अप्रतिसेवी बताते है। अस्तु इनके उक्त विचारो से भी भगवान महावीर दोप के अप्रतिसेवी सिद्ध होते है। क्योकि आचाराग सूत्र मे भगवान महावीर को छद्मस्थ अवस्था मे अत्यन्त विशुद्ध परिणाम युक्त कहा है।

"तए णं समणे भगवं महावीर वोसिट्ठचत्तदेहे अणुत्तरेणं आलएणं, अणुत्तरेणं विहारेणं एव संजमेण, पग्गहेण, संवरेणं,तवेण, बभचेरवासेणं, खंतिए, मुत्तिए, सम्मीइए, गुत्तिए, तुट्ठीए, ठाणेण, कम्मेणं सुचरियफल निव्वाण मुत्तिमग्गेणं अप्पाण भावेमाणे विहरइ। एवं विहरमाणस्स जे केइ उवसग्गा समुप्पज्जति दिव्वा वा, माणुस्सा वा तिरिच्छिया वा ते सव्वे उवसग्गे समुप्पन्ने समाणे अणाउले अव्वहिए अदीणमाणसे तिविह मण-वयण-काय-गुत्ते सम्म सहइ, खमइ, तितिक्खइ अहिआसेइ। तओणं समणस्स भगवओ महावीरस्स ए णं विहारेणं विहरमाणस्स बारसवासा विइक्कंता तेरसमस्स य वासस्स परियाये वट्टमाणस्स।"

—आचाराग सूत्र, श्रुत० २, अ० १५

"इसके अनन्तर अपने शरीर की ममता का त्याग किए हुए भगवान महावीर अनुत्तर आलय-मकान से, अनुत्तर विहार से, अनुत्तर संयम से, अनुत्तर ग्रहण से, अनुत्तर सवर से, अनुत्तर तप से, अनुत्तर ब्रह्मचर्य से, अनुत्तर क्षमा से, अनुत्तर त्याग से, अनुत्तर समिति से, अनुत्तर गुप्ति से, अनुत्तर तुष्टि से, अनुत्तर स्थिति से, अनुत्तर गमन से सम्यक् आचरण से, मोक्षफल की प्राप्ति

कराने वाले मुक्ति मार्ग से अपनी आत्मा को पवित्र करते हुए विचरते थे। इस प्रकार विचरण करते हुए भगवान को यदि कोई देव, मनुष्य या तिर्यंच का उपसर्ग होता, तो वे उसे अनाकुल--घबराहट से रहित एव अदीन मन से सह लेते थे। भगवान को इस प्रकार विचरते हुए बारह वर्ष पूरे हो गए, उसके अनन्तर तेरहवें वर्ष के पर्याय में भगवान को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।"

प्रस्तुत पाठ मे भगवान महावीर के सयम,तप, ब्रह्मचर्य,क्षमा आदि गुणो को अनुत्तर--सर्व श्रेष्ठ कहा है। इससे स्पष्टत सिद्ध होता है कि भगवान महावीर उच्च श्रेणी के कपाय-कुशील निर्ग्रन्थ थे। अन्यथा इस पाठ मे उनके तप, सयम आदि को अनुत्तर कैसे कहते। अत भगवान के पष्ठम गुणस्थान मे भी अत्यन्त विशुद्ध एव निर्मल परिणाम थे। इसलिए वे दोप के प्रतिसेवी नही, अप्रतिसेवी थे। तथापि गोशालक की रक्षा करने के कारण भ्रमविध्वसनकार भगवान को जो दोष का प्रतिसेवी कहते है, वह केवल जीव-रक्षा के साथ द्रोह रखने का परिणाम है।

भगवान महावीर ने प्रमाद नहीं किया

भगवान महावीर ने छद्मस्थ अवस्था मे दोप का प्रतिसेवन नही किया, इस विपय मे कोई प्रमाण हो तो बताइए ?

आचाराग सूत्र मे स्पष्ट लिखा है—भगवान् महावीर ने छद्मस्थ अवस्था मे थोडा-सा पाप एव एक बार भी प्रमाद का सेवन नही किया—

"णच्चा णं से महावीरे णो विय पावगं सयमकासी ।
अन्नेहिं वा न कारित्था करं तं वि नाणुजाणित्था ।।"

—आचाराग सूत्र १, ९, ४, ८

"कि च ज्ञात्वा हेयोपादेयं स महावीर कर्म प्रेरणसहिष्णु. नाऽपि च पापकं कर्म स्वयमकार्षीत, नाप्यन्यैरचीकरत, न च क्रियमाणमपरैरनुज्ञातवान् ।"

"हेय एवं उपादेय वस्तु के ज्ञाता, कर्म की प्रेरणा को सहन करने में समर्थ भगवान महावीर ने न स्वयं पाप कर्म किया, न दूसरे से कराया और न पाप कर्म करने वाले को अच्छा समझा ।"

प्रस्तुत गाथा मे स्पष्ट लिखा है—भगवान महावीर ने छद्मस्थ अवस्था मे कृत, कारित एव अनुमोदित तीनो मे से किसी भी करण से पाप का सेवन नही किया । अत गोशालक की रक्षा करने से भगवान को पाप लगने की प्ररूपणा करना मिथ्या है । यदि इसमे पाप लगता, तो आगम में यह कैसे कहा जाता—"भगवान ने छद्मस्थ अवस्था मे पाप का आसेवन नही किया ।" इसी आगम मे आगे चलकर लिखा है—

"अकसाई विगयगेही य सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाई ।
छउमत्थोऽवि परक्कममाणो नप्पमायं सयं वि कुव्वीथा ।।"

—आचाराग सूत्र १, ९, ४, १५

"न कषायी अकषायी तदुदयापादित भ्रूकुट्यादि कार्य्याभावात् । तथा विगता. गृद्धिः गार्ध्यं यस्यासौ विगत गृद्धि तथा शब्दरूपादिषु इन्द्रियार्थेषु अमूर्च्छितो ध्यायति मनोऽनुकूलेषु न रागमुपयाति नापीतरेषु द्वेषवशगोऽभूत । तथा

छद्मनि ज्ञान-दर्शनावरणीय मोहनीयान्तरायात्मके तिष्ठतीति छद्मस्थ. इत्येवं भूतोऽपि विविधमनेक प्रकार सदनुष्ठाने पराक्रममाणो प्रमाद कषायादिक सकृदपि न कृतवानिति ।"

"जिसमें कषाय नहीं है, उसे अकषायी कहते हैं। भगवान महावीर अकषायी थे, क्योंकि कषाय के उदय से उन्होने कभी किसी पर भी अपनी भ्रूकुटी टेढ़ी नहीं की। वे न अनुकूल विषयो से राग करते थे और न प्रतिकूल विषयो से द्वेष। वे शब्द आदि विषयो में आसक्त होकर नही रहते थे। यद्यपि भगवान छद्मस्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एव अन्तराय कर्म में स्थित थे, तथापि वे सदा विभिन्न प्रकार के सदनुष्ठान में प्रवृत्त रहते थे। उन्होने एक बार भी कषाय आदि रूप प्रमाद का सेवन नहीं किया।"

प्रस्तुत गाथा मे स्पष्टत कहा है कि भगवान महावीर ने छद्मस्थ अवस्था मे एक बार भी प्रमाद का सेवन नही किया। अत जो लोग भगवान के द्वारा गोशालक की प्राण-रक्षा करने के कार्य को प्रमाद सेवन बताते है, उनका कथन आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

प्रशंसा नही, यथार्थ वर्णन

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २३१ पर आचाराग की गाथा की समालोचना करते हुए लिखते है—"अठे इहा गणधरा भगवान् रा गुण वर्णन कीधा। त्या गुणा मे अवगुणा ने किम कहे? गुणा मे तो गुणो ने इज कहे।"

आचराग सूत्र की पूर्वोक्त गाथाओ मे भगवान के गुणो का ही वर्णन नही, प्रत्युत स्वल्प भी पाप एव एक वार भी प्रमाद सेवन करने रूप दोष का भी निषेध किया है। अत उक्त गाथा मे गुण मात्र का वर्णन वताना मिथ्या है। यदि गोशालक की प्राण-रक्षा का कार्य पाप एव प्रमाद सेवन रूप आचरण होता, तो उक्त गाथाओ मे उनके पापाचरण एव प्रमाद सेवन का निषेध कैसे करते?

यदि कोई यह कहे कि उक्त गाथाएँ भगवान द्वारा नही, गणधरो द्वारा कही गई है, इसलिए प्रामाणिक नही है। तो उनका यह कथन भी सत्य नही है। क्योकि गणधरो ने तीर्थ करो द्वारा सुनकर ही द्वादशागी रूप आगम की रचना की है। इसी कारण आगम को श्रुत कहते है। अत आर्य सुधर्मा स्वामी ने भगवान से जो कुछ सुना, वही उक्त गाथाओ मे कहा है। उक्त गाथाओ को प्रामाणिक नही मानना सर्वज्ञ वाणी को अप्रामाणिक कहकर उसका तिरस्कार करना है। आचाराग के नवम अध्ययन के प्रारभ मे ही लिखा है—

"सुयं मे आउस तेणं! भगवया एवमक्खाय।"

"हे आयुष्मन्! भगवान महावीर ने ऐसा कहा था, यह मैंने सुना है।"

प्रस्तुत अध्ययन के प्रारभ मे आर्य सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी के समक्ष यह प्रतिज्ञा करते है—

"अहा सुयं वइस्सामि।"

"मैने जैसा सुना है, वैसा ही कहूंगा।"

इससे यह स्पष्ट होता है कि सुधर्मा स्वामी ने भगवान महावीर से जो सुना था, वही इस अध्ययन मे कहा है, अपनी ओर से वनाकर कुछ नही कहा है। अत आचाराग सूत्र की उक्त उभय गाथाओ मे कथित विषय को प्रामाणिक नही मानना, सर्वज्ञ के वचनो का उल्लघन करना है, वीतराग-वाणी का अपमान एव तिरस्कार करना है।

भगवान और उनके शिष्यों की साधना

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २३२ पर उववाई सूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"जे साधा में गुण हुता, ते वखाण्या। पर इम न जाणियें—जे वीर रा साधु रे कदेइ आर्त्तध्यान आवे इज नहीं, माठा परिणामे क्रोध आदि आवे इज नहीं, इम नथी। कदाचित उपयोग चूका दोष लागे। पर गुण वर्णन मे अवगुण किम कहे? तिम गणधरा भगवान रा गुण किया, तिण मे तो गुण इज वर्णव्या, जेतलो पाप न कीधो तेहिज आश्री कह्यो। पर गुण में अवगुण किम कहे?"

उववाई सूत्र का उक्त पाठ लिखकर समाधान कर रहे है—

"तेण कालेणं तेण समए ण समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्ते-वासी बहवे समणा भगवन्तो अप्पेगइया उग्गपव्वइया, भोगपव्वइया, राइण्ण णाय कोरव्व खत्तिय पव्वइया, भडा जोहा सेणावइ पसत्थारो सेठी इब्भा अण्णेव बहवे एवमाइणो उत्तम जाति, कुल, रूव, विणय, विण्णाण, वण्ण, लावण्य, विक्कम पहाण सोभग्ग कतिजुत्ता बहु धण-धाण्णणिचय परियालफडिया णरवइ गुणातिरेका इच्छिय-भोगा सुहसपल्ललिया किपागफलोपम च मुणिय विसयसोक्ख जलबुव्वुअ समाणं, कुसग्ग जल बिन्दु चचल जीविय च णाउण अद्धुवमिण रयमिव पडग्गलग्ग सविधुणिताण चइत्ता हिरण्ण जाव पव्वइया अप्पेगइया अद्धमास परियाया, अप्पेगइया मास परियाया एव दुमास, तिमास जाव एक्कारस, अप्पेगइया अनेक वास परियाया सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणा विहरति।"

—उववाई सूत्र १४

"उस काल एव उस समय भगवान महावीर के पास बहुत से शिष्य विद्यमान थे। जिनमें से कोई उग्रवश में, कोई भोगवश में, कोई राजन्य वंश में, कोई नाग वश में, कोई कुरु वंश

में, कोई क्षत्रिय वंश में, कोई चार, भट्ट, योद्धा वंश में, कोई सेनापति, धर्म-शास्त्र पाठी, सेठ इब्भसेठ—बड़े धनपति के कुल में उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार उत्तम जाति, कुल, रूप, विनय, विज्ञान, वर्ण, लावण्य, विक्रम, सौभाग्य और कांति से युक्त, धन-धान्य, परिवार, दास-दासी आदि से युक्त गृहवास काल में बड़े धनपतियों से भी श्रेष्ठ एवं वैभव-सुख में राजाओ से भी बढ़े-चढ़े इच्छानुरूप भोग भोगने वाले, विषय-सुख को विषवृक्ष के समान बुरा एव कुश के अग्रभाग पर स्थित बिन्दु की तरह जीवन को अति चंचल जानकर, अनित्य विषय सुख एवं धन-धान्य आदि को वस्त्र पर लगी हुई धूल के समान झाड़कर, हिरण्य-स्वर्ण आदि को छोड़कर प्रव्रजित हो गए। इन में से कुछ अर्द्धमास, एकमास, दो मास, तीन मास, यावत् ग्यारह महीनो की पर्याय वाले थे, कुछ अनेक वर्षों की पर्यायवाले थे। ये सब शिष्य सयम और तप की साधना से अपनी आत्मा को पवित्र करते हुए विचरते थे।"

प्रस्तुत पाठ मे यह नही कहा है—"भगवान महावीर के ये सब शिष्य कभी भी प्रमाद का सेवन नही करते थे या इन शिष्यो ने कभी पाप का आसेवन नही किया।" अत इनके जीवन काल मे प्रमाद एव पाप का सेवन होना सभव है। परन्तु भगवान महावीर के साधना-जीवन में पाप एव प्रमाद के सेवन की सभावना ही नही हो सकती। क्योकि भगवान के सम्बन्ध मे आचाराग की उक्त गाथाओ मे प्रमाद एव पाप-सेवन का निषेध किया है। अत उववाई सूत्र के पाठ से आचाराग की उक्त गाथाओ की तुलना बताकर भगवान महावीर को पाप एव प्रमाद का सेवन करने वाला कहना आगम-ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञता प्रकट करना है।

यदि उववाई सूत्र में यह लिखा होता कि भगवान महावीर के इन शिष्यो ने कभी भी पाप एव प्रमाद का आसेवन नही किया, तो इस बात को मान सकते थे। परन्तु उसमें ऐसा नही लिखा है, अत. उनमे पाप एव प्रमाद के सेवन का निषेध नही कर सकते। किन्तु आचाराग मे भगवान के विषय मे स्पष्ट लिखा है—"भगवान ने छद्मस्थ अवस्था मे थोड़ा-सा भी पापाचरण नही किया और एक बार भी प्रमाद का सेवन नही किया।" अत भगवान महावीर के साधना-जीवन मे प्रमाद एव पाप का आसेवन करने की बिल्कुल सभावना नही है। उनकी सयम साधना पूर्णत निर्दोष एव विशुद्ध थी। उसमे पाप या प्रमाद के दोष की कल्पना करना नितान्त असत्य है।

कोणिक का विनय

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २३३ पर लिखते हैं—

"अथ अठे कोणिक ने सर्व राजा ना गुण सहित कह्यो। माता-पिता नो विनीत कह्यो। अने निरयावलिया मे कह्यो—जे कोणिक श्रेणिक ने बेडी-बन्धन देई, पोते राज्य बैठ्यो, तो जे श्रेणिक ने बेड़ी बन्धन बाध्यो ते विनीत पणो नही, ते तो अविनीत पणो इज छै। पिण उववाई मे कोणिक ना गुण वर्णव्या। तिण मे जेतलो विनीत पणो ते हिज वर्णव्यो। अविनीत पणो गुण नही, ते भणी गुण कहिणे मे तेहनो कथन कियो नही। तिम गणधरा भगवान रा गुण किया, त्या गुणा मे जेतला गुण हुन्ता तेहिज गुण वखाण्या पर लब्धि फोडी ते गुण नहीं। ते अवगुण रो कथन गुण मे किम करे?"

भ्रमविध्वसनकार का यह कथन यथार्थ नही है। उववाई सूत्र मे कोणिक राजा के चम्पा नगरी में निवास करने के समय का वर्णन है। कोणिक जब चम्पा मे रहने लगा, तब वह

माता-पिता का विनीत हो गया था। वह पितृशोक से सतप्त होकर राजगृह को छोड कर चम्पा मे आया था। अत. उस समय के वर्णन मे उसे विनीत कहना उपयुक्त ही था। परन्तु वहाँ यह नही कहा कि कोणिक ने कभी भी माता-पिता का अविनय नही किया। अत. उक्त पाठ से कोणिक के अविनीत होने का पूर्णत निषेध नही किया जा सकता। परन्तु आचाराग की उक्त गाथाओ मे भगवान महावीर के छद्मस्थ अवस्था मे प्रमाद या पाप-सेवन का पूर्णत निषेध किया है।

श्रावक एक देश से निवृत्त होते है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २३४ पर लिखते है—

"अथ अठे श्रावको ने धर्म ना करणहार कह्या, तो ते स्यू अधर्म न करे काइ। वाणिज्य-व्यापार, सग्राम आदिक अधर्म छै। ते अधर्म ना करणहार छै। पिण ते श्रावका रा गुण वर्णन मे अवगुण किम कहे ?" इसके आगे लिखते है—"तिम भगवान् रे गुण वर्णन मे लब्धि फोडी ते अवगुण रो वर्णन किम करे ?"

उववाई सूत्र मे श्रावको के सम्बन्ध मे जो पाठ आया है, उसका उदाहरण देकर भगवान महावीर मे पाप एव प्रमाद के सेवन की स्थापना करना नितान्त असत्य है। उववाई मे श्रावको से सम्बन्धित पाठ मे स्पष्ट रूप से उल्लिखित है–श्रावक अठारह पाप से ही एक देश से निवृत्त हुए है, एक देश से नही। अस्तु उक्त पाठ से ही एक देश से पाप सेवन करना सिद्ध होता है। परन्तु भगवान के सम्बन्ध मे आचाराग की गाथाओ मे पाप एव प्रमाद सेवन का पूर्णत निषेध किया है।

दूसरी बात यह है कि भगवान महावीर दीक्षा लेने के पश्चात् छद्मस्थ अवस्था मे कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ थे। आगम मे लिखा है कि कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ मूल एव उत्तर गुण मे दोष नही लगाते। अत भगवान ने शीतल लेश्या का प्रयोग करके गोशालक की जो प्राण-रक्षा की, उसमे उनको पाप या प्रमाद सेवन का दोष नही लगा, यह आगम सम्मत सत्य है।

गणधर गौतम की साधना

यदि कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ मूलगुण मे दोष नही लगाता, तो गौतम स्वामी कपाय-कुशील निर्ग्रन्थ होते हुए भी आनन्द के घर पर वचन बोलते हुए क्यो स्खलित हुए ? अत जैसे गौतम स्वामी कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ होते हुए भी आनन्द के घर पर चूक गये थे, उसी तरह महावीर भगवान भी चूक सकते है। अत कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ नही चूकता, यह कथन सत्य नही है।

गौतम स्वामी जिस समय श्रमणोपासक आनन्द के घर पर बोलते समय चूक गए थे, उस समय उनमे कषाय-कुशील नियठा नही था और वे चवदह पूर्व एव चार ज्ञान से भी युक्त नही थे। यदि वे कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ, चतुर्दश पूर्वधर एव चार ज्ञान से युक्त होते, तो कभी भी भूल नही करते। इस विषय मे आगम मे लिखा है—

"तए ण से भगवं गोयमे आनंदेण समणोवासएणं एवं वुत्ते समाणे सकिए, कंखिए, वितिगिच्छा समावन्ने आनंदस्स अतियाओ पडिनिक्खमइ।"

—उपासकदशाग सूत्र, अध्ययन १

"जब उपासक आनन्द ने गौतम स्वामी से यह कहा—आप मुझे आलोचना करने का व्यर्थ ही उपदेश देते हैं, वस्तुतः आलोचना तो आपको करनी चाहिए। तब गौतम स्वामी शंका, कांक्षा एवं विचिकित्सा से युक्त होकर आनन्द के घर से बाहर आए।"

इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उस समय गौतम स्वामी चार ज्ञान एव चवदह पूर्वधर के ज्ञाता नही थे। अन्यथा उनको आनद के कथन से शका, काक्षा आदि उत्पन्न नहीं होती। अपने ज्ञान का उपयोग लगाकर वे स्वय निर्णय कर लेते। और वे उस समय कपाय-कुशील निर्ग्रन्थ भी नही थे। अन्यथा वचन बोलने मे भूल नही करते। इसलिए उपासकदशाग सूत्र के वर्णन मे उन्हे चार ज्ञान एव चवदह पूर्वधर से युक्त नही कहा है।

यदि कोई यह कहे कि भगवती सूत्र की रचना उपासकदशाग से पहले हुई है और उसमे गौतम स्वामी को चार ज्ञान एव चवदह पूर्वधर कहा है। इसलिए उपासकदशाग मे उन्हे पुन नही दोहराया। क्योकि जो बाते भगवती सूत्र मे कही जा चुकी है, उन्हे पुन. उपासकदशाग मे दोहराने की क्या आवश्यकता है ?

यदि वास्तव मे उपासकदशाग में गौतम स्वामी को चतुर्दश-पूर्वधर एवं चार ज्ञान से युक्त नहीं कहने का कारण इनका भगवती में कथन होना ही होता, तो भगवती सूत्र में जिन-जिन गुणों का वर्णन हो चुका है, उनका उपासकदशाग मे पुनः पिष्ट-पेषण नही होना चाहिए। परन्तु भगवती सूत्र में कथित कुछ गुणो का वर्णन उपासकदशांग सूत्र मे है और कुछ का नहीं। इससे यह प्रमाणित होता है कि भगवती सूत्र में समुच्चय रूप से समस्त गुणो का वर्णन किया है और उपासकदशांग सूत्र मे उनके नाम के पूर्व इतने ही गुणों का उल्लेख किया है, जितने उस समय थे। अन्यथा भगवती सूत्र मे कथित उन गुणों को यहाँ पुन. दोहराने की क्या आवश्यकता थी? भगवती और उपासकदशाग के पाठ में इतना ही अन्तर है कि प्रथम में चार ज्ञान और चवदह पूर्वधर का पाठ है और दूसरे मे यह पाठ नहीं है। शेष पाठ दोनो में समान रूप से है।

"तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी इन्दभूइ नामं अणगारे गोतम गोत्तेणं सत्तुसेहे समचउरस संट्ठाण संट्ठिए वज्जरिसहनाराय सघयणे कणग पुलग णिघस पह्. य गोरे उग्गतवे, दित्ततवे, तत्ततवे, महातवे, ओराले, घोरे, घोरगुणे, घोर तवस्सी, घोर बंभचेरवासी, उच्छूढसरीरे, संखित्त विउल तेउलेस्से, चउद्दसपूव्वी चउण्णाणोवगये सव्वक्खर सन्निवाई।"

—भगवती सूत्र १,१,७

"तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी इन्दभूइ नामं अणगारे गोयम गोत्तेणं सत्तुसेहे समचउरस संट्ठाणसंट्ठिए वज्जरिसहनाराय संघयणे कणाग पुलग णिघस प्रह्. यगोरे उग्गतवे, दित्ततवे, घोरतवे, उराले, घोरगुणे, घोरतवस्सी, घोर बंभचेर-वासेणं उच्छूढसरीरे, संखित्त विउल-तेउलेस्से, छट्ठं-छट्ठेणं अणिखि-त्तेणं तवोयक्कमेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।"

—उपासकदशाग, अध्ययन १

उववाई सूत्र के उक्त पाठ में भगवती सूत्र में उल्लिखित—"चउद्दसपूव्वी, चउण्णाणोवगए, सव्वक्खर सन्निवाई" इन तीन विशेषणों को छोडकर शेष सबका उल्लेख किया है। इससे स्पष्टत. सिद्ध होता है कि गौतम स्वामी जिस समय उपासक आनन्द के घर गए थे, उस समय उनमें चवदह पूर्व और चार ज्ञान नही थे। यदि भगवती सूत्र में कहे जाने के कारण उक्त तीन विशेषणो का उपासकदशाग मे कथन नही माना जाए तो भगवती सूत्र के अन्य विशेषणो का भी यहाँ कथन नहीं होना चाहिए। परन्तु यहाँ उनका कथन किया गया है। अत. जो बातें पूर्व अग में कह दी गई है, उन सबको उत्तर के अगो मे समझा जाए, ऐसा कोई नियम नही है। क्योंकि आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध मे भगवान महावीर को केवल ज्ञान उत्पन्न होने का वर्णन किया गया है, फिर भी प्रसगवश भगवती सूत्र के पन्द्रहवे शतक मे भगवान की

छद्मस्थ अवस्था का वर्णन किया है। आचाराग सूत्र प्रथम अग है और भगवती सूत्र पचम अग। उसी तरह भगवती सूत्र मे गौतम स्वामी के चार ज्ञान एव चवदह पूर्वधर होने का वर्णन होने पर भी प्रशगवश उपासकदशाग सूत्र मे उनके चवदह पूर्वधर एव चार ज्ञान नही होने की बात कही गई है।

यदि भगवती सूत्र मे कथित सभी गुणो को उपासकदशाग सूत्र मे बताना होता, तो "जाव" शब्द का प्रयोग करके भगवती के पाठ का सकोच करते हुए उपासकदशाग मे लिख देते–

"तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी इंदभूइ नामं अणगारे जाव विहरइ।"

भगवती मे कथित विशेषणो मे से तीन विशेषणो को छोडकर शेष को पुन लिखने की क्या आवश्यकता थी ? परन्तु यहाँ "जाव" शब्द का प्रयोग करके भगवती के पाठ का सकोच नही किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आनन्द श्रावक को उत्तर देते समय गौतम स्वामी चवदह पूर्वधर एवं चार ज्ञान से युक्त नही थे। अत गौतम स्वामी का उदाहरण देकर भगवान महावीर को चूका–भूला हुआ या पथ भ्रष्ट बताना नितान्त असत्य है।

–

चवदह पूर्वधर : नहीं चूकता

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २१३ पर दशवैकालिक सूत्र की गाथा की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहां कह्यो—दृष्टिवाद रो धणी पिण वचन में खलाय जाय तो साधु नें हसणो नहीं। ए दृष्टिवाद रो जाण चूकें, तिण में पिण कषाय कुशील नियठो छै।"

भ्रमविध्वसनकार ने दशवैकालिक सूत्र की गाथा का शुद्ध अर्थ नहीं किया है। अत उक्त गाथा एव उसकी टीका लिख कर उसका यथार्थ अर्थ कर रहे हैं—

"आयार पन्नत्तिधरं, दिट्ठिवाय महिज्जग।
वाय विक्खलियं नच्चा, न तं उवहसे मुणी॥"

—दशवैकालिक सूत्र ८, ५०

"आयार त्ति सूत्रम् आचार प्रज्ञप्तिधरमित्ति आचारधर. स्त्री लिंगादीनि जानाति प्रज्ञप्तिधरस्तान्येव सविशेषाणीत्येव भूतं। तथा दृष्टिवादमधीयान प्रकृति, प्रत्यय, लोपागम, वर्ण विकार, काल कारक वेदितं वाग्विस्खलित ज्ञात्वा विविधमनेकै. प्रकारैर्लिंगभेदादिभि. स्खलितं विज्ञाय न तमाचारादिधरमुपहसेन्मुनि अहो नु खल्वाचारादिधरस्य वाचि कौशल्यमित्येव, इह च दृष्टिवादमधीयानमित्युक्तमत इदं गम्यते नाधीत दृष्टिवादं तस्य ज्ञान प्रमादातिशयत. स्खलना सभवात्। यद्येव भूतस्यापि स्खलित सभवति न चैनमुपहसेदित्युपदेश. ततोऽन्यस्य सुतरां भवतीति नासौ हसितव्य इति सूत्रार्थ।"

"जो स्त्री लिंग आदि को जानता है, उसे आचारधर कहते हैं और जो विशिष्ट रूप से स्त्री लिंग आदि का ज्ञाता है, उसे प्रज्ञप्तिधर कहते हैं। जो मुनि आचारधर और प्रज्ञप्तिधर है और दृष्टिवाद का अध्ययन कर रहा है—प्रकृति, प्रत्यय, लोप, आगम, वर्ण विकार, काल और कारक को जानता है, यदि वह बोलते समय लिंग आदि से अशुद्ध बोल दे, तो उसकी हंसी नहीं

करनी चाहिए। उन्हें ऐसा नहीं कहना चाहिए—अरे ! देखो आचारधरादि मुनियों का वाक् कौशल।"

उक्त गाथा मे प्रयुक्त वाक्य मे वर्तमान काल का प्रयोग करके यह बताया है—"जिस मुनि ने अभी दृष्टिवाद का अध्ययन समाप्त नही किया है, किन्तु अभी अध्ययन कर रहा है, यदि उससे वाक् स्खलन हो जाए, तो साधु को हसना नही चाहिए, उसका उपहास नही करना चाहिए।" जिसने दृष्टिवाद को पढकर समाप्त कर दिया है, उससे वाक् स्खलन होना असभव है। क्योकि उसमें ज्ञान और अप्रमाद का बहुत अधिक सद्भाव होता है, अत वह भूल नहीं कर सकता। इस पाठ मे उपदेश दिया गया है कि यदि दृष्टिवाद का अध्ययन करने वाले मुनि से वाक् स्खलन हो जाए, तो उसका उपहास नही करना चाहिए। इससे यह भी सिद्ध होता है जब आचारधर और प्रज्ञप्तिधर मुनि से भी वाक् स्खलन हो सकता है, तब अन्य साधारण मुनि का वाक् स्खलन होना एक साधारण बात है। अत किसी मुनि से वाक् स्खलन हो जाए तो दूसरे साधुओ को उसका उपहास नही करना चाहिए।

प्रस्तुत पाठ मे वर्तमान काल का प्रयोग देकर दृष्टिवाद का अध्ययन करनेवाले मुनि का वाक् स्खलन होना बताया है, परन्तु जो दृष्टिवाद का अध्ययन कर चुका है, उसके वाक् का स्खलन होना नही कहा है। अत उक्त गाथा का नाम लेकर चतुर्दश पूर्वधर को चूका हुआ सिद्ध करना भारी भूल है।

कषाय-कुशील अप्रतिसेवी है

भ्रमविध्वसनकार का कथन है—"आगम मे कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ मे छ. समुद्घात और पाच शरीर कहे है। वैक्रिय लब्धि का प्रयोग करने वाले को विना आलोचना किये मरने पर विराधक कहा है और वैक्रिय एव आहारक लब्धि का प्रयोग करने से पाच क्रिया का लगना कहा है। कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ भी वैक्रिय लब्धि का प्रयोग करते हुए दोष का प्रतिसेवी होता है। इसलिए सभी कषाय-कुशील निर्ग्रन्थो को दोष का अप्रतिसेवी नही कहना चाहिए।"

कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ मे छ समुद्घात एव पाच शरीर पाए जाते है, तथापि आगम में उसे दोष का अप्रतिसेवी बताया है—

"कसाय कुसीलेण पुच्छा ?
गोयमा ! नो पडिसेवए होज्जा, अपडिसेवए होज्जा।"

—भगवती सूत्र २५, ६, प्रश्न ३४

'हे भगवन् ! कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ दोष का प्रतिसेवी होता है या अप्रतिसेवी ?
हे गौतम ! वह दोष का प्रतिसेवी नहीं, अप्रतिसेवी होता है।"

प्रस्तुत पाठ मे कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ को स्पष्टत दोष का अप्रतिसेवी कहा है। यदि कोई यह कहे कि जब उसमें छ समुद्घात और पाच शरीर पाए जाते है, तब वह दोष का अप्रतिसेवी कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि दोष का प्रतिसेवन सिर्फ कार्य के अधीन नही, परिणाम के अधीन है। जैसे यदि वीतराग साधु के पैर के नीचे आकर कोई जानवर मर जाए

तो उसे ईर्यापथिक क्रिया लगती है, उससे शुभ कर्म आते हैं। परन्तु यदि सरागी साधु के पैर के नीचे आकर कोई प्राणी मर जाए तो उसको साम्परायिकी क्रिया लगती है। यहाँ पैर के नीचे आकर जानवर के मरने में कोई अन्तर नही है, परन्तु दोनो के परिणामो मे भेद होने के कारण वीतराग को ईर्यापथिक और सरागी साधु को साम्परायिकी क्रिया लगती है। इसका कारण इतना ही है कि वीतराग के परिणाम अति विशुद्ध एव निर्मल है, परन्तु सरागी के परिणामो में इतनी विशुद्धता एव निर्मलता नही है। उसी तरह कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ के परिणाम विशिष्ट एव निर्मल होते है। इसलिए उसमे छ समुद्घात और पाच शरीर पाए जाते है, तब भी वे दोष प्रतिसेवी नही होते। यदि छ समुद्घात और पाच शरीर के पाए जाने मात्र से कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ दोष का प्रतिसेवी हो जाता, तो आगमकार बकुश एव प्रतिसेवना कुशील की तरह कषाय-कुशील को भी दोष का अप्रतिसेवी नही कह कर, प्रतिसेवी बताते। परन्तु आगम मे स्पष्ट शब्दो मे उसे दोष का अप्रतिसेवी बताया है। अत कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ को दोष का प्रतिसेवी कहना आगम मे सर्वथा विरुद्ध है।

साधु का स्वप्न दर्शन

भ्रमविध्वसनकार का कहना है–"भगवती शतक १६, उद्देशा ६ मे सवृत-साधु को यथार्थ स्वप्न आना कहा है और उसी को आवश्यक सूत्र मे मिथ्या स्वप्न भी आना कहा है। जैसे—साधु दो तरह के होते है–१ सच्चा स्वप्न देखने वाला और २ झूठा स्वप्न देखनेवाला। उसी तरह कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ भी दो तरह के होते है–१ दोष का प्रतिसेवी और २ दोष का अप्रतिसेवी।"

सवृत–साधु का दृष्टान्त देकर दो तरह के कषाय-कुशील के होने की प्ररूपणा करना सर्वथा असत्य है। जिस सवृत–साधु को भगवती सूत्र मे सत्य स्वप्न दृष्टा कहा है, उसी को आव्श्यक सूत्र मे मिथ्या स्वप्न दृष्टा भी कहा है। इस प्रकार आगम मे सवृत—साधु दोनो प्रकार के कहे है। परन्तु आगम मे कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ को कही भी दो प्रकार का नही कहा है। भगवती सूत्र मे कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ को दोष का अप्रतिसेवी कहा है। उस कषाय-कुशील को किसी भी आगम मे दोष का प्रतिसेवी नही कहा। अत सवृत–साधु की तरह उसे भी दो प्रकार का–प्रतिसेवी और अप्रतिसेवी मानने की कल्पना करना आगम मे सर्वथा विरुद्ध है।

अनुत्तर विमान के देव

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २१७ पर भगवती सूत्र शतक ५, उद्देशा ४ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ इहा कह्यो–अनुत्तर विमान ना देवता उदीर्ण मोह नथी। अने क्षीण मोह नथी, उपशान्त मोह छै इम कह्यो। इहा मोहने उपशमायो कह्यो, अने उपशान्त मोह तो इग्यारवे गुणठाणे छै। अने देवता तो चौथे गुण ठाणे छै, तिहा तो मोह नो उदय छै। तेह थी समय-समय सात-सात कर्म लागे। मोह नो उदय तो दशवे गुणठाणे ताई छै। अने इहा तो देवता ने उपशान्त मोह कह्यो, ते उत्कट वेद मोहनो आश्री कह्यो। तिहा देवता ने परिचारणा नथी, ते माटे बहुल वेद मोहनी आश्री उपशान्त कह्यो। पिण सर्वथा मोह आश्री उपशान्त मोह नथी कह्यो।" इसके आगे लिखते है–'तिम कषाय कुशील ने अपडिसेवी कह्यो, ते पिण विशिष्ट परिणाम ना धनी आश्री अपडिसेवी कह्यो। पिण सर्व कषाय कुशील चारित्रिया अपडिसेवी नही।"

अनुत्तर विमान के देवो के विषय मे जो पाठ आया है, उसका उदाहरण देकर कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ को दोष का प्रतिसेवी कहना सर्वथा अनुचित है। क्योकि अनुत्तर विमान के देव

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती है। उनमे मोह का पूर्णत उपशात होना नितान्त असभव है। अतः उन्हे उपशान्त मोहवाले कहने का यह अभिप्राय हो सकता है कि उनमे उत्कट वेद मोहनीय का अभाव है। परन्तु यह उदाहरण कषाय-कुशील के सम्बन्ध मे घटित नही होता, क्योकि उसको कही भी दोप का प्रतिसेवी नही कहा है। यदि आगम मे कही पर भी उसे दोष का प्रतिसेवी कहा होता या किसी अन्य प्रमाण से कषाय-कुशील का प्रतिसेवी होना प्रमाणित होता, तो भगवती के पाठ का यह अभिप्राय माना जा सकता था कि उच्च कोटि के कषाय-कुशील की अपेक्षा से हो वहाँ उसे अप्रतिसेवी कहा है। परन्तु आगम मे उसे प्रतिसेवी बताया हो, ऐसा न तो कही पाठ ही मिलता है और न किसी अन्य प्रमाण से ही उसका प्रतिसेवी होना सिद्ध होता है, ऐसी स्थिति मे अनुत्तर विमान के देवो का उदाहरण देकर कषाय-कुशील के सम्बन्ध मे उल्लिखित पाठ का यह अभिप्राय बताना–"जो उच्चश्रेणी के कपाय -कुशील है, उन्ही को दोष का अप्रतिसेवी कहा है", आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

यदि सभी कपाय-कुशील दोष के अप्रतिसेवी नही होते, तो भगवती सूत्र मे कषाय-कुशील मात्र को दोष का अप्रतिसेवी नही कहते। किसी अन्य स्थान पर या अन्य आगम मे इसको स्पष्ट कर देते या टीकाकार इस विषय को स्पष्ट कर देते, परन्तु आगम एव टीका मे कषाय-कुशील को कही भी दोष का प्रतिसेवी नही कहा है। अत उसे विभिन्न कपोल कल्पनाओ से प्रतिसेवी वताने का प्रयत्न करना साम्प्रदायिक दुराग्रह का ही परिणाम है।

सभी छद्मस्थ दोष सेवी नही होते

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १८९ पर स्थानाग के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—"अथ अठे पिण इम कह्यो—सात प्रकारे छद्मस्थ जाणिये। अने सात प्रकारे केवली जाणिये। केवली तो ए सातू ही दोप न सेवे, ते भणी न चूके। अने छद्मस्थ सात दोष सेवे।"

स्थानाग सूत्र स्थान ७ के पाठ से भगवान महावीर का दोष सेवन करना सिद्ध नही होता। क्योकि वहाँ यह नियम नही बताया है कि सभी छद्मस्थ दोष के प्रतिसेवी होते ही है। उक्त पाठ का यही अभिप्राय है–"छद्मस्थ मे सात दोषो का होना सभव है, केवलियो में नही।" सातवे गुणस्थान से लेकर बारहवे गुणस्थान तक के जीव छद्मस्थ ही होते हैं। परन्तु अत्यधिक निर्मल परिणामो के कारण वे दोषो का सेवन नही करते। उसी तरह षष्ठम गुणस्थानवर्ती, जो विशिष्ट निर्मल परिणाम वाले है, भी दोष के प्रतिसेवी नही होते। भ्रमविध्वसनकार ने भी भ्रमविध्वसन पृष्ठ २१४ पर इस सत्य को स्वीकार किया है–"अने छट्ठे गुणठाणे पिण अत्यन्त विशिष्ट निर्मल परिणाम नो धणी शुभ योग मे प्रवर्ते छै।"

भगवान महावीर षष्ठम गुणस्थान मे विशिष्ट निर्मल एव विशुद्ध परिणाम वाले थे, इसलिए वे दोष के अप्रतिसेवी थे। आचाराग की गाथाओ का प्रमाण देकर हम यह स्पष्ट कर चुके है कि भगवान् महावीर अति विशुद्ध परिणाम वाले थे। उन्होने छद्मस्थ अवस्था मे न तो स्वल्प भी पापाचरण किया और न एक वार भी प्रमाद का सेवन किया। अत स्थानाग सूत्र के पाठ का प्रमाण देकर भगवान महावीर के चूकने–पथ भ्रष्ट होने की कल्पना करना पूर्णत गलत है।

यदि कोई व्यक्ति दुराग्रह वश छद्मस्थ मे सात दोषो का अवश्य ही सद्भाव बताए, तो उन्हे सातवे गुणस्थान से लेकर बारहवे गुणस्थान तक के निर्ग्रन्थो को भी दोष का प्रतिसेवी मानना

चाहिए। क्योकि वे भी छद्मस्थ ही होते है। फिर उन्हे प्रतिसेवी क्यो नही मानते ? यदि यह कहे कि सातवे गुणस्थान से लेकर बारहवे गुणस्थान तक के साधु छद्मस्थ होने पर भी अति विशुद्ध परिणाम वाले है, इसलिए वे प्रतिसेवी नही होते। तो इसी सरल दृष्टि से यह भी समझना चाहिए कि अति विशुद्ध परिणाम वाले षष्ठम गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ भी दोष का प्रतिसेवन नही करते। भगवान महावीर षष्ठम गुणस्थान मे अत्यधिक विशुद्ध परिणाम वाले थे, अत वे दोष के प्रतिसेवी नही थे। इसलिए गोशालक की प्राण-रक्षा करने के कारण भगवान को चूका हुआ या पथभ्रष्ट बताना साम्प्रदायिक अभिनिवेश एव दुराग्रह के कारण आगम मे उल्लिखित सत्य को झुठलाना है।

गोशालक को तिल बताना, दोष नही

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २१० पर लिखते है—

"गोशाला ने तिल बतायो, लेश्या सिखाई, दीक्षा दीधी, ए सर्व उपयोग चूक ने कार्य कीधा। जो उपयोग देवे अने जाणे ए तिल उखेल नाखसी तो तिल बतावता इज क्याने ? पिण उपयोग दिया विना ए कार्य किया छै।"

भगवान महावीर ने छद्मस्थ अवस्था मे गोशालक को तिल बताया, दीक्षा दी और लेश्या सिखाई, यदि यह सब कार्य भगवान के चूकने के है, तो केवल ज्ञान होने पर भगवान ने गोशालक की मृत्यु बताई, जमाली को दीक्षा दी और काली आदि दस रानियो को उनके पुत्रो का मरण बताया, इन सब कार्यो से उनका चूकना क्यो नही मानते ? क्योकि उक्त कार्यो का परिणाम भी बुरा हुआ था। गोशालक अपने मरण का सभव जानकर भयभीत हुआ था। जमाली कुशिष्य हुआ, भगवान का निन्दक बना और काली आदि दसो रानियाँ पुत्र-मरण की बात सुनकर भगवान के समवशरण मे ही मूर्छित होकर गिर गई थी। इसी तरह भगवान नेमीनाथ ने सर्वज्ञ होने के बाद सकेत के द्वारा सोमिल ब्राह्मण का मरण बताया था, जिसका फल यह हुआ कि कृष्णजी ने सोमिल के शव को सारे शहर मे घसीटने की और घसीटने से पृथ्वी पर जो उसके निशान बने थे, उस पर पानी का छिड़काव करने की आज्ञा दी थी। इस कार्य से भगवान नेमीनाथ का चूकना क्यो नही मानते ?

यदि इस सम्बन्ध मे यह कहे कि केवल ज्ञानी अतीन्द्रियार्थदर्शी, अपरिमित ज्ञानी, कल्पातीत एव आगम-व्यवहारी होते है। वे जो कुछ करते है, उसका रहस्य वे ही जानते है। इसलिए आगम-व्यवहारी के कल्पानुसार उनके कार्य को गलत नहीं कहा जा सकता। उसी तरह छद्मस्थ तीर्थ कर भी आगम-व्यवहारी एव कल्पातीत होते है। इसलिए श्रुत-व्यवहारी के कल्प का नाम लेकर उनके कार्य को गलत नही कहा जा सकता। अस्तु गोशालक को तिल बताने, उसे दीक्षा देने आदि कार्यों का प्रमाण देकर उन्हे चूका कहना नितान्त असत्य है।

तीर्थंकर कल्पातीत होते हैं

छद्मस्थ तीर्थंकर आगम-व्यवहारी एवं कल्पातीत होते हैं, इसका क्या प्रमाण है ?

छद्मस्थ तीर्थंकर आगम-व्यवहारी एवं कल्पातीत होते हैं।

"कसाय-कुसीले पुच्छा ?

गोयमा ! जिणकप्पे वा होज्जा, थेरकप्पे वा होज्जा, कप्पातीत वा होज्जा।"

—भगवती सूत्र २५, ६, प्रश्न २५

"हे भगवन् ! कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ में कितने कल्प होते हैं ?

हे गौतम ? कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ जिनकल्पी भी होता है, स्थविर-कल्पी भी होता है और कल्पातीत भी होता है।"

प्रस्तुत पाठ में कषाय-कुशील में तीन कल्प कहे हैं—१ जिन कल्प, २ स्थविर कल्प और ३. कल्पातीत। इस पर टीकाकार ने लिखा है कि कल्पातीत कषाय-कुशील छद्मस्थ तीर्थ कर में ही होता है।

"कल्पातीते वा कषायकुशीलो भवेत्। कल्पातीतस्य छद्मस्थ तीर्थंकरस्य सकषायत्वात्।"

"कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ कल्पातीत भी होता है। क्योंकि छद्मस्थ तीर्थंकर कषाय-कुशील होते हैं और कल्पातीत हैं।"

उक्त पाठ एवं उसकी टीका में छद्मस्थ तीर्थंकर को कल्पातीत कहा है। भगवती सूत्र की टीका में लिखा है—"जो जिनकल्प और स्थविर-कल्प का उल्लंघन कर चुका है या जिनकल्प एवं स्थविर-कल्प से भिन्न है, उसे कल्पातीत कहते हैं।"

"कल्पातीतेति जिनकल्प-स्थविरकल्पाभ्यामन्यत्र।"

"कल्पमतीता: कल्पातीता:।"

इस व्युत्पत्ति से यह सिद्ध होता है—"जो कल्प की सीमा को लांघ चुका है, जिसके आचार पर आगम की मर्यादा का अधिकार नहीं है वह कल्पातीत है।"

आगम में मुख्यत दो कल्प बताए हैं–जिनकल्प और स्थविर-कल्प। शेष सभी कल्प इनमें ही अन्तर्भूत हो जाते है। इसलिए जिनकल्पी एव स्थविर-कल्पी ही शास्त्रीय मर्यादा के अधिकारी होते हैं। परन्तु जो मुनि इन कल्पो की मर्यादा को लाघ चुका है, वह शास्त्रीय मर्यादा का अधिकारी नही होता।

भगवान महावीर दीक्षा ग्रहण करते ही कल्पातीत हो गए थे। अत. जैसे सर्वज्ञ होने पर वे कल्पातीत एव आगम-व्यवहारी होने से उनके कार्य को आगमिक कल्पानुसार दोप रूप नही मान सकते, उसी तरह उनके छद्मस्थ अवस्था मे किए गए कार्य को भी दोषमय नही मान सकते। जैसे केवल ज्ञान होने पर भगवान ने जमाली आदि को दीक्षा देने आदि कार्य किए और वे कार्य दोष रूप नही थे। उसी प्रकार उनके छद्मस्थ काल मे गोशालक को दीक्षा देने, तिल बताने आदि के कार्य पथभ्रष्ट होने के कारण नही थे। अत. इनके आधार पर भगवान को चूका—पथ-भ्रष्ट हुआ बताना भयकर भूल है।

पांच व्यवहार

भगवान महावीर छद्मस्थ अवस्था में आगम-व्यवहारी एव कल्पातीत थे, इसलिए सूत्र-व्यवहारी के कल्पानुसार उनके कार्यो को दोप रूप नही कहा जा सकता, यह आपने बताया। अब व्यवहारो के भेद को स्पष्ट करे ?

भगवती,स्थानाग एवं व्यवहार सूत्र मे व्यवहार के भेद इस प्रकार बताए हैं—

"कइ विहे ण भन्ते ! ववहारे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे ववहारे पण्णत्ते, तं जहा—आगमे, सुए, आणा, धारणा, जीए,। जहा से तत्थ आगमे सिया आगमेणं ववहारे पट्ठवेज्जा। णो य से तत्थ आगमे सिया जहा से तत्थ सुए सिया सुए णं ववहारं पट्ठ-वेज्जा। णो वा से तत्थ सुए सिया जहा से तत्थ आणा सिया आणाए ववहारं पट्ठवेज्जा। णो य से तत्थ आणा सिया जहा से तत्थ धारणा सिया धारणाए ण ववहार पट्ठवेज्जा। णो य से तत्थ धारणा सिया जहा से तत्थ जीए सिया जीए ण ववहारं पट्ठवेज्जा।"

—भगवती ८,८,३४०, स्थानाग ५,२,४२१; व्यवहार उ०१०

"हे भगवन्! व्यवहार कितने प्रकार के होते हैं ?

हे गौतम ! व्यवहार पांच प्रकार के हैं–१. आगम व्यवहार,२. श्रुत व्यवहार,३. आज्ञा व्यवहार, ४. धारणा व्यवहार और ५ जित व्यवहार। जहाँ केवल ज्ञान आदि छः आगमो में से कोई आगम विद्यमान हो, वहाँ प्रायश्चित आदि की व्यवस्था आगम से ही दी जाती है, श्रुत आदि से नहीं। जहाँ आगम न हो वहाँ श्रुत व्यवहार से व्यवस्था की जाती है, आज्ञा आदि से नहीं। जहाँ श्रुत न हो वहाँ आज्ञा से; जहाँ आज्ञा न हो वहाँ धारणा से और जहाँ धारणा न हो वहाँ जित व्यवहार से व्यवस्था करनी चाहिए। परन्तु आज्ञा के होने पर धारणा से और धारणा के होने पर जित व्यवहार से प्रायश्चित आदि की व्यवस्था नहीं करनी चाहिए।"

प्रस्तुत पाठ में आगम व्यवहार छः प्रकार का बताया है—१. केवल ज्ञान, २. मनःपर्यव ज्ञान, ३. अवधिज्ञान, ४. चतुर्दश पूर्वधर, ५. दश पूर्वधर और ६ नव पूर्वधर। अस्तु पूर्व-पूर्व के सद्भाव में उत्तर से व्यवस्था देने का निषेध किया है। जैसे—केवल ज्ञान के सद्भाव में शेष पाच आगम व्यवहार से, मनः पर्यव ज्ञान के सद्भाव में शेष चार से, अवधिज्ञान के सद्भाव में शेष तीन से, चतुर्दश पूर्वधर के सद्भाव मे शेष दो से, दश पूर्वधर के सद्भाव में नव पूर्वधर से, और नव पूर्वधर के सद्भाव मे श्रुत—ग्यारह अंग से प्रायश्चित आदि की व्यवस्था करने का निषेध किया है। छद्मस्थ तीर्थंकर आगम व्यवहार से युक्त होते हैं,अतः उनमें श्रुत आदि के व्यवहार से दोष की स्थापना नही की जा सकती। भगवान महावीर को दीक्षा ग्रहण करते ही मन.पर्यव ज्ञान हो गया था। इसलिए उन्हें श्रुत आदि व्यवहारो को सामने रखकर आचरण करने की कोई आवश्यकता नही थी। उनके सभी व्यवहार आगम-व्यवहार के अनुरूप ही होते थे। अतः उनके आचरण एवं उनकी साधना को श्रुत आदि व्यवहारो के आधार पर आलोचना करना अनुचित है। भ्रमविध्वसनकार ने भी अपने 'प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध' के १२३ वें उत्तर में इस बात को स्वीकार किया है।

"प्रश्न—दश वर्ष पछे भगवती भणवी व्यवहार उद्देशा १० कह्यो, तो धनो नव मासे ११ अंग भण्यो किम ?

उत्तर—वीर नी आज्ञाइं दोष नही, ते ठामे आगम व्यवहार प्रवर्त्ततो सूत्र व्यवहार रो काम नही। व्यवहार उद्देशे १० तथा ठाणाग ठाणे ५ कह्यो जिवारे आगम व्यवहार हुवै, तिवारे आगम व्यवहार थापवो, अनें आगम व्यवहार न हुवै, तिवारे सूत्र-व्यवहार थापवो, इम कह्यो।"

भ्रमविध्वंसनकार ने उक्त प्रश्नोत्तर मे आगम व्यवहार के होने पर श्रुत व्यवहार का उपयोग नही करना स्पष्ट शब्दो में लिखा है। भगवान महावीर के समय में आगम-व्यवहार का उपयोग होना स्वीकार किया है। तथापि श्रुत व्यवहार के अनुसार भगवान में दोष स्थापित करना आगम के साथ-साथ इनके अपने कथन से भी सर्वथा विरुद्ध है।

गोशालक को शिष्य बनाया

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २२४ पर भगवती शतक १५ के पाठ की टीका की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ टीका मे निण कह्यो—ए अयोग्य ने भगवान अंगीकार कीधो, ते अक्षीण रागपणे करी, तेहना परिचय करी, स्नेह अनुकम्पाना सद्भाव थी। अने छद्मस्थ छै, ते माटे आगमिया काल ना दोष ना अजाणवा थकी अंगीकार कीधो कह्यो। राग, परिचय, स्नेह, अनुकम्पा कही। ते स्नेह अनुकम्पा कहो, भावे मोह-अनुकम्पा कहो। जो ए कार्य करवा योग्य हुवे तो इम क्या ने कहता ?"

भगवती सूत्र श० १५ की टीका से भगवान महावीर का चूकना सिद्ध नहीं होता। वहाँ टीकाकार ने लिखा है—

"अवश्यं भाविभावत्वाच्चैतस्यार्थस्येति विभावनीयम्।"

"गोशालक को, अवश्य होनहार होने से, भगवान ने उसे शिष्य रूप में स्वीकार किया।"

इस प्रकार टीकाकार ने भगवान के चूकने का स्पष्टत. निषेध किया है। यदि कोई यह कहे कि टीका मे गोशालक को स्वीकार करने का कारण उस पर स्नेह पूर्वक अनुकम्पा करना कहा है और साधु का किसी पर स्नेह करना गुण नहीं, दोष है। यह भ्रमविध्वंसनकार की असत्य कल्पना है। क्योंकि अनुकम्पा, दया, अपने धर्म, धर्माचार्य एवं अपने सहधर्मी भाइयो पर स्नेह करना दोष नहीं है, गुण है। आगम मे चोरी, जारी, हिंसा, झूठ आदि दुष्कर्मों पर स्नेह एवं अनुराग रखना दोष रूप कहा है, न कि गुणो के प्रति अनुराग रखना। अत. भगवान ने गोशालक पर जो स्नेहयुक्त भाव से अनुकम्पा की, उसे सावद्य कहना भारी भूल है।

यदि कोई यह कहे—"गोशालक अयोग्य व्यक्ति था, अत. उस पर स्नेह करना बुरा था।" इसका समाधान करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

"छद्मस्थतया अनागत दोषा अनवगमात्।"

"भगवान ने जिस समय गोशालक को शिष्य रूप में स्वीकार किया, उस समय वह अयोग्य नहीं था, किन्तु पीछे से अयोग्य हुआ। भगवान छद्मस्थ होने के कारण इस अनागत दोष को नहीं जानते थे।"

इस तरह टीकाकार ने गोशालक को स्वीकार करने के तीन हेतु दिए हैं और तीनो में भगवान को दोष लगने का निषेध किया है। इसके लिए प्रथम हेतु यह दिया कि भगवान ने उस पर स्नेह युक्त अनुकम्पा करके उसे शिष्य रूप मे स्वीकार किया। इसके लिए जब यह कहा गया—"गोशालक अयोग्य था, उस पर स्नेह क्यो किया"—इस आपत्ति का निवारण करने के

लिए दूसरा कारण यह बताया—"भगवान छद्मस्थ थे, इसलिए भविष्य में उसके अयोग्य होने की बात को नही जानते थे।" इसमें भी जब यह आपत्ति की गई—"भगवान छद्मस्थ होकर भी भविष्य की बात जान सकते थे, जैसे उन्होंने गोशालक को बताया था कि इस तिल के पौधे में तिल के इतने दाने होगे।" अत. टीकाकार ने पूर्व के दोनो हेतुओ से सन्तुष्ट न होकर तीसरा हेतु देकर स्पष्ट किया कि गोशालक को स्वीकार करना अवश्य होनहार था, इसलिए भगवान ने उसे स्वीकार किया। इसमें भगवान को कोई दोष नही लगा। इसके पूर्व के दोनो हेतुओ में भी भगवान को दोष लगने का निषेध किया है, समर्थन नही। क्योंकि एक ही विषय मे टीकाकार दो तरह के विचार व्यक्त नही कर सकता। यदि वह दो भिन्न राय दे, तो उसकी बात "स्थाणुर्वा पुरुषोवा" की तरह सशयात्मक होने से अप्रामाणिक होगी।

अस्तु टीकाकार ने भगवान के द्वारा गोशालक को स्वीकार करने के कार्य को दोषयुक्त नही कहा है। क्योंकि आगम-व्यवहारी पुरुप अनागत मे होने वाली घटना को अपने ज्ञान के द्वारा जानकर उसका अनुष्ठान करते है, इसलिए उसमे उन्हे दोप नही लगता। जैसे केवल ज्ञान होने पर भगवान ने जमाली को दीक्षा दी, उसी तरह गोशालक के विपय में समझना चाहिए। अत. भगवती की टीका का नाम लेकर भगवान को चूका कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

छद्मस्थ तीर्थंकर का कल्प

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २२४ पर लिखते है—

"तथा छद्मस्थ तीर्थ कर दीक्षा लेवे जिण दिन कोई साथे दीक्षा लेवे ते तो ठीक छै। पिण तठा पछे केवल ज्ञान उपना पहेला ओर ने दीक्षा देवे नही। ठाणाग ठाणा नव अर्थ में एहवी गाथा कही छै।"

स्थानाग स्थान ९ के टब्बा अर्थ मे उल्लिखित गाथा का नाम लेकर भगवान को चूका कहना मिथ्या है। प्रथम तो उक्त गाथा आगम या किसी प्रामाणिक टीका मे नही पाई जाती, इसलिए वह प्रमाण रूप से नही मानी जा सकती। दूसरी बात यह है कि उक्त गाथा में "न य सीसवग्गं दिक्खंति" लिखा है—"छद्मस्थ तीर्थ कर शिष्य वर्ग को दीक्षा नही देते।" यहाँ शिष्य वर्ग को दीक्षा देने का निपेध किया है, किसी एक शिष्य को दीक्षा देने का नही। अतः इस गाथा से गोशालक को शिष्य रूप मे स्वीकार करने से भगवान का चूकना प्रमाणित नही होता। अत. किसी अज्ञात व्यक्ति द्वारा रचित गाथा का नाम लेकर भगवान के पथ-भ्रष्ट होने की बात कहना भारी भूल है।

वस्तुतः छद्मस्थ तीर्थंकर वीतराग तीर्थंकर के समान ही कल्पातीत होते है। इसलिए उनके कार्य को शास्त्रीय कल्प के अनुसार दोष युक्त नही कहा जा सकता। क्योंकि आगमिक कल्प कल्पस्थित साधुओ पर ही लागू होता है, कल्पातीत पर नही। कल्पातीत साधु अपने ज्ञान में जैसा देखते हैं, वैसा करते हैं। यह उनका दोष नही, गुण है। स्थानाग के टब्बा अर्थ में उल्लिखित गाथा तीर्थंकर के कल्प को नही बताती है—"तीर्थंकर को अमुक कार्य करना कल्पता है और अमुक-अमुक कार्य करना नही कल्पता है।" कल्पातीत का कोई कल्प नही होता। अस्तु तीर्थ कर छद्मस्थ अवस्था मे प्राय जो कार्य करते हैं, इस गाथा में उसका वर्णन मात्र है। अतः उक्त गाथा का नाम लेकर तीर्थ कर को कल्प मे कायम करके उनके चूकने—पथ-भ्रष्ट होने की कल्पना करना सर्वथा असत्य है।

भगवान ने पाप-सेवन नहीं किया

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २३५ पर लिखते हैं—

"अने केई एक पाषडी कहे—गौतम ने भगवान कह्यो–हे गौतम ! १२ वर्ष १३ पक्ष में मोने किंचिन्मात्र पाप लाग्यो नही। ते झूठ रा वोलणहार छै।"

भगवान को बारह वर्ष एवं तेरह पक्ष में दोष नही लगने की बात भगवान के द्वारा सुधर्मा स्वामी ने सुनकर आचाराग सूत्र मे जम्बू स्वामी को बताई थी। क्योकि आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कध के नवम अध्ययन के प्रारम्भ में ही सुधर्मा स्वामी ने कहा है—

"अहा सुयं वइस्सामि।"

"मैंने जैसा सुना है, उसी रूप में कहूँगा।"

इससे यह ज्ञात होता है कि सुधर्मा स्वामी ने भगवान महावीर की छद्मस्थ अवस्था के वर्णन को उनके मुख से सुनकर ही जम्बू स्वामी से कहा था। आचाराग के प्रारम्भ में भी उन्होने यह प्रतिज्ञा की है—'हे आयुष्मन् ! भगवान महावीर ने ऐसा कहा था, यह मैंने सुना है'—

"सुयं मे आउस ! ते णं भगवया एवमक्खाय।"

इससे यह प्रमाणित होता है कि आचाराग मे कथित सब बाते भगवान द्वारा कही हुई हैं। अत. उसमें कथित बातो को सत्य नही मानना गणधरो की ही नही, तीर्थंकर की वाणी को भी नही मानना है। आचाराग सूत्र में स्पष्ट लिखा है–"भगवान महावीर इन स्थानो पर निवास करते हुए तेरह वर्ष पर्यन्त रात-दिन सयम-साधना में प्रवृत्त रहते थे और प्रमाद रहित होकर धर्म या शुक्ल ध्यान मे सलग्न रहते थे—

"एए हि मुणी सयणेहि, समणे असिय तेरस वासे।
राइंदियं पि जयमाणे, अप्पमत्ते समाहिए झाइ॥"

आचाराग सूत्र १, ९, २, ४

प्रस्तुत पाठ मे भगवान को तेरह वर्ष पर्यन्त प्रमाद रहित होकर विचरने का लिखा है। और इसी अध्ययन में आगे चलकर एक बार भी प्रमाद सेवन करने का निषेध किया है।

"अकसाई विगयगेही, सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाई।
छउमत्थो वि परक्कममाणो, न पमायं सइं वि कुव्वीथा ॥"

आचाराग सूत्र १, ९, ४, १५

प्रस्तुत गाथा में छद्मस्थ अवस्था मे भगवान के द्वारा एक बार भी प्रमाद सेवन का निषेध किया है। यह कथन गणधरो का स्व-कल्पित नही, भगवान के मुख से सुना हुआ है, यह हम पहले बता चुके हैं। अत. आचाराग सूत्र मे कथित इस सत्य को आवृत्त करने के लिए भ्रमविध्वसनकार ने यह असत्य कल्पना की कि भगवान ने गौतम स्वामी से १२ वर्ष और १३ पक्ष तक पाप नही लगने की बात नही कही।"

उक्त कथन मे सत्यता का पूर्णतः अभाव है। क्योकि भगवान ने सुधर्मा स्वामी से छद्मस्थ अवस्था मे पाप का आचरण एव प्रमाद का सेवन नही करने का स्पष्ट शब्दो में आघोष किया है। भले ही गौतम को लक्ष्य करके कहा जाए या सुधर्मा को लक्ष्य करके, कथन तो भगवान महावीर का ही है। फिर इसे सत्य क्यो नही मानते ?

द्रव्य और भाव निद्रा

भगवान को छद्मस्थ अवस्था मे दस स्वप्न आए थ। उस समय उन्हे अन्तर्मुहूर्त तक निद्रा आई थी। निद्रा लेना प्रमाद का सेवन करना है। अत आचाराग सूत्र की गाथा में यह कैसे कहा गया कि भगवान ने छद्मस्थ अवस्था मे एक बार भी प्रमाद का सेवन नही किया ?

भगवान महावीर को जब दस स्वप्न आए, उस समय उन्हे अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त जो निद्रा आई थी, वह भाव निद्रा नही द्रव्य निद्रा थी। आगम में मिथ्यात्व एव अज्ञान को भाव निद्रा कहा है, सोने मात्र को नही। सिर्फ शयन करना द्रव्य निद्रा है, उसे आगमिक विधानानुसार लेता हुआ साधु दोष एव पाप का सेवन नही करता। भ्रमविध्वसनकार को भी यह बात मान्य है। उन्होंने भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४०९ पर लिखा है—

"तिहा भाव-निद्रा थी तो पाप लागे छै। अनें द्रव्य-निद्रा थी तो जीव दबे छै।"

अतः द्रव्य-निद्रा आने मात्र से भगवान को प्रमाद का सेवन करने वाला नही कह सकते। अत आचाराग की पूर्वोक्त गाथा मे जो भगवान के द्वारा छद्मस्थ अवस्था में एक बार भी प्रमाद सेवन नही करने का उल्लेख है, वह अक्षरश. सत्य है, यथार्थ है। उसे न मानकर भगवान के चूक जाने एव प्रमाद सेवन करने की प्ररूपणा करने का दुराग्रह रखना नितान्त असत्य है।

लेश्या - अधिकार

लेश्या

लेश्या के भेद

कषाय-कुशील और लेश्या

साधु में कृष्ण-लेश्या नहीं होती

- प्रतिसेवना और लेश्या

साधु में रौद्र-ध्यान नहीं होता

लेश्या

लेश्या किसे कहते हैं ? संयम-निष्ठ साधु में कितनी लेश्याएँ होती हैं ?

प्रज्ञापना सूत्र की टीका में आचार्यों ने लेश्या की परिभाषा इस प्रकार की है—

"लिश्यते श्लिष्यते कर्मणा सह आत्मा अनयेति लेश्या—कृष्णादि द्रव्य साचिव्यादात्मन परिणाम विशेष ।" यथा चोक्तम्—

"कृष्णादि द्रव्य साचिव्यात्परिणामोयआत्मन. ।
स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्या शब्द प्रयुज्यते ॥"

"जिसके द्वारा आत्मा का कर्मों के साथ सम्बन्ध होता है, उसे लेश्या कहते हैं। कृष्णादि द्रव्य के संसर्ग से स्फटिक मणि की तरह आत्मा का जो परिणाम विशेष होता है, उसे लेश्या कहते हैं।"

वह लेश्या दो प्रकार की है—द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। भाव लेश्या मुख्य रूप से द्रव्य के संसर्ग से पैदा होने वाला आत्मा का परिणाम है। द्रव्य लेश्या मुख्य रूप से पुद्गल का परिणाम-पर्याय है।

संयम-निष्ठ साधु में तेज, पद्म और शुक्ल ये तीन भाव लेश्याएँ होती हैं, कृष्ण, नील और कापोत ये तीन भाव लेश्याएँ नहीं होती। इस विषय में भगवती सूत्र एवं उसकी टीका में स्पष्ट लिखा है—

"सलेस्सा जहा ओहिया, किण्हलेसस्स, नीललेसस्स, काउलेसस्स जहा ओहिया, जीवा णवरं पमत्ता-अपमत्ता न भाणियव्वा। तेउलेसस्स, पह्मलेसस्स, सुक्कलेसस्स जहा ओहिया जीवा णवरं सिद्धा णो भाणियव्वा।"

—भगवती सूत्र १, १, १७

"सलेस्साण भन्ते ! जीवा किं आयारंभे, इत्यादि तदेव सर्वं नवरं जीवस्थाने सलेश्या इति वाच्यं इत्ययमेको दण्डक। कृष्णादि लेश्या भेदात् तदन्ये पट् तदेवमेते सप्त तत्र 'किण्हलेसस्स' इत्यादि कृष्ण लेश्यस्य, नील लेश्यस्य, कापोत लेश्यस्य

च जीवराशेर्दण्डको यथौघिक जीवदण्डकस्तथाऽध्येतव्यः प्रमत्ताप्रमत्त विशेषण वर्ज्यं. कृष्णादिषु हि अप्रशस्त भावलेश्यासु संयतत्वं नास्ति यच्चोच्यते पुव्वं पडिवन्ना ओ पुण 'अनेरिए उ लेस्साए' त्ति तद् द्रव्यलेश्यां प्रतीत्येति मतव्यम्। ततस्तासु प्रमत्ताद्यभाव. तत्र सूत्रोच्चारणमेवम्—

"किण्हलेस्सा णं भन्ते ! जीवा कि आयारंभा, परारंभा, तदुभयारंभा, अणारंभा ?

गोयमा ! आयारंभा वि जाव णो अणारंभा।

से केणट्ठे णं भन्ते ! एवं वुच्चइ ?

गोयमा ! अविरयं पडुच्च।

एवं नील-कापोत लेश्या दण्डकादपीति। तथा तेजोलेश्यादेर्जीवराशेर्दण्डका यथौघिक जीवास्तथा वाच्या नवरं तेषु सिद्धा न वाच्याः, सिद्धानामलेश्यत्वात्।

तेउ लेस्सा णं भन्ते ! जीवा कि आयारंभा ४ ?

गोयमा ! अत्थे गइया आयारंभा वि जाव णो अणारंभा। अत्थे गइया नो आयारंभा जाव अणारंभा।

से केणट्ठे णं भन्ते ! एवं वुच्चइ ?

गोयमा ! दुविहा तेउलेस्सा पण्णत्ता—संजयाए, असंजयाए।"

"जीव दो प्रकार के होते हैं—१ सलेश्य और २ अलेश्य। सलेश्य जीवों का वर्णन सामान्य जीवों के वर्णन के समान समझना चाहिए। कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वाले जीवों का वर्णन भी सामुच्चय जीवों के समान समझना चाहिए, परन्तु इनमें प्रमादी और अप्रमादी के ये दो भेद नहीं होते। क्योंकि कृष्ण, नील और कापोत इन तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओं में संयतत्व—साधुत्व नहीं रहता। कहीं-कहीं साधुओं में छः लेश्याओं का भी उल्लेख मिलता है, वह द्रव्य लेश्या की अपेक्षा से समझना चाहिए, भाव लेश्या की अपेक्षा से नहीं। अतः कृष्ण, नील एवं कापोत इन तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओं में प्रमत्त और अप्रमत्त रूप दो भेद नहीं करने चाहिए।

हे भगवन् ! कृष्ण लेश्या वाले जीव आत्मारंभी, परारंभी और तदुभयारंभी होते हैं या अनारंभी ?

हे गौतम ! कृष्ण लेश्या वाले जीव आत्मारंभी, परारंभी और तदुभयारंभी होते हैं, अनारंभी नहीं।

हे भगवन् ! ऐसा क्यों कहते हैं ?

हे गौतम ! कृष्णलेश्या वाले जीव, अविरति की अपेक्षा से आत्मारंभी, परारंभी एवं तदुभयारंभी होते हैं, अनारंभी नहीं। इसी तरह नील और कापोत लेश्या वाले जीवों का भी समझना चाहिए

तेज,पद्म और शुक्ल लेश्या वाले जीवो को समुच्चय जीवों के समान समझना चाहिए,परन्तु इन में सिद्ध जीवो को नहीं कहना चाहिए। क्योंकि सिद्धो में लेश्या नहीं होती।

हे भगवन्! तेजो लेश्या वाले जीव आत्मारंभी,परारंभी और तदुभयारंभी होते हैं या अनारंभी ?

हे गोतम! तेजो लेश्या वाले कुछ जीव आत्मारंभी,परारंभी एवं तदुभयारंभी होते हैं,अनारंभी नहीं, और कुछ जीव आत्मारंभी, परारंभी एवं तदुभयारंभी नहीं होते, अनारंभी होते हैं।

हे भगवन्! तेजो लेश्या वाले जीवों में ऐसा भेद क्यो होता है ?

हे गोतम! तेजो लेश्या वाले जीव दो प्रकार के होते हैं—संयत और असंयत। संयत भी दो प्रकार के होते हैं—प्रमत्त और अप्रमत्त। अप्रमत्त संयत आत्मारंभी, परारंभी एवं तदुभयारंभी नहीं, अनारंभी होते हैं। परन्तु अशुभ योगी प्रमत्त संयत आत्मारंभी, परारंभी और तदुभयारंभी होते हैं, अनारंभी नही।"

प्रस्तुत पाठ मे बताया है कि कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वाले जीवो को ओघिक दण्डक के समान समझना चाहिए। इसमे विशेष बात यह है कि उक्त लेश्याओ में प्रमादी, अप्रमादी के दो भेद नही होते। मूल पाठ का अभिप्राय बताते हुए टीकाकार ने लिखा है कि कृष्ण, नील और कापोत इन तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओ मे साधुत्व नही होता, इसलिए इन अप्रशस्त भाव लेश्याओ मे प्रमत और अप्रमत्त के दो भेदो का निषेध किया है।

प्रस्तुत पाठ के भावों को स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने साधु में कृष्ण, नील और कापोत तीनो अप्रशस्त भाव लेश्याओ का निषेध किया है। अत साधु मे तेज, पद्म और शुक्ल ये तीन प्रशस्त भाव लेश्याएँ ही होती है।

साधु मे अप्रशस्त लेश्या नही होती

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २४२ पर लिखते है—

"अठ अठे ओघिक पाठ कह्यो—तिण मे संयत रा दो भेद प्रमादी, अप्रमादी किया। अनें कृष्ण, नील कापोत लेश्या ने ओघिक नो पाठ कह्यो। तिम कहिवो। पिण एतलो विशेष सयती रा प्रमादी, अप्रमादी ए दो भेद न करवा। ते किम ? प्रमत मे कृष्ण.दिक तीन लेश्या हुवे। अने अप्रमत्त में न हुवे, ते माटे दो भेद वर्ज्या।"

भगवती के उक्त पाठ मे "पमत्तापमत्ता न भाणियव्वा" का जो प्रयोग किया है, उसका टीका के अनुसार अर्थ होता है—कृष्ण, नील और कापोत इन तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओं मे प्रमादी, अप्रमादी दोनो ही प्रकार के साधु नही होते। परन्तु साधु से भिन्न जीव होते हैं। अतः कृष्ण.दि तीनो अप्रशस्त भाव लेश्याओ मे प्रमादी साधु का सद्भाव बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

यदि आगमकार को उक्त तीनो भाव लेश्याओ में केवल अप्रमत्त संयत का निषेध करना इष्ट होता, तो वह "पमत्तापमत्ता न भाणियव्वा" ऐसा न लिखकर "अपमत्ता न भाणियव्वा" इतना ही लिखते। यदि इस प्रकार का उल्लेख होता, तो कृष्ण.दि तीनो भावलेश्याओ में प्रमादी का होना एवं अप्रमादी का नही होना स्पष्ट हो जाता, परन्तु आगम में ऐसा न लिखकर स्पष्ट रूप से "पमत्तापमत्ता न भाणियव्वा" ऐसा लिखा है और इसका यही अर्थ होता है कि

कृष्णादि तीनो भाव लेश्याओ में प्रमादी-अप्रमादी दोनो प्रकार के साधु नही होते। टीकाकार ने भी यही अर्थ किया है और टब्बा अर्थ मे भी इसी को स्वीकार किया है।

"एतलो विशेष प्रमत्त-अप्रमत्त वर्जित कहिवा। कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्या विषे संयत पणो नथी।"

प्रस्तुत टब्बा अर्थ में स्पष्ट शब्दो मे लिखा है कि कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओ में साधुत्व नही होता। इसलिए इनमे प्रमादी एव अप्रमादी दोनो तरह के संयतों का निषेध किया है। तथापि उक्त मूलपाठ, उसकी टीका एव उसके टब्बा अर्थ तीनो को न मानकर अपनी कपोल-कल्पना से कृष्णादि तीनो अप्रशस्त भाव लेश्याओ मे साधुत्व होने की प्ररूपणा करना नितान्त असत्य है। जैसे उक्त पाठ, उसकी टीका एव टब्बा अर्थ मे कृष्णादि तीनो भाव लेश्याओ मे प्रमत्त एव अप्रमत्त सयत के होने का निषेध किया है, उसी प्रकार भगवती श० १, उ० २ मे उक्त तीनो अप्रशस्त भाव लेश्याओ मे सराग, वीतराग, प्रमत्त, अप्रमत्त इन चारो प्रकार के सयतो का नही होना कहा है।

"स लेस्सा णं भन्ते ! नेरइया सव्वे समाहारगा ?

ओहिया णं सलेस्साणं सुक्कलेस्साणं ए-ए सि ण तिन्नं तिण्हं एवको गमो। कण्हलेस्साणं नीललेस्साणं वि एवको गमो। नवरं वेदणाए मायी-मिच्छादिट्ठी उववन्नगा य अमायिसम्मदिट्ठी उववन्नगाय भाणियव्वा। मणुसा किरियासु सराग-वीयराग-पमत्तापमत्ता न भाणियव्वा। काउलेस्सा ण वि एसेव गमो, नवर नेरइए जहा ओहिए दण्डए तहा भाणियव्वा। तेउलेस्सा, पह्मलेस्सा, जस्स अत्थि जहा ओहिओ दण्डओ तहा भाणियव्वा। नवरं मणुसा सराग-वीयराग न भाणियव्वा।"

—भगवती सूत्र १, २, २२

"हे भगवन् ! क्या नारकी के सभी सलेशी जीवो का आहार एक समान है ?

ओधिक, सलेशी और शुक्ललेशी इन तीनो के लिए एक समान पाठ कहना चाहिए और कृष्ण एव नील लेश्या वाले जीवो के लिए भी एक-सा पाठ कहना चाहिए। परन्तु वेदना के विषय में यह अन्तर है—मायी-मिथ्यादृष्टि जीव महान् वेदना वाले होते हैं और अमायी-सम्यग्दृष्टि जीव अल्प-वेदना वाले होते हैं। मनुष्य में क्रिया सूत्र में यद्यपि ओधिक दण्डक में सरागी, वीतरागी, प्रमादी और अप्रमादी कहे हैं, तथापि कृष्ण और नील लेश्या के दण्डक में इन्हें नही कहना चाहिए। कापोत लेश्या का दण्डक भी नील लेश्यावत् समझना चाहिए, इसमें विशेष बात यह है—कापोत लेशी नारकी जीवों को ओधिक दण्डक के समान कहना चाहिए। तेजो, पद्म-लेश्या वाले जीवों को ओधिक दण्डक की तरह कहना, उसमें अन्तर इतना ही है—सरागी-वीतरागी नहीं कहना।"

उक्त पाठ में कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओ में सरागी, वीतरागी, प्रमादी और अप्रमादी चारो प्रकार के साधुत्व का निषेध किया है। साधु मे कृष्णादि तीनो अप्रशस्त भाव लेश्याएँ नही होती। इसलिए उक्त भाव लेश्याओ मे साधुत्व होने की प्ररूपणा करना, आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

लेश्या के भेद

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २४६ पर लिखते हैं—

"सरागी, वीतरागी, प्रमादी, अप्रमादी भेद कृष्ण, नील संयति मनुष्य रा नही हुवे। वीतरागी अने अप्रमादी में कृष्ण, नील लेश्या न हुवे ते माटे दो-दो भेद न हुवे। सरागी में तो कृष्ण, नील लेश्या हुवे, पर वीतरागी मे न हुवे, ते माटे संयति रा दो भेद—सरागी, वीतरागी न करवा। अने प्रमादी मे तो कृष्ण, नील लेश्या हुवे, परं अप्रमादी में न हुवे, ते माटे सरागी रा दो भेद-प्रमादी ,अप्रमादी न करवा। इण न्याय कृष्ण-नील लेगी संयति रा सरागी, वीतरागी, प्रमादी ,अप्रमादी भेद करवा वर्ज्या, पर सयति वर्ज्यो नही। संयति में कृष्ण, नील लेश्या छै। अने सयति मे कृष्णादिक न हुवे तो इमि कहता "सजया न भाणियव्वा"।

कृष्णादि तीनो अप्रशस्त भाव लेश्याओ मे सयत नही होते। इसलिए भगवती सूत्र के उक्त पाठ में सरागी, वीतरागी, प्रमादी अप्रमादी चारो प्रकार के साधुओ का नही होने का उल्लेख किया है, केवल सयतियो के भेद का नहीं। अस्तु इस पाठ का यह अभिप्राय नही है कि प्रमादी और सरागी मे कृष्णादि तीनो भाव लेश्याएँ पाई जाती है और अप्रमादी एव वीतरागी सयत में नही। क्योकि इसी पाठ मे आगे चलकर कहा है—तेज और पद्म लेश्याओ में सरागी और वीतरागी दोनो प्रकार के साधु नही होते। इसका तात्पर्य यही है कि सरागी और वीतरागी दोनो प्रकार के साधुओ मे तेज और पद्म लेश्याएँ नही होती। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सरागी में तेज और पद्म लेश्या पाई जाती है और वीतरागी में नहीं। क्योकि अष्टम, नवम और दशम गुणस्थानवर्ती जीव सरागी ही होते हैं। परन्तु उनमें तेज और पद्म लेश्या नही, केवल शुक्ल लेश्या ही होती है। अस्तु जैसे सरागी और वीतरागी दोनो प्रकार के साधुओ में तेज और पद्म लेश्या का निषेध किया है, उसी प्रकार सरागी, वीतरागी, प्रमादी और अप्रमादी चारो प्रकार के साधुओ मे कृष्णादि तीनो अप्रशस्त भाव लेश्याओ के होने का निषेध किया है। यदि कोई व्यक्ति दुराग्रह वश सरागी और प्रमादी मे कृष्णादि तीनो अप्रशस्त भाव लेश्याओ के सद्भाव की प्ररूपणा करे, तो उसे सरागी में तेज और पद्म लेश्या भी माननी चाहिए। परन्तु सरागी मे तेज और पद्म लेश्या क्यो नही मानते ? यदि वे तेज और पद्म लेश्या में सरागी का होना स्वीकर कर लें, तो उन्हे अष्टम, नवम और दशम गुणस्थान में भी तेज और पद्म लेश्या का

सद्भाव मानना होगा। क्योकि ये तीनो गुणस्थान सरागी है। परन्तु यह आगम विरुद्ध मान्यता है। आगम मे अष्टम, नवम, दशम गुणस्थान मे केवल एक शुक्ल-लेश्या का ही उल्लेख है। अत. जैसे सरागी और वीतरागी दोनो प्रकार के सयतो मे तेज और पद्म लेश्या का निषेध किया है, उसी प्रकार सरागी, वीतरागी, प्रमादी और अप्रमादी चारो प्रकार के साधुओ मे कृष्णादि तीनो अप्रशस्त भाव लेश्याओ का निषेध समझना चाहिए।

यदि कोई यह कहे कि तेज और पद्म लेश्या मे सरागी और वीतरागी दोनो प्रकार के साधुओ का निषेध किया है, अत. सयमी पुरुषो मे उक्त दोनो लेश्याएँ नही होनी चाहिए, ऐसा कथन युक्ति सगत नही है। क्योकि उक्त पाठ मे चार प्रकार के सयति कहे है-प्रमादी, अप्रमादी, सरागी और वीतरागी। उनमे षष्ठम गुणस्थानवर्ती साधु प्रमादी, सप्तम गुणस्थानवर्ती साधु अप्रमादी, अष्टम से दशम गुणस्थानवर्ती साधु सरागी और एकादशादि गुणस्थानवाले वीतरागी माने गए है। इसलिए षष्ठम और सप्तम गुणस्थानवाले सयतियो मे तेज और पद्म लेश्या का निषेध नही किया है। क्योकि यहाँ सरागी शब्द से अष्टम से दशम गुणस्थान पर्यन्त के सयत पुरुषो को ही ग्रहण किया है, अत षष्ठम और सप्तम गुणस्थान मे तेज और पद्म लेश्या का निषेध नही किया जा सकता।

परन्तु जो व्यक्ति कृष्ण, नील लेश्या वाले भगवती के पाठ मे कृष्णादि तीन मात्र लेश्याओ में केवल प्रमादी, अप्रमादी, सरागी, वीतरागी के भेद होने का निषेध मानते है, उनके मत से तेज, पद्म लेश्या मे भी सरागी और वीतरागी के भेद का ही निषेध मानना चाहिए, परन्तु साधु में तेज और पद्म लेश्या होने का नही। जैसे वे कृष्णादि तीनो अप्रशस्त भाव लेश्याओ मे प्रमादी और सरागी का सद्भाव मानते है, उसी तरह तेज और पद्म लेश्या मे अष्टमादि गुणस्थानवर्ती सरागी साधुओ को क्यो नही मानते ? अत जैसे अष्टमादि गुणस्थानवर्ती सरागी सयत मे तेज, पद्म लेश्या नही होती, उसी तरह चारो प्रकार के सयति पुरुषो मे कृष्णादि तीनो अप्रशस्त भाव लेश्याओ का सद्भाव नही मानना चाहिए।

यदि कोई यह कहे—कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओ में सयति मात्र का निषेध करना था, तो आगमकार ने पदलाघवात्—'संजया न भाणियव्वा' इतना ही क्यो नही लिखा ? ऐसा लिखने से सयति मात्र का निषेध हो जाता और पद का भी लाघव होता।

वस्तुत. आगमकार वैयाकरणो की तरह पद लाघव के पक्षपाती नही थे। आगम की वर्णन शैली पद लाघव करके, सकोच करके लिखने की कम रही है। जैसे जहाँ केवल 'पाणाणुकंपयाए' इतने पाठ से काम चल सकता था, वहाँ उसके साथ 'भूयाणु कम्पयाए, जीवानुकम्पयाए, सत्तानुकम्पयाए,' इत्यादि तीन शब्दो का और प्रयोग किया। उसी तरह यहाँ 'सजया न भाणियव्वा' न लिखकर सयत के चारो भेदो का उल्लेख किया है। अस्तु यह आगमकार की अपनी एक वर्णन शैली है, परन्तु ऐसा लिखने का यह अर्थ समझना भ्रम है कि आगम में सयत मात्र का नही, उसके भेदो का उल्लेख किया है।

लेश्या और साधना

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २४९ पर प्रज्ञापना सूत्र के पाठ की समलोचना करते हुए लिखते है—

"इहा, इण कृष्ण लेशी मनुष्य रा तीन भेद कह्या छै—सयति, असयति, सयतासयति—ते न्याय सयति मे पिण कृष्णादिक हुवे।"

प्रज्ञापना सूत्र के पाठ का नाम लेकर संयति में कृष्णादि अप्रशस्त भाव लेश्याओं का सद्भाव बताना नितान्त असत्य है। भगवती सूत्र अंग है और प्रज्ञापना सूत्र उपांग है। इसलिए उसमें भगवती सूत्र के कथन के विरुद्ध साधु में कृष्णादि तीनों अप्रशस्त भाव लेश्याओं के सद्भाव का उल्लेख नहीं हो सकता। अंगों में प्ररूपित सिद्धान्त का उपांग सूत्र समर्थन करते हैं, खण्डन नहीं।

"कण्हलेस्सा णं भन्ते! नेरइया सव्वे समाहारा, समसरीरा सव्वे व पुच्छा?

गोयमा! जहा ओहिया, नवरं नेरइया वेदणाए मायी-मिच्छादिट्ठी उववन्नगा-य अमायी सम्मदिट्ठी उववन्नगा य भाणियव्वा, सेसं तहेव जहा ओहिया णं। असुरकुमारा जाव वाणमंतरा, एते जहा ओहिया। नवरं मणुस्साणं किरियाहिं विसेसो जाव तत्थ णं जे ते सम्मदिट्ठी ते तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—संजया, असंजया, संजयासंजया, जहा ओहिया णं।"

—प्रज्ञापना सूत्र १७, २१३

"क्या कृष्ण लेश्यावाले नारकी सब समान आहार वाले एवं समान शरीर वाले होते हैं?
हे गौतम! जैसा औधिक दण्डक में कहा है, वैसा इसमें कहना चाहिए। यहाँ विशेष यह है—मायी-मिथ्यादृष्टि मरकर नरक में उत्पन्न होते हैं, वे महान् वेदना वाले होते हैं और जो सम्यग्दृष्टि मरकर नरक में उत्पन्न होते हैं, वे अल्पवेदना वाले होते हैं, शेष सबको औधिक दण्डक की तरह समझना चाहिए। असुरकुमार और वाणव्यन्तरों को भी औधिक दण्डकवत् कहना चाहिए। मनुष्यों में यह अन्तर है कि सम्यग्दृष्टि मनुष्य त्रिविध होते हैं—संयत, असंयत, और संयतासंयत। शेष सबको औधिक दण्डक की तरह कहना चाहिए।"

प्रस्तुत पाठ में 'जहा ओहियाणं' का प्रयोग करके संयति जीवों का भेद औधिक दण्डक की तरह कहा है। औधिक दण्डक में संयति के चार भेद किए हैं— प्रमादी, अप्रमादी, सरागी और वीतरागी। भगवती सूत्र में उक्त चारों प्रकार के साधुओं में कृष्णादि तीनों अप्रशस्त भाव लेश्याओं का नहीं होना कहा है। इसलिए इस पाठ में भी वही बात समझनी चाहिए। यहाँ 'जहा ओहियाणं' का प्रयोग करके उक्त चारों प्रकार के साधुओं को कृष्ण लेश्या से अलग किया गया है, उनमें कृष्ण लेश्या का सद्भाव नहीं कहा है। अन्यथा अप्रमादी और वीतरागी में भी कृष्ण लेश्या माननी पड़ेगी। क्योंकि औधिक दण्डक में समुच्चय लेश्या के अन्दर संयति के प्रमादी, अप्रमादी, सरागी और वीतरागी चारों ही भेद कहे गये हैं। यदि इस पाठ में इनमें कृष्ण लेश्या का सद्भाव माना जाए, तो प्रमादी और सरागी की तरह अप्रमादी और वीतरागी में भी कृष्ण लेश्या का सद्भाव सिद्ध होगा। परन्तु अप्रमादी और वीतरागी में कृष्ण लेश्या मानना स्वयं भ्रमविध्वंसनकार को भी इष्ट नहीं है। इसलिए इससे यही सिद्ध होता है कि प्रज्ञापना सूत्र में भगवती सूत्र के पूर्वोक्त पाठ की तरह कृष्णादि तीनों अप्रशस्त भाव लेश्याओं में चारों प्रकार के साधुओं का निषेध किया गया है। अतः उक्त पाठ का प्रमाण देकर साधु में कृष्णादि तीनों अप्रशस्त भाव लेश्याओं का सद्भाव बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

कषाय-कुशील और लेश्या

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २३७ पर भगवती श० २५, उ० ६ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ अठे तीर्थंकर में छद्मस्थ पणे कषाय-कुशील नियठो कह्यो छै। तिणसू भगवान् में कषाय-कुशील नियठो हुन्तो अने कषाय-कुशील नियठे छ लेश्या कही छै।" आगे चलकर लिखते हैं—"ते न्याय भगवान् मे छ लेश्या हुवे।"

भगवती श०२५, उ० ६ में कषाय-कुशील में समुच्चय रूप से छ लेश्याएँ कही हैं। परन्तु वहाँ यह स्पष्ट नही किया कि इनमे द्रव्य रूप कौन-सी है और भाव रूप कौन-सी? अतः यहाँ यह देखना है कि कषाय-कुशील मे जो छ लेश्याएँ कही हैं, वे द्रव्य रूप हैं या भाव रूप?

भगवती श० १, उ०१ के मूल पाठ एव उसकी टीका मे टीकाकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओ मे साधुत्व नही होता। इस प्रकार उक्त लेश्याओ मे साधुत्व का निषेध किया है। अत जहाँ कही साधु में कृष्णादि अप्रशस्त लेश्याओ का कथन है, वहाँ द्रव्य लेश्या की अपेक्षा से समझना चाहिए, भाव लेश्या की अपेक्षा से नही।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवती श० २५, उ० ६ के पाठ मे कषाय-कुशील मे द्रव्य लेश्याएँ कही हैं, भाव लेश्याएँ नही। अत उक्त पाठ का प्रमाण देकर कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ मे कृष्णादि तीनो अप्रशस्त भाव लेश्याओ का सद्भाव बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

अप्रतिसेवी है

कषाय-कुशील मूल गुण और उत्तर गुण मे दोष नही लगाता, इस सम्बन्ध मे क्या प्रमाण है? भगवती सूत्र मे कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ को दोष का अप्रतिसेवी कहा है।

"कसाय कुसीले पुच्छा ?

गोयमा ! नो पडिसेविए होज्जा एव नियंठेऽवि वउसेऽवि।"

—भगवती सूत्र २५, ६ प्रश्न ३४

'हे भगवन्! कषाय-कुशील दोष का प्रतिसेवी होता है या नहीं?'

"हे गौतम ! कषाय-कुशील मूल और उत्तर गुण में दोष नहीं लगाता। इसी तरह निर्ग्रन्थ और स्नातक को भी समझना चाहिए।"

प्रस्तुत पाठ में स्नातक और निर्ग्रन्थ की तरह कपाय-कुशील को भी दोप का अप्रतिसेवी कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि कपाय-कुशील निर्ग्रन्थ मे कृष्णादि तीनो अप्रशस्त भाव लेश्याएँ नही होती। क्योकि जिसमे कृष्णादि तीनो अप्रशस्त भाव लेश्याएँ होती है, वह अवश्यमेव दोप का सेवन करता है। कपाय-कुशील दोप का आसेवन नही करता, अत उसमे कृष्णादि तीनो अप्रशस्त भाव लेश्याओ का सद्भाव वताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

कृष्ण लेश्या का स्वरूप

कृष्ण लेश्या का क्या लक्षण है ? वह सयति पुरुप मे क्यो नही होती ? सप्रमाण वताएँ।

उत्तराध्ययन सूत्र मे कृष्ण लेश्या का लक्षण इस प्रकार वताया है—

"पंचासवप्पमत्तो तीहि अगुत्तो छसु अविरयोय।
त्तीव्वारंभ परिणओ खुद्दो साहसिओ नरो॥
निद्धंधस परिणामो नस्संसो अजिइन्दिओ।
एव जोग समाउत्तो किण्ह लेस्सं तु परिणमे॥"

—उत्तराध्ययन सूत्र ३४, २१-२२

"पचाश्रवा. हिंसादयः तैः प्रमत्तः प्रमादवान् पंचाश्रवप्रमत्त. पाठान्तरत. पचाश्रव प्रवृत्तो वाऽतस्त्रिभिः प्रस्तावान्मनोवाक्कायैरगुप्तोऽनियन्त्रितो मनोगुप्त्यादि रहित इत्यर्थं, तथा षट्सु पृथिवीकायादिषु अविरत· अनिवृतस्तदुपमर्दकत्वादेरितिगम्यते। अयं चातीव्रारभोऽपि स्यादत आह तीव्र उत्कट स्वरूपतोऽध्यवसायतो वा आरभा सर्वसावद्य व्यापारास्तत्परिणत· तत्प्रवृत्या तदात्मतागत. तथा क्षुद्र सर्वस्यैवाहितैषी कार्पण्य युक्तो वा सहसा अपर्य्यालोच्य गुण-दोषान् प्रवर्त्तत इति साहसिक चौर्य्यादि कृदिति योऽर्थ. नर. उपलक्षणत्वात् स्त्री आदिर्वा 'निद्धधस' त्ति अत्यन्तमैहिकामुष्मिकापायशका विकलोऽत्यन्तं जन्तुवाघनपेक्षो वा परिणामोऽध्यवसायो वा यस्य स तथा। नृसंसो निस्तृंशो जीवान् विहिंसन् मनागपि न शंकते। नि.संसो वा पर-प्रशंसा रहितः, अजितेन्द्रिय. अनिगृहीतेन्द्रिय.। अन्येसु पूर्वसूत्रोत्तरार्धस्थाने इदमभिधीयते तच्चेहेति उपसहारमाह एते च अनंतरोक्ता योगाश्च मनोवाक्काय व्यापारा. एतद्योगाः पचाश्रव प्रमत्तत्वादयस्तै समिति भृशमाङ्इति अभिव्याप्त्या युक्तः अन्वित. एतद्योगा समायुक्त. कृष्णलेश्यां तु. अवघारणे कृष्णलेश्यामेवपरिणमेत् तद् द्रव्य साचिव्येन तथाविघ द्रव्य संपर्कात् स्फटिकवत्तदुपरंजनात् तद्रूपतां भजेत्।" उक्तं हि—

"कृष्णादि: द्रव्यसाचिव्यात्परिणामोयमात्मनः ।
स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्या शब्द प्रयुज्यते ॥"

"हिंसा आदि पांच आश्रवों में प्रमत्त—मग्न एवं प्रवृत्त रहनेवाला मन, वचन, काय से अगुप्त या मन गुप्ति आदि तीन गुप्तियों से रहित,पृथ्वी आदि छः काय के जीवों के उपमर्दन से अनिवृत्त, तीव्र अध्यवसाययुक्त—उत्कट सावद्य व्यापार में प्रवृत्त होकर तद्रूपता को प्राप्त,क्षुद्र—सब का अहित करने वाला, कृपणता से युक्त, बिना विचारे झटपट चोरी आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्त होने वाला, इहलोक-परलोक के बिगड़ने की थोड़ी भी शंका नही रखने वाला,जीव-हिंसा में थोड़ी भी शंका नहीं करने वाला, दूसरे की प्रशंसा से रहित, अजितेन्द्रिय और पूर्वोक्त पंचाश्रव आदि योगों से युक्त पुरुष कृष्ण लेश्या के परिणाम वाला होता है। जैसे कृष्णादि द्रव्यों के संसर्ग से स्फटिक मणि तद्रूप कृष्ण दिखायी देती है, उसी तरह उक्त जीव भी कृष्णलेश्या का परिणामी होता है। कहा भी है—"कृष्णादि द्रव्य के संसर्ग से स्फटिक मणि की तरह जो आत्मा का कृष्णादि रूप परिणाम होता है, उसी में लेश्या शब्द का प्रयोग होता है।"

प्रस्तुत गाथाओ में जो कृष्ण लेश्या के लक्षण बताए है, साधु मे उनमे से एक भी नही पाया जाता। कृष्ण लेश्या वाला जीव-हिंसा आदि पाँच आश्रवो मे प्रमत्त या प्रवृत्त रहने वाला बताया है। परन्तु साधु आश्रवो मे मग्न नही रहता। वह तो पाँच आश्रवो का त्यागी होता है। इसलिए साधु मे कृष्ण लेश्या का लक्षण कथमपि घटित नही होता। यदि यह कहे कि प्रमादी साधु को आरम्भी कहा है और आरम्भ करना आश्रव का सेवन करना है, इसलिए प्रमत्त साधु में यह लक्षण घटित होता है। परन्तु यह कथन सत्य नही है। क्योकि इस गाथा मे सामान्य आरभी पुरुष को ग्रहण नही किया है। किन्तु जो विशिष्ट रूप से हिंसा आदि आश्रवों मे प्रवृत्त रहता है, उसको ग्रहण किया है। अतः उक्त गाथा मे प्रयुक्त—"तीव्वारंभ परिणयो" का टीकाकार ने यह अर्थ किया है—

"अयं च अतीव्रारंभोऽपि स्यादतआह तीव्राः उत्कटा स्वरूपतोऽध्यवसायतो व्रा आरंभा सर्व सावद्य व्यापारास्तत्परिणतः तत्प्रवृत्त्या तदात्मतां गतः।"

"सामान्य आरंभ करनेवाला व्यक्ति भी पाँच आश्रवों में प्रवृत्त मन, वचन और काय से अगुप्त और छः काय के उपमर्दन से अनिवृत्त कहा जा सकता है, परन्तु उसका विरोध करने के लिए इस गाथा में 'तीव्वारंभ परिणयो' का प्रयोग किया है। अतः जिस व्यक्ति का आरम्भ—स्वरूप और अध्यवसाय से उत्कट है और जो सदा पाँचों आश्रवों में प्रवृत्त होकर तद्रूप हो गया है, वही कृष्ण लेश्या का परिणामी है।"

अतः जो कभी सामान्य रूप से आरंभ करता है, वह कृष्ण लेश्या के परिणामवाला नही है। षष्ठम गुणस्थानवर्ती प्रमादी साधु यदा-कदा प्रमाद वश आरभ करता है, परन्तु उसका आरभ तीव्र नही होता, अतः उसमे कृष्ण लेश्या के परिणाम नही होते। और जो मन गुप्ति आदि तीन गुप्तियो से गुप्त नही है, अजितेन्द्रिय है, चोरी आदि दुष्कर्मो मे प्रवृत्त रहता है, वह कृष्ण लेश्या के परिणामो से युक्त है। उक्त गाथाओ मे कथित कृष्ण लेश्या के लक्षण साधु मे नही पाए जाते। अतः साधु मे और विशेष करके कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ मे कृष्ण लेश्या का सद्भाव बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

साधु में कृष्ण-लेश्या नहीं होती

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २३८ पर लिखते हैं—

"उत्तराध्ययन अ० ३४, गाथा २१ पचावासप्पामत्ता इति वचनात् पाच आश्रव मे प्रवर्ते ते कृष्ण लेश्या ना लक्षण कह्या, अने भगवान शीतल-तेजो लेश्या लब्धि फोड़ी तिहा उत्कृष्टो पाँच क्रिया कही ते माटे ए कृष्ण लेश्या नो अग जाणवो।"

उत्तराध्ययन की उक्त गाथा मे पाँच आश्रव में प्रवृत्त रहना कृष्ण लेश्या का लक्षण कहा है। परन्तु जो व्यक्ति सामान्य रूप से यदा-कदा प्रमाद वश मद आरभ करता हैं, वह भी पाँच आश्रवो मे प्रवृत्त कहा जा सकता है। उसमे कृष्ण लेश्या का लक्षण न चला जाए, इसलिए आगम मे कृष्णलेशी का 'तीव्रारभ-परिणयो' यह विशेषण लगाया है। इस विशेषण का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि जो तीव्र आरभ करता है उसी को कृष्ण लेश्या का परिणामी कहा है, मद आरभ करने वाले को नही। अत इस विशेषण का सार्थक्य बताते हुए टीकाकार ने लिखा है—

"पाँच आश्रव में प्रवृत्त होना, मन, वचन और काय से गुप्त नही रहना और पृथ्वीकाय आदि का उपमर्दन करना ये सब सामान्य आरभ करने वाले मे भी हो सकते है, परन्तु उसमें कृष्ण-लेश्या का परिणाम नही होता। इसलिए कृष्ण लेश्या के परिणाम से युक्त व्यक्ति के लिए तीव्र आरभ से युक्त विशेषण लगाया हैं। उत्कृष्ट हिंसा आदि आरभ मे प्रवृत्त व्यक्ति ही कृष्ण लेश्या का परिणामी है, सामान्य आरभ करने वाला नही।"

सामान्य आरभ करनेवाला व्यक्ति भले ही गृहस्थ भी हो तब भी उसमे कृष्ण लेश्या का परिणाम नही कहा जा सकता। साधु तो गृहस्थ की अपेक्षा अधिक विशुद्ध परिणाम वाला होता है, अत. उसमे भाव रूप कृष्ण लेश्या का सद्भाव तो सर्वथा असभव है। जब सामान्य साधु मे गाथोक्त कृष्ण लेश्या का एक भी लक्षण नही पाया जाता, तब भगवान महावीर मे वे लक्षण कैसे घटित होंगे? वह तो सर्वोत्कृष्ट चारित्र के परिपालक, मूल और उत्तर गुण के अप्रतिसेवी कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ थे। अत: उनमे भाव रूप कृष्णलेश्या का सद्भाव कैसे हो सकता है?

उत्तराध्ययन की उक्त गाथा का प्रथम चरण लिखकर भगवान मे कृष्ण लेश्या का

लक्षण घटाना सत्य पर आवरण डालना है। क्योंकि उक्त अध्ययन में इसके बाद नील लेश्या का लक्षण बताया है, उसमें लिखा है—

"इस्सा अमरिस अतवो अविज्जमाया अहीरिया।"

—उत्तराध्ययन सूत्र ३४, २२

"ईर्ष्या—दूसरे के गुणों को सहन नहीं करना, अमर्ष—अत्यन्त आग्रह रखना, तप नही करना, कुशास्त्र रूप अविद्या, माया करना एवं निर्लज्जता, ये नील लेश्या के लक्षण हैं।"

प्रस्तुत गाथा मे माया करना नील लेश्या का लक्षण कहा है और माया दशम गुणस्थान पर्यन्त है। क्योकि भगवती सूत्र मे अप्रमत्त साधु को माया प्रत्यया क्रिया लगने का उल्लेख है—

"तत्थ ण जे ते अप्पमत्त संजया तेसि णं एगा मायावत्तिया किरिया कज्जइ।"

—भगवती सूत्र १, २, २२

"अप्रमादी साधु में एक माया प्रत्यया क्रिया होती है।"

यहाँ अप्रमादी साधु को माया प्रत्यया क्रिया लगने का कहा है और माया करना नील लेश्या का लक्षण है। अत. भ्रमविध्वसनकार एव उनके अनुयायी अप्रमादी साधु में नील लेश्या क्यो नही मानते ? यदि यह कहे कि उत्तराध्ययन सूत्र की उक्त गाथा मे विशिष्ट माया को ग्रहण किया है, सामान्य माया को नही। अप्रमादी साधु मे विशिष्ट माया नही होती, इसलिए उसमे नील लेश्या नही है। इसी प्रकार विशिष्ट आरभ करना कृष्ण लेश्या का लक्षण है, सामान्य आरभ करना नही। साधु विशिष्ट रूप से आरभ नही करते। इसलिए साधु मे भाव रूप कृष्ण लेश्या का सद्भाव नही होता।

भगवान ने शीतल लेश्या का प्रयोग करके जो गोशालक की प्राण-रक्षा की, उससे भगवान को पाँच क्रिया लगने की कल्पना करना मिथ्या है। लब्धि प्रकरण मे यह स्पष्ट कर चुके है कि शीतल लेश्या का प्रयोग करने मे उत्कृष्ट पाँच क्रियाएँ नही लगती। अत' लब्धि का नाम लेकर भगवान मे पाँच क्रियाएँ बताना नितान्त असत्य है।

यदि यह कहे कि कृष्ण लेश्या के बिना लब्धि का प्रयोग नही किया जाता, इसलिए भगवान मे कृष्ण लेश्या अवश्य थी। परन्तु उनके इस कथन मे सत्यांश नही है। क्योकि पुलाक निर्ग्रन्थ जिस समय पुलाक लब्धि का प्रयोग करता है, उस समय उसमे पुलाक नियठा माना गया है। भ्रमविध्वसनकार ने भी भिक्खू यश-रसायन मे लिखा है—

"पुलाक नियंठो पीछाण ए, लब्धि फोड़यां कह्यो जिण जाण ए।
स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त थाय ए, लब्धि नी स्थिति तो अधिकाय ए॥
विरह उत्कृष्ट असंखेज्जवास ए, पछे तो अवश्य प्रकटे विमास ए।
या में चारित्र गुण स्वीकार ए, तिण सूं वन्दन जोग विचार ए॥"

उक्त पुलाक निर्ग्रन्थ मे तीन विशुद्ध भाव लेश्याएँ कही है, कृष्णादि अप्रशस्त लेश्याएँ नही। इसके अतिरिक्त बकुस और प्रतिसेवना कुशील मूल और उत्तर गुण मे दोष लगाते है परन्तु उनमे भी तीन विशुद्ध लेश्याएँ बताई है। इसलिए कृष्ण लेश्या के बिना लब्धि का प्रयोग नही होता, यह कथन नितान्त असत्य है।

प्रतिसेवना और लेश्या

पुलाक, बकुस और प्रतिसेवना कुशील मे तीन विशुद्ध भाव लेश्याएँ ही होती है, इसका क्या प्रमाण है ?

इस विषय मे भगवती सूत्र में लिखा है—

"पुलाए णं भन्ते ! किं सलेस्से होज्जा, अलेस्से होज्जा ?
गोयमा ! सलेस्से होज्जा, णो अलेस्से होज्जा।
जइ सलेस्से होज्जा से णं भन्ते ! कतिसु लेस्सासु होज्जा ?
गोयमा ! तीसु विसुद्ध लेस्सासु होज्जा तं जहा–तेउ लेस्साए, पम्ह लेस्साए, सुक्क लेस्साए। एवं बउसे वि, एवं पडिसेवणा कुसीले वि।"

—भगवती सूत्र २५, ६, ७६१

"हे भगवन् ! पुलाक निर्ग्रन्थ सलेशी होता है या अलेशी ?
हे गौतम ! पुलाक निर्ग्रन्थ सलेशी होता है, अलेशी नहीं।
हे भगवन् ! यदि वह सलेशी होता है, तो उसमें कितनी लेश्याएँ होती हैं ?
हे गौतम ! उसमें तीन विशुद्ध लेश्याएँ होती है–१. तेज २. पद्म और ३. शुक्ल लेश्या। इसी-तरह बकुस एवं प्रतिसेवना कुशील में भी तीन विशुद्ध लेश्याएँ होती हैं।"

प्रस्तुत पाठ मे पुलाक, बकुस और प्रतिसेवना कुशील में तीन विशुद्ध भाव लेश्याएँ बताई है, कृष्णादि अप्रशस्त लेश्याएँ नही। तथापि पुलाक निर्ग्रन्थ लब्धि का प्रयोग करता है, और बकुस एव प्रतिसेवना कुशील मूल एव उत्तर गुण मे दोप लगाते है। इसलिए कृष्ण लेश्या के बिना लब्धि का प्रयोग नही होता, यह कहना नितान्त असत्य है।

पुलाक, बकुस और प्रतिसेवना कुशील दोप के प्रतिसेवी हैं, इसका क्या प्रमाण है ?

भगवती सूत्र में इन्हे दोप का प्रतिसेवी बताया है—

"पुलाए ण भन्ते ! कि पडिसेवी होज्जा, अपडिसेवी होज्जा ?
पडिसेवए होज्जा, नो अपडिसेवए होज्जा।

जइ पडिसेवए होज्जा, कि मूलगुण पडिसेवए वा होज्जा, उत्तर गुण पडिसेवए वा होज्जा ?

मूलगुण पडिसेवमाणे पचण्हं अणासवाण अण्णयर पडिसेवएज्जा, उत्तरगुण पडिसेवमाणे दसविहस्स पच्चक्खाणस्स अण्णयर पडिसेवएज्जा।

वउसे णं पुच्छा ?

पडिसेवए होज्जा, णो अपडिसेवए होज्जा।

जइ पडिसेवए होज्जा, कि मूलगुण पडिसेवए होज्जा, उत्तरगुण पडिसेवए होज्जा ?

गोयमा ! नो मूलगुण पडिसेवए होज्जा,उत्तरगुण पडिसेवए होज्जा। उत्तरगुण पडिसेवमाणे दसविहस्स पच्चक्खाणस्स अण्णयर पडिसेवेज्जा।

पडिसेवणा कुसीले जहा पुलाए।''

—भगवती सूत्र २५, ६, ७५५

"हे भगवन् ! पुलाक निर्ग्रन्थ प्रतिसेवी होता है या अप्रतिसेवी ?

हे गौतम ! वह प्रतिसेवी होता है, अप्रतिसेवी नही।

यदि वह प्रतिसेवी होता है, तो मूल गुण का प्रतिसेवी होता है या उत्तर गुण का।

हे गौतम ! मूल और उत्तर गुण दोनों का प्रतिसेवी होता है। जब वह मूल गुण का प्रतिसेवी होता है, तब वह पाँच महाव्रतों में से किसी एक की विराधना करता है और जब उत्तर गुण का प्रतिसेवी होता है, तब दशविध प्रत्याख्यानो में से किसी एक की विराधना करता है।

हे भगवन् ! क्या बकुस प्रतिसेवी है या अप्रतिसेवी ?

हे गौतम ! प्रतिसेवी है, अप्रतिसेवी नही।

वह मूल गुण का प्रतिसेवी होता है या उत्तर गुण का ?

वह मूल गुण का नहीं, उत्तर गुण का प्रतिसेवी होता है। जब वह उत्तर गुण का प्रतिसेवी होता है, तब दशाविध प्रत्याख्यानो में से किसी एक की विराधना करता है।

प्रतिसेवना कुशील पुलाक की तरह मूल और उत्तर गुण दोनों का प्रतिसेवी होता है ?"

यहाँ पुलाक और प्रतिसेवना कुशील को मूल और उत्तर गुण दोनो का प्रतिसेवी कहा है और वकुस को उत्तर गुण का प्रतिसेवी कहा है। तथापि इन मे तीन विशुद्ध भाव लेश्याएँ बताई हैं, कृष्णादि अप्रशस्त भाव लेश्याएँ नही। अस्तु कृष्णादि अप्रशस्त भाव लेश्याओ के विना दोष का सेवन नही होता, यह कथन नितान्त असत्य है।

कषाय-कुशील स्व-स्थान में अप्रतिसेवी है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २१२ पर भगवती शतक २५, उ० ६ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"कषाय-कुशील छाडि ए छ. ठिकाने आवतो कह्यो। कपाय-कुशील ने दोप लागे इज नही, तो सयमासयम में किम आवे ? ए तो साधुपणो भागी श्रावक थयो ते तो मोटो दोप छै। ए तो साम्प्रत दोष लागे, तिवारे साधु रो श्रावक हुवे छै। दोष लागा बिना तो साधु रो श्रावक हुवे नही। जे कषाय-कुशील नियठे तो साधु हुन्तो पछे साधु पणो पल्यो नही, तिवारे श्रावक रा व्रत आदरी श्रावक थयो। जे साधु रो श्रावक थयो यह निश्चय दोप लाग्यो।"

जैसे कपाय-कुशील स्व-स्थान को छोडकर सयमासंयम में जाता है, उसी तरह निर्ग्रन्थ भी निर्ग्रन्थत्व का परित्याग करके असयम मे जाता है। यदि कपाय-कुशील कपाय-कुशीलत्व का त्याग करके सयमासयम मे जाने से दोप का प्रतिसेवी होता है, तव निर्ग्रन्थत्व का परित्याग करके अस-यम में प्रविष्ट होने के कारण निर्ग्रन्थ दोष का प्रतिसेवी क्यो नही होता ? भ्रमविध्वंसनकार भी निर्ग्रन्थ को दोष का प्रतिसेवी नही मानते, तव ऐसी स्थिति मे कपाय-कुशील को दोप का प्रति-सेवी मानना उचित नही है।

वास्तव मे दोप का प्रतिसेवी वही कहलाता है, जो मूल गुण या उत्तर-गुण मे दोप लगाता हो। जो साधु मूल या उत्तर गुण मे दोष नही लगाता, वह प्रतिसेवी नही है। कषाय-कुशील और निर्ग्रन्थ मूल या उत्तर गुण मे दोप नही लगाते, इसलिए ये दोनो अप्रतिसेवी है। यदि स्व-स्थान से गिरने मात्र से दोप का प्रतिसेवी माना जाए, तो निर्ग्रन्थ को भी दोप का प्रतिसेवी मानना होगा,क्योकि निर्ग्रन्थ भी असयम मे गिरता है। अत सयम से गिरने और दोप प्रतिसेवन का एकान्त सम्बन्ध नही है। क्योकि गिरने मात्र से कोई दोष का प्रतिसेवी नही माना जाता। वह दोप का प्रतिसेवी तब गिना जाता है, जब स्व-स्थान में रहते हुए मूल या उत्तर गुण मे दोप लगाए। यदि यह कहे कि आगम मे कषाय-कुशील को विराधक भी कहा है, फिर वह दोप का प्रतिसेवी क्यो नही होता ? जैसे कपाय-कुशील को विराधक कहा है, उसी तरह आगम मे निर्ग्रन्थ को भी विराधक कहा है। फिर निर्ग्रन्थ को भी दोप का प्रतिसेवी क्यो नही मानते ? भगवती सूत्र में स्पष्ट लिखा है—

"कसाय कुसीले पुच्छा ?

गोयमा ! अविराहणं पडुच्च इन्दत्ताए वा उववज्जेज्जा जाव अहमिन्दत्ताए उववज्जेज्जा। विराहणं पडुच्च अन्नयरेसु उवव-ज्जेज्जा।

नियंठे पुच्छा ?

गोयमा ! अविराहणं पडुच्च णो इन्दत्ताए उववज्जज्जा जाव णो लोगपालत्ताए उववज्जेज्जा, अहमिन्दत्ताए उववज्जेज्जा। विराहणं पडुच्च अण्णयरेसु उववज्जेज्जा।"

—भगवती सूत्र २५, ६, ७६३

"हे भगवन् ! कषाय-कुशील के सम्बन्ध में प्रश्न है ?

हे गौतम ! अविराधक कषाय-कुशील इन्द्र से लेकर यावत् अहमिन्द्र में उत्पन्न होता है और विराधक भवनपति आदि में जाता है।

हे भगवन् ! निर्ग्रन्थ के विषय में प्रश्न है ?

हे गौतम ! अविराधक निर्ग्रन्थ इन्द्र एवं लोकपालादि में उत्पन्न नहीं होता, वह अहमिन्द्र होता है और विराधक भवनपति आदि में जाता है।"

प्रस्तुत पाठ में कषाय-कुशील की तरह निर्ग्रन्थ को भी विराधक कहा है। अत: यदि विराधक होने से कषाय-कुशील को दोष का प्रतिसेवी माना जाए, तो निर्ग्रन्थ को भी दोष का प्रतिसेवी मानना होगा ? परन्तु विराधक होने पर भी निर्ग्रन्थ दोप का प्रतिसेवी नही होता, उसी तरह कषाय-कुशील भी दोप का प्रतिसेवी नही होता। अत सयम से गिरने एव विराधक होने का नाम लेकर कषाय-कुशील को दोष का प्रतिसेवी कहना सर्वथा अनुचित है।

साधु में रौद्र-ध्यान नहीं होता

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २३९ पर आवश्यक सूत्र का प्रमाण देकर लिखते है—

"अथ इहा पिण छ लेश्या कही। जो अशुभ लेश्या मे न वर्ते तो ए पाठ क्यू कह्यो ? तथा 'पडिक्कमामि चउहिं झाणेहिं अट्टेण झाणेण, रुद्देण झाणेण, धम्मेण झाणेण, सुक्केण झाणेण।" इहा साधु मे चार ध्यान कह्या। जिम आर्त्त, रौद्र ध्यान पावे, तिम कृष्ण, नील, कापोत लेश्या पिण पावे।"

आवश्यक सूत्र का नाम लेकर साधु में कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याएँ और रौद्र-ध्यान बताना अनुचित है। आगम मे रौद्र ध्यान वाले व्यक्ति की नरक गति बताई है। और स्थानाग सूत्र की टीका मे हिंसा आदि अति क्रूर कर्मो का आचरण करने के लिए दृढ निश्चय करने को रौद्र-ध्यान कहा है—

"ध्यानं दृढोऽध्यवसाय हिंसाद्यति क्रौर्य्यानुगत रुद्रम् ।"

"हिंसा आदि अति क्रूर कर्मो का आचरण करने का जो दृढ़ निश्चय है, वह रौद्र-ध्यान है। वह चार प्रकार का होता है—१. हिंसानुबन्धी, २. मृषानुबन्धी, ३. स्तेनानुबन्धी और ४. संरक्षणानुबन्धी।"

उक्त चारो ध्यान अति क्रूर कर्मो मे सलग्न व्यक्ति के होते हैं, साधु के नही। क्योकि साधु क्रूर कर्मो का आचरण करने वाला नही होता है। आवश्यक सूत्र में 'पडिक्कमामि चउहिं झाणेहिं" का जो पाठ आया है, उससे साधु मे रौद्र ध्यान का सद्भाव सिद्ध नही होता है। क्योकि आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान मे अविश्वास होने से साधु को अतिचार लगता है। उसकी निवृत्ति के लिए साधु उक्त पाठ का उच्चारण करके प्रतिक्रमण करता है। परन्तु उसमे चारो ध्यानो का सद्भाव होने से वह इनका प्रतिक्रमण करता है, ऐसी बात नही है। इस पाठ के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

"प्रतिक्रमामि चतुर्भिर्ध्यानै. करणभूतैरश्रद्धेयादिना प्रकरेणयोऽतिचार: कृत.।"

"साधु यह प्रतिज्ञा करता है कि आगम में कथित चार ध्यानों में अविश्वास होने से जो अतिचार लगा है, उससे मै निवृत्त होता हूँ।"

यहाँ टीकाकार ने आगम मे उल्लिखित चार ध्यानो में अविश्वास रखने मे लगनेवाले

आगम के मूल पाठ पर निर्भर है। अत. जो टीका मूल आगम से प्रतिकूल है, वह प्रामाणिक नही होती है। मलयगिरि की उक्त टीका भगवती सूत्र के मूलपाठ एवं उसकी प्राचीन टीका से विरुद्ध है, इसलिए वह प्रमाण रूप नही मानी जा सकती।

भ्रमविध्वसनकार ने जो प्रज्ञापना का पाठ लिखा है, उसमें यह नही लिखा है कि मन.-पर्यव ज्ञानी मे भाव कृष्ण लेश्या होती है। वहाँ सामान्य रूप से कृष्ण लेश्या का होना लिखा है। अत. वह कृष्ण लेश्या द्रव्य रूप है, भाव रूप नही। क्योकि भगवती सूत्र मे साधु में कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओ का निषेध किया है। अत प्रज्ञापना सूत्र मे उसके विरुद्ध सयति मे कृष्ण लेश्या का सद्भाव कैसे वताया जा सकता है ? भगवती अग सूत्र है और प्रज्ञापना उपाग सूत्र है। अग सूत्र स्वत. प्रमाण है और उपाग अगो के आधार पर। अस्तु प्रज्ञापना का प्रमाण देकर साधु मे भाव लेश्या का सद्भाव वताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

उपसंहार

कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओ मे साधुत्व नही होता। तेज, पद्म और शुक्ल इन तीन प्रशस्त भाव लेश्याओ में साधुत्व होता है। इन विशुद्ध भाव लेश्याओ से युक्त, जो साधु–सघ आदि की रक्षा के लिए वैक्रिय लब्धि का प्रयोग करता है, उसे आगम मे भावितात्मा अणगार कहा है—

"से जहा नामए केइ पुरिसे असिचम्मपायं गाहाए गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा, असिचम्मपाय हत्थकिच्चगएणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पएज्जा ?

हन्ता उप्पएज्जा।"

—भगवती सूत्र ३, ५, १६१

"हे भगवन्! जैसे कोई पुरुष तलवार और चर्म को धारण करके चलता है, उसी तरह भावितात्मा अणगार संघ आदि के कार्य के लिए असि-चर्म को धारण करके ऊपर आकाश में चल सकता है?

हाँ, गौतम, चल सकता है।"

प्रस्तुत पाठ मे सघ आदि के कार्य के लिए असि और चर्म को धारण करके ऊपर आकाश मे चलनेवाले साधु को 'भावितात्मा अणगार' कहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि सघ आदि की रक्षा के लिए परिस्थिति वश मूल एव उत्तर गुण मे दोप लगाने पर भी साधु मे सयम के श्रेष्ठ गुण विद्यमान रहते है। इसलिए उसमे तीन विशुद्ध लेश्याओ का ही सद्भाव होता है, अप्रशस्त भाव लेश्याओ का नही। अन्यथा असि और चर्म लेकर आकाश मे गमन करने वाले साधु को आगम में भावितात्मा नही कहते। जिस साधक मे प्रशस्त भाव लेश्याएँ होती है, वही भावितात्मा हो सकता है, अप्रशस्त भाव लेश्या वाला नही।

भ्रमविध्वसनकार ने भी भिक्खू जस-रसायन में लिखा है–

"मूल गुण ने उत्तरगुण मांहिए, दोष लगावे ते दु.खदाय ए,
पडिसेवणा कुशील पिछाण ए।
जघन्य दो सौ कोड़ ते जाण ए, नाहीं विरह ए थी ओछो नाहीं ए,
ए पिण छट्ठे गुणठाणे कहिवाय ए, यां में चारित्र गुण सोरीकार ए,
तिण सूं वन्दवा जोग विचार ए।"

उक्त पद्यो मे भ्रमविध्वसनकार ने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि प्रतिसेवन कुशील मूल गुण और उत्तर गुण मे दोष लगाता है, तथापि उसमे षष्ठम गुणस्थान और चारित्र के श्रेष्ठ गुण विद्यमान रहते हैं, इसलिए वह वन्दनीय समझा जाता है।

इनके मतानुयायियो से पूछना चाहिए कि जब मूल गुण और उत्तर गुण मे दोष लगाने वाले साधु मे भी श्रेष्ठ गुणो का सद्भाव रहता है, तब उनमे कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याएँ कैसे हो सकती हैं ? क्योकि अप्रशस्त भाव लेश्याओ मे चारित्र के श्रेष्ठ गुण कदापि विद्यमान नही रहते। अत. साधु मे चारित्र के श्रेष्ठ गुण एव अशुभ भाव लेश्याओ का एक साथ सद्भाव होना असभव है।

तेज, पद्म और शुक्ल लेश्याओ मे भी दोष का प्रतिसेवन होता है। इसलिए दोष के प्रतिसेवन का नाम लेकर साधु मे अप्रशस्त भाव लेश्याओ का सद्भाव बताना बिल्कुल गलत है। वैमानिक देवो मे तेज, पद्म और शुक्ल ये तीन प्रशस्त लेश्याएँ ही मानी है और उन्हें आत्मारभी, परारभी और तदुभयारभी कहा है। इस प्रकार जब आत्मारंभी, परारभी एव तदुभयारभी वैमानिक देवो मे तीन विशुद्ध भाव लेश्याएँ मानते हैं, तब महाव्रतो के परिपालक मुनियो मे दोष लगाने पर भी तीन प्रशस्त भाव लेश्याएँ मानने मे सन्देह को अवकाश ही नही है।

छ लेश्याओ के स्वरूप को समझाने के लिए आवश्यक टीका मे निम्न दृष्टान्त दिया है—

"एक दिन ६ व्यक्तियो ने परिपक्व जामुन के फलो के बोझ से पृथ्वी की ओर झुकी हुई शाखाओ से युक्त जामुन के वृक्ष को देखा। वे परस्पर कहने लगे कि हम इस जामुन के फल खाएगे। उनमे से एक व्यक्ति ने फल प्राप्त करने का उपाय बताते हुए कहा कि वृक्ष के ऊपर चढने से गिरने का भय है,अत. इस वृक्ष को जड़ से काटकर इसके फल खा ले। दूसरे ने कहा कि इतने बड़े वृक्ष को काटने से क्या लाभ होगा ? अत इसकी शाखाओ को काटकर, उसमे लगे हुए फलो को खा ले। तीसरे ने कहा कि शाखाओ का छेदन करना भी उपयुक्त नही है, इसलिए उसकी प्रशाखाओ—टहनियो को तोड़कर फल खा ले। चतुर्थ ने कहा कि अच्छा यह है कि हम इसके गुच्छो को तोडकर उसमे लगे हुए फलो को खाकर अपने मन को तृप्त कर लें। पाँचवे ने कहा कि गुच्छो को तोडने की क्या आवश्यकता है, इसके पक्के फलो को तोडकर खा ले। छट्ठे ने कहा कि जब फल गिरे हुए पडे है, तो उन्हे खा ले। तोडने की क्या आवश्यकता है ?"

इसमे प्रथम पुरुष जो वृक्ष को जड़ से उन्मूलन करने की सलाह देता है, उसमे कृष्ण लेश्या के परिणाम है। जो बड़ी-बडी शाखाओ को छेदन करने का परामर्श देता है, वह द्वितीय नील लेश्या के परिणामो से युक्त है। प्रशाखाओ को काटने की बात कहने वाला तृतीय पुरुष कापोत लेशी है। गुच्छो को तोड़ने की योजना बताने वाला चतुर्थ व्यक्ति तेजो लेश्या से युक्त है। परिपक्व फलो को तोडकर खाने की राय देने वाला पचम पुरुष पद्म लेशी है। और स्वभावतः नीचे गिरे हुए फलो को खाकर सन्तोष करने का विचार अभिव्यक्त करने वाला षष्ठम पुरुष शुक्ल लेश्या वाला है।"

इसमें बताया है—गुच्छो को तोड़ने का परामर्श देने वाला तेजो लेशी, पक्के फल तोड़ने एव नीचे गिरे हुए फलो को खाने की बात कहने वाले क्रमश. पद्म और शुक्ल लेशी हैं। यद्यपि ये तीनो पुरुष आरभ के दोष से निवृत्त नही है। तथापि प्रथम के तीन व्यक्तियो की अपेक्षा बहुत ही अल्पारभी है। अत. इन्हें तेज, पद्म एवं शुक्ल लेशी कहा है। इसी तरह मूल और

उत्तर गुण में दोष लगाने वाला साधु यद्यपि आरंभ दोष से मुक्त नहीं है, तथापि अव्रतियो की अपेक्षा से अति श्रेष्ठ एव निर्मल चरित्र से सम्पन्न है, इसलिए उसमे विशुद्ध लेश्याएँ ही हैं। जैसे थोडे से फलो को प्राप्त करने के लिए प्रथम के तीन व्यक्तियो ने वृक्ष की जड़, शाखा एव प्रशाखाओं को काटने की सलाह दी, उसी तरह जो व्यक्ति स्वल्प लाभ के लिए महान् आरभ करता है, वह कृष्ण, नील एव कापोत लेश्या वाला कहा गया है। परन्तु जो थोडे-से फल को पाने के लिए महारंभ नही करता, वह अप्रशस्त भाव लेश्याओ से युक्त नही है। साधु आरभ का त्यागी, पंच महाव्रत धारी और विवेक सम्पन्न होता है, वह स्वल्प लाभ के लिए कदापि महारंभ नही करता, अत उसमें अप्रशस्त भाव लेश्याएँ नही होती।

परन्तु उक्त दृष्टान्त से यह नही समझना चाहिए कि तेज, पद्म और शुक्ल लेश्यावाले सब जीव आरभ करते ही है। जो साधु उत्कृष्ट परिणामो से युक्त है, वह बिल्कुल आरभ नही करता। शुक्ल लेश्या वाले पुरुष वीतरागी भी होते है। अत. उक्त दृष्टान्त में सामान्य श्रेणी के तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या वाले व्यक्ति कहे गए है। अस्तु इस दृष्टान्त से सभी तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या वाले जीवो को आरभी नही समझना चाहिए।

तेरहपन्थी साधु उक्त लेश्या के दृष्टान्त को चित्र के द्वारा दिखाकर लोगो को लेश्या का स्वरूप समझाते है। परन्तु जब साधु में लेश्या का प्रसग आता है, तब वे उक्त दृष्टान्त के भावो को भूल जाते है और साधु मे भी कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओ का कथचित् सद्भाव कहने लगते हैं। इतना ही नहीं, इससे भी एक कदम आगे बढकर पच महाव्रत धारी साधुओ को आश्रवो का आसेवन करनेवाला कहने मे भी सकोच नही करते। इसी तरह वे मरते हुए प्राणी की रक्षा करने, दु खी पर दया करके उसे दान देने मे अप्रशस्त भाव लेश्याओ का सद्भाव बताकर एकान्त पाप कहते है। परन्तु उनका यह कथन आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

बुद्धिमान विचारको को स्वय सोचकर निर्णय करना चाहिए कि जब फल तोड़ने के परिणाम भी प्रशस्त और अप्रशस्त लेश्याओ से युक्त होते हैं, तब सद्भाव एवं निस्वार्थ बुद्धि से मरते हुए प्राणी की रक्षा करने एव दु खी के दु.ख को दूर करने हेतु दान देने मे अप्रशस्त लेश्याएँ कसे हो सकती है ? अस्तु गोशालक की रक्षा करते समय भगवान महावीर में अप्रशस्त भाव-लेश्याएँ बताकर उन्हे चूका कहना नितान्त असत्य है।

वैयावृत्य - अधिकार

प्रताड़न और सेवा

शान्ति पहुँचाना शुभ कार्य है

साधु और श्रावक का कल्प

वैयावृत्य : तप है

अपवाद : मार्ग है

साधु को बचाना धर्म है

प्रताड़न और सेवा

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २४१ पर उत्तराध्ययन सूत्र अ० १२, गा० ३२ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहा हरिकेशी मुनि कह्यो—पूर्वे,हिंवडा अनें आगमिये काले म्हारो तो किंचित द्वेष नही। अने जे यक्षे व्यावच कीघी ते माटे ए विप्र वालको ने हण्या छै। ए पोतानी आशंका मेटवा अर्थे कह्यो। जे छात्रा ने हण्या ते यक्ष व्यावच करी, पिण म्हारो द्वेप नथी। ए छात्रा ने हण्या ते पक्षपात रूप व्यावच कही छै। आज्ञा वाहिरे छै।"

यक्ष ने मुनि का उपद्रव मिटाने के लिए, जो ब्राह्मण कुमारो को प्रताड़ित किया, उसे मुनि का वैयावृत्य वताकर मुनि की वैयावृत्य को सावद्य वताना नितान्त असत्य है। क्योकि मुनि की वैयावृत्य करने का कार्य एवं ब्राह्मण कुमारो को प्रताड़ित करने का कार्य,दोनो एक नही, दो भिन्न कार्य है। जहाँ यक्ष के द्वारा ब्राह्मण कुमारो को प्रताड़ित करने का उल्लेख है, वहाँ यह पाठ आया है—

"इसिस्स वेयावडियट्ठयाए जक्खा कुमारे विणिवारयंति।"

"ऋषि की वैयावृत्य करने के लिए यक्ष ब्राह्मण कुमारों का निवारण करने लगा।"

प्रस्तुत पाठ मे मुनि की वैयावृत्य के लिए ब्राह्मण कुमारो को प्रताड़ित करना कहा है, परन्तु प्रताडित करने को मुनि की वैयावृत्य नही कहा है। इससे वैयावृत्य एव प्रताडन का कार्य एक नही, एक-दूसरे से भिन्न है। जैसे देवो ने भगवान महावीर को वदन नमस्कार करने के निमित्त जहाँ वैक्रिय समुद्घात किया, वहाँ 'वन्दनवत्तियाए' पाठ आया है, और यहाँ 'वेयावडियट्ठयाए' यह पाठ आया है। जैसे वन्दनार्थ किया जाने वाला वैक्रिय समुद्घात वन्दन स्वरूप नही, किन्तु उससे भिन्न है। उसी तरह वैयावृत्य के हेतु किया जाने वाला ब्राह्मण कुमारो का प्रताडन वैयावृत्य स्वरूप नही, वल्कि उससे भिन्न है। अत. जैसे वैक्रिय समुद्घात के सावद्य होने पर भी भगवान का वदन सावद्य नही होता, उसी तरह ब्राह्मण कुमारो को ताडन करने का कार्य सावद्य होने पर भी मुनि का वैयावृत्य सावद्य नही होता।[1]

---

१. इस विषय पर अनुकम्पा अधिकार पृष्ठ २६७ पर विस्तार से लिख चुके हैं।

नाटक और भक्ति

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २४२ पर राजप्रश्नीय सूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"इहां सूर्याभ नाटक ने भक्ति कही छै। ते भक्ति सावद्य छै। ते माटे भक्ति नी भगवन्ते आज्ञा न दीवी।"

राजप्रश्नीय का प्रमाण देकर आगमोक्त भक्ति को सावद्य बताना नितान्त असत्य है। उक्त पाठ में भक्ति को नाटक स्वरूप नहीं, नाटक से भिन्न कहा है।

यहाँ सूर्याभ ने भगवान से भक्ति पूर्वक नाटक करने की आज्ञा मागी, भक्ति स्वरूप नाटक करने की नहीं। क्योंकि यहाँ "भत्तिपुव्वगं" शब्द आया है, 'भत्तिरूव्वं' नहीं। इसलिए नाटक को ही भक्ति रूप मानना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

वीतराग में परमानुराग रखने का नाम वीतराग की भक्ति है। और वेश भूषा एवं भाषा आदि के द्वारा किसी श्रेष्ठ पुरुष के जीवन का अनुकरण करना नाटक है। इसलिए नाटक और भक्ति दोनों एक नहीं, दो भिन्न विषय हैं। अस्तु इन दोनों को एक बताना नितान्त असत्य है।[1]

---

१ इस विषय पर अनुकम्पा अधिकार पृष्ठ २६५ पर विस्तार से लिखा है।

शान्ति पहुँचाना शुभ कार्य है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २५४ पर साधु के अतिरिक्त दूसरे जीवो को साता पहुँचाने मे एकान्त पाप सिद्ध करते हुए लिखते है—

"कोई कहे सर्व जीवा ने साता उपजाया तीर्थंकर गोत्र बांधे, इम कहे ते पिण झूठ छै। सूत्र मे तो सर्व जीवा रो नाम चाल्यो नही।" इसके अनन्तर ज्ञाता सूत्र के पाठ एव उसकी टीका की समालोचना करते हुए लिखते हैं—"इहा टीका में पिण गुर्वादिक साधु इज कह्या। पिण गृहस्थ न कह्या। गृहस्थ नी व्यावच करे, ते तो अट्ठाइसमो अणाचार छै। पिण आज्ञा मे नही, इत्यादि।"

ज्ञाता सूत्र मे तीर्थंकर गोत्र बाँधने के बीस कारण बताए है। उनमे समाधि—चित्त में शान्ति उत्पन्न करना भी तीर्थकर गोत्र बधने का कारण कहा है। किसी व्यक्ति को समाधि-शान्ति पहुचाना, इसके लिए आगम में किसी व्यक्ति विशेष के नाम का उल्लेख नही किया है। ऐसी स्थिति मे केवल साधु के चित्त मे शान्ति उत्पन्न करना ही तीर्थंकर गोत्र बंधने का कारण है, अन्य प्राणियो को शान्ति देना नही, ऐसी कल्पना करना अप्रामाणिक एव आगम विरुद्ध है। उक्त पाठ की टीका से भी यह सिद्ध नही होता।

"समाधौ च गुर्वादीनां कार्य्यकारणद्वारेण चित्तस्वास्थ्योत्पादने सति निर्घतितवान्।"

—ज्ञाता सूत्र टीका

"गुरु आदि का कार्य करके उनके चित्त में शान्ति उत्पन्न करने से तीर्थंकर गोत्र बंधता है।"

यहाँ गुरु आदि से केवल साधु का ही ग्रहण बताना गलत है। क्योकि माता-पिता, ज्येष्ठ बन्धु, चाचा एव शिक्षक आदि भी गुरु कहलाते है। तथापि गुरु शब्द से उनका ग्रहण नही होकर, एक मात्र साधु का ही ग्रहण कैसे होगा? अत उक्त टीका में गुरु शब्द से साधु के समान ही माता-पिता, ज्येष्ठ बन्धु आदि गुरुजन भी गृहीत है। और आदि शब्द से जो लोग गुरु से भिन्न हैं, उनका भी ग्रहण किया गया है। अत इस टीका का मनमाना अर्थ करके साधु से भिन्न व्यक्ति को सुख-शान्ति देने से धर्म-पुण्य का निषेध करना अनुचित है। इस टीका से साधु से भिन्न व्यक्ति को शान्ति देना भी तीर्थकर गोत्र बधने का कारण सिद्ध होता है।

इसी तरह गृहस्थ का वैयावृत्य करने को अट्ठाइसवाँ अनाचार कहा है, उसका उदाहरण देकर साधु से भिन्न व्यक्ति को शान्ति पहुँचाने मे एकान्त पाप कहना नितान्त असत्य है। गृहस्थ का वैयावृत्य करना साधु के लिए अनाचार है, परन्तु गृहस्थ के लिए गृहस्थ का वैयावृत्य करना अनाचार नही कहा है। यदि साधु से भिन्न को शान्ति देना, उसकी वैयावृत्य करना गृहस्थ के लिए भी अनाचार होता, तो माता-पिता की सेवा करने से उववाई सूत्र में स्वर्ग में जाना कैसे कहते ? अस्तु ज्ञाता सूत्र का नाम लेकर साधु के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति को सुख-शान्ति पहुँचाने एव उसकी सेवा-शुश्रूषा करने में पुण्य नही मानना, आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

सेवा करना पाप नही है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २५७ पर सूत्रकृताग श्रुतस्कध १, अ० ३, उ०४ की ६–७ गाथा की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ इहा कह्यो—साता दिया साता हुवे इम कहे ते आर्य मार्ग थी अलगो कह्यो। समाधि मार्ग थी न्यारो कह्यो। जिणधर्म री हीलणा रो करणहार, अल्प सुख रे अर्थे घणा सुखा रो हारणहार, ए असत्य पक्ष अणछाड़वे करी मोक्ष नथी। लोहवाणिया नी परे घणो झूरसी। साता दिया साता परूपे तिण मे एतला अवगुण कह्या। सावद्य साता मे धर्म किम कहिए ? तेहथी तीर्थंकर गोत्र किम बधे ?"

सूत्रकृताग सूत्र की उक्त गाथाओ का नाम लेकर साधु से भिन्न व्यक्ति को साता देने मे धर्म-पुण्य का निषेध करना सत्य को अस्वीकार करना है। उक्त गाथाओ मे शाक्य आदि के मत का खण्डन किया है, परन्तु साधु से भिन्न व्यक्ति को साता देने का निषेध नही किया है।

"इहमेगे उ भासति, सातं सातेण विज्जती।
जे तत्थ आरियं मग्गं, परमं च समाहिए (यं) ॥
मा ए यं अवमन्नंता, अप्पेण लुम्पहा बहुं।
एतस्स (उ) अमोक्खाए, अओ हारिव्व जूरइ ॥"

—सूत्रकृताग १, ३, ४, ६–७

"मतान्तर निराकर्तुं पूर्वं पक्षयितुमाह-इहेति मोक्षगमन विचार प्रस्तावे एके शाक्यादयः स्वयूथ्याः वा लोचादिनोपतप्ताः तु शब्द पूर्वं स्मात् शीतोदकादि-परिभोगाद्विशेषमाह-भाषते ब्रुवते मन्यन्ते वा क्वचित्पाठ. । कि तदित्याह—सात सुख सातेनैव सुखनैव विद्यते, भवतीति।" तथा च वक्तारो भवन्ति—

"सर्वाणि सत्वानि सुखेरतानि, सर्वाणि दु खा च समुद्विजन्ते।
तस्मात् सुखार्थी सुखमेव दद्यात्, सुख प्रदाता लभते सुखानि ॥"

"युक्तिरप्येवमेवस्थिता, यत. कारणानुरूप कार्य्यमुत्पद्यते तद्यथा शालिबीजाच्छाल्यंकुरोज्जायते न यवाकुर इत्येवमिहत्यात्सुखान्मुक्तिसुखमुपजायते न तु लोचादिरूपात् दु खादिति। तथाह्यागमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः—

"मणुण्णं भोयणं भोच्चा, मणुण्णं सयणाऽऽसणं ।
मणुण्ण सि अगारसि, मणुण्णं झायए मुणी ॥"

"मृद्वीशय्या प्रातरुत्थायपेया, भक्तं मध्ये पानकं चापराण्हे ।
द्राक्षाखण्डं शर्कराचार्द्धरात्री, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्ट. ॥"

"इत्यतो मनोज्ञाहार विहारादेश्चित्त स्वास्थ्यमुत्पद्यते चित्त समाधे च मुक्त्य वाप्तिः । अत स्थितमेवैतत् सुखेनैव सुखावाप्तिः । न पुन. कदाचनापि लोचादिना कायक्लेशेन सुखावाप्तिरितिस्थितम् । इत्येवं व्यामूढ़मतयो केचन् शाक्याद-यस्तत्र तस्मिन् मोक्ष विचार प्रस्तावे समुपस्थिते आराद्यात. सर्व हेय धर्मेभ्यः इत्यार्यो मार्गो जैनेन्द्र शासन प्रतिपादितो मोक्षमार्गस्त ये परिहरति तथा च परमं समाधि ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक ये त्यजन्ति तेऽज्ञा. संसारान्तरवर्तिनः सदा भवन्ति । एनमार्य्यं मार्गं जैनेन्द्र प्रवचन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग प्रतिपादकं 'सुख सुखेनैव विद्यते' इत्यादि मोहेन मोहिता अवमन्यमाना. परिहरन्त. अल्पेन वैषयिकेण सुखेन मा वहु परमार्थसुख मोक्षसुखं मोक्षाख्यं लुम्पथ, विध्वसथ । तथाहि मनोज्ञाहारदिनाकामोद्रेक. । तदुद्रेकाच्च चित्तास्वास्थ्य न पुन. समाधिरिति । अपि च एतस्यासत् पक्षाभ्युपगमस्यमोक्षेऽपरित्यागे सति 'अयो हारिव्व जूरइ' आत्मान यूयं कदर्थयथ केवलं यथासौ अयसो-लोहस्याहर्ता अपान्त-राले रूप्यादिलाभे सत्यपि दूरमानीतमिति कृत्वा नोज्झितवान् पश्चात् स्वस्थानावा-प्तावल्पलाभे सति जूरितवान् पश्चात्तापं कृतवान् एवं भवन्तोऽपि जूरयिष्यन्तीति ।"

"मतान्तर का खण्डन करने के लिए छट्ठी गाथा में अन्य मतावलम्बियो की ओर से पूर्व पक्ष स्थापित किया गया है। वह इस प्रकार है—मोक्ष प्राप्ति के विषय में शाक्यादि एवं केश लुंचन से पीड़ित कुछ स्व-यूथिक भी यह कहते हैं कि सुख की प्राप्ति सुख से होती है। इन लोगो ने स्वमत को परिपुष्ट करने के लिए यह सिद्धान्त बनाया है—'सभी जीव सुख में अनुरक्त हैं और सब लोग दु.ख से उद्विग्न होते हैं। इसलिए सुख के इच्छुक पुरुष को सुख देना चाहिए। क्योंकि सुख देनेवाला सुख पाता है।' इस विषय में ये लोग यह तर्क देते हैं कि सभी कार्य अपने कारण के अनुरूप उत्पन्न होते हैं। शाली के बीज से शाली—चावल का अंकुर उत्पन्न होता है, यव—जौ का नहीं। इसी तरह इस लोक में सुख भोगने से ही परलोक में सुख मिलता है। परन्तु केवल केश लुंचनादि दु.ख भोगने से नहीं। इनके आगम में यही लिखा है—'साधु को मनोज्ञ आहार खाकर मनोज्ञ घर में मनोज्ञ शय्या पर मनोज्ञ वस्तु का ध्यान करना चाहिए। कोमल शय्या पर शयन करना, सूर्योदय होते ही दूध आदि पौष्टिक पदार्थ का पान करना, दोपहर में स्वादिष्ट भात आदि का भोजन करना, दोपहर के बाद शर्बत आदि पीना और अर्द्ध रात्रि को द्राक्षा-शक्कर आदि मधुर पदार्थ खाना। शाक्य पुत्र का यह विश्वास है कि इन कार्यों के करने से अन्त में मोक्ष मिलता है।' संक्षेप में इनका सिद्धान्त यह है कि मनोज्ञ आहार-विहार से चित्त में समाधि उत्पन्न होती है और चित्त में समाधि उत्पन्न होने से मोक्ष

सुख मिलता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि सुख से ही सुख मिलता है, केश लुंचनादि रूप दुःख भोगने से नहीं।

इस प्रकार के सिद्धान्त को मानने वाले शाक्यादि साधु सभी हेय धर्म से पृथक् रहने वाले जिन प्रतिपादित आर्य धर्म का परित्याग करके ज्ञान,दर्शन और चारित्र रूप मोक्ष-मार्ग को छोड़ देते है। वे ज्ञान रहित हैं और चिरकाल तक संसार चक्र में परिभ्रमण करते रहते हैं। उनपर कृपा करके आगमकार उन्हें उपदेश देते हैं—'सुख से ही सुख मिलता है'—इस मिथ्या सिद्धान्त का आश्रय लेकर तुम मोह वश सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र रूप मोक्ष धर्म के प्रतिपादक जैनागम को छोड़ रहे हो। तुम तुच्छ विषय सुख के लोभ में पड़कर मोक्ष रूप वास्तविक सुख को मत छोड़ो। मनोज्ञ आहार आदि खाने से काम की वृद्धि होती है और काम-वासना के प्रबल होने पर चित्त में शान्ति नहीं रहती। इस प्रकार चित्त में समाधि उत्पन्न होना एकान्त असंभव है। अतः असत्पक्ष का आश्रय लेकर अपने को खराब कर रहे हो। जैसे कोई वणिक् पुत्र दूर से लोहा लिए हुए आता था, उसे रास्ते मे चाँदी मिली, पर उसने सोचा कि मै दूर से इस लोहे को लिए हुए आ रहा हूँ, अतः इसे छोड़कर चांदी कैसे लूँ। इस प्रकार आगे रास्ते में सोना भी मिला, उसे भी नहीं लिया। पीछे अपने स्वस्थान पर पहुँचने पर उसे सोने-चाँदी की अपेक्षा लोहे का बहुत कम मूल्य मिला, तब वह पछताने लगा। इसी तरह तुम्हें भी पीछे पछताना पड़ेगा।"

यहाँ जो लोग विषय-सुख से मोक्ष मिलता है, यह सिद्धान्त बनाकर जिनेन्द्र-प्रवचन का त्याग करते हैं, उनके सिद्धात का खण्डन करने के लिए कहा है—"विषय-सुख भोगने से मोक्ष की आशा रखना मिथ्या है। विषय-सुख का त्याग करके जिनधर्म को स्वीकार करना ही मोक्ष का साधन है।" परन्तु यह नही कहा है कि किसी को साता देना सावद्य है या किसी को साता पहुँचाने से धर्म या पुण्य नही होता। इसलिए उक्त गाथा का नाम लेकर साधु से भिन्न व्यक्ति को सुख-शान्ति देने मे पाप बताना नितान्त असत्य है।

यदि कोई व्यक्ति दुराग्रहवश उक्त गाथाओ का यही अर्थ करे कि साता देने से लोह वणिकवत् पश्चात्ताप करना पड़ता है या आर्य-मार्ग से दूर रहना पडता है, तो फिर उनके मत से साधु को साता देने मे भी पाप होगा। यदि यह कहें कि साधु से भिन्न व्यक्ति को साता देनेवाला लोह वणिक की तरह पश्चात्ताप करता है। परन्तु यह कथन मिथ्या है। क्योकि प्रस्तुत गाथा का अर्थ यह है कि साधु या गृहस्थ जो व्यक्ति यह मानता है—"विषय-सुख का सेवन करने से मोक्ष मिलता है, उस अधम-श्रद्धा रखने वाले को लोह वणिकवत् पश्चात्ताप करना पडता है।" परन्तु अनुकम्पा करके किसी दीन-हीन प्राणी के दुःख को मिटानेवाले का यहाँ उल्लेख नही किया है। अत. उक्त गाथा का नाम लेकर दीन-हीन जीवो पर दया करके उन्हे साता देने वाले दयालु व्यक्ति को एकान्त पापी कहना सर्वथा गलत है।

साधु और श्रावक का कल्प

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २५७ पर लिखते हैं—

"दशवैकालिक अ०३ गृहस्थ नी साता पूछ्या सोलमो अणाचार लागतो कह्यो। तथा गृहस्थ नी व्यावच कीधा अट्ठाइसमो अनाचार कह्यो। तथा निशीथ उ०१३ गृहस्थ नी रक्षा निमित्ते भूतीकर्म किया प्रायश्चित्त कह्यो,तो गृहस्थनी सावद्य साता वाछ्या तीर्थंकर गोत्र किम बन्धे ?"

यदि साधु गृहस्थ की साता पूछे या उसकी सेवा करे तो साधु को अनाचार लगता है, परन्तु गृहस्थ गृहस्थ की साता पूछे या उसकी सेवा करे तो उसके लिए आगम में अनाचार नही कहा है। क्योकि आगम मे अनाचारो का वर्णन करते हुए स्पष्ट लिखा है—

"संजमे सुट्ठि अप्पाण, विप्पमुक्काण ताइणं।
तेसिमेय मणाइन्नं निग्गंथाण महेसिणं॥"

—दशवैकालिक सूत्र ३, १

"अपनी आत्मा को सयम में स्थिर रखने वाले और बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त तथा स्व-आत्मा के रक्षक, निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए ये अनाचार आचरण करने योग्य नहीं हैं।"

इस गाथा में स्पष्ट लिखा है कि आगे कहे जाने वाले बावन अनाचार श्रमण-निर्ग्रन्थो के लिए है, गृहस्थ के लिए नही। अत गृहस्थ के द्वारा गृहस्थ की साता पूछना, वैयावृत्य करना दशवैकालिक सूत्र के अनुसार एकन्त पाप नही है।

यदि कोई यह तर्क करे कि जब गृहस्थ की साता पूछने एव वैयावृत्य करने से साधु को अनाचार लगता है, तब श्रावक को उस कार्य के करने मे पाप क्यो नही लगेगा ? इसके लिए उन्हें यह समझना चाहिए कि साधु और श्रावक का कल्प एक नही, भिन्न-भिन्न है।

उक्त कार्य साधु के कल्प के विरुद्ध होने के कारण साधु के लिए अनाचार है, परन्तु गृहस्थ कल्प के अनुसार होने से गृहस्थ के लिए अनाचार एवं पाप रूप नही हैं। जैसे अपने सामोगिक साधु के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियो को उत्सर्ग मार्ग में आहार-पानी देना साधु के लिए प्रायश्चित का कारण बताया है,परन्तु श्रावक के लिए नही। वैसे श्रावक के लिए अपने आश्रित पशु-नौकर आदि को आहार-पानी नही देने से उनके प्रथम व्रत में अतिचार लगना कहा है।

उसी तरह साधु गृहस्थ की साता पूछना है, वैयावृत्य करता है, तो उसको अनाचार लगता है। परन्तु श्रावक को उक्त कार्य करने से पाप नहीं लगता। यदि कोई व्यक्ति उक्त कार्य को श्रावक के लिए भी अनाचार कहे, तो उनके मत से अपने आश्रित पशु एवं नौकर आदि को आहार-पानी देना भी श्रावक के लिए प्रायश्चित का कारण होना चाहिए। परन्तु आगम में ऐसा नही कहा है। वहाँ तो स्पष्ट लिखा है कि यदि श्रावक अपने अधीनस्थ व्यक्तियों को आहार-पानी न दे, तो उसके प्रथम व्रत में अतिचार लगता है, उसे प्रायश्चित आता है।

दशवैकालिक सूत्र में उद्दिष्ट आहार लेना साधु के लिए प्रथम अनाचार कहा है। इसलिए जो साधु उद्दिष्ट आहार लेता है, उसे प्रायश्चित आता है। परन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधुओ को छोड़कर शेष बाईस तीर्थंकरो के साधु यदि उद्दिष्ट आहार लें, तो उन्हें अनाचार नहीं लगता। क्योंकि उद्दिष्ट आहार लेना उनके कल्प के विरुद्ध नही है। अतः जैसे प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधुओ के लिए उद्दिष्ट आहार लेने का कल्प नही होने से अनाचार है, और इनके अतिरिक्त बाईस तीर्थंकरो के साधुओ के लिए उद्दिष्ट आहार लेना कल्प मे होने से आचार है, अनाचार नही। उसी तरह साधु के लिए गृहस्थ की साता पूछना, वैयावृत्य करना, कल्प नही होने से अनाचार है, परन्तु श्रावक का कल्प होने से यह कार्य उसके लिए अनाचार एव पाप का कारण नही है।

भगवान महावीर के साधु भगवान पार्श्वनाथ के साधु को आहार-पानी नही देते, यदि उत्सर्ग मार्ग में दें तो प्रायश्चित आता है, क्योकि यह उनका कल्प नही है। परन्तु श्रावक पार्श्वनाथ भगवान के साधु-साध्वियो को आहार-पानी दे, तो उन्हें प्रायश्चित नही आता। उन्हें इस कार्य से पाप नही, धर्म एवं निर्जरा होती हैं। इसलिए जो कार्य साधु के लिए अनाचार है, वह गृहस्थ के लिए भी अनाचार है, यह कल्पना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

निशीथ सूत्र, उ० १३ में साधु को जीव-रक्षा करने का निषेध नही किया है, किन्तु भूतिकर्म करने का निषेध किया है। इसलिए यदि साधु भूतिकर्म करता है, तो उसे अवश्य ही प्रायश्चित आता है, परन्तु यदि वह भूतिकर्म न करके अपने कल्प के अनुसार प्राणियो की रक्षा एव दया करता है, तो उसे प्रायश्चित्त नही आता ?"

अतः दशवैकालिक एवं निशीथ का नाम लेकर गृहस्थ के द्वारा गृहस्थ की सुख-साता पूछने एव वैयावृत्य करने तथा मरते हुए जीवो की प्राणरक्षा करने में श्रावक को अनाचार एवं एकान्त पाप लगने की प्ररूपणा करना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।[1]

---

१ भूतिकर्म के सम्बन्ध में अनकम्पा अधिकार में पृष्ठ २४३ पर विस्तार से लिखा है।

वैयावृत्य : तप है

श्रावक के द्वारा श्रावक की साता पूछना, वैयावृत्य करना उसके लिए अनाचार नहीं है, यह ज्ञात हुआ। परन्तु क्या आगम में श्रावक के लिए श्रावक को वैयावृत्य करने का विधान है ? यदि है तो बताएँ।

उववाई सूत्र में श्रावक को श्रावक का वैयावृत्य करने का विधान है—

"से किं तं वेयावच्चे ?

दसविहे पण्णत्ते तं जहा—आयरिय वेयावच्चे, उवज्झाय वेयावच्चे, सेह वेयावच्चे, गिलाण वेयावच्चे, तवस्सि वेयावच्चे, थेर वेयावच्चे, साहम्मिय वेयावच्चे, कुल वेयावच्चे, गण वेयावच्चे, संघ वेयावच्चे।"

—उववाई सूत्र

"वैयावृत्य कितने प्रकार की है ?

वह दस प्रकार की है—१. आचार्य, २. उपाध्याय, ३. नवदीक्षित शिष्य, ४. रोगी, ५. तपस्वी, ६. स्थविर, ७. सार्धमिक, ८. गण, ९. कुल एवं १०. संघ की वैयावृत्य करना।"

इनमें सार्धमिक की वैयावृत्य करना भी कहा है। अत. श्रावक के द्वारा श्रावक का वैयावृत्य करना सार्धमिक वैयावृत्य है। क्योंकि जैसे लिंग और प्रवचन के द्वारा साधु का सार्धमिक साधु होता है, उसी तरह प्रवचन के द्वारा श्रावक का सार्धमिक श्रावक भी होता है।

व्यवहार सूत्र के द्वितीय उद्देश्य के भाष्य की गाथा एव उसकी टीका में श्रावक को प्रवचन के द्वारा सार्धमिक कहा है। हम दानाधिकार के पृष्ठ १७९ पर उक्त भाष्य की गाथा एवं उसकी टीका का प्रमाण देकर यह सिद्ध कर चुके है कि श्रावक श्रावक का सार्धमिक होता है। अस्तु प्रस्तुत सूत्र में श्रावक को आपने सार्धमिक श्रावक की वैयावृत्य करने का स्पष्ट विधान किया है। इसलिए श्रावक के द्वारा श्रावक का वैयावृत्य करना पाप नहीं, धर्म एव उसका आचार-कल्प है।

उक्त पाठ में सघ के वैयावृत्य का भी उल्लेख है। सघ का अर्थ है—साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका का समूह। इसलिए श्रावक का सघ के अन्तर्भूत होने के कारण साधु की तरह वैयावृत्य करना भी सघ वैयावृत्य गिना गया है। श्रावक के द्वारा श्रावक की सेवा शुश्रूषा करना भी देश से संघ वैयावृत्य है। इसलिए वह धर्म का कारण है, पाप का नहीं।

यदि कोई यह तर्क करे कि साधु के द्वादश विध तप के भेद में वैयावृत्य को गिना है, इसलिए उववाई सूत्रोक्त दशविध वैयावृत्य साधु का ही है, श्रावक का कैसे हो सकता है ? यह तर्क युक्ति सगत नही है। क्योकि श्रावक के तप का वर्णन कही अलग नही करके साधुओ के साथ ही किया है। इसका कारण यह है कि तप के सम्बन्ध मे साधु और श्रावक के तप मे कोई अन्तर नही है। इसलिए द्वादश विध तप साधु की तरह श्रावक के लिए भी है। इस विषय में भ्रमविध्वंसनकार का भी मतभेद नही है, क्योकि उनके आद्य गुरु आचार्य श्री भीषणजी ने भी लिखा है—

"साधां रे बारे भेद तपस्या करतां, ज्यां-ज्यां निरवद्य जोग संधायजी।
तिहां-तिहां संवर होय तपस्या रे लारे, तिण सू पुण्य लगता मिट जायजी॥
इण तप मांहिलो तप श्रावक करतां, कटे अशुभ जोग संधाय जी।
जब व्रत संवर हुवे तपस्या रे लारे, लागता पाप मिट जाय जी॥"

—नव सद्भाव पदार्थ निर्णय, ४७-४८

प्रस्तुत पद्यो मे आचार्य श्री भीषणजी ने भी साधु की तरह श्रावक का भी द्वादश विध तप स्वीकार किया है। अत. इस तप मे प्रयुक्त वैयावृत्य भी श्रावक का तप सिद्ध होता है। पूर्वोक्त दश विध वैयावृत्य को श्रावक के लिए स्वीकार न करना मात्र साम्प्रदायिक दुराग्रह मात्र है।

गुणानुवाद का फल

यह स्पष्ट हो चुका है कि आगमोक्त दश विध वैयावृत्य करना श्रावक का भी कर्त्तव्य है। अतः उसमे पाप एव प्रायश्चित कैसे हो सकता है ? आगम मे श्रावक के द्वारा श्रावक का वैयावृत्य करना धर्म कहा है, पाप नही। स्थानाग सूत्र मे लिखा है कि श्रावक के अवर्ण बोलने से जीव दुर्लभ बोधी और वर्ण बोलने से सुलभ बोधी होता है—

"पंचहिं ठाणेहिं जीवा दुल्लभबोधियत्ताए कम्मं पकरेति, तं जहा- अरहंताणं अवन्नं वदमाणे, अरहंत पन्नत्तस्स धम्मस्स अवन्नं वदमाणे, आयरिय-उवज्झायाणं अवन्नं वदमाणे, चाउवण्णस्स संघस्स अवन्नं वदमाणे, विवक्क तव-बंभचेराणं अवन्नं वदमाणे। पंचहिं ठाणेहिं जीवा सुलभबोधियत्ताए कम्मं पकरेति—अरहंताणं वन्नं वदमाणे, जाव विवक्क तव-बंभचेराणं वन्नं वदमाणे।

—स्थानाग सूत्र ५, २, ४२६

"जीव निम्नोक्त पाँचों स्थानों में दुर्लभ बोधी होने के कारण कर्म का बंध करता है—१. अरिहन्त, २. अरिहन्त प्रणीत धर्म, ३. आचार्य-उपाध्याय, ४. चतुर्विध संघ, ५. परिपक्व तप एवं ब्रह्मचर्य, इन सबका अवर्ण बोलने से। इसी तरह उक्त पाँचो का वर्ण बोलने से जीव सुलभ बोधित्व को प्राप्त करता है।"

प्रस्तुत पाठ मे सघ का अवर्ण बोलने से दुर्लभ बोधी कर्म एव सघ का वर्ण बोलने से सुलभ-बोधी कर्म का बध होना कहा है। श्रावक-श्राविका भी चतुर्विध सघ के अग है। अत.

उनका अवर्ण बोलना अवश्य ही दुर्लभ बोधी कर्म बन्ध का हेतु है और उनका वर्ण बोलना सुलभ बोधित्व का। इस तरह जब श्रावक-श्राविका द्वारा वर्ण—गुणानुवाद करने मात्र से जीव सुलभ बोधी कर्म बांधता है, तब यदि कोई श्रावक उन्हे अन्न आदि के द्वारा धार्मिक सहयोग देने रूप वैयावृत्य करे, तो उसे उससे पाप बन्ध कैसे होगा ? उसे उस कार्य से वर्ण—गुणानुवाद करने की अपेक्षा अधिक धर्म ही होगा, पाप नही। अत. श्रावक के द्वारा श्रावक का वैयावृत्य करने को एकान्त पाप बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

सेवा का फल

भगवती सूत्र मे स्पष्ट शब्दो में लिखा है कि सनत्कुमार देवेन्द्र श्रावको के केवल हित, सुख, पथ्य यावत् नि श्रेयस की अभिलाषा करने से भवसिद्धि से लेकर चरम शरीरी हो गया—

"सणंकुमारे देविदे देवराया बहूणं समणाणं, बहूणं समणीणं, बहूणं सावयाणं, बहूण सावियाणं हिय-कामए, सुह-कामए, पत्थ-कामए अणुकम्पिए, निस्सेयसिए, हिय-सुह-निस्सेयस-कामए से तेणट्ठे णं, गोयमा ! सणंकुमारेणं भवसिद्धिए णो अचरिमे।"

—भगवती सूत्र ३, १, १४०

"हे गौतम ! सनत्कुमार देवेन्द्र बहुत से साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविकाओं के हित, सुख, पथ्य, अनुकम्पा एवं मोक्ष को कामना करते है, इसलिए वह भवसिद्धि से लेकर यावत् चरम है।"[1]

प्रस्तुत पाठ मे श्रावक-श्राविकाओ के हित सुख आदि की इच्छा करने मात्र से देवेन्द्र को भवसिद्धि से लेकर चरम शरीरी होना कहा है। ऐसी स्थिति मे यदि कोई श्रावक प्रत्यक्ष रूप से श्रावक-श्राविकाओ के हित, सुख आदि की कामना करते हुए उनके धर्म कार्य में सहयोग देने रूप वैयावृत्य करे, तो उसे पाप कैसे होगा ? उसे तो देवेन्द्र से भी अधिक धर्म होगा। अत श्रावक के द्वारा श्रावक का वैयावृत्य करने मे पाप कहना नितान्त असत्य है।

---

[1] प्रस्तुत पाठ में प्रयुक्त हित, सुख और पथ्य का टीकाकार ने क्रमशः सुख साधक वस्तु, सुख और दु.ख से त्राण—रक्षा रूप अर्थ किया है। उसका दानाधिकार पृष्ठ १५९ पर विस्तृत विवेचन किया है।

अपवाद : मार्ग है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २६२ पर आचार्य श्री भीषणजी के वार्तिक का प्रमाण देते हुए लिखते है—

'ते कहे छै, पडिमाधारी साधु अग्निमांहि बलता ने बांहि पकडने बाहिर काढे। अथवा सिंहादिक पकड़ता ने झाल राखे। तथा हर कोई साधु-साध्वी जिनकल्पी, स्थविर-कल्पी त्यां ने बांहि पकडने बाहिर काढे इत्यादिक कार्य करीने साता उपजावे, अथवा जीवा ने बचावे। अथवा ऊंचा थी पडतां ने झाल बचावे, अथवा आखड पडता ने झाल बचावे। अथवा ऊँचा थी पडता ने बैठो करे। अथवा आखड पडता ने बैठो करे। तिण गृहस्थ ने भगवान अरिहन्त री पिण आज्ञा नही। अनन्ता साधु-साध्वी गये काले हुवा, त्यारी पिण आज्ञा नही। जिण साधु ने बचायो तिण री पिण आज्ञा नही इत्यादि।" इनके कहने का तात्पर्य यह है—यदि मरणान्त कष्ट की अवस्था में भी पडे हुए साधु की गृहस्थ रक्षा करे, तो उसे एकान्त पाप होता है।

मरणान्त कष्ट में पडे हुए साधु की रक्षा करने से गृहस्थ को एकान्त पाप होता है, क्योंकि भगवान ने इसकी आज्ञा नही दी है, ऐसा कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है। व्यवहार सूत्र में स्थविरकल्पी साधु-साध्वी को सर्प के काटने पर गृहस्थ से झाडा दिलाने की स्पष्ट आज्ञा दी है—

"निग्गंथं च णं राओ वा वियालेवा दीहपीट्ठे लूसेज्जा इत्थी पुरिसस्स पमज्जेज्जा, पुरिसो वा इत्थिए पमज्जेज्जा। एवं से चिट्ठति परिहारं च नो पाउणति, एस कप्पे थेरकप्पियाणं, एवं से नो कंपति एवं से नो चिट्ठति परिहारं च पाउणति, एस कप्पे जिण कप्पियाणं।"

—व्यवहार सूत्र ५, २१

"सम्प्रति सूत्र व्याख्या क्रियते—निर्ग्रन्थं च शब्दान्निर्ग्रन्थी च रात्रौ वा विकाले वा दीर्घ पृष्ठ. सर्पो लूषयेत् दशेत्। तत्र स्त्री वा पुरुषस्य हस्तेन त विषमपमार्जयेत्। पुरुषो वा स्त्रियाः हस्तेन एवं से तस्य स्थविरकल्पिकस्य कल्पते। स्थविरकल्पस्य अपवाद बहुलत्वात्। एवं चामुना प्रकारेणापवादसेवमानस्य

से तस्य तिष्ठति पर्य्यायः । न-स्थविर कल्पात्परिभ्रश्यति येन छेदादयः प्रायश्चित विशेषास्तस्य न सन्ति । परिहार च तपो न प्राप्नोति कारणे न यतनया प्रवृत्ते. । एष कल्प. स्थविरकल्पिकानाम् । एवममुना प्रकारेण सपक्षेण विपक्षेण वा वैयावृत्य करायणं 'से' तस्य जिनकल्पिकस्य न कल्पते केवलोत्सर्गं प्रवृत्तत्वात्तस्येति भाव. । एवमपवाद सेवनेन 'से' तस्य जिनकल्पिकस्य जिनकल्प पर्य्यायो न तिष्ठति जिनकल्पात् पततीत्यर्थ. । परिहार च तपो विशेष परिमालयति एष कल्पो जिनकल्पिकानाम् ।"

"साधु-साध्वी को रात्रि या विकाल के समय यदि सर्प काट ले, तो स्त्री-साध्वी गृहस्थ पुरुष के हाथ से और पुरुष-साधु गृहस्थ स्त्री के हाथ से उस विष को उतारने का झाड़ा दिलाए, यह स्थविरकल्पी साधु का कल्प है । क्योकि स्थविरकल्पी साधु के कल्प में अपवाद बहुत होता है । इसलिए उक्त कार्य करने पर भी स्थविरकल्पी का पर्याय रहता है । वह अपने कल्प से गिरता नहीं है । इसलिए इस कार्य को करने से स्थविरकल्पी मुनि को छेद आदि प्रायश्चित विशेष नहीं आता और प्रायश्चित स्वरूप तप भी नहीं करना पडता। क्योकि स्थविरकल्पी कारण एवं परिस्थिति वश यतना पूर्वक उक्त कार्य करने में प्रवृत्त हुआ है । परन्तु इस प्रकार अपने या दूसरे पक्षवालों से वैयावृत्य कराना जिनकल्पी साधु का कल्प नहीं है, क्योंकि वह उत्सर्ग मार्ग से ही प्रवृत्त होता है । यदि वह इस प्रकार अपवाद मार्ग का आश्रय ले ले, तो उसका पर्याय स्थिर नहीं रहता । वह जिनकल्प से गिर जाता है और प्रायश्चित का अधिकारी होता है ।"

प्रस्तुत पाठ मे स्थविरकल्पी साधु-साध्वी के लिए सर्प काटने पर गृहस्थ से झाडा दिलाने की स्पष्ट आज्ञा दी है । इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मरणान्त कष्ट में पड़े हुए साधु के प्राणो की रक्षा करना गृहस्थ के लिए जिन-आज्ञा से विरुद्ध नहीं है । ऐसी विकट परिस्थिति में स्थविरकल्पी के लिए गृहस्थ की सहायता लेकर अपने प्राणो की रक्षा करना, आज्ञा से बाहर एवं प्रायश्चित का कारण नही है । अत मरणान्त कष्ट मे पडे हुए साधु की रक्षा करना गृहस्थ के लिए आज्ञा बाहर बताकर उसमे एकान्त पाप बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है ।

यदि कभी गड्ढे आदि मे गिरने की संभावना हो तो साधु गृहस्थ का हाथ पकडकर उस मार्ग को पार कर सकता है । इस विषय मे आचाराग सूत्र मे स्पष्ट लिखा है—

"से भिक्खू वा गामाणुगामं दुइज्जमाणे अन्तरासे वप्पाणि वा फलिहाणि वा पागाराणि वा तोरणानि वा अग्गलाणि वा अग्गल पासगाणि वा गड्ढाओ वा दरीओ वा सइपरक्कमे संजयामेव परिक्कमिज्जा । नो उज्जुयं गच्छेज्जा केवली बूया आयाणमेयं । से तत्थ परक्कममाणे पयलिज्ज वा २ से तत्थ पयलमाणे वा रुक्खाणि वा गुच्छाणि वा गुम्माणि वा लयाओ वा वल्लीओ वा तणाणि वा गहणाणि वा हरियाणि वा अवलम्बिय उत्तरिज्जा । जे तत्थ पडियहिया वा उवागच्छंति ते

पाणीजाइज्जा तओ संजयामेव अवलम्बिय उत्तरिज्जा। तओ स गामानुगामं दुइज्जेज्जा।"

—आचाराग सूत्र २, ३, २, १२५

"साधु-साध्वी को यदि एक ग्राम से दूसरे ग्राम को जाते हुए मार्ग में क्यारी, खाई, गड्ढा, तोरण, अर्गला, गर्त या खोह पड़े, तो दूसरा मार्ग होने पर साधु-साध्वी को उस मार्ग से नहीं जाना चाहिए। क्योंकि उस मार्ग से जाने पर केवली ने कर्म बन्ध होना कहा है। परन्तु दूसरा मार्ग नहीं होने पर उस मार्ग से जाने में दोष नहीं है। ऐसे विकट मार्ग से जाते हुए यदि साधु-साध्वी का पैर फिसल जाए तथा गिरने की स्थिति हो तो वृक्ष, लता, तृण, या गहरी वनस्पतियों को पकड़कर उस मार्ग को पार करे। यदि उस पथ से कोई पथिक आता हो, तो उसके हाथ की सहायता लेकर यतना पूर्वक उस विकट मार्ग को पार करे। इसके पश्चात् ग्रामानुग्राम विहार करे।"

प्रस्तुत पाठ की टीका मे लिखा है —

"अथ कारणिकस्तेनैव गच्छेत् कथंचित् पतितश्च गच्छतो वल्ल्यादिकमवलम्ब्य प्रातिपथिकं हस्तं वा याचित्वा सयत एव गच्छेत्।"

"कारण पड़ने पर साधु उस विकट मार्ग से जाए और यदि किसी प्रकार गिरता हुआ स्थविर-कल्पी साधु लतादि को पकड़ कर या सम्मुख आते हुए पथिक के हाथ का आश्रय लेकर यतना पूर्वक उस मार्ग को पार करे।"

भ्रमविध्वसनकार ने भी अपने 'प्रश्नोत्तर तत्त्व बोध' नामक ग्रन्थ के ६३ वे प्रश्न के उत्तर में इस बात को स्वीकार करते हुए लिखा है—

"प्रश्न—विहार करता मार्ग में पृथ्वी, हरी आया तेणे इज मार्गे जावणो कि नही ?

उत्तर—आचारांग श्रुत० २, अ० ३ उ० २ कह्यो विहार करता मार्ग माई बीज, हरी, पानी, माटी होय तो छते रास्ते ते मार्गे जावणो नही। इण न्याय रास्तो न होय तो ते मार्ग रो दोष नही। ऊची भूमि, खाई, गड्ढा ने मार्गे छते रस्ते न जावणो, रास्तो और न होय तो जावणो।"

इससे यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि दूसरा रास्ता न होने पर साधु विकट मार्ग से भी जा सकता है और विकट परिस्थिति मे पथिक का हाथ पकड़कर भी रास्ता पार कर सकता है। ऐसा करने पर स्थविरकल्पी साधु का कल्प नही टूटता, क्योकि उक्त कार्य जिन-आज्ञा मे है और विषम मार्ग में सकट ग्रस्त साधु को अपने हाथ का सहारा देकर उस मार्ग से पार करने वाला पथिक भी आज्ञानुसार ही कार्य करता है, आज्ञा बाहर या एकान्त पाप का कार्य नही करता। अत: आग में प्रज्वलित साधु के हाथ को पकड़ उसे बाहर निकालने वाले गृहस्थ को पाप कैसे होगा? बुद्धिमान पाठक यह स्वय सोच सकते हैं।

यदि मरणान्त कष्ट उपस्थित होने पर भी स्थविरकल्पी साधु को गृहस्थ के शरीर से सहायता लेना नही कल्पता और गृहस्थ को भी उस स्थिति मे सहायता देने का निषेध किया होता, तो आचाराग सूत्र के उक्त पाठ में सामने से आनेवाले पथिक के हाथ का सहारा लेकर कठिन मार्ग को पार करने तथा व्यवहार सूत्र में सर्प के काटने पर साधु-साध्वी को गृहस्थ स्त्री-पुरुष से झाड़ा लगाने का विधान कैसे करते ? अतः साधु के लिए प्रत्येक अवस्था मे गृहस्थ से शारीरिक सहायता लेने का निषेध करना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

साधु को बचाना धर्म है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २६५ पर आचार्य श्री भीषणजी के वार्तिक का उल्लेख करते हुए लिखते है—

"वली कइक इसडी कहे छै–सुभद्रा सती साधुरी आँख माहि थी फाटो काढ्यो तिण में धर्म कहे छै।" इसके आगे पृष्ठ २६७ पर अपनी ओर से यह लिखते है–"केतला एक जिण आज्ञा ना अजाण छै, ते साधु अग्नि माहि वलता ने कोई गृहस्थ बाह पकडने बाहिर काढे, तथा साधुरी फासी कोई गृहस्थ कापे तिण मे धर्म कहे छै।" इनके कहने का अभिप्राय यह है कि सुभद्रा सती ने जिनकल्पी मुनि की आँख से तिनका निकाला था, इससे उसको पाप हुआ। किसी दुष्ट के द्वारा साधु के गले मे लगाई गई फासी को यदि कोई दयालु व्यक्ति काट दे, तथा आग मे जलते हुए मुनि को कोई दयावान गृहस्थ उसकी बाह पकड़कर बाहर निकाल दे, तो उन सबको एकान्त पाप होता है।

सुभद्रा सती ने जिनकल्पी मुनि की आँख से जो तिनका निकाला उसे पाप कार्य बताना आचार्य श्री भीषणजी की भारी भूल है, उसके अतिरिक्त साधु को अग्नि में से बाहर निकाल कर तथा उसके गले मे लगी हुई फासी को काटकर उसे बचानेवाले गृहस्थ को पाप बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है। आगम मे साधु के नाक मे लटकते हुए अर्श का छेदन करने वाले वैद्य को शुभ क्रिया से पुण्य का बन्ध होना कहा है—

"अणगारस्स णं भन्ते ! भावि अप्पणो छट्ठं-छट्ठेण अणिक्खित्तेणं जाव आयावेमाणस्स तस्स णं पुरच्छिमे णं अवड्ढं दिवसं णो कप्पइ हत्थं वा,पायं वा, बाहुं वा उरुं वा आउट्टावेत्तए वा पसारेत्तए वा पच्चच्छिमे णं सें अवड्ढं दिवसं कप्पइ हत्थं वा पाय वा जाव उरुं वा आउट्टावेत्तए पसारेत्तए वा। तस्स णं असि आओ लंबइ तं चेव विज्जे अदक्खु इसिपाडइ-पाडेइत्ता अंसिआओ छिदेज्जा से नूणं भन्ते ! जे छिदेज्जा तस्स किरिया कज्जइ ? जस्स छिदइ णो तस्स किरिया कज्जइ णणत्थेगेणं धम्मंतराएणं ? हन्ता गोयमा ! जे छिदइ जाव धम्मंतराएणं, सेवं भन्ते-भन्ते ति।"

—भगवती सूत्र १६, ३, ५७१

"हे भगवन् ! निरन्तर बेले-बेले का तप करते हुए यावत् आतापना लेते हुए भावितात्मा अनगार को दिन के पूर्वार्ध भाग में हाथ, पैर, उरु आदि अंगों को पसारना-संकोचना नहीं कल्पता परन्तु दिन के उत्तरार्ध भाग में उक्त अंगों को पसारना-संकोचना कल्पता है। यदि उक्त साधु के नाक में लटकते हुए अर्श को कोई वैद्य उस साधु को नीचे लेटाकर काट दे, तो उस वैद्य को क्रिया लगती है। परन्तु साधु को धर्मान्तराय के सिवाय और कोई क्रिया नहीं लगती, क्या यह सत्य है ?

हाँ गौतम ! यह सत्य है कि वैद्य को क्रिया लगती है और साधु को धर्मान्तराय से भिन्न अन्य कोई क्रिया नहीं लगती। यह बात यथार्थ है।"

उक्त पाठ में वैद्य को क्रिया लगना कहा है। स्थानाग सूत्र मे क्रिया दो प्रकार की कही है—शुभ और अशुभ। भगवती सूत्र मे शुभ या अशुभ किसी का नाम न लेकर समुच्चय क्रिया का उल्लेख किया है। परन्तु टीकाकार ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

"तं च अनगारं कृत कायोत्सर्गं लम्बमानार्शसमद्राक्षीत। ततश्चार्शं संछेदनार्यमनगारं भूम्यां पातयति। नापातितस्याश्छेदः कर्तुमशक्यत इति। तस्य वैद्यस्य क्रिया व्यापार रूपा सा च शुभा धर्मबुद्धया छिन्दानस्य। लोभादिनात्वशुभा किया तस्य भवति। यस्य साधोरर्शांसि छिद्यन्ते नो तस्य क्रिया भवति निर्व्यापारत्वात्। किं सर्वथा क्रियाया अभावो ? नैवमित्याह। नन्नत्त्थेत्यादि। न इति योऽय निषेध. सोऽन्यत्रैकस्माद्धर्मान्तिरायाद् धर्मान्तिराय लक्षणा क्रिया तस्याऽपि भवतीति भावः। धर्मान्तिरायश्च शुभध्यान विच्छेदादर्शन छेदानुमोदनाद्वा इति।"

—भगवती सूत्र १६,३,५७१ टीका

"यदि कायोत्सर्ग में स्थित साधु की नाशिका में लटकते हुए अर्श को देखकर कोई वैद्य उसका छेदन करने के लिए साधु को पृथ्वी पर लेटाकर धर्मबुद्धि से उसके अर्श का छेदन करता है,तो उस वैद्य को शुभ क्रिया लगती है। यदि प्रलोभन वश अर्श का छेदन करता है, तो अशुभ क्रिया लगती है। परन्तु जिस का अर्श काटा जाता है उस मुनि को एक धर्मान्तराय के अतिरिक्त अन्य क्रिया नहीं लगती। क्योंकि वह मुनि व्यापार रहित है। वह धर्मान्तराय रूप क्रिया भी मुनि के शुभ ध्यान में विच्छेद होने और अर्श छेदन का अनुमोदन करने के कारण लगती है, अन्यथा नहीं।"

उक्त टीका मे स्पष्ट लिखा है कि यदि वैद्य धर्म बुद्धि से अर्श का छेदन करता है, तो उसे शुभ क्रिया—पुण्य का बन्ध होता है। सुभद्रा सती ने धर्म बुद्धि से ही जिनकल्पी मुनि की आँख से तिनका निकाला था,अत उसे पाप कैसे हो सकता है ? इसी तरह आग मे जलते हुए साधु का हाथ पकडकर उसे बाहर निकालने वाले एव साधु की फासी को काटकर साधु के प्राणो की रक्षा करनेवाले दयावान पुरुष को पाप क्यो लगेगा ? यदि इन कार्यो मे पाप होता, तो भगवती सूत्र के पाठ एव उसकी टीका मे धर्म बुद्धि से साधु के अर्श का छेदन करनेवाले वैद्य को शुभ क्रिया लगने का उल्लेख क्यो करते ? अत. उक्त कार्यो के करने मे गृहस्थ को पाप नही, धर्म ही होता है।

आपने भगवती सूत्र के पाठ एव उसकी टीका में यह सिद्ध किया कि साधु की नाक में लटकते हुए अर्श का धर्म बुद्धि से छेदन करने वाले वैद्य को शुभ क्रिया लगती है, परन्तु भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २७० पर निशीथ सूत्र के पाठ का प्रमाण देकर लिखते है—

"अथ इहा कह्यो—साधु अन्य तीर्थी तथा गृहस्थ पासे अर्श छेदावे तथा कोई अनेरा साधु री अर्श छेदता नें अनुमोदे तो मासिक प्रायश्चित आवे। अर्श छेदाव्या पुण्य नी क्रिया होवे तो ए अर्श छेदवा वाला नें अनुमोदे तो दण्ड क्यूं कह्यो ? पुण्य री करणी तो निरवद्य छै। निरवद्य करणी अनुमोद्यां तो दण्ड आवे नही। दण्ड तो पाप री कारणी अनुमोद्या थी आवे।"

निशीथ सूत्र का उक्त पाठ लिखकर समाधान कर रहे हैं—

"जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएर्ण वा अप्पणो कायसि गडं वा पिलगं वा अरइयं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण तिक्खेण सत्थजाएणं अच्छिदावेज्ज वा विच्छिदावेज्ज वा अच्छिदावेंत वा विच्छिदावेंतं वा साइज्जइ।"

—निशीथ सूत्र १५, ३८

"जो साधु अन्य-यूथिक या गृहस्थ से अपने शरीर के गडमालादिक, मेद, फोड़ा, अर्श या भगन्दर इनका किसी तीक्ष्ण शस्त्र से छेदन कराए, विशेष रूप से छेदन कराए, इसका छेदन कराने वाले साधु का अनुमोदन करे, तो उसको प्रायश्चित आता है।"

उक्त पाठ मे गृहस्थ या अन्य यूथिक के द्वारा अर्श का छेदन कराने वाले तथा उसका अनुमोदन करने वाले साधु को प्रायश्चित बताया है, परन्तु धर्म बुद्धि से अर्श का छेदन करने वाले गृहस्थ को प्रायश्चित नही बताया है। क्योकि भगवती सूत्र के पाठ एव उसकी टीका मे उसे शुभ-क्रिया का लगना कहा है। अत उस पाठ के विरुद्ध उसे यहाँ प्रायश्चित कैसे बताते ? यदि यह तर्क करे कि अर्श का छेदन करने वाले पुरुष को पुण्य का बन्ध होता है, तब उसका अनुमोदन करने वाले साधु को प्रायश्चित लेने का क्यो कहा ? परन्तु यह तर्क युक्ति संगत नहीं है। क्योकि उक्त पाठ मे गृहस्थ के अर्श छेदन के कार्य का अनुमोदन करने का प्रायश्चित्त नही बताया है, किन्तु गृहस्थ द्वारा अर्श का छेदन कराने वाले साधु के कार्य का अनुमोदन करने मे प्रायश्चित बताया है।

यदि यह कहे—"जब अर्श का छेदन कराने वाले साधु को पाप लगता है, तब उसका छेदन करने वाले को पुण्य कैसे होगा ?" इसका समाधान यह है कि साधु को गृहस्थ के द्वारा मान-सम्मान प्राप्त करने की इच्छा रखने का आगम मे निषेध किया है। परन्तु श्रावक को साधु का मान-सम्मान करने का न तो आगम में निषेध किया है और न पाप ही कहा है।

"नो सक्कइमिच्छइ न पूयं, नो विय वंदणं कुओ पसंसं।"

—उत्तराध्ययन सूत्र १५, ५.

"साधु अपनी पूजा-प्रतिष्ठा, सत्कार-सम्मान एव वन्दन-प्रशंसा की अभिलाषा न करे।"

यदि कोई श्रावक भक्ति पूर्वक साधु का सम्मान करता है, उसे वन्दन करता है, उसकी प्रशसा करता है, तो उसे इसमे पाप नहीं, धर्म ही होता है। इसी तरह साधु गृहस्थ से अर्श का

छेदन नही कराता, यदि वह छेदन कराता है या छेदन करने वाले साधु का अनुमोदन करता है, तो उसको प्रायश्चित्त आता है। परन्तु अर्श काटनेवाले गृहस्थ को पाप नही होता।

निशीथ सूत्र मे जैसे गृहस्थ एवं अन्य यूथिक के हाथ से व्रण आदि का छेदन या शल्य चिकित्सा कराने से प्रायश्चित कहा है, उसी तरह यदि साधु अपने हाथ से या अन्य साधु के द्वारा शल्य चिकित्सा कराए तो उसे भी प्रायश्चित बताया है।

"जे भिक्खू अप्पणो कायंसि गंडं वा पिलगं वा अरयइं वा असियं वा भगंदल वा अन्नयरेणं तिक्खेणं सत्थ-जाएणं अच्छिदेज्ज वा विच्छि-देज्ज वा अच्छिदतं वा विच्छिदंतं वा साइज्जइ।"

"जो साधु अपने शरीर में हुए फोड़े, मेद, अर्श, मस्सा, भगंदर एव इस प्रकार के अन्य रोगो का तीक्ष्ण शस्त्र के द्वारा स्वयं अपने हाथ से छेदन करें, विशेष प्रकार से छेदन करे या दूसरे साधु से छेदन एवं विशेष प्रकार से छेदन कराए, तो उसे प्रायश्चित आता है।"

प्रस्तुत पाठ मे यह बताया है कि यदि साधु अपने व्रण आदि की स्वय अपने हाथ से शल्य-चिकित्सा करता है, या अन्य साधु से शल्य-चिकित्सा कराता है, तो उसे प्रायश्चित आता है, तथापि तेरहपन्थी साधु अपनी एव दूसरे साधु की शल्य-चिकित्सा करते है। उनके मत से साधु की शल्य-चिकित्सा करने वाले साधु को भी पाप लगना चाहिए। परन्तु वे उसमे पाप नही मानते। जैसे किसी साधु की शल्य-चिकित्सा करने वाले साधु को शल्य-चिकित्सा करके उसे रोग मुक्त करने मे पाप नही लगता, उसी तरह साधु को रोग मुक्त करने के विरुद्ध भाव से साधु की शल्य-चिकित्सा करने वाले गृहस्थ को भी पाप नही लगेगा।

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २७० पर आचारांग सूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ इहा कह्यो—जे साधु रे शरीरे व्रण ते गूमडो, फुणसी आदिक तेहने कोई पर अनेरो गृहस्थ शस्त्रे करी छेदे तो तेहने मन करी अनुमोदे नही, अनें वचन करी तथा काया ए करी करावे नही। जे कार्य ने साधु मन करी अनुमोदनाइ न करे ते कार्य करण वाला ने धर्म किम हुवे?"

उपरोक्त पक्तियो में हम स्पष्ट कर चुके हैं कि साधु गृहस्थ के द्वारा मान-प्रतिष्ठा एव वन्दन-प्रशसा आदि पाने की इच्छा नही रखता, परन्तु यदि कोई गृहस्थ उसे वन्दन आदि कार्य करे, तो उसमे उसे पाप नही होता। जैसे उत्तराध्ययन सूत्र मे साधु को मान-सम्मान प्राप्त करने की इच्छा रखने का निषेध किया है, उसी तरह आचाराग सूत्र मे उसे व्रण आदि छेदन कराने की इच्छा नही रखने का कहा है। परन्तु व्रण का छेदन करने वाले गृहस्थ के कार्य को एकान्त पाप रूप नही कहा है।

"सिया से परो कायंसि वणं अण्णयरेण सत्थ जाएण अच्छिंदेज्ज वा विच्छिंदेज्ज वा णो तं सातिए णो तं णियमे।"

—आचारांग सूत्र श्रु० २, अध्य० १५

"यदि कभी साधु के शरीर में व्रण उत्पन्न हुआ देखकर कोई गृहस्थ उसका छेदन करे तो साधु उसकी इच्छा न करे और न छेदन कराए।"

विनय-अधिकार

विनय का स्वरूप

शुश्रूषा विनय

अम्बड़ सन्यासी के शिष्य

सुलभ बोधित्व की प्राप्ति के कारण

चक्र-रत्न और श्रावक

माहण का अर्थ

श्रमण-माहण का स्वरूप

विनय का स्वरूप

विनय किसे कहते है ? उसके कितने भेद है ?

विनय के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए एक आचार्य ने लिखा है—

"विनीयते कर्मानिनेति विनय । गुरु-शुश्रूषा विनय. । नीचैर्वृत्यनुत्सेके ।"

"जिससे व्यक्ति कर्म बन्ध से निवृत्त होता है, उसे विनय कहते हैं। गुरु की सेवा-शुश्रूषा करने का नाम विनय है और नम्रता को भी विनय कहते हैं।"

आगम मे विनय सात प्रकार का बताया है—

"सत्त विहे विणए पण्णत्ते त जहा—णाणविणए, दसणविणए, चरित्तविणए, मणविणए, चत्तिविणए, कायविणए, लोगोवयार विणए ।"

—स्थानाग सूत्र ७,५८५, भगवती सूत्र २५,७

"विनय सात प्रकार का होता है—१. ज्ञान विनय, २. दर्शन विनय, ३. चारित्र विनय, ४. मन विनय, ५. वचन विनय, ६. काय विनय और ७. लोकोपचार विनय।"

दर्शन विनय का स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

"दर्शन सम्यक्त्वं तदेव विनयो दर्शन विनयः। दर्शनस्य वा तदव्यतिरेकाद्-दर्शन गुणाधिकानां शुश्रूषाणाऽनासातनारूपो विनयो दर्शनविनय. ।" उक्त च—

"सुस्सुसणा अणासायणा य विणओ उ दंसण दुविहो ।
दंसण गुणाहिएसु कज्जइ सुस्सुसणा विणओ ॥
सक्काराब्भुट्ठाणे सम्माणासण अभिग्गहो तहय ।
आसणमणुप्पयाण कीकम्म अजलि गहोय ॥
इतस्सणुगच्छाणया ठियस्सतह पज्जुवासणा भणिया ।
गच्छंताणुव्वयण एसो सुस्सुसणा विणओ ॥"

"दर्शन का अर्थ सम्यक्त्व है। अत. तद्रूप जो विनय है, उसे दर्शन विनय कहते हैं। गुण-गुणी के अभेद से दर्शन रूप अधिक गुणवाले पुरुष की सेवा-शुश्रूषा करना तथा असातना नहीं करना भी दर्शन विनय है। कहा भी है—"दर्शन विनय के दो भेद हैं—१. शुश्रूषा विनय, और २.

अनासातना विनय। दर्शन रूप अधिक गुणवाले साधक की सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए। शुश्रूषा विनय के ये भेद हैं---१. सत्कार करना, २. सम्मुख खड़े होना, ३. सम्मान करना, ४ सम्मुख जाना, ५. आसन देना, ६. वन्दन करना, ७. हाथ जोड़ना, ८. गुरु आते हों तो उनके सामने जाना, ९. बैठे हुए की सेवा करना और १०. जाने पर उन्हें पहुँचाने जाना।"

भगवती सूत्र में शुश्रूषा विनय के निम्न भेद बताए हैं---

"सक्कारेइ वा, सम्माणेइ वा, किइकम्मेइ वा, अब्भुट्ठाणेइ वा, अंजलिप्पगाहेइ वा, आसणाभिगाहेइ वा, आसणाणुप्पदाणेइ वा इंतस्स पच्चुगच्छाणया, ठियस्स पज्जुवासणया, गच्छंतस्स पडिसंहाणया।"

---भगवती सूत्र १४,३,५०७

"सत्कारो विनयार्हेषु वदनादिना आदरकरण प्रवर वस्त्रादि दानं वा 'सक्कारो पवर वत्थादिहिं' इति वचनात् सम्मानस्तथाविधि प्रतिपत्तिकरणम्। कृतिकर्म वन्दनं कार्य्यं करण च। अभ्युत्थानं गौरवार्हं दर्शने विष्टरत्याग.। अंजलि प्रग्रह: अजलिकरणम्। आसनाभिग्रह तिष्ठत एव गोरव्यस्यासनानयनपूर्वकमुपविशतेति भणनम्। गौरव्यमाश्रितस्यासनस्य स्थानातर सचारणम्। आगच्छतो गौरव्यस्याभिमुखगमनं। तिष्ठतो गोरव्यस्य सेवेति, गच्छतोऽनुगमनमिति।"

"विनय करने योग्य पुरुष का वन्दन आदि के द्वारा आदर करना और उसको उत्तमोत्तम वस्त्र आदि प्रदान करना 'सत्कार विनय' कहलाता है। श्रेष्ठ पुरुष को स्वरूपानुरूप आदर देना 'सम्मान विनय' है। श्रेष्ठ पुरुष को वंदन करना एवं उनका कार्य करना 'कृति-कर्म विनय' है। गौरव के योग्य पुरुष को देखकर आसन त्याग कर के खड़े होना 'अभ्युत्थान विनय' है। गौरव के योग्य पुरुष को हाथ जोड़ना 'अंजलि प्रग्रह विनय' है। खड़े हुए श्रेष्ठ पुरुष को आसन देकर बैठने के लिए प्रार्थना करना 'आसनाभिग्रह विनय' है और उनके आसन को उनकी इच्छानुसार अन्य स्थान पर रखना 'आसनानुप्रदान विनय' है। श्रेष्ठ पुरुष के सम्मुख जाना, बैठे हुए की सेवा करना तथा जाने पर उन्हें पहुँचाने को जाना 'शुश्रूषा विनय' है।"

सम्यग्दृष्टि, श्रावक एव मुनिराज ये सब दर्शन विनय के अधिकारी है। सम्यग्दृष्टि अपने से अधिक गुण सम्पन्न सम्यग्दृष्टि की, श्रावक अपने मे अधिक गुण सम्पन्न श्रावक की और ये सब मुनिराज की तथा कनिष्ठ मुनि अपने से दीक्षा एव साधना मे ज्येष्ठ और गुण-सम्पन्न मुनिराज की, जो सेवा-शुश्रूषा करता है, वह उनका दर्शन विनय है। यह दर्शन विनय निर्जरा का हेतु है।

विनय से निर्जरा होती है

अपने से अधिक गुण सम्पन्न श्रावक का दर्शन विनय करना श्रावक के लिए निर्जरा का हेतु आपने बताया है। परन्तु किसी श्रावक के द्वारा श्रावक का दर्शन विनय करने का आगम में उदाहरण आया हो तो बताएँ।

आगम मे श्रावको के द्वारा श्रावक का विनय करने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है---

"तए णं ते समणोवासगा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ

एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म समण भगवे महावीरं वदति-नमसति २ जेणेव इसिभद्दपुत्ते समणोवासए तेणेव उवागच्छंति-उवागच्छित्ता इसिभद्द-पुत्तं समणोवासगं वदंति-नमंसति २ एयमट्ठं संमं विणएण भुज्जो-भुज्जो खामेति ।"

—भगवती सूत्र ११,१२,४३५

"इसके अनन्तर वे श्रावक श्रमण भगवान महावीर से इस बात को सुनकर, भगवान को वन्दन-नमस्कार करके ऋषिभद्र पुत्र श्रावक के पास गए और वहाँ जाकर उसको वन्दन-नमस्कार करके उनको सच्ची बात नहीं मानने रूप अपराध के लिए विनय पूर्वक वार-वार क्षमा-प्रार्थना की।"

प्रस्तुत पाठ में श्रावको के द्वारा श्रावक का विनय करने का स्पष्ट शब्दों मे उल्लेख किया है। इसलिए अपने मे उत्कृष्ट गुणवाले श्रावक का विनय करना श्रावक के लिए निर्जरा का कारण है।

इसी तरह भगवती मूत्र में उत्पला श्राविका के द्वारा पोखली श्रावक का विनय करने का भी उल्लेख है—

"तए णं सा उप्पला समणोवासिया पोक्खलि समणोवासय एज्ज-माणं पासइ-पासइत्ता हट्ठ-तुट्ठा आसणाओ अब्भुट्ठइत्ता सत्तट्ठ पयाहि अणुगच्छइ-अणुगच्छइत्ता पोक्खलिं समणोवासयं वदइ-णमंसइ-णमंसइत्ता आसणेणं उवनिमंतइत्ता एवं वयासी।"

—भगवती मूत्र १२,१, ४३७

"जब उत्पला श्राविका ने पोखली श्रावक को आते हुए देखा, तो वह हृष्ट-तुष्ट हुई। वह अपने आसन से उठकर सात-आठ पैर तक उनके सामने गई। उन्हें वन्दन-नमस्कार कर आसन पर बैठने की प्रार्थना कर के इस प्रकार बोली।"

इसी तरह आगम में पोखली श्रावक के द्वारा शख श्रावक को वन्दन-नमस्कार करने का लिखा है—

"तए ण से पोक्खली समणोवासए जेणेव पोसहसाला, जेणेव संखे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ २ गमणागमणाए पडिक्कमइ २ सख समणोवासयं वन्दइ-णमंसइ-णमंसइत्ता एवं वयासी।"

—भगवती सूत्र १२, १, ४३८

"इसके अनन्तर पोखली श्रावक ने पौषधशाला में स्थित शख श्रावक के पास जाकर इर्या-पथिक प्रतिक्रमण करके, शंख श्रावक को वन्दन-नमस्कार किया और इस प्रकार कहा।"

प्रस्तुत पाठ मे पोखली श्रावक के द्वारा शख श्रावक को वन्दन-नमस्कार करने का स्पष्ट उल्लेख किया है। अत उक्त सब पाठो मे श्रावको के द्वारा श्रावको का विनय करने के ज्वलन्त उदाहरण मिलते है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक के द्वारा श्रावक का विनय करने से कर्मो की निर्जरा होती है।

शुश्रूषा-विनय

आपने आगमो के उदाहरण देकर यह सिद्ध किया कि श्रावक अपने से अधिक गुण सम्पन्न श्रावक को वन्दन-नमस्कार कर सकता है और वह उसका श्रावक के प्रति शुश्रूषा विनय है, अत. वह निर्जरा का हेतु है। परन्तु भ्रमविध्वसनकार एव आचार्य श्री भीषणजी एक मात्र साधु के शुश्रूषा विनय को ही निर्जरा का हेतु मानते है, श्रावक के विनय को नही। आचार्य श्री भीषणजी ने स्वरचित ढाल मे लिखा है—

"दर्शन विनय रा दोय भेद छै, शुश्रूशा ने अण असातना तेहजी।
शुश्रूषा तो बड़ा साधु री करनी, त्यां ने वंदना करणी शीश नमायजी ॥"

—आचार्य श्री भीषणजी की ढाल, निर्जरा प्रकरण

भ्रमविध्वसनकर ने इस विषय मे भ्रमविध्वसन पृष्ठ २७३ पर लिखा है—

"केई पाखडी श्रावक रो सावद्य विनय कियां धर्म कहे छै। विनय मूल धर्म रो नाम लेकर श्रावक री शुश्रूषा तथा विनय करवो थापे।"

आचार्य श्री भीषणजी एव भ्रमविध्वसनकार का श्रावक के प्रति श्रावक के द्वारा शुश्रूषा विनय करने को सावद्य बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है। हमने भगवती सूत्र के कई प्रमाण देकर श्रावक के द्वारा श्रावक का विनय करना आगम सम्मत एव निर्जरा का हेतु सिद्ध किया है। यदि श्रावक का विनय करना सावद्य होता तो भगवान महावीर की उपस्थिति मे समवशरण में ही श्रावक लोग ऋषिभद्र पुत्र श्रावक का विनय क्यो करते ? भगवान ने उस विनय को सावद्य कहकर उन्हें क्यो नही रोका ? इससे श्रावक के द्वारा श्रावक का विनय करने को सावद्य कहना सर्वथा अनुचित है।

इस सम्बन्ध मे भ्रमविध्वंसनकार ने भ्रमविध्वसन पृष्ठ २७६ पर यह तर्क दिया है—

"सामायक–पोषा मे सावद्य रा त्याग छै। ते सामायक-पोषा मे माहो-माही श्रावक नमस्कार करे नही, ते माटे ए विनय सावद्य छै। वली पोपली ने उत्पला नमस्कार कियो, ते पिण आवतां कियो। अने पोपली जाता वन्दना-नमस्कार न कियो। ते माटे धर्म हेतु नमस्कार न कियो। जे धर्म हेते नमस्कार किधो हुवे तो जाता पिण करता। वली शंख नो विनय पोपली कियो, ते पिण आवता कियो। पिण पाछा जावता विनय कियो चाल्यो नथी।

इण न्याय ससार हेते विनय कियो, पिण धर्म हेते नही। जिम साधु रो विनय करे, ते श्रावक आवता पिण करे अने पाछा जावता पिण करे। तिम पोपली नो विनय उत्पला पाछा जाता न कियो। तथा पोखली पिण शख कना थी पाछा जातां विनय न कियो। ते माटे ससार नी रीते ए विनय कियो छै।"

भ्रमविध्वसनकार का उक्त तर्क युक्ति सगत नही है। क्योंकि भगवती सूत्र मे पोखली श्रावक को जाते समय उत्पला का नमस्कार करने का एवं शख के पास से वापिस लौटते समय पोखली का शख को नमस्कार करने का उल्लेख नही है, परन्तु इससे यह निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता कि उन्होने जाते समय उन्हे वन्दन-नमस्कार नही किया। क्योकि उपासकदशाग मे गौतम स्वामी के आते समय आनन्द श्रावक के वन्दन-नमस्कार करने का उल्लेख है, उनके जाते समय वन्दन करने का उल्लेख नही है। इसी तरह रेवती श्राविका के सीह अणगार के आते समय वदन करने का उल्लेख है, परन्तु जाते समय वन्दन करने का नही। जैसे यहाँ जाते समय वन्दन करने का आगम मे उल्लेख न होने पर भी हम यह नही कह सकते कि आनन्द ने गौतम स्वामी को और रेवती ने सीह अणगार को जाते समय वन्दन नही किया था। अत जाते समय वदन का उल्लेख न होने मात्र मे यह कल्पना करके कि उत्पला ने पोखली को एव पोखली ने शख को जाते समय वन्दन नही किया, इसलिए उनका विनय सासारिक रीति का सावद्य विनय था, आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

उत्पला श्राविका ने पोखली श्रावक के आगमन पर पोखली को तथा पोखली श्रावक ने शख श्रावक के पास जाते समय शख को वदन-नमस्कार किया, यह लौकिक रीति का पालन करने के लिए किया था, धर्म के लिए नही, इसका क्या प्रमाण है?

आगम मे जैसे साधु को वन्दन-नमस्कार करने का उल्लेख मिलता है, उसी तरह यहाँ पोखली और शख को वदन करने का उल्लेख किया है। आगम मे कही भी यह नही लिखा है कि साधु को वन्दन करना धर्मार्थ है और श्रावक को वन्दन करना लौकिक रीति पालनार्थ है। ऐसी स्थिति मे यह कल्पना सत्य कैसे मानी जा सकती है—"उत्पला ने पोखली को और पोखली ने शख को, जो वन्दन किया था, वह लौकिक रीति पालनार्थ था, धमार्थ नही?" आगम मे श्रावक के लिए अपने से अधिक गुणवाले श्रावक को वन्दन करने का कही भी निषेध नहीं है, परन्तु श्रेष्ठ श्रावक को वंदन करने की आगम में प्रशसा की है। अत अपने से अधिक गुण सम्पन्न श्रावक के प्रति श्रावक के द्वारा किए जाने वाले विनय को सावद्य एव सासारिक कार्य बताना नितान्त असत्य है।

यदि सब तरह का शुश्रूषा विनय साधु का करने से ही धर्म होता है, तो यह प्रश्न होगा कि श्रावक कृतिकर्म, आसनानुप्रदान एव आसनाभिग्रह रूप शुश्रूषा विनय किसका करेंगे? कृतिकर्म का अर्थ है—अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति का कार्य करना, आसनाभिग्रह का अर्थ है—श्रेष्ठ पुरुष के आने पर उन्हे बैठने के लिए आसन देना और आसनानुप्रदान का तात्पर्य है—श्रेष्ठ पुरुष के आसन को उनकी इच्छा के अनुसार अन्यत्र रखना। साधु न तो श्रावक से अपना काम कराते है, न श्रावक के घर जाने पर उसके आसन पर बैठते हैं और न अपना आसन गृहस्थ से दूसरे स्थान पर रखवाते है। ऐसी स्थिति मे श्रावक उक्त विनयो का किसके साथ व्यवहार करेगा? उन्हें विवश होकर यही कहना पड़ेगा कि श्रावक उक्त विनय श्रावक के साथ ही करते हैं, साधु के साथ नही।

यदि यह कहें कि उक्त सभी शुश्रूषा विनय श्रावकों के लिए नहीं हैं, इसलिए श्रावक को कृतिकर्म, आसनानुप्रदान और आसनाभिग्रह रूप विनय करने का प्रसंग ही नहीं आता ?

यह कथन भी सत्य नहीं है। क्योंकि आगम में आसनानुप्रदान और आसनाभिग्रह इन दो को छोड़कर शेष सब विनयों का तिर्यंच श्रावकों में भी सद्भाव बताया है। अतः मनुष्य श्रावकों में उनका सद्भाव नहीं मानना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

"अत्थि णं भन्ते ! पंचिन्दिय-तिरक्ख-जोणियाणं सक्कारेइ वा जाव पडिसंसाहणया ?

हन्ता ! अत्थि। णो चेव णं आसणाभिग्गहेइ वा आसणाणुप्पदाणेइ वा। मणुस्साणं जाव वेमाणियाणं जहा असुरकुमाराणं।"

—भगवती सूत्र १४, ३, ५०३

"हे भगवन् ! क्या तिर्यंच पंचेन्द्रिय श्रावकों में सत्कारादि शुश्रूषा विनय होते हैं ?

हाँ, होते हैं। आसनानुप्रदान और आसनाभिग्रह को छोड़कर तिर्यंच पंचेन्द्रिय श्रावक में शेष सब शुश्रूषा-विनय होते हैं। मनुष्य और वैमानिक देवों में असुरकुमार की तरह सभी शुश्रूषा-विनय होते हैं।"

प्रस्तुत पाठ में मनुष्य श्रावक में सभी शुश्रूषा विनयों के होने एवं तिर्यंच श्रावक में आसनानुप्रदान और आसनाभिग्रह इन दो को छोड़कर शेष सबके होने का उल्लेख किया गया है। तिर्यंच पंचेन्द्रिय श्रावक अढ़ाई द्वीप के बाहर ही रहते हैं और वहाँ साधुओं का गमनागमन भी नहीं होता, फिर वे वहाँ किसका शुश्रूषा विनय करते हैं ? यहाँ उन्हें विवश होकर यही कहना पड़ता है कि अढ़ाई द्वीप के बाहर रहनेवाले तिर्यंच पंचेन्द्रिय श्रावक अपने से श्रेष्ठ श्रावक का सत्कार-सम्मान करते हैं, वही उनका शुश्रूषा विनय है। अतः श्रावक के प्रति श्रावक के शुश्रूषा विनय को सावद्य बताना यथार्थ नहीं है।

यदि यह कहें—"श्रावक को वन्दन-नमस्कार करना सावद्य नहीं है, तो फिर सामायिक में स्थित श्रावक किसी श्रावक को वन्दन क्यों नहीं करता ?"

सामायिक एवं पौषध व्रत में स्थित श्रावक सामायिक एवं पौषध से रहित खुले श्रावक से गुणों में श्रेष्ठ है, इसलिए वह अपने से कनिष्ठ गुण वाले श्रावक को वन्दन-नमस्कार नहीं करता, परन्तु वह उसके वन्दन-नमस्कार को सावद्य नहीं समझता। जैसे दीक्षा में ज्येष्ठ साधु अपने से दीक्षा में छोटे साधु को वन्दन नहीं करता, जिनकल्पी साधु स्थविर-कल्पी साधु को वंदन नहीं करता। साधु-साध्वी को वन्दन नहीं करता। क्योंकि वे उनसे साधना और गुणों की अपेक्षा बड़े हैं। परन्तु यदि कोई अन्य व्यक्ति पूर्वोक्त मुनियों एवं साध्वियों को वन्दन-नमस्कार करता है, तो उनके उस कार्य को सावद्य नहीं जानते। इसलिए, सामायिक एवं पौषध में स्थित श्रावक गुणों में श्रेष्ठ होने के कारण दूसरे श्रावक को वन्दन नहीं करता, परन्तु उसके वन्दन को सावद्य नहीं मानता।

अम्बड सन्यासी के शिष्य

अम्वड सन्यासी के शिष्यो ने सथारा ग्रहण करते समय अम्वड सन्यासी को वन्दन किया था। उसे सावद्य वताते हुए भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २७७ पर लिखते है—

"अथ इहा चेला कह्यो—नमस्कार थाओ म्हारा धर्माचार्य, धर्मोपदेशक ने। इहा अम्वड परिव्राजक ने नमस्कार थाओ एहवू कह्यो, अम्वड श्रमणोपासक ने नमस्कार थाओ इम न कह्यो। ए श्रमणोपासक पद छाडो परिव्राजक पद ग्रहण करी नमस्कार कीधो ते माटे परिव्राजक ना धर्म नो आचार्य अने परिव्राजक ना धर्म नो उपदेशक छै। तिण ने आगे पिण वन्दना-नमस्कार करता हुन्ता। पछे जिनधर्म पिण तिण कने पाम्या। पिण आगलो गुरुपणो मिट्यो नही। ते माटे सन्यासी धर्म रो उपदेशक कह्यो छै।" इसके आगे लिखते है, "आचार्य ना ३६ गुण कह्या छै, अने अम्वड मे तो ते गुण पावे नही। आचार्य पद पाच पद माहि छै। अने अम्वड तो पाच पदा माहि नही छै।"

अम्वड सन्यासी के शिष्यो ने सथारा ग्रहण करते समय अरिहन्त, सिद्ध और भगवान महावीर के साथ ही अम्वड सन्यासी को भी नमस्कार किया। उन्होने सिद्ध और भगवान महावीर को मोक्षार्थ नमस्कार किया हो और अम्वड़ सन्यासी को मोक्षार्थ न किया हो, इसका आगम मे कोई उल्लेख नही है। आगम मे स्पष्ट लिखा है—हमने जिस अम्वड परिव्राजक से यावज्जीवन के लिए श्रावक के द्वादश व्रत धारण किए है, उनको नमस्कार हो। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उन्होने द्वादश व्रत धारण करने का उपकार मानकर ही अम्वड सन्यासी को वंदन किया था, अन्य किसी कारण से नही। अत उक्त उदाहरण से वाहर व्रत धारण करने वाले अपने से श्रेष्ठ श्रावक को वदना करना धर्म का ही कारण सिद्ध होता है।

"अण्ण-मण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणंति। अण्ण-मण्णस्स अतिए पडिसुणित्ता तिदण्डए य जाव एगंते एडेइ-एडेइत्ता गंगं महाणइं ओगाहेंति—ओगाहेइत्ता वेलुआ संथारयं संथरंति, वेलुया संथरयं दुरुहिंति-दुरुहिइत्ता वा पुरत्थाभिमुहा संपलियंक निसन्ना करयल जाव कट्टु एवं वयासी-नमोत्थुण अरहन्ताणं जाव संपत्ताणं, नमोत्थुणं समणस्स

भगवओ महावीरस्स जाव संपाविउकामस्स, नमोत्थुणं अम्बडस्सपरिव्वायगस्स अम्हं धम्मायरियस्स, धम्मोवदेसगस्स पुव्वि णं अम्हे अम्बडस्स परिव्वायगस्स अन्तिए थूलगे पाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए, थूलगे मुसावाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए, थूलगे अदिणादाने पच्चक्खाए जावज्जीवाए, सव्वे मेहुणे पच्चक्खाए जावज्जीवाए, थूलगे परिग्गहे पच्चक्खाए जावज्जीवाए।"

—उववाई सूत्र १३

"अम्बड सन्यासी के शिष्यों ने परस्पर पूर्वोक्त प्रतिज्ञा करके सन्यासी वेशोचित सम्पूर्ण त्रि-दण्ड आदि सामग्री को एकान्त स्थान में रखकर गंगा नदी के तटपर जाकर वहाँ बालू-रेत का संथारा बनाया। उस पर स्थित होकर पूर्व दिशा की ओर मुँह कर के पर्यंकासन बैठकर हाथ जोड़ कर कहने लगे—अरिहन्तों एवं मोक्ष में पहुंचे हुए सिद्धो को हमारा नमस्कार हो, भगवान महावीर को—जो मोक्ष मे जाने की इच्छा रखते है, हमारा नमस्कार हो। हमारे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक अम्बड़ सन्यासी को हमारा नमस्कार हो, जिनके उपदेश से हमने स्थूल अहिंसा, स्थूल मृषावाद, स्थूल अदत्तादान, सब प्रकार के मैथुन और स्थूल परिग्रह का यावज्जीवन के लिए त्याग किया है।"

प्रस्तुत पाठ मे अम्बडजी के शिष्यो ने सथारा ग्रहण करते समय अरिहन्त, सिद्ध एव भगवान महावीर के समान ही अम्बडजी को नमस्कार किया है। यदि अपने से श्रेष्ठ श्रावक को नमस्कार करना पाप होता, तो वे अम्बडजी को नमस्कार क्यो करते ? यदि यह कहे कि अरिहन्त, सिद्ध एव भगवान महावीर को तो उन्होने मोक्षार्थ नमस्कार किया था और अम्बडजी को लौकिक रीति के अनुसार। परन्तु इस कथन के पीछे कोई आगमिक प्रमाण नही होने से, यह कथन सत्य एव प्रामाणिक नही माना जा सकता। क्योकि अम्बडजी को नमस्कार करने का पाठ सबके साथ होने से उनका नमस्कार भी मोक्षार्थ ही माना जाएगा, ससारार्थ नही। उस समय वे सथारे पर बैठे हुए थे, वहाँ लौकिक रीति का पालन करने का कोई प्रसग ही नही था। उस समय केवल लोकोत्तर मर्यादा पालन करने का प्रसग था। तदनुसार उन्होने अरिहन्त, सिद्ध, भगवान महावीर एव अम्बड़जी को नमस्कार किया। अत अरिहन्त आदि के नमस्कार को धर्म का अग मानना और अम्बड़जी के नमस्कार को धर्म का अग नही मानना, साम्प्रदायिक दुराग्रह मात्र है।

उक्त पाठ में अम्बडजी के लिए परिव्राजक शब्द का प्रयोग देखकर उन्हे सन्यास धर्म के नाते से नमस्कार करने की कल्पना करना गलत है। क्योकि इस पाठ मे उनके शिष्यो ने स्पष्ट कहा है कि जिनके पास हमने स्थूल प्राणातिपात, यावत् स्थूल परिग्रह का प्रत्याख्यान किया था, उस अम्बड़ परिव्राजक को नमस्कार हो। यदि सन्यास धर्म का सम्बन्ध होने से उन्होने नमस्कार किया होता, तो वे यहाँ प्राणातिपात आदि के प्रत्याख्यान का उपकार न बताकर यह कहते कि जिस अम्बड सन्यासी से हमने सन्यास धर्म ग्रहण किया, उसे नमस्कार हो। परन्तु यहाँ स्थूल प्राणातिपात विरमण आदि व्रत धारण करने का उपकार मानकर शिष्यो

द्वारा उन्हें वन्दन किए जाने का कथन है, परन्तु सन्यास धर्म का उपदेशक गुरु मानकर नमस्कार करने का नही।

यदि कोई यह तर्क करे—"यदि अम्बड़ सन्यासी के शिष्यो ने उसे सन्यास धर्म के सम्बन्धानुसार वन्दन नही किया था, तो प्रस्तुत पाठ मे उन्होने अम्बड सन्यासी के लिए 'श्रमणोपासक' विशेषण क्यो नही लगाया ?" इसका समाधान यह है कि 'जिनधर्म' की उदारता को प्रकट करने के लिए आगम मे स्थान-स्थान पर अम्बडजी के लिए 'श्रमणोपासक' विशेषण न लगाकर 'परिव्राजक' विशेषण लगाया है। इसी कारण प्रस्तुत पाठ मे भी परिव्राजक शब्द का प्रयोग किया है। इस विशेषण से यह शीघ्र ही समझ मे आ जाता है कि सन्यास धर्म की अपेक्षा, श्रमणोपासक का धर्म श्रेष्ठ है। इसलिए अम्बड सन्यासी ने सन्यास धर्म का त्याग करके श्रमणोपासक धर्म को स्वीकार किया। अन्यथा आगम मे उनके लिए जो परिव्राजक का विशेषण लगाया है, वह सर्वथा असगत रहेगा। क्योकि जिस समय अम्बडजी के शिष्य सथारा पर स्थित थे, उस समय उन्होने अम्बड़जी को परिव्राजक कहा है, जब कि उन्होने परिव्राजक कर्म का त्याग कर दिया था, उस समय वे परिव्राजक धर्म का आचरण नही करते थे। अत उनके लिए परिव्राजक विशेषण लगाकर कहने का कोई अन्य कारण नही है। जैसे गृहस्थ गृहस्थाश्रम का त्याग करके जब साधु बन जाता है, तब उसके शिष्य 'गृहस्थ' विशेषण नही लगाते। क्योकि उसने गृहस्थ जीवन का त्याग करके साधुत्व स्वीकार कर लिया है। उसी तरह अम्बड सन्यास धर्म का परित्याग करके श्रमणोपासक बन गए थे। अत. उनके लिए परिव्राजक विशेषण लगाकर उन्हे सम्बोधित करना उचित नही माना जा सकता। हमे यहाँ यह मानना होगा कि जिनधर्म की उदारता को बताने के लिए ही उनके नाम के आगे श्रमणोपासक विशेषण न लगाकर पूर्व परिचय के रूप मे परिव्राजक शब्द का प्रयोग किया है। अत उनके लिए परिव्राजक शब्द का प्रयोग होने मात्र से परिव्राजक धर्म के सम्बन्ध से उनको वन्दन करने की प्ररूपणा करना सर्वथा गलत है।

अम्बडजी के शिष्य श्रावक धर्म के अनुसार सथारा ग्रहण कर रहे थे। अत उस समय कुप्रावचनिक धर्म का उपकार मानकर कुप्रावचनिक धर्माचार्य को वे कैसे नमस्कार कर सकते थे ? क्योकि इस कार्य मे वही पुरुष वदनीय-पूजनीय हो सकता है, जो इसका समर्थन करता हो, परन्तु सथारा ग्रहण करने के कार्य को बुरा बताने वाला कुप्रावचनिक धर्माचार्य सथारा स्वीकार करने वाले के लिए वन्दनीय नही हो सकता। इसलिए अम्बडजी के शिष्यो ने बारह व्रत ग्रहण कराने का उपकारक मानकर अम्बडजी को वन्दन किया था, परिव्राजक धर्म का उपकारक मानकर नही।

यह मान्यता भी एकान्त रूप से सगत नही है कि छत्तीस गुण सम्पन्न व्यक्ति ही धर्माचार्य होता है। क्योकि आगम में कई ऐसे आचार्यो का भी उल्लेख मिलता है, जिनमें छत्तीस गुण नही पाए जाते।

"चत्तारि आयरिया पण्णत्ता तं जहा—पव्वायणायरिए नाममेगे नो उवट्ठावणायरिए, उवट्ठावणायरिए नाममेगे नो पव्वायणायरिए, एगे पव्वायणायरिए वि उवट्ठावणायरिए वि, एगे नो पव्वायणायरिए नो उवट्ठावणायरिए धम्मायरिए।

चत्तारि आयरिया पण्णत्ता तं जहा—उद्देसनायरिए नाममेगे नो वायणायरिए, धम्मायरिए।

चत्तारि अन्तेवासी पण्णत्ता तं जहा—पव्वयणान्तेवासी नाममेगे नो उवट्ठावणान्तेवासी, धम्मंतेवासी।

चत्तारि अन्तेवासी पण्णत्ता तं जहा—उद्देसणान्तेवासी नाममेगे नो वायणान्तेवासी, धम्मंतेवासी।"

—स्थानाग सूत्र ४,३,३२०

"आचार्य चार प्रकार के होते हैं–१. जो सामायिक चारित्र दीक्षा देते हैं, परन्तु छेदोपस्थापना चारित्र नहीं देते, वे प्रव्रजनाचार्य हैं, २. जो छेदोपस्थापना चारित्र देते हैं, परन्तु सामायिक चारित्र नहीं देते, वे उपस्थापनाचार्य हैं। ३. जो दोनों चारित्र देते हैं, वे उभयाचार्य हैं और ४. जो दोनो ही चारित्र नहीं देते, केवल धर्मोपदेश देते हैं, वे धर्माचार्य हैं।

दूसरी प्रकार से आचार्य चार प्रकार के होते हैं–१. जो शिष्य को अंग शास्त्र पढ़ने के योग्य बना देते हैं, परन्तु पढ़ाते नहीं, वे उद्देशनाचार्य हैं। २. जो शिष्य को अंग शास्त्र पढ़ने योग्य नहीं बनाते, परन्तु अंग शास्त्र पढ़ाते हैं, वे वाचनाचार्य हैं। ३. जो दोनों कार्य करते हैं, वे उभयाचार्य हैं और ४. जो दोनों कार्य नहीं करते, किन्तु धर्मोपदेश देते हैं, वे धर्माचार्य हैं।

इसी प्रकार शिष्य भी चार प्रकार के होते हैं—१. जो एक आचार्य से दीक्षा मात्र ग्रहण करता है, छेदोपस्थापना चारित्र नहीं, वह प्रव्रजनान्तेवासी है, २. जो एक आचार्य से दीक्षा नही लेता, परन्तु छेदोपस्थापना चारित्र ग्रहण करता है, वह उपस्थापनान्तेवासी है, ३. जो एक आचार्य से दोनों चारित्र ग्रहण करता है, वह उभयान्तेवासी है और ४. जो एक आचार्य से दोनों चारित्र ग्रहण नहीं करता, किन्तु धर्मोपदेश मात्र ग्रहण करता है, वह धर्म-अन्तेवासी है।

अन्य तरह से भी शिष्य चार प्रकार के होते हैं–१. जो जिससे अंग शास्त्र पढ़ने की योग्यता प्राप्त करते हैं, पढ़ते नहीं वह उद्देशनान्तेवासी हैं। २. जो जिससे अंग शास्त्र पढ़ने की योग्यता प्राप्त नहीं करते, परन्तु अंग शास्त्र पढ़ते हैं, वे वाचनान्तेवासी हैं, ३. जो जिससे दोनों प्राप्त करते हैं, वे उभयान्तेवासी हैं और ४ जो जिससे दोनों प्राप्त नहीं करके धर्मोपदेश मात्र श्रवण करते हैं, वे धर्म-अन्तेवासी हैं।"

प्रस्तुत पाठ में जो न दीक्षा देता है, न छेदोस्थापना चारित्र देता है और न अंग शास्त्र पढ़ाने के योग्य बनाता है और न अग शास्त्र पढाता है, केवल धर्मोपदेश देता है, उसे धर्माचार्य कहा है। प्रस्तुत पाठ की टीका में भी यही लिखा है—

"आचार्य्य सूत्र चतुर्थ भंगे यो न प्रव्राजनया न चोत्थापनयाचार्य्य. स क. ? इत्याह धर्माचार्य्य इति प्रबोधक:।" आह च—

"धम्मो जणुवइट्ठो सो धम्मगुरु गिही व समणो वा।
कोवि तिहिं संय उत्तो दोहि वि एक्केक्कगेणेव॥"

"आचार्य सूत्र के चतुर्थ भंग में जो न दीक्षा देता है और न छेदोपस्थापना चारित्र ही देता है, वह कौन है ? वह धर्म का प्रतिबोध देने वाला धर्माचार्य है। कहा भी है–जिसने धर्म का

उपदेश दिया है, वह भले ही गृहस्थ हो या श्रावक हो, धर्माचार्य कहलाता है। इनमें से कोई दीक्षा, छेदोपस्थापना चारित्र, और धर्म-प्रतिबोध, इन तीनो के आचार्य होते हैं, कोई दो के और कोई एक के आचार्य होते हैं।"

इसमे यह स्पष्ट कर दिया कि धर्मोपदेशक भले ही श्रमण हो या श्रमणोपासक, वह धर्माचार्य कहलाता है। अम्बडजी ने अपने शिष्यो को बारह व्रत रूप धर्म का उपदेश दिया था, अत वे उनके धर्माचार्य थे। अम्बडजी के शिष्यो ने उन्हे अपना धर्माचार्य बनाकर उनसे बारह व्रत धारण करने का कहा है, इसमे यह नि सन्देह सिद्ध होता है कि अम्बडजी के शिष्यो ने उन्हे लोकोत्तर धर्माचार्य समझकर ही वन्दन-नमस्कार किया था, सन्यास धर्म का उपदेशक समझकर नही। क्योकि बारह व्रतधारी श्रावक कुप्रावचनिक धर्माचार्य को राजाभियोग आदि छ कारणो के बिना नमस्कार नही करता। जैसे शकडालपुत्र पहले गोशालक का शिष्य था, फिर भगवान महावीर से बारह व्रत धारण किए, उसके पश्चात् उसने गोशालक को वदन नही किया, क्योकि ऐसा करने मे सम्यक्त्व मे अतिचार लगता है। अत. अम्बडजी के शिष्यो ने उन्हे कुप्रावचनिक समझकर नही, प्रत्युत बारह व्रत के धर्मोपदेशक, धर्माचार्य समझकर वन्दन-नमस्कार किया था। अत अम्बडजी के शिष्यो ने उनको कुप्रावचनिक धर्माचार्य के सम्बन्ध से वन्दन किया ऐसी मिथ्या प्ररूपणा करके अपने से अधिक गुणसम्पन्न श्रावक को वन्दन करने मे पाप बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

सुलभ बोधित्व की प्राप्ति के कारण

स्थानाग सूत्र मे जीव को पाँच कारणो से सुलभबोधी होना कहा है ।

"पंचहि ठाणेहि जीवा सुलभबोधियत्ताए कम्मं पकरेति, तं जहा—अरहंताणं वन्नं वदमाणे, जाव विवक्क तव-बभचेराणं देवाणं वन्नं वदमाणे ।"

—स्थानाग सूत्र ५, २, ४२६

"पाँच कारणों से जीव सुलभ बोधी होने का कर्म करता है—अरिहन्तों यावत् परिपक्व ब्रह्मचर्य वाले देवों का वर्ण—गुणानुवाद बोलने एव प्रशंसा करने से ।"

यहाँ जिनका ब्रह्मचर्य एव तप परिपक्व हो गया है, उन देवो का गुणानुवाद करने से सुलभ बोधित्व प्राप्त करना कहा है । देव साधु नही है, फिर भी उनका गुणानुवाद करने से जीव सुलभ बोधी कर्म क्यो बाधता है ? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु से भिन्न व्यक्ति का विनय करने से एकान्त पाप नही होता है । सम्यग्दृष्टि पुरुष का विनय करने मे सुलभ बोधित्व की प्राप्ति होती है । अत उसकी सेवा-भक्ति करने एव उसको वन्दन करने से एकान्त पाप कैसे होगा ? उससे तो और अधिक धर्म होगा ।

जिस समय तीर्थंकर जन्म लेते है, उस समय वे साधु नही होते, तथापि इन्द्र आदि देव उनको अपने से अधिक सम्यक्त्व आदि गुणो से युक्त जानकर भक्ति पूर्वक वन्दन-नमस्कार एव स्तुति करते है। भ्रमविध्वंसनकार के मत से उनका वन्दन भी सावद्य ठहरेगा । परन्तु आगम मे ऐसा नही कहा है । वहाँ उसे कल्याण का कारण बताया है । इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि अपने से सम्यक्त्व एव श्रावकत्व आदि गुणो मे श्रेष्ठ पुरुषो को वन्दन-नमस्कार करना धर्म का कारण है, पाप का नही ।

आगम मे स्पष्ट लिखा है कि दिक्कुमारियो ने तीर्थंकर के जन्म के समय तीर्थंकर एव उनकी माता का गुणानुवाद किया—

"जेणेव भगवं तित्थयरे तित्थयरमाया य तणेव उवागच्छंति—उवागच्छंत्ता भगवं तित्थयरं तिथ्थयरमायं च तिक्खुतो आयाहिणं

पयाहिणं करेति २ त्ता पत्तेयं करयल परिग्गहियं सिरसावत्त मत्थए अंजलि कट्टु एव वयासी णमोऽत्थुणं ते रयणकुच्छिधारिए जगप्पईवदइए सव्वजगमंगलस्स चक्खुणो अमुत्तस्स सव्वजगजीववच्छलस्स हियकारण मग्गदेसिय पागिद्धिविभुयभुस्स जिणस्स णाणिस्स नायगस्स बुहस्सा वोहगस्स सव्वलोगनाहसस्स निम्ममस्स पवरकुलसमुब्भवस्स जाईए खत्तियस्स ज सि लोगुत्तमस्स जणणी धन्नासि तं पुण्णासि कयत्थासि अम्हेणं देवाणुप्पिए अहे लोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसा कुमारी महत्तरिआओ भगवओ तित्थयरस्स जम्मण-महिम करिस्सामो तण्णं तुब्भेहि न भीइव्वं ।"

—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

"दिक्कुमारियो ने भगवान—तीर्थंकर और उनकी माता के पास जाकर तीन बार परिक्रमा देकर शिखर अंजलि बांधकर कहा—हे रत्न कुक्षिधारिके ? तुम्हें हमारा नमस्कार है । हे देवि ! ससार की समस्त वस्तुओं को दीपवत् प्रकाशित करने वाले तीर्थंकर देव को तुम जन्म देनेवाली हो, जो जगत के सम्पूर्ण पदार्थों का यथार्थ स्वरूप दिखलाने वाले नेत्र के समान हैं, जिनकी वाणी सब प्राणियों का उपकार करने वाली, सम्यग्ज्ञान,दर्शन और चारित्र का उपदेश देनेवाली,सर्व व्यापक तथा सबके हृदय में प्रविष्ट होने वाली है । जो तीर्थंकर देव राग-द्वेष के विजेता, उत्कृष्ट ज्ञान के स्वामी, संघ के नायक और बुद्ध—सब पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले होते हैं, जो सब प्राणियों के हृदय में बोधिबीज के संस्थापक, सबके रक्षक और सबके बोधक हैं, जो ममत्व रहित उत्तम कुल में जन्मे हुए क्षत्रिय वंशधर हैं। तुम ऐसे तीर्थंकर की जननी हो । इसलिए हे देवी ! तुम धन्य हो, पुण्यवती हो, कृतार्थ हो । हे देवि ! हम लोग अधोलोक में निवसित दिक्कुमारिकाएँ हैं । हम तीर्थंकर देव के जन्म की महिमा करेंगी । अत आप किसी तरह से भयभीत न बनें ।"

प्रस्तुत पाठ मे दिशा-कुमारियों द्वारा तीर्थंकर और उनकी माता को वन्दन-नमस्कार करने एव उनके गुणानुवाद करने का लिखा है । इसमे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि एव श्रावक के लिए अपने मे अधिक गुण सम्पन्न सम्यक्त्वी एवं श्रावक को वन्दन-नमस्कार करना पाप नही, धर्म है । तथापि भ्रमविध्वंसनकार अपने मे श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि के गुणानुवाद करने मे धर्म और उसे वन्दन करने में पाप बताते हैं । यह उनका केवल साम्प्रदायिक व्यामोह एव दुराग्रह है । जब अपने से श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि का गुणानुवाद करने मे धर्म होता है, तब उसे वदन करने में पाप कैसे हो सकता है ? कदापि नही । अस्तु अपने मे अधिक गुण सम्पन्न सम्यग्दृष्टि श्रावक को श्रावक के द्वारा वन्दन करने में पाप की कल्पना करना आगम से सर्वथा विरुद्ध है ।

तीर्थंकर जन्म और वन्दन

जन्म लेते समय तीर्थंकर को इन्द्र ने तथा तीर्थंकर एव उनकी माता को दिशा-कुमारियों ने वन्दन-नमस्कार किया और उनके गुणानुवाद किए, इस आगमिक प्रमाण से आपने यह सिद्ध

किया कि अपने से श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि को वन्दन-नमस्कार करना धर्म है। परन्तु भ्रमविध्वंसन-कार इस मान्यता को मिथ्या सिद्ध करने के लिए भ्रमविध्वसन पृष्ठ २८४ पर जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहां कह्यो—तीर्थंकर जन्म्यां ते द्रव्य तीर्थंकर ने इन्द्र नमोत्थुण गुणे, नमस्कार करे, ते पिण इन्द्र नी रीति हुन्ती ते साचवे, पिण धर्म जाणे नही। तीन ज्ञान सहित एकावतारी इन्द्र ने पिण परपूठे जन्म्यां छता द्रव्य तीर्थंकर नों विनय करे। नमोत्थुण गुणे ते लौकिक संसार नें हेते रीति सांचवे, पिण मोक्ष हेते नही।"

जन्म लेते समय तीर्थंकर को इन्द्र धर्म जानकर वन्दन-नमस्कार नही करता, ऐसा कही आगम में उल्लेख नही है। आगम मे प्रयुक्त 'जीयमेयं' इस पाठ से यदि यह कहे कि इन्द्र अपने पुरातन आचार का पालन करने के लिए जन्मते समय तीर्थंकर को वन्दन करता है, धर्म जानकर नही। परन्तु यह कथन सर्वथा अनुचित है। क्योकि भगवान को केवल ज्ञान होने पर जब देव वन्दन करने आए, उस समय के प्रसग मे भी आगम मे 'जीयमेयं' पाठ आया है। इसका अर्थ है—"हे देव! तीर्थंकरो को वन्दन करना तुम्हारा पुराना आचार है।". भ्रमविध्वसनकार के मत से केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर भी तीर्थंकर को वन्दन करना धर्म नही, लौकिक आचार का पालन करना मात्र होना चाहिए। यदि तीर्थंकर को केवल-ज्ञान होने पर परंपरा के अनुसार वन्दन करने पर भी देवो को पाप नही, धर्म होता है, तब जन्म के समय तीर्थंकर को अपनी परपरा के अनुसार वन्दन करने पर इन्द्र को पाप कैसे होगा? जैसे जन्म के समय इन्द्र आदि देव तीर्थंकर की महिमा करने के लिए आते हैं, उसी तरह केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर केवल ज्ञान की महिमा करने के लिए भी वे भगवान के पास आते हैं। आगम में जन्म-कल्याण के पाठ का संकोच करके पाँचो कल्याणो का पाठ आया है, उसमें जन्म के समय के वर्णन की तरह 'जीयमेयं' का पाठ समझना चाहिए। अत इन सब स्थानो में किए जाने वाले वन्दन और जब लोकान्तिक देव पुरानी परम्परा का पालन करने हेतु तीर्थंकरो को प्रतिवोध देने आते है, उसमे भी पाप मानना चाहिए। क्योकि वहाँ भी 'जीयमेयं' शब्द का प्रयोग हुआ है। वह पाठ यह है—

"तत्तेणं तेसि लोगंतियाणं देवाणं पत्तेयं २त्ता आसणाइं चलंति। तहेव जाव अरहंताणं निक्खममाणं संवोहणं करेतएत्ति तं गच्छामो णं अम्हेऽवि मल्लिस्स अरहंतो संवोहणं करेमि त्ति कट्टु एवं संपेहेति २त्ता उत्तरपुराच्छिमं दिसिभाय वेउव्विय समुग्घाएणं सम्मोहणति २त्ता सखि-ज्जाइं जोयणाइं एवं जहा जंभगा जाव जेणेव मिहिला रायहाणी जेणेव कुम्भगस्स रण्णो भवणे जणेव मल्लीअरहा तेणेव उवागच्छंति २त्ता अंत-लिक्खपडिवन्ना संखिविणियाइं जाववत्थाति पवर परिहिया करयल ताहि इट्ठा एवंवयासी बुज्झाहि भगवं लोगनाहा पवत्तेहि धम्मतित्थं जीवाणं हिय-सुख-निस्सेसयकरं भविस्सतीत्ति कट्टु दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयंति २त्ता

मल्लिअरहं वंदंति-नमंसति २त्ता जामेव दिसं पाउब्भुया तामेव दिसिं पडिगया।"

—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

इसमें जाव शब्द से जिस पूर्व पाठ का सकोच किया है, वह यह है—

"तए णं लोगंतिया देवता आसणाइं चलिताइं पासंति-पासंतित्ता ओहि पाउज्जंति२त्ता मल्लि अरहं ओहिणा ओभोएंति २त्ता। इमेयारूवे अज्ज-त्थिए जाव समुप्पज्जित्था एवं खलु एवं जम्बूद्दीवे-दीवे भारए वासे मिहिलाए कुम्भगस्स मल्लीअरहा निक्खमिस्सामीत्ति मनं पहारेति तं जीयमेयं तीय पच्चुप्पन्नमणागयाणं लोगतियाणं।"

"इसके अनन्तर प्रत्येक लोकान्तिक देवों के आसन डोलने लगे। यह देखकर देवो ने अवधि-ज्ञान का प्रयोग करके अरिहंत मल्लिनाथ को देखा। पश्चात् उनके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में मिथिला नगरी के राजा कुम्भ की पुत्री भगवान मल्लि-नाथ दीक्षा लेने का विचार कर रहे हैं। अतः हमारा भूत, भविष्य एवं वर्तमान काल का जीत—आचार-परम्परा है कि तीर्थंकर के पास जाकर हम उनको प्रतिबोधित करते हैं। इसलिए हमें भगवान मल्लिनाथ के पास जाना चाहिए। यह सोचकर लोकान्तिक देवो ने ईशान कोण में जाकर वैक्रिय समुद्घात किया और सख्यात योजन का दण्ड निकाल कर उत्तर वैक्रिय शरीर बनाया और वे जृम्भक देवो की तरह मिथिला नगरी में कुम्भराजा के महल में भगवान मल्लिनाथ के पास आए। वहाँ आकाश में स्थित होकर घूंघरू बजाते हुए हाथ जोड़कर मधुर शब्दो में कहने लगे—हे भगवन्! हे लोकनाथ!! प्रतिबोध प्राप्त करो और धर्मतीर्थ को प्रवृत्त करो, जिससे जीवों को हित, सुख एवं मुक्ति की प्राप्ति हो। इस प्रकार दो-तीन बार कह कर और वन्दन-नमस्कार करके लोकान्तिक देव जिस दिशा से आए थे, उसी ओर वापिस लौट गए।"

प्रस्तुत पाठ मे 'जीयमेयं' शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ भी अपनी परपरा के आचार का पालन करने के लिए लोकान्तिक देव भगवान मल्लिनाथ को प्रतिबोधित करने आए, ऐसा कहा है। अत भ्रमविध्वसनकार को इस कार्य को भी सावद्य समझना चाहिए। यदि 'जीयमेयं' इस पाठ के होने पर भी देवो द्वारा प्रतिबोध देना सावद्य नही है, तो जन्म के समय भी इन्द्र आदि का वन्दन करना सावद्य नही होगा।

यदि यह कहें कि भगवान के जन्म के समय देवता बहुत-सा आरभ-समारंभ करते हैं। अत. जैसे वह सावद्य है, उसी तरह उस समय का वन्दन भी सावद्य है। परन्तु भगवान को केवल-ज्ञान होने पर भी देव आते है और उस समय भी बहुत-सा आरंभ-समारभ करते हैं। इस अपेक्षा से केवल ज्ञान के समय किया जाने वाला वन्दन भी सावद्य समझना चाहिए। इसे सावद्य क्यो नही मानते? जैसे केवल ज्ञान के समय देवो की आवागमन आदि सावद्य क्रिया होने पर भी उस समय का वन्दन सावद्य नही होता, उसी तरह जन्मोत्सव के समय आरभ होने पर भी भगवान को किया जाने वाला वन्दन सावद्य नही होता। क्योकि वन्दन आरभ-समारभ की क्रिया से भिन्न है।

चक्र-रत्न और श्रावक

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २८१ पर लिखते है—

"इहा चक्र उपनो तिहा भरतजी इसो विनय कीधो। पछे चक्र कनें आवी पूजा कीधी, ते ससार रीते पिण धर्म हेते नही। तिम अम्बडने चेला पिण आपरो निज गुरु जाणी गुरुनी रीति साचवी, पिण धर्म न जाण्यो।"

भरत ने चक्र रत्न की पूजा की, उसकी अम्बडजी के शिष्यो के साथ तुलना करना कथमपि उचित नही है। क्योकि चक्र रत्न प्रत्यक्षत स्थावर है, एकेन्द्रिय है और मिथ्यात्वी है। उसकी पूजा करना मिथ्यात्वी की पूजा करना है। अत वह सम्यग्दृष्टि के लिए धर्म का कारण नही है। परन्तु अम्बडजी सम्यग्दृष्टि एव बारह व्रतधारी श्रावक थे। अत उन्हे वन्दन-नमस्कार करना सम्यग्दृष्टि एव श्रावक को वन्दना करना था और वह चक्र पूजा की तरह लौकिक रीति के परिपालनार्थ नही, धर्मार्थ था। अत चक्र पूजा का दृष्टान्त देकर अम्बडजी को किए गए वन्दन को सावद्य बताना नितान्त असत्य है।

यह आगम प्रमाण से बताएँ कि श्रावक की सेवा-भक्ति करने से किस फल की प्राप्ति होती है ?

आगम मे श्रावक की सेवा-भक्ति करने का फल शास्त्र श्रवण से लेकर मोक्ष पर्यंन्त बताते हुए लिखा है—

"तहारूवेण भन्ते ! समणं वा माहणं वा पज्जुवासमाणस्स किं फल पज्जुवासाण ?

गोयमा ! सवण फला।

से ण भन्ते ! सवणे कि फले ?

णाण फले।

से णं भन्ते ! णाणे किं फले ?

विण्णाण फले।

से णं भन्ते ! विण्णाणे किं फले ?

पच्चक्खाण फले ।

से णं भन्ते ! पच्चक्खाणे कि फले ?

संजम फले ।

सेणं भन्ते ! सजमे कि फले ?

अणण्हय फले । एव अणण्हए तव फले । तवे वोदाण फले । वोदाणे अकिरिया फले ।

से णं भन्ते ! अकिरिया किं फला ?

सिद्धिपज्जवसणा फला पण्णत्ता, गोयमा !"

—भगवती सूत्र २,५,१११

हे भगवन् ! तथारूप के श्रमण-माहन की सेवा करने से क्या फल होता है ?

हे गौतम ! आगम, वीतराग-वाणी—धर्म सुनने का फल होता है ।

श्रवण करने का क्या फल होता है ?

श्रवण करने से ज्ञान होता है, सैद्धान्तिक बोध होता है ।

ज्ञान से क्या फल होता है ?

विज्ञान—विशेष ज्ञान की प्राप्ति होती है,त्यागने योग्य और स्वीकार करने योग्य वस्तु का विवेक प्राप्त होता है ।

विज्ञान से किस फल की प्राप्ति होती है ?

विज्ञान से पाप का प्रत्याख्यान होता है ।

प्रत्याख्यान का क्या फल है ?

पापो का प्रत्याख्यान करने से सयम की प्राप्ति होती है,

संयम का क्या फल है ?

संयम से आश्रव का निरोध होता है, आते हुए कर्म रुकते हैं । इसी तरह आश्रव निरोध से तप की प्राप्ति होती है । तप से कर्मों की निर्जरा होती है और निर्जरा से योगों का निरोध होता है ।

हे भगवन् ! योग निरोध करने से क्या फल मिलता है ?

हे गौतम ! योग निरोध से सव कर्मो का अन्त होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है ।"

प्रस्तुत पाठ मे तथारूप के श्रमण-माहण की सेवा-भक्ति करने मे धर्म श्रवण से लेकर मोक्ष पर्यन्त फल की प्राप्ति वताई है । प्रस्तुत पाठ की टीका मे श्रमण का अर्थ साधु और माहण का अर्थ श्रावक किया है—

"श्रमण साधु माहन. श्रावक ।"

उक्त पाठ से श्रावक की सेवा-भक्ति करने मे धर्म सिद्ध होता है । अत श्रावक की सेवा-भक्ति करने एव उन्हे वन्दन-नमस्कार करने मे एकान्त पाप वताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है ।

यदि यह कहें कि प्रस्तुत पाठ में प्रयुक्त श्रमण-माहण शब्द केवल साधु का ही बोधक है, श्रावक का नही। तो यह कथन भी उचित नही है। क्योकि यह कथन टीका से भी विरुद्ध है। टीका में माहण शब्द का अर्थ श्रावक किया है। इसके अतिरिक्त अन्य-तीर्थियो के लिए भी श्रमण-माहण शब्द आया है। वहाँ उनका एक साधु ही अर्थ नही किया है। वहाँ श्रमण का अर्थ-शाक्य आदि भिक्षु और माहण का अर्थ ब्राह्मण किया है। जैसे अन्य-तीर्थियो के लिए प्रयुक्त श्रमण-माहण शब्द एक अर्थ के नही, भिन्न-भिन्न अर्थ के बोधक है, उसी तरह स्व-तीर्थी के लिए प्रयुक्त श्रमण-माहण शब्द भी एक साधु अर्थ मे नही, भिन्न-भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

"तत्थणं जे ते समणा-माहणा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता हंतव्वा।"

—सूत्रकृताग सूत्र २, २, ४१

"जो श्रमण-माहण यह प्ररूपणा करते हैं कि सब प्राण, भूत, जीव और सत्वों का वध करना धर्म है, वे परमार्थ को नहीं जानते।"

प्रस्तुत पाठ मे अन्य-तीर्थी के लिए श्रमण-माहण शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ टीकाकार ने श्रमण शब्द का अर्थ शाक्य आदि भिक्षु और माहण शब्द का अर्थ ब्राह्मण किया है। भ्रमविध्वसनकार ने भी इस बात को स्वीकार किया है। भ्रमविध्वसन पृष्ठ २९४ पर लिखा है—

"तिम अन्य-तीर्थी ने श्रमण शाक्यादिक, माहण ते ब्राह्मण ए अन्य तीर्थी ना श्रमण-माहण कह्या।"

अत. जैसे इस पाठ मे श्रमण-माहण शब्द का अन्य-तीर्थी का एक साधु अर्थ न होकर श्रमण का शाक्य आदि भिक्षु और माहण का ब्राह्मण अर्थ किया है। उसी तरह भगवती सूत्र के पाठ मे उल्लिखित श्रमण शब्द का अर्थ साधु और माहण शब्द का अर्थ श्रावक समझना चाहिए। अस्तु पर-तीर्थी के लिए दोनो शब्दो के दो भिन्न अर्थ मानना और स्व-तीर्थी के लिए दोनो शब्दो का एक साधु ही अर्थ करना साम्प्रदायिक दुराग्रह मात्र है।

माहण का अर्थ

पर-तीर्थी धर्मोपदेशक दो प्रकार के होते हैं-श्रमण-शाक्य आदि भिक्षु और माहण—ब्राह्मण। इसलिए पर-तीर्थी धर्मोपदेशक के लिए प्रयुक्त श्रमण-माहण शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ होना उपयुक्त है। परन्तु स्व-तीर्थी धर्मोपदेशक एक मात्र साधु ही होता है, श्रावक नहीं। इसलिए स्व-तीर्थी धर्मोपदेशक के लिए प्रयुक्त श्रमण-माहण शब्द का एक साधु ही अर्थ होना चाहिए। परन्तु श्रमण का अर्थ साधु और माहण का अर्थ श्रावक नहीं होना चाहिए। इस विषय में आपका क्या अभिमत है?

पर-तीर्थी की तरह स्व-तीर्थी धर्मोपदेशक भी दो प्रकार के होते हैं—१. साधु और २. श्रावक। इसलिए श्रमण शब्द का अर्थ साधु और माहण शब्द का अर्थ श्रावक करना चाहिए। क्योंकि आगम में श्रावक को भी धर्मोपदेशक कहा है—

"अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्सविभंगे एवमाहिज्जइ इह खलु पाईणं वा ४ संत्ते गतिया मणुस्सा भवंति, तं जहा—अप्पिच्छा, अप्पारम्भा, अप्पपरिग्गहा, धम्मिया, धम्माणुया, धमिट्ठा, धम्मक्खाई, धम्मप्पलोइया, धम्मपलज्जणा, धम्मसमुदायारा, धम्मेण चेव विति कप्पेमाणा विहरति। सुसीला, सुव्वया, सुप्पडियानंदा साहू।"

—सूत्रकृतांग सूत्र २, २, ३९

"तीसरा स्थान मिश्रसंज्ञक है। उसका विभग कहते हैं-इस संसार में पूर्व आदि दिशाओं में निवसित मनुष्य शुभकर्म करने वाले होते हैं। वे अल्पइच्छा रखने वाले, अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही, धार्मिक, धर्मेष्ट—श्रुत-चारित्र धर्म के अनुगामी, धर्माख्यायी—भव्य जीवों के समक्ष धर्म का प्रतिपादन—उपदेश करने वाले, धर्म में अनुराग रखने वाले, प्रसन्नता पूर्वक धर्माचरण करने वाले, धर्म पूर्वक जीविका करने वाले, सुन्दर स्वभाव वाले, सुव्रती और आत्म-आनन्द में मग्न रहने वाले साधु के सदृश होते हैं।"

प्रस्तुत पाठ मे श्रावक को धर्माख्यायी कहा है। धर्माख्यायी उसे कहते है, जो धर्म का उपदेश देता है। टीकाकार ने धर्माख्यायी शब्द का निम्न अर्थ किया है—

"धर्ममाख्याति भव्यानां प्रतिपादयति इति धर्माख्यायी।"

"जो भव्य लोगों के समक्ष धर्म का प्रतिपादन करता है, उसे धर्माख्यायी कहते हैं।"

इस प्रकार इस पाठ से स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक भी धर्म का उपदेश देता है। अत. पर-तीर्थी धर्मोपदेशक की तरह स्व-तीर्थी धर्मोपदेशक भी दो प्रकार के होते हैं—साधु और श्रावक। अत. भगवती सूत्र में प्रयुक्त श्रमण शब्द का साधु और माहण शब्द का श्रावक अर्थ समझना चाहिए। माहण शब्द का भी साधु ही अर्थ करना कथमपि उचित नही।

सुबुद्धि-प्रधान : धर्मोपदेशक था

किसी श्रावक ने धर्मोपदेश देकर किसी को धार्मिक बनाया हो, तो बताएँ ?

अम्बड़ परिव्राजक ने ही अपने सात-सौ शिष्यो को धर्मोपदेश देकर बारह व्रत स्वीकार कराए। भ्रमविध्वंसनकार ने भी स्वय इसे स्वीकार किया है। दूसरा उदाहरण सुबुद्धि प्रधान श्रावक का है, उसने जितशत्रु राजा को धर्मोपदेश देकर बारह व्रत धारी श्रावक बनाया।

"तत्तेणं सुबुद्धि जितसत्तुस्स विचित्तं केवली पण्णतं चाउज्जामं धम्मं परिकहेइ। तमाइक्खति जहा जीवा वुज्झंति जाव पंच अणुव्वयाति। तत्तेणं जितसत्तू सुबुद्धिस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठ-तुट्ठ सुबुद्धिं अमच्चं एवं वयासी—सद्दहामि णं देवाणुप्पिया ! णिग्गंथ पावयणं ३ जाव से जहेयं तुब्भे वयह। तं इच्छामि णं तव अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं जाव उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। अहा सुह देवाणुप्पिया ! मा पडिवंधं करेह। तएणं से जितसत्तू सुबुद्धिस्स अमच्चस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं जाव दुवालस विहं सावयधम्मं पडिवज्जइ। तत्तेणं जितसत्तू समणोवासए अभिगय जीवाऽजीवे जाव पडिलभमाणे विहरइ।"

—ज्ञाता सूत्र, अध्ययन १२

"इसके अनन्तर सुबुद्धि प्रधान ने जितशत्रु राजा को केवली प्ररूपित चातुर्याम—चार महाव्रत युक्त धर्म कहा और राजा को इस प्रकार समझाया जिसमे जीव प्रतिबोधित होकर आराधक बन जाते हैं। उसने राजा को पाँच अणुव्रत रूप धर्म को विस्तार से समझाया। इसके अनन्तर जितशत्रु राजा ने सुबुद्धि प्रधान से कहा—'मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ और तुम्हारे उपदेश के अनुसार तुम से बारह व्रत-स्वीकार करना चाहता हूँ।' यह सुनकर प्रधान ने कहा—हे देवानुप्रिय ! जैसा सुख हो करो, परन्तु धर्म कार्य में विलम्ब मत करो। तदनन्तर राजा ने प्रधान से श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किए और वह श्रमणोपासक बन गया। वह जीव-अजीव को जानकर यावत् साधुओं को दान देता हुआ विचरने लगा।"

प्रस्तुत पाठ में स्पष्ट कहा है कि सुबुद्धि प्रधान के धर्मोपदेश से जितशत्रु राजा ने बारह व्रत स्वीकार किए। अत श्रावक भी धर्मोपदेशक होते हैं, यह आगम का एक ज्वलन्त उदाहरण है। अत. स्व-तीर्थी साधु एवं श्रावक दोनो धर्मोपदेशक होते है। तथापि भ्रमविध्वंसनकार स्व-तीर्थी साधु को ही एक मात्र धर्मोपदेशक बताते हैं, श्रावक को नही। उनका यह कथन आगम से विरुद्ध सिद्ध होता है। भगवती सूत्र मे कथित श्रमण और माहण—श्रावक की सेवा-भक्ति करने से आगम-श्रवण से लेकर मोक्ष प्राप्ति का फल मिलता है। अत. श्रावक की सेवा-भक्ति करने में एकान्त पाप बताना आगम के विपरीत है।

श्रमण-माहण का स्वरूप

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २९६ पर लिखते है—

"अनें किणहिक ठामे टीका मे माहण ना अर्थ प्रथम तो साधु इज कियो, अने बीजो अर्थ 'अथवा श्रावक' इम कियो छै। पिण मूल अर्थ तो श्रमण-माहण नो साधु इज कियो।"

टीकाकार ने श्रमण-माहण शब्द का प्रथम साधु ही अर्थ किया है, परन्तु बाद में अथवा कहकर श्रावक अर्थ किया है, यह कथन युक्ति सगत नही है। भगवती सूत्र की टीका में माहण शब्द का श्रावक अर्थ किया है।

"माहणस्स त्ति माहनेत्येवमादिशति स्वयं स्थूल-प्राणातिपातादि निवृत्तत्वाद्यः स माहन.।"

"जो पुरुष स्थूल प्राणातिपात आदि से निवृत्त होकर दूसरे को भी नहीं मारने का उपदेश देता है, वह माहण है।"

यहाँ टीकाकार ने सर्वप्रथम माहण शब्द का श्रावक अर्थ किया है, और भगवती श० २, उ० ५ की टीका मे माहण शब्द का सर्व प्रथम साधु अर्थ ही किया है। वह टीका यह है—

"तथारूपमुचितस्वभावं कञ्चन पुरुष श्रमणं वा तपोयुक्तमुपलक्षणत्वादस्योत्तर गुणवन्तमित्यर्थ.। माहन वा स्वय हनन निवृत्तत्वात्परं प्रति मा हन इति वादिन उपलक्षणत्वादेव मूलगुणयुक्तमित्यर्थ.। वा शब्दौ समुच्चये अथवा श्रमण. साधुर्माहन. श्रावक.।"

"जो पुरुष उचित स्वभाव, तप—उत्तरगुण से युक्त है, वह श्रमण कहलाता है और जो स्वयं हिंसा से निवृत्त होकर दूसरे को नहीं मारने का उपदेश देता है अर्थात् मूलगुण से युक्त है, वह 'माहण' कहलाता है। अथवा श्रमण नाम साधु का है और माहण नाम श्रावक का।"

यहाँ टीकाकार ने प्रथम श्रमण शब्द का 'उत्तर गुण' और माहण शब्द का 'मूल गुण युक्त' अर्थ किया है। साधु और श्रावक दोनो के मूल एवं उत्तर गुण होते हैं, केवल साधु के नही। इसलिए प्रथम अर्थ मे श्रमण-माहण शब्द से मूल एव उत्तर गुण से युक्त साधु और श्रावक दोनो का ही ग्रहण होता है, केवल साधु का नही। दूसरे अर्थ मे टीकाकार ने स्पष्ट

लिख दिया—श्रमण का अर्थ साधु है और माहण का अर्थ श्रावक। अत. उक्त टीका का नाम लेकर माहण शब्द का श्रावक अर्थ करने मे टीकाकार की अरुचि बताना सर्वथा गलत है।

कल्याणं, मंगलं आदि विशेषण

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २८७ पर भगवती श० १५ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ अठे सर्वानुभूति, सुनक्षत्र मुनि गोशालक ने कह्यो—हे गोशालक ! जे तथारूप श्रमण-माहण कने एक वचन सीखे, तेहने पिण वादे-नमस्कार करे। कल्याणिक, मागलिक, देवयं, चेइय, जाणिने घणी सेवा करे। इहा श्रमण-माहण कने सीखे तेहने वन्दना-नमस्कार करणी कही। पिण श्रमणोपासक कने सीखे तेहने वदना-नमस्कार करणी, इम न कह्यो। श्रमण-माहण नी सेवा कही, पिण श्रमणोपासक री सेवा न कही। ए तो प्रत्यक्ष श्रावक ने टाल दियो, अने श्रमण-माहण ने वन्दना-नमस्कार करणो कह्यो। ते माटे श्रावक ने नमस्कार करे ते कार्य आज्ञा बाहिरे छै।"

भगवती शतक १५ के पाठ का प्रमाण देकर यह कहना "श्रावक से सीखे,पर उसको वन्दन न करे" नितान्त असत्य है। उक्त पाठ मे साधु एव श्रावक दोनो से 'सीखना और दोनो को वन्दन-नमस्कार करने का कहा है। इसमे श्रावक को वन्दन करने का निषेध नही किया है। प्रस्तुत पाठ मे भगवती श० २, उ० ५ की तरह श्रमण और माहण दोनो से सीखने और वन्दन करने का विधान किया है। अत यहाँ भी पूर्व की तरह श्रमण का अर्थ साधु और माहण का अर्थ श्रावक है। भगवती सूत्र के इस पाठ से श्रावक से सीखना और उसे वन्दन करना स्पष्ट सिद्ध होता है। इतना तो साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति भी समझ सकता है कि यह कैसे हो सकता है कि श्रावक से सीखने का तो निषेध नही किया, परन्तु वन्दन करने का निषेध किया है ? यदि यह कहे कि इस पाठ मे श्रमण-माहण का विशेषण कल्याण, मगल, देवय, चेइय, आया है। ये विशेषण साधु एव तीर्थंकरो को किए जाने वाले वन्दन मे ही आते है, श्रावक आदि मे नही। इसलिए माहण शब्द का साधु ही अर्थ करना चाहिए, श्रावक नही। भ्रमविध्वसनकार का यह तर्क भी युक्ति-सगत नही है। क्योकि आगम मे साधु से भिन्न व्यक्ति के लिए भी 'कल्लाण' आदि विशेषण आए है।

"बहु जणस्स आहुस्स आहुणिज्जे, पाहुणिज्जे, अच्चाणिज्जे वद-णिज्जे, नमंसणिज्जे, पूयणिज्जे, सक्कारणिज्जे, सम्माणिज्जे, कल्लाणं, मगलं, देवयं, चेइयं, विणएण पज्जुवासणिज्जे।"

—उववाई सूत्र

प्रस्तुत पाठ पूर्णभद्रयक्ष के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसमे पूर्णभद्र यक्ष के लिए कल्याण, मगल, देवय, चेइय, विशेषणो का प्रयोग किया है। अत उक्त विशेषण केवल साधु एव तीर्थंकरो के लिए ही आते है, ऐसा कोई नियम नही है। उक्त विशेषणो का नाम लेकर भगवती सूत्र के १५ वे शतक के पाठ मे प्रयुक्त 'माहण' शब्द का श्रावक अर्थ होने का निषेध करना आगम से सर्वथा विपरीत है।

श्रावक भी वन्दनीय है

भ्रमविध्वसनकार उत्तराध्ययन सूत्र की बहुत-सी गाथाएँ लिखकर उनके प्रमाण से माहण शब्द का अर्थ एक मात्र साधु होना बताते है, श्रावक नही।

उत्तराध्ययन सूत्र की गाथाओ मे जो माहण या ब्राह्मण का लक्षण बताया है, वह केवल साधु मे ही मिलता है, श्रावक मे नही, यह कथन न्याय सगत नही है। उत्तराध्ययन की गाथा मे बताया है—"सब जीवो पर समता रखने से श्रमण, ब्रह्मचर्य धारण करने से ब्राह्मण या माहण, ज्ञान से मुनि और तप करने से तापस होता है।"

"समयाए समणो होई, बभचेरेण वंभणो।
नाणेण य मुणी होई, तवेणं होई तावसो॥"

—उत्तराध्ययन सूत्र २५, ३२

यहाँ ब्रह्मचर्य धारण करने मे माहण-ब्राह्मण होना कहा है। श्रावक भी ब्रह्मचर्य धारण करता है। अत अम्बडजी एव उनके शिष्यो ने श्रावक होने पर भी पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया था। अन्य श्रावक भी देश से ब्रह्मचर्य का परिपालन करते है। इसलिए उक्त गाथा मे प्ररूपित ब्राह्मण का लक्षण श्रावक मे भी घटित होता है। उत्तराध्ययन सूत्र की गाथाओ का उदाहरण देकर एक मात्र साधु को ही माहण कहना और श्रावक के माहण होने का निषेध करना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २७७ पर लिखते है—

"इम जो धर्माचार्य हुवे तो पुत्र कने पिता श्रावक रा व्रत धारे, तो तिण रे लेखे पुत्र ने आचार्य कहीजे, इम हिज स्त्री कने भर्तार श्रावक ना व्रत धारे, तो तिण रे लेखे स्त्री ने पिण आचार्य कहीजे। तथा सासू वहू कने व्रत आदरे तथा सेठ गुमास्ता कने व्रत आदरे, तो तिण ने पिण धर्माचार्य कहीजे" इसके आगे लिखते है—"अने जिण पासे धर्म सीख्या तिण ने वन्दना करणी कहे तिणरे पाछे कह्या ते सर्वने वन्दन-नमस्कार करणी।"

स्थानाग सूत्र के स्थान ६ मे लिखा है—कारण-वश पुरुष साध्वी से दीक्षा ग्रहण कर सकता है, परन्तु दीक्षा ग्रहण करने के बाद वह उक्त साध्वी को नमस्कार नही करता। क्योकि साध्वी को वन्दन-नमस्कार करना साधु का कल्प नही है। उसी तरह पिता पुत्र से, पति पत्नी से, श्वश्रू पुत्र-वधू से और सेठ अपने मुनीम या नौकर से धर्मोपदेश सुनकर श्रावक के व्रत ग्रहण कर सकता है। परन्तु पिता पुत्र को पति पत्नी को, श्वश्रू पुत्र-वधू को और सेठ नौकर को वन्दन करे यह लोक व्यवहार के अनुकूल नही होने से, ये उन्हे वन्दन नही करते। परन्तु जिस श्रावक को वन्दन करने मे लोक व्यवहार का उल्लघन नही होता है, उसे वन्दन करने मे किसी तरह का दोष एव पाप नही, बल्कि धर्म है। अत. धर्मोपदेशक पुत्र, पत्नी, पुत्र-वधु एव नौकर को पिता, पति, श्वश्रू और सेठ नमस्कार नही करते यह दृष्टान्त देकर सभी धर्मोपदेशक श्रावको को वन्दन-नमस्कार करने मे पाप बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है। क्योकि लोक व्यवहार के कारण भले ही पुत्र आदि को वे नमस्कार नही करते, परन्तु उनका आदर-सम्मान एव गुणानुवाद तो कर सकते है और गुणानुवाद करना भी विनय है। अस्तु श्रावक के द्वारा श्रावक को वन्दन करने का निषेध करना एव उस वन्दन को सावद्य बताना नितान्त असत्य है।

पुण्य - अधिकार

पुण्य का स्वरूप

शुभ अनुष्ठान और उसका फल

क्रिया-अधिकार

पुण्य का स्वरूप

पुण्य किसे कहते है ? और उसके कितने भेद है ?

जो आत्मा को पवित्र करता है, उसे पुण्य कहते हैं—

"पुनाति पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यम् ।"

स्थानाग सूत्र मे नव प्रकार का पुण्य कहा है—१. अन्न, २. पानी, ३ वस्त्र, ४ मकान, ५ शैय्या का देना, ६ गुणी पुरुषो के गुणो मे मन को लगाना, ७ वचन मे गुणी जनो की प्रशसा करना, ८ शरीर मे उनकी सेवा करना और ९ श्रेष्ठ पुरुषो को नमस्कार करना ।

स्थानाग सूत्र की टीका एव टव्वा अर्थ मे लिखा है—"पात्र को अन्न आदि का दान देने से तीर्थकर नाम गोत्र आदि विशिष्ट पुण्य प्रकृति का वन्ध होता है और साधु से भिन्न व्यक्ति को अनुकम्पा बुद्धि पूर्वक दान देने मे अन्य पुण्य प्रकृति का वन्ध होता है । इस प्रकार साधु एव उनसे भिन्न व्यक्ति को दान देने से नव प्रकार का पुण्य होता है ।

नव प्रकार से आवद्ध पुण्य का फल वयालीस प्रकार से मिलता है । अत इन्हे भी कार्य और कारण से पुण्य कहते है । इस प्रकार शुभकरणी क्रिया का नाम भी पुण्य है और उसके फल का भी ।

पुण्य आदर ने योग्य है या त्यागने योग्य ?

स्थानाग सूत्र के प्रथम स्थान की टीका मे पुण्य के दो भेद किए है—१ पुण्यानुवन्धी पुण्य, और २ पापानुवन्धी पुण्य । पुण्यानुवन्धी पुण्य साधक दशा मे आदरने योग्य है, और पापानुवन्धी पुण्य त्यागने योग्य है ।

पुण्यानुवन्धी पुण्य किसे कहते है और उसकी उत्पत्ति कैसे होती है ?

इस विषय मे आचार्य हरिभद्र सूरि ने लिखा है—

"गेहाद् गेहान्तर कश्चिद् शोभनादधिक नर. ।
यातियद्वत् सधर्मेण तद्वदेव भवाद्भवम् ॥"

जैसे कोई मनुष्य सुन्दर मकान से निकलकर उससे भी सुन्दर मकान में प्रविष्ट होता है, उसी तरह जिस पुण्य के द्वारा जीव मनुष्य आदि उत्तम योनियो का त्याग करके उससे भी श्रेष्ठ देव आदि योनियो को प्राप्त करता है, उसे पुण्यानुवंधी पुण्य कहते हैं, उसकी उत्पत्ति का कारण वताते हुए आचार्य हरिभद्र सूरि ने लिखा है—

"दया भूतेषु वैराग्यं, विधिवद् गुरु पूजनम् ।
विशुद्धा शील वृत्तिश्च, पुण्य पुण्यानुबन्ध्यदः ।।"

"सब प्राणियों पर दया–अनुकम्पा रखना, वैराग्य, विधिवत् गुरु की सेवा करना एवं अहिंसा आदि व्रतों का अतिचार रहित पालन करना, ये सब पुण्यानुबन्धी पुण्य के कारण हैं।"

आचार्य हरिभद्र ने लिखा है कि मोक्षार्थी पुरुषो को पुण्य का आदर करना चाहिए—

"शुभानुबन्ध्यतः पुण्य कर्तव्य सर्वथा नरैः ।
यत्प्रभावादपातिन्यो जायन्ते सर्व-सम्पदः ।।"

"मनुष्यों को पुण्यानुबन्धी पुण्य का आदर करना चाहिए, क्योंकि इसके प्रभाव से सर्व अविनश्वर सम्पत्तियां प्राप्ति होती हैं।"

इसमे आचार्य श्री ने पुण्यानुबन्धी पुण्य को आदरणीय कहा है। अत मोक्षार्थी पुरुष भी इसका आदर करते है।

पुण्य उपादेय भी है

मोक्षार्थियो के लिए पुण्य का फल आदरणीय है या नही ?

साधक दशा मे मोक्षार्थी पुरुषो के लिए पुण्य का फल भी उपादेय—आदरणीय है। आगम मे मोक्ष-प्राप्ति के चार प्रमुख कारण कहे है—

"चत्तारि परमगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो ।
माणुसत्तं, सुई, सद्धा, संजमंमिय वीरियं ।।"

—उत्तराध्ययन सूत्र ३, १

"मुक्ति के चार परम साधन हैं, जो जीवों के लिए दुर्लभ हैं–१. मनुष्यत्व, २. धर्म का सुनना, ३. धर्म पर श्रद्धा रखना और ४. संयम में पुरुषार्थ करना।"

प्रस्तुत गाथा मे मनुष्य-जन्म को मोक्ष प्राप्ति का परम साधन कहा है और मनुष्य-जन्म पुण्य का ही फल है। इसलिए पुण्य-फल मोक्षार्थियो के लिए भी साधना की स्थिति मे आदरणीय है।

आगम मे पुण्य को आदरने योग्य कहाँ कहा है ?

आगम मे पुण्य को आदरणीय कहा है—

"इह जीविए राय असासयम्मि, धणियं तु पुण्णाइ अकुव्वमाणे ।
से सोयइ मच्चु मुहोवणीए, धम्मं अकाऊण परम्मि लोए ।।"

—उत्तराध्ययन सूत्र १३, २१

"चित्त मुनि कहते हैं—हे ब्रह्मदत्त ! मनुष्य की अशाश्वत–अनित्य आयु को पाकर, जो मनुष्य पुण्य का उपार्जन नही करता, वह मृत्यु के मुख मे प्रविष्ट होने पर धर्माचरण नहीं करने के कारण परलोक में पश्चात्ताप करता है।"

प्रस्तुत गाथा मे चित्त मुनि ने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को मनुष्य की आयु या मानव जीवन प्राप्त करके पुण्य का उपार्जन करने की आवश्यकता बताई है। अत साधक अवस्था में मोक्षार्थी पुरुषो के लिए भी पुण्य आदरने योग्य सिद्ध होता है।

शुभ अनुष्ठान और उसका फल

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३०१ पर उत्तराध्ययन सूत्र की उक्त गाथा की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ इहां तो कह्यो—हे राजन् ! अशाश्वत जीवितव्य ने विषे गाढा पुण्य ना हेतु शुभ अनुष्ठान, शुभकरणी न करे ते मरणान्त ने विषे पश्चात्ताप करे। इहां पुण्य शब्दे पुण्य नो हेतु शुभ अनुष्ठान कह्यो।"

पुण्य के हेतुभूत शुभ अनुष्ठान को भ्रमविध्वंसनकार स्वयं आदरणीय मानते है। आगम मे शुभ अनुष्ठान एवं पुण्य फल दोनों को पुण्य कहा है। इसलिए मोक्षार्थी के लिए पुण्य आदरणीय नहीं है, यह कथन उनकी मान्यता मे भी विरुद्ध है। यदि वे यह कहें कि हम पुण्य फल को अपेक्षा से पुण्य को अनादरणीय कहते हैं, शुभ अनुष्ठान की अपेक्षा से नही यह कथन भी युक्ति सगत नही है। क्योंकि उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३, गाथा १ में मनुष्य-जन्म को दुर्लभ बताकर मोक्षार्थियो के लिए आदरणीय बताया है। उत्तराध्ययन अध्ययन २३, गाथा ७३ में मानव शरीर को संसार-सागर पार करने वाले प्राणियो के लिए नौका रूप बताया है—

"संसार माहु नावत्ति, जीवो उच्चइ नाविओ।
संसारो अन्नवो उत्तो, जं तरति महेसिणो ॥"

"मनुष्य शरीर नौका है, जीव उसे चलाने वाला नाविक है। यह संसार समुद्र है, महर्षि लोग इसे पार करते हैं।"

इस गाथा में मनुष्य शरीर को नौका बताकर संसार-सागर को पार करने वाले साधक के लिए इसकी परम-आवश्यकता बताई है। मनुष्य शरीर पुण्य का फल है। अत. इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधक दशा मे पुण्य फल भी मोक्षार्थी के लिए आदरणीय है। मनुष्य जन्म की प्राप्ति को दुर्लभ बताते हुए आगम में लिखा है—

"दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्व पाणिणं।"

—उत्तराध्ययन सूत्र १०, ४

"हे गौतम ! प्राणियों को चिरकाल के अनन्तर भी मनुष्य-जन्म प्राप्त होना दुर्लभ है।"

मनुष्य जीवन के महत्त्व को बताते हुए स्थानांग सूत्र, स्थान ३ में लिखा है—

"ततो ठाणाइं देवेपीहेज्जा, तं जहा-माणुसं भवं, आरिये खेत्ते जम्मं, सुकुल पच्चायातिं।"

"देवता भी तीन बातों की अभिलाषा रखते हैं—१. मनुष्य योनि, २. आर्य क्षेत्र एवं ३. अच्छे कुल में जन्म लेना।"

प्रस्तुत पाठ में मनुष्य जन्म को देव वाञ्छनीय कहा है। यदि पुण्य का फल त्याज्य होता, तो उसकी प्रशंसा न करके निन्दा की जाती। परन्तु आगमकार ने मानव जन्म की प्रशंसा की है, इसलिए वह साधक अवस्था मे त्याज्य नही, ग्रहण करने योग्य है। इससे यह स्पष्टत. सिद्ध होता है कि पुण्य के कारण भूत शुभ अनुष्ठान की तरह पुण्य का फल भी आदरने योग्य है। अत. पुण्य फल को एकान्त रूप से त्यागने योग्य बताना भारी भूल है।

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २९९ पर भगवती सूत्र शतक १, उद्देशा ७ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहा नरक जाय ते जीवने, अर्थनो, राज्यनो, भोगनो, कामनो, काक्षी (वाछण-हार) श्री तीर्थंकर कह्यो। पिण अर्थ, भोग, राज्य, कामनी वाछा करे, ते आज्ञा मे नही। जिम अर्थ, भोग, राज्य, कामनी वाछा ने सरावे नही। तिम पुण्यनी वाछा ने, स्वर्गनी वाछा ने पिण सरावे नही। 'पुण्ण कामए, सग्गकामए' ऐ पाठ कह्या माटे पुण्यनी वाछाने सराई कहे, तो तिणरे, लेखे स्वर्गनो कामी वाछक कह्यो। ते पिण स्वर्गनी वाछा सराई कहिणी।".

भगवती सूत्र के उक्त पाठ का नाम लेकर पुण्य को त्याज्य बताना सर्वथा अनुचित है। भगवती सूत्र में पुण्य को एकान्त त्याज्य नही कहा है। वह पाठ और उसकी टीका निम्न है—

"तहारूवस्स समणस्स-माहणस्स वा अंतिए एगमवि आयरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा णिसम्म तओ भवइ संवेग जायसड्ढे तिव्व धम्माणुरागरत्ते। से णं जीवे धम्मकामए, पुण्णकामए, सग्गकामए, मोक्खकामए, धम्मकंखिए, पुण्णकंखिए, सग्गकंखिए, मोक्खकंखिए, धम्मपिपासिए, पुण्य-सग्ग-मोक्खपिपासिए, तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते, तइप्पियकरणे, तब्भावणा-भाविए एयंसि णं अंतरंसि कालं करे देवलोगे उव्ववज्जइ से तेणट्ठे णं गोयमा!

—भगवती सूत्र १,७,६२

श्रमणस्य साधोः वा शब्दो देवलोकोत्पादहेतुत्व प्रति श्रमण-माहन वचनयो-स्तुल्यत्व प्रकाशनार्थः। 'माहणस्स' त्ति मा हन इत्येवमादिशति स्वय स्थूल प्राणातिपातादि निवृत्तत्वाद्य. स माहन.। अथवा ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यस्य देशत सद्भावत्। ब्राह्मणो देश विरत. तस्य वा अन्तिके समीपे एकमप्यास्तां तावदनेकं आर्य्यं आराद्यात पापं कर्म इत्यार्य्यं अतएव धार्मिकं इति। तदनन्तरमेव, 'संवेग जाय सड्ढि' त्ति सवेगेन भवभयेन जाता श्रद्धा-श्रद्धान

धर्मादिषु यस्य स तथा 'तीव्वधम्माणुरागरति' त्ति तीव्रो ग्रो धर्मानुरागो. धर्म बहुमानस्तेन रक्त इव य स तथा। 'धम्मकामए' त्ति धर्म. श्रुतचारित्र लक्षण: ।
पुण्य तत्फलभूत शुभ कर्म इति।"

"हे गौतम ! तथारूप के श्रमण-माहण के पास एक भी आर्य धर्म सम्बन्धी वचन सुनने से जीव को उसके बाद भी भवभय होने से धर्म में श्रद्धा उत्पन्न होती है। वह तीव्र धर्मानुराग से अनुरक्त-सा हो जाता है। वह जीव धर्मकामी, पुण्यकामी, स्वर्गकामी, मोक्षकामी, धर्मकांक्षी, पुण्यकांक्षी, स्वर्गकांक्षी, मोक्षकांक्षी, धर्म पिपासु, पुण्य पिपासु, स्वर्ग पिपासु, मोक्ष-पिपासु तथा उनमे चित्त, लेश्या, अध्यवसाय और तीव्र अध्यवसाय—प्रयत्न विशेष वाला होता है। वह उक्त धर्मादि अर्थों मे उपयोग रखता हुआ तथा उनमें अपनी इन्द्रियों को अर्पण करके, उनकी भावना से भावित-वासित होकर, यदि उस काल में मरता है, तो वह देवलोक में उत्पन्न होता है।"

यहाँ तथारूप के श्रमण और माहण—श्रावक से आर्य धर्म सम्बन्धी एक भी सुवचन सुनने से जीव को वैराग्य, धर्म प्रेम तथा धर्म, पुण्य, स्वर्ग एव मोक्ष में कामना आदि रखने से स्वर्ग प्राप्त करना बताया है। और तथारूप के श्रमण-माहण से धर्मवाक्य श्रवण करने से जीव को पुण्य कामना का होना कहा है। यदि यह पुण्य कामना अप्रशस्त है, तब तो तथारूप के श्रमण-माहण से सुवचन सुनना भी अप्रशस्त होगा। क्योकि इस पाठ मे उसके सुनने से ही जीव को पुण्य कामना का होना कहा है। यदि तथारूप के श्रमण-माहण के सुवचन को सुनना प्रशस्त है, तब उस वाक्य के सुनने से उद्भूत होनेवाली पुण्य कामना भी अप्रशस्त नही, प्रशस्त ही होगी। टीकाकार ने पुण्य शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—

"श्रुत और चारित्र को धर्म कहते है और उस श्रुत-चारित्र रूप धर्म का जो शुभ कर्म रूप फल है, उसे पुण्य कहते है।"

"धर्म. श्रुत-चारित्र लक्षण. पुण्यं तत्फलभूतं शुभ कर्म।"

जो व्यक्ति उस पुण्य को अप्रशस्त एवं एकान्त त्यागने योग्य बताता है, उसके मत से श्रुत-चारित्र धर्म भी अप्रशस्त सिद्ध होगा। क्योकि यहाँ पुण्य को श्रुत-चारित्र रूप धर्म का फल कहा है। यदि वह पुण्य त्याज्य होगा, तो उसका कारण तथारूप के श्रमण-माहण से वचन का सुनना भी त्याज्य ठहरेगा। अत उक्त पाठ का नाम लेकर पुण्य को सर्वथा त्याज्य बताना नितान्त असत्य है।

यदि यह कहे कि इस पाठ मे आर्य धर्म सम्बन्धी सुवाक्य सुनने से स्वर्गकामना होना भी लिखा है। अत. जैसे स्वर्गकामना प्रशस्त नही कही जा सकती, उसी तरह पुण्य कामना को भी प्रशस्त नही कह सकते। यह कथन सत्य नही है। क्योकि जो स्वर्ग कामना मोक्ष की प्रतिबन्धक नही है, किन्तु उसमे सहायक है, उसी का यहाँ उल्लेख है, मोक्ष की प्रतिबन्धक स्वर्ग कामना का नही। इस पाठ मे पहले-पहल श्रमण-माहण के सुवाक्य को सुनने से जीव को वैराग्य उत्पन्न होना लिखा है। तदनन्तर स्वर्ग-कामना का उल्लेख किया है। अतः यहाँ वह स्वर्ग-कामना मोक्ष मे सहायक समझनी चाहिए, विघ्नकारक नही। क्योकि जिसे संसार से वैराग्य प्राप्त हो जाता है, वह मोक्ष प्राप्ति में बाधक वस्तु की कामना नहीं करता। वह मोक्ष मे सहायक वस्तु की अभिलाषा रखता है। अत इस पाठ में जो स्वर्ग कामना होने

का कहा है वह मोक्ष के अनुकूल होने से प्रशस्त है। वस्तुत. श्रमण-माहण का सुवचन सुनने से जो साधक के मन मे वैराग्य उत्पन्न होता है, उससे उसके हृदय मे धर्म कामना, पुण्य कामना स्वर्ग कामना और मोक्ष कामना होती है। वे सब प्रशस्त ही हैं, अप्रशस्त नही।

यहाँ टीकाकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि श्रमण और माहण शब्दो के बाद, जो 'वा' शब्द का प्रयोग हुआ है, वह विकल्प का बोधक नही है, किन्तु श्रमण से सुवाक्य सुना जाए या माहण से, दोनो से एक समान ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। अस्तु इस समानता को प्रकट करने के लिए यहाँ 'वा' शब्द का प्रयोग किया है। श्रमण नाम साधु का है और स्थूल प्राणातिपात मे निवृत्त होकर जो दूसरे को नही मारने का उपदेश करता है, वह माहण कहलाता है।

प्रस्तुत प्रसग मे टीकाकार ने जो यह लिखा है—श्रमण-माहण शब्द के साथ 'वा' शब्द जोडने का यह अभिप्राय रहा है कि भले ही धर्म सम्बन्धी वाक्य श्रमण से सुना जाए या माहण से दोनो से एक समान मोक्ष फल की प्राप्ति होती है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रमण और माहण दोनो एक नही, भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए श्रमण और माहण दोनो का मात्र साधु अर्थ करना पूर्णत. गलत है।

क्रिया-अधिकार

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३७४ पर आज्ञा वाहर की करनी से पुण्य का निषेध करते हुए लिखते है—

"केतला एक अजाण आज्ञा वाहिरली करणी थी, पुण्य वन्धतो कहे, ते सूत्रना जाणणहार नही।"

आज्ञा वाहिर की करणी से पुण्य वन्ध नही मानना आगम-ज्ञान से अनभिज्ञता प्रकट करना है। क्योकि जो व्यक्ति जैन-धर्म के निन्दक एव मिथ्यादर्शन मे श्रद्धा रखने वाले है, वे अपने माने हुए शास्त्रो के अनुसार अकाम निर्जरा आदि की क्रिया करते हैं, उनकी क्रिया जिन-आज्ञा मे नही है, तथापि वे उस आज्ञा वाहिर की करनी से पुण्य वान्धकर स्वर्ग मे जाते है। यदि आज्ञा वाहिर की करनी से पुण्य वन्ध नही होता, तो वे स्वर्ग मे कैसे जाते ?

इस सम्वन्ध मे भ्रमविध्वसनकार मिथ्यादृष्टियो की अकाम निर्जरा को आज्ञा मे वताते हैं और उसके आज्ञा मे होने के कारण आज्ञा वाहर की क्रिया से पुण्यवन्ध होने का निषेध करते है ?

वीतराग प्ररूपित धर्म मे श्रद्धा न रखकर मिथ्यादर्शन मे श्रद्धा रखने वाले अज्ञानी अकाम-निर्जरा आदि की जो करनी करते है, वह करनी यदि वीतराग आज्ञा मे हैं, तो फिर वे मिथ्या-दृष्टि कैसे रह सकते है ? क्योकि जिन-आज्ञा का आराधक मिथ्यादृष्टि नही होता। अतः अकाम निर्जरा आदि की करनी करनेवाले को मिथ्यादृष्टि मानना और उसकी करनी को जिन-आज्ञा मे वताना परस्पर विरुद्ध एव नितान्त असत्य है। अस्तु आज्ञा वाहिर की करनी से पुण्य का वन्ध नही मानना, आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

उववाई सूत्र मे आज्ञा वाहर की क्रिया करके स्वर्ग जाना कहा है—

"से जे इमे गामागर जाव सन्निवेसेसु पव्वइया समणा भवति, तं जहा—आयरिय पडिणिया, उवज्झाय पडिणिया, कुल पडिणिया, गण पडिणिया, आयरिय-उवज्झायाणं अजसकारगा, अवण्णकारगा, अकीत्ति कारगा, असब्भावुब्भावणाहि मिच्छत्ताभिणिवेसेहिंयं अप्पाणं

च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणा बुप्पाएमाणा विहरित्ता बहुइं वासाइं सामण्ण परियागं पाउणंति तस्स ठाणस्स अणालोइय अपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा वा उक्कोसेण लंतए कप्पे देवकिब्बिएसु देवकिब्बिसियत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गती तेरससागरोवमाइं ठीति अणाराहगा सेसं तं चेव।"

—उववाई सूत्र, ३८

"आचार्य, उपाध्याय, कुल और गण के साथ वैरभाव रखने वाले, उनकी अवज्ञा, अकीर्ति तथा अपयश करने वाले कई नामधारी प्रव्रजित ग्राम यावत् सन्निवेश में रहते हैं। वे मिथ्यात्व के अभिनिवेश और असद्भाव की भावना से अपने आप को, दूसरों को एवं दोनों को बुरे आग्रह में डालते हैं। वे असद्भावना के समर्थक बहुत काल तक अपनी प्रव्रज्या का पालन करके भी अपने दुष्कार्य की आलोचना नहीं करने से पाप रहित नहीं होते। वे अपनी आयु समाप्त होने पर मरकर लंतक नामक देवलोक में किल्विषी देव होते है। वहाँ उनकी तेरह सागर की स्थिति होती है। वे परलोक सम्बन्धी भगवान की आज्ञा के आराधक नहीं हैं।"

प्रस्तुत पाठ मे आचार्य, उपाध्याय, कुल, गण और सघ आदि की निन्दा करने वाले वीतराग आज्ञा के अनाराधक अज्ञानी जीवो को आज्ञा बाहर की क्रिया से स्वर्ग प्राप्त करना कहा है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिन-आज्ञा के बाहर की क्रिया से पुण्य का बन्ध होता है। तथापि आज्ञा बाहर की क्रिया से पुण्य बन्ध होने का निषेध करके मिथ्यात्वी की अकाम निर्जरा आदि की क्रियाओ को जिन-आज्ञा मे बताना साम्प्रदायिक दुराग्रह मात्र है।

इस विषय का विस्तृत विवेचन मिथ्यात्व अधिकार मे पृष्ठ २१ से ३३ तक कर चुके है। अत यहाँ पुन पिष्टपेषण करना उचित नही समझते।

आस्रव-अधिकार

आस्रव का स्वरूप

जीव रूपी भी है

आस्रव रूपी-अरूपी दोनों हैं

जीव के परिणाम

द्रव्य और भाव

शरीर आत्मा से भिन्न है

जीवोदय-अजीवोदय निष्पन्न

योग-प्रतिसंलीनता

आस्रव का स्वरूप

आस्रव किसे कहते है ? वह जीव है या अजीव ?

जिस क्रिया के द्वारा आत्मा रूपी तालाब मे कर्म रूपी जल आता है, उसे आस्रव कहते है । वह जीव भी है और अजीव भी । स्थानाग सूत्र एव उसकी टीका मे टीकाकार ने आश्रव के लक्षण एव भेद इस प्रकार बताए है—

"एगे आसवे।"

—स्थानाग सूत्र, स्थान १,१३

"आश्रवन्ति प्रविशन्ति येन कर्मण्यात्मनीत्याश्रव कर्मबन्धहेतुरितिभाव: । स चेन्द्रिय. कषायाव्रतक्रियायोगरूप क्रमेण पच चतु पंच पञ्चविंशति त्रिभेद ।" उक्तं च—

"इदिय कसाय अव्वय किरिया पण चउर पंच पणवीसा ।
जोगा तिन्नेव भवे आसव भेआओ बायाला ॥"

इति तदेव मय द्विचत्वारिंशद्विधोऽथवा द्विविधो द्रव्य-भाव भेदात् । तत्र द्रव्याश्रवो यज्जलान्तर्गत नावादौ तथाविधछिद्रैर्जलप्रवेशनम् । भावाश्रवस्तु यज्जीवनावीन्द्रियादि छिद्रत कर्मजल सचय इति स चाश्रव सामान्यादेक एव।"

"जिसके द्वारा आत्मा में कर्म प्रविष्ट होते हैं, उसे आस्रव कहते हैं । अत. जो कर्म बन्ध का हेतु है, वह आस्रव है । पांच इन्द्रिय, चार कषाय, पाँच अव्रत, पच्चीस क्रिया, तीन योग ये आस्रव के ४२ भेद हैं । छिद्रों के द्वारा नौका आदि में जल का प्रविष्ट होना, द्रव्य आस्रव है । पूर्वोक्त ४२ भेदो के द्वारा जीव रूप नौका में कर्म रूपी जल का प्रविष्ट होना भाव आस्रव है । सामान्यत: वह आस्रव एक प्रकार का है ।"

यहाँ टीकाकार ने भाव आस्रव के ४२ भेद बताए है, इसमे २५ प्रकार की क्रियाएँ भी सम्मिलित हैं । ये क्रियाएँ केवल जीव की ही नही, अजीव की भी बताई है, इसलिए आस्रव अजीव भी है ।

यहाँ इन्द्रियों को भी आस्रव बताया है। इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती है—द्रव्य और भाव इन्द्रिय। द्रव्य इन्द्रियाँ अजीव हैं और भाव इन्द्रियाँ जीव। इसलिए भाव इन्द्रिय रूप आस्रव भी जीव है। इस प्रकार आस्रव जीव और अजीव दोनों प्रकार का है।

आश्रव : एकान्त जीव नहीं है

स्थानांग सूत्र की टीका में आस्रव के भेदों में जो पच्चीस क्रियाएँ बताई है, वे कौन-सी हैं? वे अजीव की क्रियाएँ किस प्रकार मानी जाती हैं?

स्थानांग सूत्र में क्रिया के भेद बताते हुए लिखा है—

"दो किरिआओ पण्णत्ताओ, तं जहा—जीव किरिया चेव, अजीव किरिया चेव।

तत्र जीवस्य क्रिया व्यापारो जीव क्रिया, तथा अजीवस्य पुद्गल समुदायस्य यत्कर्मरूपतया परिणमनं सा अजीव क्रियेति।"

"क्रिया दो प्रकार की है—जीव की और अजीव की। जीव के व्यापार को जीव क्रिया कहते हैं और पुद्गल समूह के कर्म रूप परिणमन होने को अजीव क्रिया।"

अजीव क्रिया दो तरह की होती हैं—१. ऐर्यापथिकी और २ सांपरायिकी। प्रथम का कोई अवान्तर भेद नहीं होता, परन्तु दूसरी क्रिया के २४ भेद होते हैं। इस प्रकार ऐर्यापथिकी और २४ प्रकार की सांपरायिकी, ये २५ क्रियाएँ अजीव की कही हैं। स्थानांग सूत्र में क्रिया के भेद निम्न प्रकार से बताए हैं—

"पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—काथिया, अहिगरणिया, पाओसिया, परितावणिया, पाणातिवाय किरिया।

पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अप्पच्चक्खाण किरिया, मिच्छादंसणवत्तिया।

पंच किरियाओ पण्णत्ताओ तं जहा—दिट्ठिया, पुट्ठिया, पाडुच्चिया, सामन्तोवणिवाइया, साहत्थिया।

पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—णेसत्थिया, आणवणिया वेयारणिया, अणाभोगवत्तिया, अणवकंखवत्तिया।

पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—पेज्जवत्तिया, दोसवत्तिया, पयोग किरिया, समदाणकिरिया, इरियावहिया।"

—स्थानांग सूत्र ५,२,४१९

"क्रिया पाँच प्रकार की हैं—१. कायिकी—शरीर से की जानेवाली, २ अधिकरणिकी—तलवार आदि शस्त्र से की जानेवाली, ३. प्राद्वेषिकी—मत्सर भाव से की जाने वाली ४ परितापनिकी-किसी जीव को परिताप देने से होने वाली। ५. प्राणातिपातिकी—हिंसा से होने वाली क्रिया।

क्रिया पाँच प्रकार की हैं—१. आरंभिकी—आरंभ से होनेवाली, २ पारिग्रहिकी—परिग्रह से होने वाली, ३ मायाप्रत्यया— माया से होनेवाली, ४. अप्रत्याख्यानिकी—प्रत्याख्यान नहीं करने से होने वाली, ५ मिथ्यादर्शन प्रत्यया—मिथ्यादर्शन से होने वाली।

क्रिया पाँच प्रकार की हैं—१ दिट्ठिया— घोड़े एवं चित्र आदि पदार्थों को देखने से उत्पन्न होने वाली क्रिया, २. पुट्ठिया—राग आदि के कारण किसी जीव या अजीव पदार्थ के स्पर्श करने एवं उसके संबंध में पूछने से होनेवाली क्रिया, ३ पाडुच्चिया—किसी वस्तु के लिए की जानेवाली क्रिया ४ सामन्तोवणिवाइया—अपने घोड़े आदि की प्रशंसा सुनकर हर्षवश की जाने वाली क्रिया, ५ साहत्थिया—अपने हाथ से किसी जीव को पकड़कर मारने से उत्पन्न होनेवाली क्रिया।

क्रिया पाँच प्रकार की हैं—१ नेसत्थिया—किसी जीव को मंत्र आदि के द्वारा पीड़ित करने से होनेवाली क्रिया, २ आणवणिया—किसी जीव या अजीव को किसी स्थान पर ले जाने से लगने वाली क्रिया, ३ वियारणिया—किसी जीव या अजीव को विदारण करने से लगनेवाली क्रिया ४ अणाभोगवत्तिया-उपकरणो को अविवेक से लेने-रखने से लगनेवाली क्रिया, ५ अणवकंख-वत्तिया—इहलोक या परलोक के बिगड़ने की अपेक्षा न रखने से लगने वाली क्रिया।

क्रिया पाँच प्रकार की होती हैं—१. रागप्रत्यया—राग से होनेवाली क्रिया, २ द्वेष प्रत्यया—द्वेष से होने वाली क्रिया, ३ प्रयोग प्रत्यया—शरीर आदि के व्यापार से होनेवाली क्रिया, ४ समुदान क्रिया—कर्मों के उपादान से होनेवाली क्रिया और ५ ऐर्यापथिकी—योग से होनेवाली क्रिया।"

उक्त पच्चीस क्रियाओं मे एक ऐर्यापथिकी और चौबीस सांपरायिकी हैं। ये सब आश्रव हैं। कर्म बन्ध के हेतु हैं। ये क्रियाएँ अजीव की कही हैं। अत. आस्रव अजीव है। यद्यपि उक्त सब क्रियाएँ जीव की सहायता से होती हैं। जीव के सहयोग के अभाव में कोई भी क्रिया नहीं होती। तथापि इनमे पुद्गलो के व्यापार की प्रमुखता होने के कारण इन्हें अजीव की क्रियाएँ कही हैं। इन सम्बन्ध मे ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी क्रिया की व्याख्या करते हुए टीका मे लिखा है—

"इरणमीर्य्या गमन तद्विशिष्ट. पन्था इर्य्यापथस्तत्र भवा ऐर्य्यापथिकी। व्युत्पत्ति मात्रमिद प्रवृत्ति निमित्तन्तु यत्केवल योग प्रत्ययमुपशान्त मोहादि त्रयस्य सातवेदनीय कर्मतया अजीवस्य पुद्गलराशेर्भवनं सा ऐर्य्यापथिकी। इह जीव व्यापारेऽपि अजीव प्रधानत्व विविक्षयाऽजीवक्रियेऽयमुक्ता तथा सम्पराया. कषायास्तेषुभवा. साम्परायिकी साह्यजीवस्य पुद्गलराशे कर्मता परिणति रूपा जीव व्यापारस्या विवक्षणादजीव क्रियेति सा च सूक्ष्म संपरायान्तानां गुणस्थानक वर्त्ता भवतीति।"

"गमन करने की क्रिया को इर्या कहते हैं। इससे युक्त जो मार्ग है, वह इर्यापथ कहलाता है। उसमें जो क्रिया होती है उसे ऐर्यापथिकी क्रिया कहते हैं। यह केवल व्युत्पत्ति मात्र है। प्रयोग की अपेक्षा से इसका अर्थ यह है—उपशान्त मोह, क्षीण मोह और सयोगी केवली इन तीनों गुणस्थानो में योगो के कारण पुद्गल राशि का जो सात वेदनीय कर्म से परिणमन होता है, उसे ऐर्यापथिकी क्रिया कहते हैं। यह क्रिया भी जीव के व्यापार के बिना नहीं हो सकती, तथापि जीव के व्यापार की अपेक्षा इसमें पुद्गलों के व्यापार की प्रमुखता

है। इसलिए यहाँ जीव के व्यापार को गौण करके इसे अजीव की क्रिया कहा है। संपराय कषाय को कहते है, उससे जो क्रिया होती है, वह साम्परायिकी क्रिया है। इसमें भी जीव का व्यापार अवश्य होता है। परन्तु अति अल्पता के कारण उस को विवक्षा न करके तथा पुद्गल की अधिकता होने से पुद्गलों के व्यापार की विवक्षा करके साम्परायिकी क्रिया को भी अजीव की क्रिया कहा है। यह क्रिया दशम गुणस्थान तक रहती है।

आगम एव टीका में उक्त क्रियाओं को अजीव की क्रिया कहा है। इसलिए आश्रव एकान्त रूप से जीव नही है। इसके अतिरिक्त भगवती सूत्र मे भगवान् महावीर ने अन्य-तीर्थियों के मत का खण्डन करते हुए ९६ बोलो को और जीव को एक होना कहा है—

"अण्णउत्थियाणं भन्ते ! एवमाइक्खंति जाव परूवेंति एवं खलु पाणाइवाए, मुसावाए, जाव मिच्छादसणसल्ले वट्टमाणस्स अण्णे जीवे, अण्णे जीवाया। पाणाइवाय वेरमणे जाव परिग्गह वेरमणे, कोह विवेगे जाव मिच्छादसणसल्ल विवेगे वट्टमाणस्स अण्णे जीवे, अण्णे जीवाया। उप्पत्तियाए जाव परिणामियाए वट्टमा-णस्स अण्णे जीवे, अण्णे जीवाया। उप्पत्तियाए उग्गहे, इहा, अवाए, धारणाए वट्टमाणस्स जाव जीवाया। उट्ठाणे जाव परक्कमे वट्टमा-णस्स जाव जीवाया। णेरइयत्ते, तिरिक्खि, मणुस, देवत्ते वट्टमाणस्स जाव जीवाया। णाणावरणिज्जे जाव अतराए वट्टमाणस्स जाव जीवाया। एवं कण्ह लेस्साए जाव सुक्क लेस्साए, सम्मदिट्ठीए ३ एव चक्खुदंसणे ४, अभिणिबोहियणाणे ५, मइ अण्णाणे ३, आहार सण्णाए ४, एव ओरालिय सरीरे ५, एव मण जोए ३, सागारोवयोगो, अणागारो-वयोगो वट्टमाणस्स अण्णे जीवे, अण्णे जीवाया। से कहमेयं? भन्ते !

एव गोयमा ! जण्णं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति जाव मिच्छं ते एवमाहंसु अह पुन गोयमा ! एवंमाइक्खामि जाव परुवेमि एवं खलु पाणाइवाए जाव मिच्छादंसण सल्ले वट्टमाणस्स सचेवजीवे, सचेव जीवाया। जाव अणागारोवयोगे वट्टमाणस्स सचेवजीवे, स चेव जीवाया।

—भगवती सूत्र १७,२,५९६

"हे भगवन् ! अन्य यूथिक कहते हैं कि प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य पर्यन्त बोलों में वर्तमान रहने वाले देहधारी का जीव भिन्न है और ये बोल उससे भिन्न हैं। इसी तरह १८ पापों के त्याग में, तीन शल्य, चार प्रकार की बुद्धि, अवग्रह आदि चार प्रकार की मति, उत्थान आदि ५ वीर्य के भेद, नरक आदि ४ गति, ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म, कृष्ण आदि ६ लेश्याएँ चक्षुदर्शन आदि चार दर्शन, अभिनिबोधिक आदि ५ ज्ञान, मति अज्ञान आदि ३ अज्ञान, आहार

आदि चार संज्ञाएँ, औदारिक आदि पाँच शरीर, मन आदि तीन योग, साकार और अनाकार दो प्रकार के उपयोग, इन सबमें स्थित रहनेवाले देहधारी का जीव भिन्न है और ये बोल उससे भिन्न हैं ? हे भगवन्! आप इस विषय में क्या कहते हैं ?

हे गौतम ! अन्य यूथिकों का यह कथन मिथ्या है। ये ९६ बोल और जीव-आत्मा एक ही हैं, परन्तु एकान्त भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

प्रस्तुत पाठ मे कथित ९६ बोलो को जीव कहा है। इनमें मन, वचन योग आदि आश्रव भी है। इस अपेक्षा मे आस्रव कथचित जीव भी है। स्थानाग सूत्र के पाठ में कथित क्रियाग्रो की अपेक्षा से आस्रव अजीव भी हैं। अत आश्रव को एकान्त जीव मानना आगम सम्मत नही है।

पुण्य-पाप-बध : एकान्त अजीव नही

भ्रमविध्वसनकार ग्रौर आचार्य श्री भीषणजी ने पुण्य, पाप ग्रौर वन्ध को एकान्त रूपी ग्रौर अजीव तथा आश्रव को एकान्त अरूपी ग्रौर जीव कहा है। उन्होंने तेरह द्वार के छट्ठे द्वार में लिखा है—

"पुण्य ते शुभ कर्म, तेहने पुण्य कहीजे, तेहने अजीव कहीजे, तेहने वध कहीजे। पाप ते अशुभ कर्म, तेहने पाप कहीजे, तेहने अजीव कहीजे, वन्ध कहीजे। कर्म ग्रह ते आस्रव कहीजे तेहने जीव कहीजे। जीव सघाते कर्म वधाणा, ते वध कहीजे, अजीव कहीजे।"

पुण्य, पाप एव वध को एकान्त अजीव कहना अनुचित है। क्योंकि ये तीनो तत्त्व जीव-आत्मा मे दूध-पानी की तरह मिलकर एकाकार बने रहते हैं। इसलिए व्यवहार दशा में इन्हें जीव का लक्षण माना है ग्रौर व्यवहार नय की अपेक्षा से इन तीनो को आगम में जीव कहा है। दूसरी बात यह है कि पुण्य, पाप एव वन्ध रूप कर्म प्रकृति मे ही जीव को चार गति एव पाँच जाति आदि की प्राप्ति होती है। इन्हे भगवती सूत्र आदि मे जीव कहकर सबोधित किया है। इसलिए शुभाशुभ कर्मों से आवृत्त आत्मा ही व्यवहार दशा मे जीव कहलाता है। गति ग्रौर जाति आदि जीव से भिन्न कहे जाते हो ग्रौर जीव उनसे भिन्न कहा जाता हो ऐसा नही है। अत. पुण्य, पाप एव वन्ध व्यवहार दशा मे जीव ही है, अजीव नही। इन्हे एकान्तत अजीव कहना आगम सम्मत नही है।

जीव रूपी भी है

पुण्य, पाप एवं बन्ध रूपी है और जीव अरूपी। अतः ये दोनो एक कैसे हो सकते है ?
व्यवहार दशा में जीव को भी रूपी कहा है। आगम मे लिखा है—

"देवे णं भन्ते ! महिड्ढए जाव महेस पुव्वामेव रूवी भवित्ता पभू, अरूवीं वि उ भवित्ताणं चिट्ठित्तए ?

णो इणट्ठे-समट्ठे।

से केणट्ठे णं भन्ते ! एवं वुच्चइ देवेण जाव णो पभू अरूवी वि उ भवित्ताणं चिट्ठित्तए ?

गोयमा ! अहमेयं जाणामि, अहमेय पासामि, अहमेय बुज्झामि अहमेयं अभिसमण्णागच्छामि। मए एयं णाय, मए एयं दिट्ठं, मए एयं बुद्धं, मए एयं अभिसमण्णागयं, जण्ण तहागयस्स जीवस्स सरूविस्स, सकम्मस्स, सरागस्स, सवेदणस्स, समोहस्स, सलेस्सस्स ससरीरस्स ताओ सरीराओ अविप्पमुक्कस्स एव पण्णायति, तं जहा— कालत्ते वा जाव सुक्किलत्ते वा, सुब्भिगंधत्ते वा, दुब्भिगंधत्ते वा, तित्तते वा जाव महुरत्ते वा, कक्खडत्ते वा, जाव लुक्खत्ते वा। से तेणट्ठे णं गोयमा ! जाव चिट्ठित्तए।

—भगवती सूत्र १७,२,५९७

"हे भगवन् ! महेश नामक देव, जो विशाल समृद्धिशाली और शरीर आदि पुद्गलों के सम्बन्ध से रूपी है, वह अरूपी होकर रह सकता है या नहीं ?

हे गौतम ! यह संभव नहीं है।

इसका क्या कारण है ?

हे गौतम ! मैं इसे जानता हूँ यावत् अनुभव करता हूँ। यह बात मेरे द्वारा जानी हुई यावत् अनुभव की हुई है। जो जीव मूर्तिमान है, सरागी है, सवेद है और जिसमें मोह तथा लेश्या विद्यमान है। जो शरीर से मुक्त नहीं हुआ है, उसमें ये बातें अवश्य पाई जाती हैं—वह काला है, वह शुक्ल है। इसमें दुर्गन्ध है या सुगन्ध है। यह तिक्त है या मधुर है। यह कर्कश है या रूक्ष है इत्यादि। जिसमें उक्त बातें पाई जाती है, वह रूपी बना रहता है, अरूपी नहीं।"

इस पाठ मे भगवान ने सराग, समोह एव सलेशी जीव को रूपी कहा है। इसलिए व्यवहार दशा मे सरागी जीव रूपी है। जब सरागी जीव रूपी है, तब पुण्य, पाप एवं बन्ध इन रूपी पदार्थों के साथ उनका अभेद व्यवहार होने मे सन्देह को अवकाश ही नही है। जो व्यक्ति पुण्य, पाप एव बन्ध को रूपी होने के कारण जीव मे एकान्त भिन्न मानते हैं, वे आगम के यथार्थ स्वरूप को नही जानते है।

इस पाठ से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आस्रव एकान्त अरूपी नही है। क्योंकि यहाँ सराग, समोह एव सलेशी जीव को रूपी कहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि आस्रव भी रूपी है। जब जीव भी रूपी है, तब जीव स्वरूप आस्रव भी रूपी क्यो नही होगा ? अत. आस्रव को एकान्तत जीव मानकर, उसे एकान्तत अरूपी कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

आस्रव अजीव भी है

क्या पुण्य, पाप एव बन्ध अजीव नही है ?

पुण्य, पाप और बन्ध व्यवहार दशा मे जीव और निश्चय नय के अनुसार अजीव है। इसलिए इन्हे एकान्तत जीव या अजीव कहना मिथ्या है। वस्तुत. ये कथचित् जीव और कथचित् अजीव हैं।

यदि भ्रमविध्वसनकार का व्यवहार नय से नही, किन्तु निश्चय नय से पुण्य पाप एव बन्ध को अजीव कहने का अभिप्राय हो, तो इसमें क्या आपत्ति है ?

यदि भ्रमविध्वंसनकार का यह अभिप्राय हो कि पुण्य, पाप एव बन्ध निश्चय नय से अजीव है, व्यवहार नय से नही, तो उनके कथन मे कोई दोप नही है। परन्तु पुण्य, पाप एव बन्ध को एकान्त अजीव कहना मिथ्या है। यही बात आस्रव के सम्बन्ध में भी है। यदि भ्रमविध्वसनकार उसे एकान्त रूप मे जीव और अरूपी न कहे, तो फिर कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु वे आस्रव को एकान्तत अरूपी और जीव कहते हैं, जब कि आगम मे आस्रव को न एकान्त जीव कहा है और न अजीव किन्तु उसे जीव और अजीव दोनो प्रकार का कहा है।

मिथ्यात्व, कपाय और योग आस्रव माने जाते हैं। मिथ्यात्व, कपाय और मन, वचन योग को चतुस्पर्शी और काय योग को अष्टस्पर्शी पुद्गल माना है। अत. मिथ्यात्व, कपाय एव योग जीव नही है। इसलिए आस्रव एकान्तत. जीव नही हो सकता। यदि कोई व्यक्ति आस्रव को एकान्तत अजीव कहता है,तो वह भी गलत है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि को भी आस्रव कहा है और वह मिथ्यादृष्टि अरूपी एवं जीव का परिणाम है। इससे आस्रव जीव भी सिद्ध होता है। अत आस्रव को एकान्त रूप से जीव या अजीव अथवा एकान्त रूप से रूपी या अरूपी कहना आगम सम्मत नहीं है।

आस्रव जीव भी है

भ्रमविध्वसनकार ने स्थानाग स्थान ५ का पाठ लिखकर उसके आधार से आस्रव को एकान्त अरूपी एव एकान्त जीव सिद्ध किया है।

स्थानाग सूत्र के उक्त पाठ से आस्रव एकान्त जीव और एकान्त अरूपी सिद्ध नही होता—

"पंच आसव दारा पण्णत्ता तं जहा—मिच्छत्त, अविरई, पमादो, कसाया, जोगा।"

—स्थानाग सूत्र ५,२,४१८

"आस्रव द्वार के पाँच भेद हैं—मिथ्यात्व, अविरती, प्रमाद, कषाय और योग।"

प्रस्तुत पाठ मे आस्रव द्वार के भेदो का वर्णन है। इसमे यह नही बताया कि आस्रव जीव है या अजीव। अत इस पाठ का प्रमाण देकर आस्रव को एकान्त जीव या अरूपी कहना सर्वथा गलत है।

भगवती सूत्र श० १२, उ० ५ मे मिथ्यात्व को चतुस्पर्शी पुद्गल कहा है। अत मिथ्यात्व आस्रव एकान्त जीव कैसे हो सकता है? इस पाठ से तो आस्रव अजीव सिद्ध होता है। दूसरा आस्रव द्वार अव्रत है। अठारह पापो से बिल्कुल नही हटना अव्रत है। अठारह पापो को चतुस्पर्शी पुद्गल माना है। मोह से उत्पन्न हुई कर्म प्रकृतियाँ प्रमाद और कषाय आस्रव है। इसलिए ये भी चतुस्पर्शी पुद्गल है। पाँचवा आस्रव द्वार योग है। वह तीन प्रकार का है—मन, वचन और काय योग। मन और वचन योग को चतुस्पर्शी और काय योग को अष्टस्पर्शी बताया है। इस तरह पाँचो आस्रव अजीव सिद्ध होते है। अत स्थानाग सूत्र के उक्त पाठ का नाम लेकर आस्रव को एकान्त जीव या अरूपी बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

तीन दृष्टियाँ

भ्रमविध्वसनकार ने तीन दृष्टियो का नाम लेकर मिथ्यात्व आस्रव को एकान्त जीव और अरूपी बताया है।

आगम मे तीनो दृष्टियो को अरूपी और मिथ्यादर्शनशल्य को रूपी कहा है—

"अह भन्ते ! पेज्जे, दोसे, कलहे जाव मिच्छादंसणसल्ले एस णं कइ वण्णे ४ ?

जहेव कोहे तहव चउफासे।"

—भगवती सूत्र १२,५,४४९

प्रस्तुत पाठ मे मिथ्यादर्शनशल्य को चार स्पर्श वाला पुद्गल कहा है। अत. मिथ्यात्व आश्रव रूपी एव अजीव भी है। इसलिए उसे एकान्त अरूपी एव जीव कैसे कह सकते है ?

भगवती सूत्र के उक्त पाठ मे मिथ्यादर्शन शल्य को रूपी एव अजीव कहा है, परन्तु वह आश्रव नही है। आस्रव तो केवल मिथ्यादृष्टि है और वह अरूपी एव जीव है। इसलिए मिथ्यादर्शन शल्य के रूपी होने पर, आस्रव रूपी कैसे होगा ?

स्थानांग सूत्र में आस्रव द्वार के भेद बतलाते हुए, 'मिच्छत्ते' शब्द का प्रयोग किया है, इसका अर्थ है मिथ्यात्व। मिथ्यात्व से मिथ्यादृष्टि एव मिथ्यादर्शनशल्य दोनो का ग्रहण होता है। अत इससे केवल मिथ्यादृष्टि का ग्रहण करना और मिथ्यादर्शनशल्य को ग्रहण नही करना अप्रामाणिक है। क्योकि मिथ्यादर्शनशल्य भी आश्रव है और वह रूपी है, इसलिए मिथ्यात्व आश्रव को एकान्त अरूपी बताना गलत है।

आस्रव के सम्बन्ध मे आचार्य श्री भीषणजी एव भ्रमविध्वमनकार ने कई बाते परस्पर विरुद्ध कही है। उन्होने आस्रव को उदय भाव मे माना है और मिथ्यादृष्टि को क्षयोपशम भाव मे। अत इनके मतानुसार मिथ्यादृष्टि आस्रव ही नही हो सकता। क्योकि मिथ्या-दृष्टि क्षयोपशम भाव मे है और आस्रव उदय भाव मे। ये दोनो एक कैसे हो सकते है? अत आचार्य श्री भीषणजी की यह प्ररूपणा पूर्वापर विरुद्ध है—

"आस्रव दोय—उदय और पारिणामिक। मोहनीय कर्म नो क्षयोपशम होय ते आठ बोल पामे—चार चारित्र, एक देश व्रत और तीन दृष्टि।" इस प्रकार आस्रव को उदय भाव में और मिथ्यादृष्टि को क्षयोपशम भाव मे मान कर भी मिथ्यादृष्टि को आस्रव मानना इनके अविवेक का ज्वलन्त उदाहरण है। अस्तु इनकी अपनी मान्यता से भी आस्रव एकान्त जीव एव अरूपी सिद्ध नही होता है।

आस्रव : रूपी-अरूपी दोनों है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३०९ पर उत्तराध्ययन सूत्र की गाथा की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ इहां पाँच आस्रव ने कृष्ण लेश्या ना लक्षण कह्या, ते माटे जे कृष्ण लेश्या अरूपी, तो तेहना लक्षण पाच आस्रव पिण अरूपी छै।"

कृष्ण लेश्या संसारी जीव का परिणाम है और ससारी जीव को भगवती सूत्र श० १७, उ० २ मे रूपी भी कहा है। इस अपेक्षा से कृष्ण लेश्या रूपी भी सिद्ध होती है। अत. इसके लक्षण पाँच आस्रव भी रूपी हो सकते है। ससारी जीव रूपी भी है, इस विषय मे भगवती सूत्र श० १७, उ० २ के अतिरिक्त उक्त आगम मे अन्य स्थान पर भी लिखा है—

"जेऽविय ते खंदया! जाव सअंते जीवे, अणंते जीवे। तस्स वि य ण अयमट्ठे एवं खलु जाव दव्वओ णं एगे जीवे सअंते। खेत्तओ णं जीवे असंखेज्जपएसिए, असंखेज्जपएसोगाढे अत्थि पुण से अन्ते। कालओ णं जीवे न कयावि, न आसी जाव णिच्चे णत्थि पुण से अन्ते। भावओ णं जीवे अणंता णाण पज्जवा, अणंता दंसण पज्जवा, अणंता चरित्त पज्जवा, अणंता गुरु-लहु पज्जवा, अणंता अगुरुलहु पज्जवा णत्थि पुण से अन्ते। से तं दव्वओ जीवे सअंते, खेत्तओ जीवे सअंते, कालओ जीवे अणंते, भावओ जीवे अणते।"

—भगवती सूत्र २,१, ९०

"हे स्कन्दक ! जीव सान्त है या अनन्त ? तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव द्रव्य से एक और सान्त है। क्षेत्र से असंख्य प्रदेशी और असंख्य आकाश प्रदेश को अवगाढ़ किए हुए है, अतः वह सान्त है। काल से जीव अनन्त है, क्योंकि वह सब काल में विद्यमान रहता है, उसका कभी भी अभाव नहीं होता। भाव से जीव अनन्त है, क्योंकि जीव के अनन्त ज्ञान पर्याय, अनन्त दर्शन पर्याय, अनन्त चारित्र पर्याय, अनन्त गुरु-लघु पर्याय, अनन्त

अगुरु-अलघु पर्याय होते है, अतः भाव से जीव अनन्त है। निष्कर्ष यह है कि द्रव्य और क्षेत्र से जीव सान्त है और काल एवं भाव से अनन्त है।"

इस पाठ मे जीव के अनन्त गुरु-लघु पर्याय और अनन्त अगुरु-अलघु पर्याय होना कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ससारी जीव रूपी भी है। क्योकि अरूपी पदार्थ के लघु-गुरु एवं अगुरु-अलघु पर्याय नही हो सकते। इस पाठ की टीका मे भी इस बात को स्वीकार करते हुए लिखा है—

"अनन्ता गुरुलघु पर्य्याया औदारिकादिशरीराण्याश्रित्य इतरे तु कार्मणादि द्रव्याणि जीव स्वरूपं चाश्रित्येति।"

"औदारिकादि शरीर की अपेक्षा से जीव के अनन्त गुरु-लघु पर्याय कहे हैं और कर्मणादि द्रव्य तथा जीव के स्वरूप की अपेक्षा अनन्त अगुरु-अलघु पर्याय कहे हैं।"

इससे जीव का रूपी होना भी सिद्ध होता है। यद्यपि निश्चय नय से स्व स्वरूपापन्न जीव रूपी नही, अरूपी है। तथापि इस पाठ मे उसका वर्णन न करके ससारी जीव का वर्णन किया है। ससारी जीव औदारिक शरीर के साथ दूध-पानीवत् एकाकार हो रहा है, इसलिए इस पाठ मे उसके अनन्त गुरु-लघु और अनन्त अगुरु-अलघु पर्यायो का वर्णन है। कृष्ण-लेश्या भी ससारी जीवो का परिणाम है और ससारी जीवो को यहाँ रूपी भी कहा है। इसलिए कृष्ण-लेश्या रूपी भी है, उसे एकान्त अरूपी कहना नितान्त असत्य है।

उक्त पाठ मे ससारी जीव का औदारिक शरीर के साथ अभेद होना भी सिद्ध होता है। औदारिकादि शरीर पुण्य, पाप एव बन्ध की प्रकृति माना गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि पुण्य, पाप एव बन्ध भी कथचित जीव है। अत इन्हे जीव से सर्वथा भिन्न मानना गलत है।

कर्म को शुभाशुभ प्रकृतियो को भी पुण्य, पाप एव बन्ध कहते है। और वह कर्म प्रकृति चार स्पर्शी पोद्‌गलिक है, इसलिए वह रूपी है और जीव से कथचित अभिन्न है। अत. उसे जीव से एकान्त भिन्न मानना उचित नही है।

मिथ्यात्व,कषाय और मन एव वचन योग को चारस्पर्शी और काय योग को आठ स्पर्शी पुद्‌गल कहा है। इससे ये रूपी एव अजीव भी सिद्ध होते है। वस्तुत. आस्रव एक अपेक्षा से जीव और अरूपी भी है और दूसरी अपेक्षा से अजीव एव रूपी भी। अत उसे एकान्तत अरूपी और जीव मानना आगम मे सर्वथा विरुद्ध है।

क्रियाएँ

मिथ्यात्व आस्रव को एकान्त जीव कहना भ्रमविध्वमनकार का दुराग्रह मात्र है। उनका यह कथन उनके सिद्धान्त के भी विपरीत है। हम स्थानाग सूत्र के पाठ मे यह सिद्ध कर चुके है कि ऐर्यापथिकी एव साम्परायिकी ये दोनो अजीव की क्रियाएँ है और साम्परायिकी क्रिया के भेदो मे मिथ्यात्व एव अव्रत भी सम्मिलित है, इसलिए मिथ्यात्व एव अव्रत की क्रिया भी अजीवकी क्रिया है। इन्हे एकान्त जीव की क्रिया मानना आगम के प्रतिकूल है।

आगम मे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की क्रिया को जीव की क्रिया भी कहा है। उसका स्पष्टीकरण करते हुए टीका मे लिखा है—

"सम्यग्दर्शन-मिथ्यात्वयो' सतोर्भवतस्ते सम्यक्त्व-मिथ्यात्वक्रियेति।"

—स्थानाग सूत्र २,६० टीका

"सम्यग्दर्शन एवं मिथ्यादर्शन के होने पर जो क्रिया की जाती है, वह सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की क्रिया है।"

यहाँ यह स्पष्ट कर दिया है कि सम्यग्दर्शन एव मिथ्यादर्शन के होने पर, जो क्रिया की जाती है–भले ही वह जीव की हो या पुद्गल की, दोनो को सम्यक्त्व एव मिथ्यात्व की कहा है। परन्तु केवल जीव को क्रिया को ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की क्रिया नही कहा है। वास्तव मे ज्ञान एव जीव को छोडकर शेष सब क्रियाएँ जीव और पुद्गल दोनो के व्यापार से होती है, कोई भी इच्छा के व्यापार को छोडकर नही हो सकती। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि किसी क्रिया मे जीव के व्यापार की मुख्यता होती है, तो किसी मे अजीव के व्यापार की। साम्परायिकी एव ईर्यापथिकी मे अजीव के व्यापार की प्रमुखता होने से, उन्हे अजीव की क्रिया कहा है। इसी तरह सम्यक्त्व एव मिथ्यात्व की क्रिया मे भी अजीव का व्यापार रहता ही है। परन्तु उसमे उसकी अपेक्षा जीव के व्यापार की प्रधानता रहती है, इसलिए उन्हे जीव की क्रिया कहते है। ज्ञान एव इच्छा के अतिरिक्त शेष सब क्रियाओ मे जीव और पुद्गल दोनो का व्यापार होता है। आस्रव क्रिया स्वरूप है और क्रिया जीव और पुद्गल दोनो की है इसलिए आस्रव जीव भी है, और अजीव भी।

आस्रव : उदय भाव मे है

भ्रमविध्वंसनकार स्थानाग सूत्र स्थान १० के पाठ का प्रमाण देकर आस्रव को एकान्त जीव बताते है।

स्थानाग सूत्र का उक्त पाठ लिखकर हम अपना अभिमत प्रकट कर रहे है–

"अधम्मे धम्म सन्ना, धम्मे अधम्म सन्ना।"

—स्थानाग सूत्र १०,१,७३४

"अधर्म मे धर्म का और धर्म में अधर्म का ज्ञान अज्ञान कहलाता है।"

यहाँ विपरीत ज्ञान के स्वरूप को समझाते हुए लिखा है–धर्म को अधर्म समझना एव अधर्म को धर्म, यह अज्ञान है। इससे यह सिद्ध नही होता कि आस्रव जीव है। इस पाठ मे कथित विपरीत ज्ञान क्षयोपशम भाव मे है और आस्रव उदय भाव मे। यह हम पहले बता चुके है कि आचार्य श्री भीषणजी ने भी आस्रव को उदय भाव मे माना है। अत. उदय भाव मे होने वाला आस्रव विपरीत ज्ञान या अज्ञान की तरह एकान्त रूप से जीव नही हो सकता। क्योकि आस्रव मोह कर्म के उदय भाव मे माना गया है। मोह कर्म चार स्पर्शवाला पुद्गल है। अत आस्रव भी चार स्पर्श युक्त पुद्गल है। उसे एकान्त जीव मानना गलत है।

भ्रमविध्वंसनकार भगवती शतक १७,उद्देशा २ के पाठ के आधार पर आस्रव को एकान्त रूपेण जीव बताते है।

परन्तु उनका यह कथन आगम से विपरीत है। भगवती सूत्र का उक्त पाठ इसी प्रकरण मे पृष्ठ ३८४ पर लिखकर हम यह सिद्धकर चुके है कि आस्रव एकान्त जीव नही है। प्रस्तुत पाठ मे ९६ बोलो का उल्लेख किया गया है। उसमे १८ पाप भी सम्मिलित है। उन्हे और जीव-आत्मा को कथचित् भिन्न और कथचित् अभिन्न भी कहा है। अत अठारह पाप कथचित् जीव और कथचित् अजीव है। उन्हे जीव से एकान्त भिन्न मानना आगम से सर्वथा विपरीत है।

जीव के परिणाम

आगम मे कहीं रूपी अजीव को जीव का परिणाम कहा हो तो बताएँ ?

स्थानांग सूत्र मे रूपी अजीव को जीव का परिणाम कहा है—

"दसविहे जीव परिणामे पण्णत्ते, तं जहा—गति परिणामे, इन्दिय परिणामे, कसाय परिणामे, लेस्सा परिणामे, जोग परिणामे, उवओग परिणामे, णाण परिणामे, दंसण परिणामे, चरित्त परिणामे, वेय परिणामे।"

—स्थानांग सूत्र १०, ७१३

"जीव परिणाम दस प्रकार के हैं—१. गति, २. इन्द्रिय, ३. कषाय, ४. लेश्या, ५. योग, ६. उपयोग, ७. ज्ञान, ८. दर्शन ९. चारित्र और १०. वेद परिणाम।"

परिणमन परिणामस्तद्भावगमनमित्यर्थ, यदाह—

"परिणामोह्यर्थान्तर गमन न च सर्वथा व्यवस्थानम्।
न च सर्वथा विनाश परिणामस्तद्विदामिष्ट ॥"

"स च प्रायोगिक. गतिरेव परिणामो गति परिणाम एव सर्वत्र गतिश्चेह-गतिनामकर्मो दयान्नारकादि व्ययदेशहेतु.। तत्परिणामश्च भवक्षयादिति स च नरक गत्यादिश्चतुर्विध. गतिपरिणामे च सत्येवेन्द्रिय परिणामो भवतीति तमाह 'इन्द्रियपरिणामे' त्ति स च श्रोत्रादि भेदात्पचधा इन्द्रियपरिणतौ चेष्टानिष्ट विषय सम्बन्धाद्रागद्वेष परिणतिरिति। तदनतर कषायपरिणाम उक्त स च क्रोधादिभेदा-श्चतुर्विध। कषाय परिणामे च सति लेश्या परिणतिर्न तु लेश्या परिणतौ कषाय परिणति येन क्षीण कषायस्यापि शुक्ललेश्या परिणतिर्देशोन पूर्व कोटि यावद् भवति यदुक्तम्—

"मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, उक्कोसा होइ पुव्व कोडिओ।
नवहि वरिसेहि ऊणा, नायव्वा सुक्कलेस्सा ए॥"

शुक्ललेश्याया जघन्या स्थितिः मुहूर्त्तार्धं नववर्षोना पूर्वं कोटि उत्कृष्टा ज्ञातव्या भवति अतो लेश्या परिणाम उक्तः । स च कृष्णादि भेदात् षोढेति । अयञ्च योग परिणामे सति भवति यस्मान्निरूद्धयोगस्य लेश्या परिणामोऽपैति यतः समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमलेश्यस्य भवतीति लेश्या परिणामानन्तरं योगपरिणाम उक्तः, स च मनोवाक्काय भेदात् त्रिधेति । संसारिणाञ्च योगपरिणतावुपयोग परिणतिर्भवतीति तदनन्तरमुपयोग परिणाम उक्तः स च साकारानाकार भेदात् द्विधेति । सति चोपयोग परिणामे ज्ञानपरिणामोऽतस्तदनंतरमसावुक्त : स चाभिनिबोधिकादि भेदात्पञ्चधा । तथा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमप्यज्ञानमित्यज्ञान परिणामो–मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभंगज्ञानलक्षणस्त्रिविधोऽपि विशेष ग्रहण साधर्म्याद् ज्ञान परिणाम ग्रहणेन गृहीतो द्रष्टव्य. इति । ज्ञानाज्ञान परिणामे च सति सम्यक्त्वादि परिणतिरिति ततो दर्शनपरिणामः उक्त. स च त्रिधा सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, मिश्र भेदात् । सम्यक्त्वे सति चारित्रमिति ततस्तत्परिणाम उक्तः । स च सामायिकादि भेदात्पञ्चवेति । स्त्र्यादि वेंद परिणामे चारित्र परिणामो न तु चारित्र परिणामे वेद परिणतिर्यस्मादवेदकस्य यथाख्यातचारित्र परिणतिर्दृष्टा इति चारित्र परिणामान्तरं वेद परिणाम उक्तः । स च स्त्र्यादि भेदात् त्रिविध इति ।"

—स्थानाग सूत्र १०,७१३ टीका

"रूपान्तर प्राप्ति को परिणाम कहते हैं । कहा भी है कि न तो सर्वथा स्वरूप में स्थित रहना और न सर्वथा नाश होना, परन्तु अपने से भिन्न किसी अन्य रूप को प्राप्त करना परिणाम है । जीव की पर्यायो का दूसरे रूप में परिणित होना जीव परिणाम है । वह गति आदि के भेद से दस प्रकार का है । गति रूप जो जीव का परिणाम हैं, वह गति परिणाम है । इसी तरह अन्य सभी परिणामों में समझना चाहिए । गति नाम कर्म के उदय से नरक आदि व्यवहार का कारण जो जीव का परिणाम होता है, वह गति परिणाम है । यह परिणाम जब तक भव का क्षय नही होता, तब तक बना रहता है । यह नरक आदि के भेद से चार प्रकार का होता है । गति परिणाम के बाद इन्द्रिय परिणाम आता है । इसलिए उक्त पाठ में गति के बाद इन्द्रिय परिणाम कहा है । श्रोत्र आदि के भेद से इन्द्रिय परिणाम पाँच प्रकार का होता है । इन्द्रिय परिणाम होने के बाद इष्ट और अनिष्ट वस्तु के सम्बन्ध से राग और द्वेष रूप परिणाम होता है । इसलिए इन्द्रिय के बाद कषाय परिणाम को कहा है । यह क्रोध आदि के भेद से चार प्रकार का होता है । कषाय परिणाम होने पर लेश्या परिणाम होता हे । अतः कषाय के बाद लेश्या परिणाम कहा है । क्योंकि जिसके योग रुक जाते हैं, उसे लेश्या नहीं होती । इसलिए लेश्या के बाद योग परिणाम कहा है । वह मन, वचन और काय योग के भेद से तीन प्रकार का है । संसारी जीवो को योग परिणाम होने पर उपयोग परिणाम होता है । इसलिए इसके बाद उपयोग परिणाम कहा है । वह साकार और अनाकार भेद से दो प्रकार का है । उपयोग परिणाम होने के बाद ज्ञान परिणाम होता है । इसलिए इसके बाद उसे कहा है । वह अभिनिबोधिक आदि के भेद से पाँच प्रकार का है । मिथ्यादृष्टियों के मति अज्ञान, श्रुत

अज्ञान, एवं विभग ज्ञान भी ज्ञान परिणाम से ग्रहण किए जाते हैं। ज्ञान और अज्ञान रूप परिणाम होने पर सम्यक्त्व और मिथ्यात्व आदि परिणाम होते हैं। इसलिए ज्ञान परिणाम के बाद दर्शन परिणाम कहा है, वह सम्यक्त्व, मिथ्यात्व एवं मिश्र के भेद से तीन प्रकार का है। सम्यक्त्व परिणाम के बाद चारित्र परिणाम होता है, इसलिए इसके बाद उसे कहा है। वह सामायिक आदि के भेद से पांच प्रकार का है। वह चारित्र परिणाम, वेद परिणाम होने पर होता है, परन्तु चारित्र परिणाम होने पर वेद परिणाम होने का नियम नहीं है। क्योंकि वेद परिणति रहित जीव में यथाख्यात चारित्र देखा जाता है। अतः चारित्र परिणाम के अनन्तर वेद परिणाम कहा है। वेद परिणाम स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक वेद के भेद से तीन प्रकार का है।"

यहाँ मूल पाठ एव उसकी टीका मे जीव के दस प्रकार के परिणाम कहे है। उनमे ज्ञान, दर्शन और चारित्र परिणाम तो एकान्त अरूपी एव जीव है। और गति, कपाय, योग, एव वेद परिणाम रूपी तथा अजीव है। गति, कपाय, योग और वेद आत्मा के साथ क्षीर-नीर न्यायवत् एकाकार-मे दिखाई देते हैं। इसलिए उन्हे जीव का परिणाम कहा है। यहाँ जो गति परिणाम है, वह गतिनाम कर्म के उदय से प्राप्त होने वाली नरक आदि चार गति मे समझना चाहिए। टीकाकार ने भी लिखा है—

"गतिश्चेह गतिनामकर्मोदयान्नारकादि व्यपदेशहेतु.।"

"गति नाम कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले नरक आदि व्यवहार का कारण यहाँ गति समझना चाहिए।"

नरक आदि चार गति रूपी है और अजीव भी, तथापि उन्हे यहाँ जीव का परिणाम कहा है। इससे यह स्पष्टत सिद्ध होता है कि रूपी और अजीव भी जीव का परिणाम होता है।

द्रव्य और भाव

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३१४ पर स्थानांग सूत्र स्थान १० के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"इहा तो गति परिणाम ने भावे गति ने जीव कही। भाव इन्द्रिय, भाव कषाय, भाव योग, भाव वेद, ये सर्व जीवना परिणाम छै।" इनके कहने का अभिप्राय यह है कि गति नाम कर्म के उदय से उत्पन्न होनेवाली नरक आदि चार गतियाँ अजीव है, वे जीव का परिणाम नही हो सकती। इसलिए स्थानांग सूत्र के पाठ मे जो गति आदि परिणाम कहे है, वे भावरूप गति आदि समझने चाहिए, द्रव्य रूप नही। इसी तरह द्रव्य इन्द्रिय, द्रव्य कषाय, द्रव्य योग, और द्रव्य वेद भी अजीव है, वे कदापि जीव के परिणाम नही हो सकते। अत वे भी भाव रूप ही जीव के परिणाम समझने चाहिए, द्रव्य रूप नही।

स्थानांग सूत्र के स्थान १० के पाठ मे गति, कषाय और इन्द्रिय आदि को जीव का परिणाम बताया है,इसका अभिप्राय भाव गति, भाव कषाय एव भाव इन्द्रिय बताकर द्रव्य गति, द्रव्य कषाय, और द्रव्य इन्द्रिय को जीव का परिणाम नही मानना आगम एव उसकी टीका से सर्वथा विरुद्ध है।

टीकाकार ने नाम कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाली गति को जीव का परिणाम बताया है, अत. भाव गति को जीव का परिणाम मानकर द्रव्य गति को जीव का परिणाम नही मानना साम्प्रदायिक दुराग्रह मात्र है।[1]

दूसरी बात यह है कि रूपी-अरूपी सिद्ध करने के लिए द्रव्य और भाव की कल्पना व्यर्थ है। द्रव्य होने के कारण कोई वस्तु रूपी नही होती और भाव होने से अरूपी नही हो जाती। यदि द्रव्य होने से रूपी की कल्पना की जाए तो धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और काल द्रव्य भी रूपी मानने पडेंगे। क्योकि ये सब द्रव्य है। यदि भाव होने मात्र से किसी को अरूपी माना जाए, तो यह भी उपयुक्त नही है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भाव रूप है। उन्हे औदयिक भावो मे गिना गया है। परन्तु वे चार स्पर्शवाले रूपी है। निष्कर्ष यह रहा कि कई द्रव्य भी अरूपी हैं और कई भाव भी रूपी होते हैं। ऐसी स्थिति मे भ्रमविध्वंसनकार अरूपी

---

[1] सद्धर्म मण्डनम् पृष्ठ ३९४ देखें।

सिद्ध करने के लिए, जो भाव की कल्पना करते है, वह सर्वथा असगत है एव इससे यह स्पष्ट होता है कि वे आगम के यथार्थ अर्थ से अनभिज्ञ है।

पुद्गल और जीव के परिणाम

गति, कपाय और योग चार स्पर्श एवं आठ स्पर्श वाले पुद्गल है। पुद्गल जीव नहीं, अजीव है। फिर गति, कपाय और योग को जीव का परिणाम कैसे माना ?

गुरु-लघु पर्याय अष्ट स्पर्शी एव अगुरु-अलघु पर्याय चार स्पर्श युक्त पुद्गल है। तथापि जीव के साथ एकाकार होकर रहने से इन्हे भगवती सूत्र श० २, उ० १ मे जीव का पर्याय कहा है। उसी तरह जीव के साथ सयुक्त होकर, एकाकार होकर रहने से स्थानाग सूत्र मे गति आदि को जीव का परिणाम कहा है।

यहाँ भाव जीव के अनन्त गुरु-लघु एव अनन्त अगुरु-अलघु पर्याय बताए है। गुरु-लघु और अगुरु-अलघु क्रमश अष्ट स्पर्शी एव चतु स्पर्शी पुद्गल है। तथापि जीव के साथ तदाकार होकर रहने से, जैसे इन्हे भाव जीव का पर्याय कहा है, उसी प्रकार दूध-पानीवत् जीव के साथ एकाकार होकर रहने से गति आदि को जीव का परिणाम कहा है। अत गति आदि को भाव रूप मान कर द्रव्य गति को जीव का परिणाम नहीं मानना उचित नहीं है।

जीव की पर्याय

आगम मे मनुष्य जीव के वर्ण, गधादि पर्याय भी बताए है—

"मणुस्सा णं भन्ते ! केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?

गोयमा ! अणन्ता पज्जवा पण्णत्ता ।

से केणट्ठे, णं भन्ते ! एवं वुच्चइ मणुस्सा णं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?

गोयमा ! मणुस्से मणुस दव्वट्ठयाए तुल्ले, पएसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठीए चउट्ठाणवडिए, वन्न-गध-रस-फास-अभिणिबोहिणाण, ओहिणाण, मनपज्जवणाण, केवल णाण पज्जवेहि तुल्लेहि, तिहि दसणेहिं छट्ठाण वडिए, केवल दसण पज्जवेहिं तुल्ले ।"

—पन्नवणा सूत्र, पद ५, १०१

इस पाठ मे मनुष्य जीव के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श पर्याय कहे है, ये सब रूपी एव पौद्गलिक है। तथापि क्षीर-नीरवत् जीव के साथ मिश्रित होने से इन्हे जीव का पर्याय कहा है। उसी तरह स्थानाग सूत्र मे जीव के साथ मिले हुए होने से गति आदि को जीव का परिणाम कहा है।

आगम मे आत्मा को रूपी-अरूपी उभय प्रकार का कहा है—

"कइ विहा णं भन्ते ! आया पण्णत्ता ?

गोयमा ! अट्ठ विहा आया पण्णत्ता, त जहा—दविआया,

कसायाया, जोगाया, उवयोगाया, णाणाया, दंसणाया, चरित्ताया, वीरियाया।"

—भगवती सूत्र १२,१०,४६७

"हे भगवन्! आत्मा कितने प्रकार का है?

हे गौतम! आत्मा आठ प्रकार का है–१. द्रव्यात्मा, २. कषाय आत्मा, ३. योग आत्मा, ४. उपयोग आत्मा, ५. ज्ञान आत्मा, ६. दर्शन आत्मा, ७. चारित्र आत्मा, ८. वीर्य आत्मा।"

यहाँ आत्मा को आठ प्रकार का कहा है। इसमें कषाय और योग क्रमशः चार एव आठ स्पर्श वाले पुद्गल है। दोनो रूपी है। इसलिए इस अपेक्षा से आत्मा रूपी भी सिद्ध होता है। कषाय और योग रूपी है, इसलिए कषाय आश्रव एव योग आस्रव भी रूपी है।

कषाय और योग-आत्मा

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३१५ पर लिखते है—

"ते माटे कषाय अने योग आत्मा कही ते भाव कषाय, भाव योग ने कह्या छै। भाव कषाय तो आश्रव छै।"

भगवती श० १२, उ० १० के पाठ म सामान्य रूप से कषाय एव योग आत्मा का उल्लेख किया है। वहाँ भाव कषाय एवं भाव योग आत्मा का उल्लेख नही किया है। अत भाव कषाय और भाव योग को आत्मा मानकर द्रव्य कषाय और द्रव्य योग को आत्मा नही मानना भ्रमविध्वंसनकार का दुराग्रह मात्र है। उक्त पाठ की टीका एव टब्बा अर्थ मे यह नही लिखा है कि भाव कषाय एवं भाव योग ही आत्मा है। और अन्य किसी स्थान पर भी कषाय और योग आत्मा का द्रव्य एवं भाव भेद नही किया है। अत. इन्हे केवल भाव रूप मानना युक्ति संगत नही है।

शरीर आत्मा से भिन्न है

भगवती सूत्र श० १२, उ० १० मे भाव आत्मा के आठ भेद कहे हैं, द्रव्य-आत्मा के नही। भाव आत्मा अरूपी है, इसलिए कपाय और योग भी भाव रूप मे ही आत्मा के भेद हैं, द्रव्य कपाय-योग नही। भाव रूप कपाय और योग अरूपी है, इसलिए कपाय आश्रव और योग आस्रव भी रूपी नही, अरूपी है। अत. भ्रमविध्वसनकार ने भाव रूप कपाय और योग को जो आत्मा के भेद माने है, उसे यथार्थ मानने मे क्या आपत्ति है ?

भगवती सूत्र श० १२, उ० १० मे आत्मा मात्र के आठ भेद कहे हैं, केवल भाव आत्मा के नही। वहाँ द्रव्य और भाव का कोई उल्लेख नही है। अत आत्मा के आगमोक्त आठ भेद भाव आत्मा के है, यह कल्पना निर्मूल है। यदि आपके मतानुसार भगवती सूत्र कथित आत्मा के आठ भेद भाव आत्मा के मान ले, तो योग नामक तीसरा भेद व्यर्थ सिद्ध होगा। क्योकि तेरापथ सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य श्री भीपणजी ने योग को वीर्य रूप माना है—

"योग वीर्य तणो व्यापार, तिणसूं अरूपी छै भाव जीव।"

भ्रमविध्वसनकार ने भी भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३१९ पर लिखा है—अने उत्थान, कर्म, वल-वीर्य, पुरुपाकार-पराक्रम फोडवे, तेहिज भाव योग छै।"

इस प्रकार इन्होने भावयोग को वीर्य स्वरूप माना है। वीर्य-आत्मा को आत्मा का आठवाँ भेद माना है। अत जब आत्मा का वीर्य-आत्मा भेद कह दिया गया, तब पुन. योग नामक भेद करने की क्या आवश्यकता थी ? क्योकि वीर्य में भाव योग भी गतार्थ हो जाता है। अस्तु इनका भाव योग को आत्मा का अलग से भेद मानना और द्रव्य योग को नही मानना आगम से सर्वथा विपरीत है। क्योकि आगम मे ससारी आत्मा का शरीर के साथ कथचित् अभेद बताया है—

"आया भन्ते ! काया, अण्णे काया ?
गोयमा ! आया वि काए, अण्णे वि काए।
रूवी भन्ते ! काए, अरूवी काए ?
गोयमा ! रूवी वि काए, अरूवी वि काए।"

—भगवती सूत्र १३, ७, ४९५

हे भगवन् ! आत्मा शरीर से भिन्न है या शरीर स्वरूप ?

हे गौतम ! वह कथंचित् शरीर स्वरूप भी है और उससे भिन्न भी।

हे भगवन् ! काया रूपी है या अरूपी ?

हे गौतम ! वह रूपी भी है और अरूपी भी।"

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

"आया भन्ते ! काए" इत्यादि। आत्मा काय. कायेन कृतस्यानुभवना-न्नहृ यनेनकृतमन्योऽनुभवत्यकृताभ्यागमप्रसगात्। अथान्य आत्मन काय. कायैकदेशच्छेदेऽपि सवेदनस्य सम्पूर्णत्वेनाभ्युपगमादिति प्रश्न. ! उत्तरन्तु आत्माऽपिकाय कथचित्तदव्यतिरेकात् क्षीर-नीरवत्, अग्न्यय.पिण्डवत्, काञ्चनौपलवद्वा अतएव कायस्पर्शे सत्यात्मन सवेदन भवति। अतएव कायेन कृतमात्मना भवान्तरे वेद्यते अत्यन्त भेदे वाऽकृताभ्यागम प्रसग इति। "अण्णे वि काए" त्ति अत्यन्ता भेदे हि शरीराशच्छेदे जीवाशच्छेदे प्रसग तथा च सवेदनस्यासपूर्णतास्यात् तथा शरीर दाहे आत्मनोऽपि दाहेन परलोकाभाव प्रसग इत्यत कथचिदन्योऽप्यात्मान काय इति। अन्यैस्तु कार्मण कायमाश्रित्यात्मा काय इति व्याख्यातम्। कार्मण कायस्य ससार्य्यात्मनश्च परस्पराव्यभिचारित्वेनैकरूपत्वात्। "अण्णे वि काए" त्ति औदारिकादिकायापेक्षया जीवादन्य. काय तद्विमोचण्णेन तद्भेदसिद्धेरिति। "रूवी काए" त्ति रूप्यपि काय औदारिकादि कायस्थूल रूपापेक्षया। अरूप्यपि काय कार्मण कायस्याति सूक्ष्मरूपित्वेनारूपित्व विवक्षणात्।"

"आत्मा शरीर रूप है, क्योंकि शरीर से कृत कार्य का आत्मा को अनुभव होता है। यदि आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न होता, तो उसे शरीर के द्वारा कृत कार्य का बोध ही नही होता। क्योंकि स्व से सर्वथा भिन्न अन्य के द्वारा कृत कार्य का उसे अनुभव नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा शरीर स्वरूप है।

आत्मा शरीर से भिन्न है, क्योंकि शरीर के किसी अवयव का विच्छेद होने पर भी ज्ञान का विच्छेद नही होता। यदि आत्मा और शरीर में भिन्नता नहीं होती, तो शरीर के किसी अवयव के नष्ट होने पर, ज्ञान का भी पूर्ण रूप से उदय नहीं होता। अतः आत्मा शरीर से भिन्न भी है। ये दो परस्पर विरोधी विचार देखकर आत्मा और शरीर के भेद-अभेद का प्रश्न पूछा गया है। इसका समाधान यह है कि आत्मा किसी अपेक्षा से शरीर स्वरूप भी है। क्योंकि दूध और जल, आग और लोहपिंड एव मिट्टी और स्वर्ण की तरह आत्मा शरीर के साथ एकाकार होकर रहता है। अत. शरीर का स्पर्श होने पर आत्मा को उसका ज्ञान होता है और शरीर द्वारा कृत कार्य का आत्मा को जन्मान्तर में फल मिलता है। यदि शरीर के साथ आत्मा का अत्यन्त भेद हो, तो शरीर के कर्म का फल आत्मा को कदापि नहीं मिल सकता। क्योंकि दूसरे के कृत कर्म का फल अन्य को नही मिलता। अतः आत्मा कथचित् शरीर से भिन्न है।

यदि आत्मा के साथ शरीर का सर्वथा अभेद सम्बन्ध माना जाए, तो शरीर के किसी अवयव के नष्ट होने पर आत्मा का भी अश रूप से नाश होना मानना पड़ेगा। आत्मा का अंश रूप से नाश होना मानने पर ज्ञान का पूर्ण रूप में उदय नही हो सकता। और शरीर के जलने पर

आत्मा का भी जलकर भस्म होना मानना पड़ेगा। इससे आत्मा के परलोक का अभाव होगा। अत. आत्मा कथंचित् शरीर से भिन्न भी है।

किसी अन्य टीकाकार ने आत्मा का कार्मण शरीर के साथ अभेद मानकर 'आया वि काए' इस सूत्र की व्याख्या की है। उनके कथन का अभिप्राय यह है—'ससारी आत्मा और कार्मण शरीर क्षीर नीरवत् मिले हुए होने से अभिन्न-से प्रतीत होते हैं, इसलिए यहाँ आत्मा को शरीर-स्वरूप कहा है। आत्मा औदारिकादि शरीर का त्याग कर देता है, इसलिए उसे उक्त शरीर से पृथक् मानकर आत्मा को शरीर से भिन्न कहा है।' औदारिकादि शरीर रूपी है, इस अपेक्षा से काया रूपी कहा है। कार्मण शरीर का रूप अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिए उस रूप की अविवक्षा करके काया को अरूपी कहा है।"

प्रस्तुत पाठ एव उसकी टीका मे आत्मा को शरीर मे कथचित् अभिन्न भी स्वीकार किया है। इस अपेक्षा से ससारी आत्मा रूपी भी सिद्ध होता है। जब ससारी आत्मा अपेक्षा विशेप से रूपी है, तब रूप युक्त कपाय एव योग उसके भेद क्यो नही हो सकते ? अत भाव कपाय एव योग को आत्मा का भेद मानकर द्रव्य कपाय एव योग को आत्मा का भेद स्वीकार नही करना आगम की मान्यता को अस्वीकार करना है।

अनुयोगद्वार सूत्र मे—कपाय एव योग की उत्पत्ति कर्मोदय मे बताई है। अत कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले पदार्थ न एकात जीव है और न एकान्त अजीव। वे कथचित् जीव और कथचित् अजीव उभय प्रकार के होते है। अत कपाय एव योग को एकान्त जीव या एकान्त अजीव बताना आगम सम्मत नही है।

आगम मे मिथ्यात्व अव्रत, कपाय एव योग को कही जीव और कही अजीव कहा है। जहाँ जीवाश की प्रधानता है, वहाँ जीव और जहाँ पुद्गलाश की मुख्यता है, वहाँ अजीव कहा है। परन्तु उसे एकान्त रूप से जीव या अजीव नही कहा है।

जीवोदय-अजीवोदय निष्पन्न

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३१७ पर अनुयोगद्वार सूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ इहा उदय रा तो भेद कह्या—उदय अने उदयनिष्पन्न। उदय ते आठ कर्म प्रकृतिनो उदय। अने उदय निष्पन्न रा दोय भेद—जीव उदय निष्पन्न अने अजीव उदय निष्पन्न।" इसके आगे लिखते है—"इहाँ तो चौडे चार कषाय, मिथ्यादृष्टि अव्रत,योग या सर्वा ने जीव कह्या छै, ते माटे सर्व आस्रव छै। इण न्याय आस्रव जीव छै।"

अनुयोगद्वार में जीवाश की मुख्यता की अपेक्षा से मिथ्यात्व, कषाय, अव्रत एव योग को जीवोदय-निष्पन्न कहा है। परन्तु आगमकार के कहने का यह अभिप्राय नही है कि ये एकान्त जीव ही है। इनमें पुद्गलो का सर्वथा अभाव है। क्योकि कार्य कारण के अनुरूप ही होता है। मिट्टी से मिट्टी का ही घड़ा बनेगा, स्वर्ण का नही। आठ प्रकार की कर्म प्रकृतियो का उदय चतु स्पर्शी पौद्गलिक माना गया है। अत उससे उत्पन्न होनेवाले पदार्थ भी चार स्पर्श-वाले होगे, न कि उनसे सर्वथा भिन्न एकान्त अरूपी एव अपौद्गलिक। मिथ्यात्व, कषाय, अव्रत एवं योग अष्ट कर्म प्रकृतियो के उदय से उत्पन्न होते है। अत. वे अपने कारण के अनुरूप चतु.स्पर्शी पौद्गलिक एव रूपी है। तथापि जीवाश की प्रमुखता की अपेक्षा से आगम मे इन्हे जीवोदय-निष्पन्न भी कहा है। इसलिए इन्हे एकान्तत अरूपी एव जीव मानना गलत है। इस विषय को स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

"ननु यथा नरकत्वादय. पर्य्याया: जीवे भवन्तीति जीवोदय-निष्पन्ने औदयिके पठ्यन्ते एवं शरीराण्यपि जीवे एव भवन्तीति तान्यपि तत्रैव पठनीययानिस्यु. किमिति अजीवोदय-निष्पन्ने अधीयन्ते ? अस्त्येतत् किन्त्वौदारिकादि शरीरनाम्-कर्मोदयस्य मुख्यतया शरीर पुद्गलष्वेव विपाक दर्शनात् तन्निष्पन्न औदयिको भाव: शरीर लक्षणेऽजीवे एव प्राधान्य दर्शित इत्यदोष:।"

"जैसे जीव में नरक आदि पर्याय होते हैं। इसलिए वे जीवोदय-निष्पन्न औदयिक भाव में कहे गए हैं। उसी तरह शरीर भी जीव में ही उत्पन्न होता है, इसलिए उसे भी जीवोदय-

निष्पन्न औदयिक भाव में बताना चाहिए। उसे अजीवोदय-निष्पन्न औदयिक भाव में क्यो कहा ?

यह कथन युक्ति संगत है। परन्तु औदारिक आदि शरीर नाम-कर्म के उदय का विपाक मुख्य रूप से शरीर पुद्गलों में देखा जाता है, इसलिए शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुए भाव को भी पौद्गलिक प्रधानता के कारण शरीर को अजीव में बताया है। इसलिए इसमें कोई दोष नहीं है।"

यहाँ टीकाकार ने शरीर को अजीवोदय-निष्पन्न औदयिक भाव मे कहने का कारण यह बताया है—"यद्यपि शरीर भी जीवोदय-निष्पन्न औदयिक भाव कहा जा सकता है, तथापि उसमें पुद्गलाश की प्रधानता होने से उसे अजीवोदय-निष्पन्न कहा है।"

इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि आगम मे जीवाश की प्रधानता की अपेक्षा से जीवोदय-निष्पन्न और पुद्गलाश की प्रमुखता के कारण अजीवोदय-निष्पन्न कहा है। परन्तु इन्हे एकान्त जीव या अजीव नही कहा है। अस्तु जीवोदय-निष्पन्न पदार्थों मे जीवाश की एव अजीवोदय-निष्पन्न मे पुद्गलाश की प्रधानता समझनी चाहिए। परन्तु जीवोदय-निष्पन्न मे पुद्गलाश का और अजीवोदय-निष्पन्न मे जीवाश का सर्वथा अभाव नही है। अत जीवोदय-निष्पन्न को एकान्त अजीव बताना सर्वथा अनुचित है।

ज्ञान अरूपी है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३२० पर अनुयोगद्वार सूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है —

"अने भाव सयोग जे ज्ञानादिकना भला भाव ने सयोगे तथा क्रोधादिक माठा भाव ने सयोग नाम ते भावसयोग कह्या। तिहा भाव क्रोधादिक ने सयोगे क्रोधी, मानी, मायी लोभी कह्यो। ते माटे ए ज्ञानादिक ने भाव कह्या ते जीव छै। तिम भाव क्रोधादिक पिण जीव छै। एनले भाव क्रोधादिक चार कह्या। ते जीव रा भाव छै, ते कषाय आस्रव छै। ते माटे कषाय आस्रव ने जीव कही जे।"

यद्यपि क्रोध, मान, माया और लोभ को भाव रूप कहा है, तथापि ये सिर्फ आत्मा के ही धर्म नही है। क्योकि सिद्ध आत्मा मे इनका सर्वथा अभाव है। ये केवल पुद्गलो के भी धर्म नही है। क्योकि आत्म-ससर्ग से रहित पुद्गलो मे भी इनका सद्भाव नही पाया जाता। अत ये पुद्गल ससर्ग विशिष्ट आत्मा के धर्म हैं। पुद्गल ससर्ग विशिष्ट आत्मा रूपी, ससारी, वर्ण, गध, रस, और स्पर्श आदि से युक्त माना गया है। इसलिए उसके धर्म क्रोधादि भाव भी एकान्त अरूपी नही हो सकते। दूसरी बात यह है कि क्रोधादि भाव कर्मो के उदय से उत्पन्न होते हैं। कर्म रूपवान है, इसलिए उनसे उत्पन्न होने वाले क्रोधादि भाव भी रूपवान हैं, एकान्त अरूपी नही।

यदि कोई ज्ञानादि गुण का दृष्टान्त देकर क्रोधादि भाव को एकान्त अरूपी कहे, तो उसका यह कथन उचित नही है। क्योकि ज्ञानादि गुण कर्मोदय से नहीं, किन्तु कर्म के क्षय, उपशम, या क्षयोपशम से प्रकट होते है और सिद्ध जीवो मे भी पाए जाते हैं। इसलिए ज्ञानादि गुण रूपी एव आत्मा के मौलिक गुण है। परन्तु क्रोधादि भाव ऐसे नही हैं। वे कर्मोदय से उत्पन्न

होते हैं और सिद्ध आत्मा में नहीं होते। इसलिए वे ज्ञानादि गुण के समान एकान्त अरूपी नहीं हो सकते।

यदि भाव रूप कहे जाने के कारण क्रोधादि भाव को एकान्त अरूपी कहें, तो यह कथन सत्य नहीं है। हम इसी प्रकरण में पृष्ठ ३९६ पर यह स्पष्ट कर चुके हैं कि कोई भी पदार्थ भाव रूप होने मात्र से एकान्त अरूपी नहीं होता और द्रव्य रूप होने मात्र से वह एकान्त रूपी नहीं हो जाता है।

सावद्य-योग

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३२१ पर अनुयोगद्वार सूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहाँ भाव लाभ रा दोय भेद कह्या—प्रशस्त भाव नों लाभ ते ज्ञान, दर्शन, चरित्र नों, *अनें अप्रशस्त माठा भाव नो लाभ—क्रोध,मान, माया, लोभ नों लाभ।* इहां क्रोधादि नें भाव लाभ कह्या। ते माटे ए भाव क्रोधादि नें भाव कषाय कही जे। ते भाव कषाय नें कषाय आस्रव कहीजे। तथा अनुयोगद्वार सूत्र में इम कह्यो—"सावज्ज जोग विरइ" ते सावद्य योग निवर्ते ते सामायक। इहां योगां नें सावद्य कह्या। अनें अजीव नें तो सावद्य पिण न कही जे, निरवद्य पिण न कही जे। सावद्य-निरवद्य तो जीव नें इज कही जे। इहां योगां नें सावद्य कह्या ते माटे ए भावयोग जीव छै। अनें योग आस्रव छै। इण न्याय योग आश्रव नें जीव कही जे।"

अनुयोगद्वार सूत्र में क्रोध मान, माया और लोभ के लाभ को अप्रशस्त भाव का लाभ कहा है। जिसके कारण भ्रमविध्वंसनकार इन्हें अरूपी बताते हैं, परन्तु हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि भाव रूप होने से कोई पदार्थ अरूपी एवं द्रव्य रूप होने से रूपी नहीं हो जाता है। किन्तु अपने कारण के अनुरूप उसका कार्य होता है। क्रोध, मान, माया एवं लोभ कर्मोदय से उत्पन्न होते हैं, इसलिए अपने कारण के अनुरूप ये रूपी एवं पौद्गलिक हैं। यदि ये एकान्त रूप से रूपी एवं पौद्गलिक नहीं हैं, तो फिर इन्हें आत्मा का मूलगुण मानना होगा एवं सिद्धों में भी इनका सद्भाव मानना होगा। क्योंकि आत्मा के मौलिक गुणों का कभी नाश नहीं होता। जैसे ज्ञानादि-गुण आत्मा के मौलिक गुण हैं। अतः जीव के सिद्ध होने पर भी आत्मा में विद्यमान रहते हैं। उसी तरह क्रोधादि को भी सिद्ध आत्मा में मानना होगा। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार को भी यह मान्य नहीं है। अतः कर्मोदय से उत्पन्न क्रोध आदि भाव पौद्गलिक हैं, एकान्त अरूपी नहीं। इन्हें जो आत्मा का गुण कहा है, वह पुद्गल संसर्ग विशिष्ट आत्मा का गुण कहा है, शुद्ध आत्मा का नहीं। क्योंकि क्रोधादि भाव आत्मा के स्वाभाविक गुण नहीं हैं। ये पुद्गल और आत्मा के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले वैभाविक गुण हैं। इसलिए ये एकान्त जीव एवं एकान्त अरूपी नहीं हो सकते। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं और ये पुद्गल के संसर्ग से उत्पन्न नहीं होते। इनके प्रकट होने का कारण कर्मों का क्षय, उपशम एवं क्षयोपशम होना है कर्मोदय नहीं। अतः ज्ञानादि गुण एकान्त जीव एवं अरूपी हैं। परन्तु इनका दृष्टान्त देकर कर्मोदय से उत्पन्न क्रोधादि भावों को एकान्त अरूपी एवं जीव बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

इसी तरह सावद्य को एकान्त अरूपी और जीव वताना भी गलत है। सूत्रकृतांग सूत्र मे १२ प्रकार की सांपरायिकी एव ऐर्यापथिकी, इन १३ क्रियाओ को अजीव कहा है और भ्रमविध्वसनकार ने भी भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३१० पर स्थानाग सूत्र के पाठ का प्रमाण देकर इन क्रियाओ को अजीव क्रिया स्वीकार किया है। ये तेरह क्रियाएँ सावद्य मानी गई हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि अजीव भी सावद्य होता है। आगम मे उक्त क्रियाओ को सावद्य वताया है—

"एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ दुवालसमे किरियट्ठाणे लोभवत्तिए त्ति आहिए।"

—सूत्रकृताग सूत्र २, १२, २८

साम्परायिकी क्रिया के लिए भी यह पाठ आया है। इसमे साम्परायिकी एव ऐर्यापथिकी क्रिया को सावद्य वताया है। इससे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि सावद्य रूपी एव अजीव भी है। उसे एकान्त अरूपी एव जीव मानना आगम सम्मत नही है।

योग-प्रतिसंलीनता

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३२२ पर उववाई सूत्र के मूल पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ इहाँ अकुशल मन ते माठा मन ने रुधवो कह्यो। कुशल मन प्रवर्तावो कह्यो। इम वचन पिण कह्यो। अकुशल मन रुधवो कह्यो, ते अजीव ने किम रूंधे ? पिण ए तो जीव छै।" इनके कहने का भाव यह है कि योग प्रतिसलीनता नामक तप मे प्रयुक्त योग एकान्त अरूपी और जीव है, इसलिए आस्रव एकान्त अरूपी और जीव है।

उववाई सूत्र के पाठ मे मन, वचन के समान काय योग का भी उल्लेख किया है। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार ने काय योग के पाठ को छोड़ दिया है। क्योकि काय योग प्रत्यक्षत. रूपी एव अजीव है और वह भी योग प्रतिसलीनता नामक तप मे कहा गया है। अत. इसमे प्रयुक्त योग को एकान्त अरूपी एवं जीव बताना गलत है। इसके सम्बन्ध मे उववाई मे लिखा है—

"से किं तं मणजोग पडिसंलीनया ?

अकुसलस्स मण णिरोहो वा कुसलमण उदीरणं वा से तं मण जोग पडिसंलीणया।

से कि तं वययोग पडिसंलीनया ?

अकुशल वय णिरोहो वा कुशल वय उदीरणं वा से तं वयजोग पडिसलीणया।

से कि तं काय जोग पडिसंलीनया ?

जण्णं सुसमाहिय पाणिए कुम्मो इव गुत्तिंदिए सव्वगाय-पडिसलीने चिट्ठइ से तं कायजोग पडिसलीणया।"

—उववाई सूत्र

"हे भगवन् ! मन-योग प्रतिसंलीनता किसे कहते हैं ?

अकुशल मन को रोकना और कुशल मन को प्रवृत्त करना मन-योग प्रतिसंलीनता है।

वचन-योग प्रतिसंलीनता किसे कहते हैं ?

अकुशल वचन को रोकना और कुशल वचन को प्रवृत्त करना, वचन-योग प्रतिसंलीनता है।

काय-योग प्रतिसंलीनता किसे कहते हैं ?

हाथ-पैर आदि अवयवों को सुसमाहित रखना तथा कछुए की तरह अपनी इन्द्रियों एवं अवयवो को रोककर रखना, काय-योग प्रतिसंलीनता है।

यहाँ अकुशल मन, वचन एव काय योग का निरोध करना—रोकना और कुशल मन आदि योग को प्रवृत्त करने को योग प्रतिसलीनता तप कहा है। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार ने लिखा है—"अजीव ने किम रुधे ? पिण ए जीव छै।" यदि अजीव को नही रोका जा सकता, तो इस पाठ मे अकुशल काय योग का निरोध करना क्यो कहा ? क्योकि शरीर एव इन्द्रियो को तो भ्रमविध्वसनकार भी एकान्त रूप से रूपी एव अजीव मानते है। यदि अजीव होने पर भी शरीर एव इन्द्रियो का निरोध किया जा सकता है, तो फिर मन एव वचन योग भी अजीव होने मात्र से क्यो नही रोके जा सकते ?

दूसरी वात यह है कि आगम मे वचन योग को रूपी एव अजीव कहा है—

"आया भन्ते ! भासा, अण्णा भासा ?
गोयमा ! णो आया भासा, अण्णा भासा।
रूवी भन्ते ! भासा, अरूवी भासा ?
गोयमा ! रूवी भासा, णो अरूवी भासा।"

—भगवती सूत्र १३,७,४९३

"हे भगवन् ! भाषा—वचन आत्मा है या अन्य है ?
हे गौतम ! वह आत्मा नहीं, आत्मा से भिन्न है।
हे भगवन् ! भाषा रूपी है या अरूपी ?
हे गौतम ! वह रूपी है, अरूपी नहीं।"

इसी तरह मन के विषय मे लिखा है—

"आया भन्ते ! मणे, अण्णे मणे ?
णो आया मणे, अण्णे मणे।"

—भगवती सूत्र १३,७,४९४

हे भगवन् ! मन आत्मा है या उससे भिन्न है ?
हे गौतम ! वह आत्मा नहीं, आत्मा से भिन्न है।

इस प्रकार प्रस्तुत पाठ मे मन और वचन को आत्मा से भिन्न एव रूपी कहा है। अत उनके योग भी रूपी एव अजीव है। मन, वचन और काय योग को एकान्त अरूपी एव जीव मानकर आस्रव को एकान्त अरूपी एव जीव कहना बिल्कुल गलत है। भाव मन एव भाव वचन की युक्ति लगाकर भी आस्रव को एकान्त अरूपी एवं जीव बताना सत्य नहीं है।

आश्रव को जीव और अजीव उभय रूप कही कहा हो तो बताएँ ?

स्थानाग सूत्र की टीका मे आस्रव को जीव और अजीव दोनो माना है—

"नव सब्भावे' त्यादि सद्भावेन परमार्थेनानुपचाररेणेत्यर्थ. पदार्था: वस्तूनि नवसद्भावपदार्थास्तद्यथा जीवा. सुख-दु.ख ज्ञानोपयोग लक्षणा. । अजीव्रास्तद्वि-परीता. । पुण्यं शुभप्रकृतिरूप कर्म, पाप तद्विपरीतं कर्मैव । आश्रूयते गृह्यते कर्माऽनेनेत्याश्रव: शुभाऽशुभकर्मादानहेतुरिती भाव. । संवर आश्रव निरोधो गुप्त्यादिभि : । निर्जरा विपाकात्तपसा वा कर्मणां देशत: क्षपणा । बन्ध: आश्र-वैरात्तस्य कर्मण: आत्मना सयोग: । मोक्ष: कृत्स्न कर्मक्षयादात्मन. स्वात्मान्य-धिष्ठानम् । ननु जीवाजीवा व्यतिरिक्ता पुण्यादयो न सत्ति तथा युज्यमान-त्वात् तथाहि पुण्य-पापे कर्मणी वन्धोऽपि तदात्मक एव । कर्म च पुद्गल परि-णाम: पुद्गलांश्चाजीवा इति । आश्रवस्तु मिथ्यादर्शनादिरूप: परिणाामोजीव-स्य स चात्मान पुद्गलांश्च विरह्य्यकोऽन्य: । सवरोऽपि आश्रव निरोधलक्षणो देशसर्वभेदादात्मन: परिणामो निवृत्तिरूप. । निर्जरा तु कर्म परिशाटो जीव:, कर्मणां यत्पार्थक्यमापादयति स्वशक्त्या । मोक्षोऽप्यात्मा समस्त कर्म विरहित इति । तस्माज्जीवाजीवौ सद्भाव पदार्थौ इति वक्तव्यम् अतएवोक्तमिहैव—'यदत्थि च णं लोए तं सव्व दुप्पडोयार त जहा—जीवच्चेव, अजीवच्चेव' अथोच्यते सत्यमेतत्, किन्तु द्वावेव जीवाजीव पदार्थौ सामान्येनोक्तौ तावेवेह विशेषतो नवधोक्ताविति ।"

—स्थानाग सूत्र ९, ६६५ टीका

पदार्थ नव प्रकार के हैं—१.जीव, २.अजीव, ३.पुण्य, ४.पाप, ५.आस्रव, ६.संवर, ७.निर्जरा, ८. बन्ध और ९. मोक्ष । सुख-दुःख, ज्ञान और उपयोग लक्षण वाले पदार्थ को जीव कहते हैं और उससे भिन्न को अजीव । शुभ प्रकृति रूप कर्म को पुण्य और अशुभ प्रकृति रूप कर्म को पाप कहते हैं । जिससे शुभ-अशुभ उभय प्रकार के कर्मों का ग्रहण होता है, उसे आस्रव कहते हैं । गुप्ति आदि के द्वारा आस्रव को रोकना संवर है । विपाक या तप से कर्मो को एक देश से क्षय करना निर्जरा है । आस्रव के द्वारा गृहीत कर्मो का आत्मा के साथ संयुक्त होना बन्ध है । समस्त कर्मों के क्षय होने पर आत्मा का निज स्वरूप में स्थित होना मोक्ष है ।

जब उक्त नव पदार्थ जीव और अजीव इन दो पदार्थो में शामिल हो जाते हैं, तब उन्हें अलग से क्यों कहा ? पुण्य-पाप कर्म स्वरूप हैं और बन्ध भी कर्म रूप हैं । कर्म पुद्गलो का परि-णाम है और पुद्गल अजीव है । अतः पुण्य-पाप एवं बन्ध तीनो अजीव में समाविष्ट हो जाते हैं । मिथ्यादर्शन आदि आस्रव जीव का परिणाम है, वह जीव है । वह आत्मा और पुद्-गलों के अतिरिक्त अन्य क्या हो सकता है ? आस्रव जीव का परिणाम भी है और पुद्गल का भी, अतः वह जीव-अजीव दोनों के अन्तर्गत आ जाता है । देश और सर्व से आस्रव को रोकने वाला

निवृत्ति रूप संवर भी जीव का ही परिणाम है। कर्मो का एक देश से क्षय करने रूप निर्जरा भी जीव रूप है। क्योकि जीव अपनी शक्ति से कर्मों को अपनी आत्मा से हटा देता है। मोक्ष भी जीव स्वरूप ही है, क्योकि समस्त कर्मो से रहित होने वाला मुक्त माना जाता है। इस प्रकार उक्त नव पदार्थ जीव-अजीव इन दो पदार्थों में समाविष्ट हो सकते हैं। कहा भी है–'लोक में जो कुछ देखा जाता है, उसमें कुछ जीव हैं और कुछ अजीव। यह कथन सत्य है। परन्तु सामान्य रूप से बताए हुए जीव और अजीव पदार्थो का ही यहाँ विशेष रूप से उल्लेख करके उनको विस्तार से समझाया है। इसलिए यहाँ पदार्थों के जो नव भेद किए हैं, उसमें कोई दोष नहीं है। वस्तुतः मूल पदार्थ दो ही हैं—जीव और अजीव।"

आस्रव के सम्बन्ध मे यहाँ टीकाकार ने स्पष्ट लिखा है—

"स च आत्मान पुद्गलाश्च विरहय्य कोऽन्यः।"

"वह आस्रव आत्मा और पुद्गल के अतिरिक्त अन्य क्या है ? कुछ भी नहीं है।

टीकाकार का यह आशय है कि आस्रव आत्मा और पुद्गल इन दोनों का परिणाम स्वरूप है। इसलिए आस्रव को एकान्त जीव मानना उक्त टीका से विरुद्ध है।"

यद्यपि टीका मे आस्रव के सम्बन्ध मे पहले "आस्रवस्तु मिथ्यादर्शनादि रूपः परिणामोजीवस्य" लिखा है, तथापि इस वाक्य मे 'परिणामोजीवस्य' मे दो तरह का सन्धि-छेद है–"परिणामः जीवस्य" और "परिणामः अजीवस्य"। अत. उभय प्रकार से सन्धि छेद करके आस्रव को जीव और अजीव दोनो का परिणाम बताना ही टीकाकार को इष्ट है। यदि टीकाकार को आश्रव को केवल जीव का परिणाम बताना ही इष्ट होता, तो वह इसके साथ ऐसा क्यो लिखते–"स च आत्मनं पुद्गलांश्च विरहय्य कोऽन्य."। अतः यहाँ टीकाकार का "परिणामोजीवस्य" मे पूर्वोक्त तरीके से द्विविध सन्धि छेद करने का अभिप्राय रहा हुआ है।

परन्तु भ्रमविध्वसनकार ने भोले लोगो को भ्रम मे डालने के लिए "स च आत्मनं पुद्गलांश्च विरहय्य कोऽन्यः" का अर्थ ही नही किया। उन्होंने केवल इसी "आस्रवस्तु मिथ्यादर्शनादिरूपः परिणामोजीवस्य" का अर्थ करके छोड़ दिया। और वह अर्थ भी "परिणाम. जीवस्य" इस सधि छेद के द्वारा किया है, परन्तु इसके दूसरे रूप "परिणामः अजीवस्य" के द्वारा नही। अत इस प्रकार टीका का गलत अर्थ करके आस्रव को एकान्त जीव कहना नितान्त असत्य है।

उपसंहार

आगम मे बताया है—

"दुक्खी दुक्खेण फुडे, नो अदुक्खी दुक्खेण फुडे।"

—भगवती सूत्र ७,१

कर्म से संयुक्त पुरुष ही कर्म का स्पर्श करता है, कर्म से रहित आत्मा कर्म का स्पर्श नहीं करता।"

यदि कर्म से रहित आत्मा को भी कर्म का स्पर्श हो, तो सिद्ध आत्मा मे भी कर्म का स्पर्श मानना पडेगा। परन्तु ऐसा कदापि नही होता। इससे यह सिद्ध होता है कि कर्म को ग्रहण करने में कर्म ही कारण है, अत. वह आस्रव है। क्योकि आगम मे स्पष्ट लिखा है—

"दुक्खी दुक्खं परियायइ।"

—भगवती सूत्र ७, १

"कर्म से युक्त पुरुष ही कर्म को ग्रहण करता है।"

इस पाठ से कर्म का आस्रव होना प्रमाणित होता है। कर्म पौद्गलिक है, अजीव है। इस अपेक्षा से आस्रव भी पोद्गलिक एव अजीव सिद्ध होता है। अत उसे एकान्त जीव मानना अनुचित है।

पूर्व के प्रकरण मे स्थानाग सूत्र की टीका मे—पाप, पुण्य एव बन्ध को अजीव मे, सवर निर्जरा और मोक्ष को जीव मे तथा आस्रव को जीव-अजीव मे गिना है, वह निश्चय की अपेक्षा से समझना चाहिए। क्योकि आगम मे व्यवहार नय की अपेक्षा से पाप, पुण्य एव बन्ध को आत्मा का परिणाम भी कहा है।

अह भन्ते! पाणाइवाए, मुसावाए जाव मिच्छादंसणसल्ले, पाणाइवाय वेरमणे जाव मिच्छादसणसल्ल विवेगे, उप्पत्तिया जाव परिणामिया, उग्गहे जाव धारणा, उट्ठाणे, कम्मे, बले, वीरए, पुरिसक्कार-परक्कमे, णेरइयत्ते, असुरकुमारत्ते जाव वेमाणियत्ते, णाणावरणिज्जे जाव अन्तराइए, कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा, सम्मदिट्ठी ३, चक्खुदंसणे ४, अभिणिबोहियणाणे ५, विभगणाणे ३, आहार-सन्ना ४, ओरालिय सरीरे ५, मणजोगे ३, सागारोवयोगे २, जे यावण्णे तहप्पगारा सव्वे ते णणत्थ अत्ताए परिणमन्ति ?

हन्ता, गोयमा! पाणाइवाए जाव सव्वे ते णणत्थ अत्ताए परिणमन्ति।"

—भगवती सूत्र २०,३,६६५

हे भगवन्! प्राणातिपात, मृषावाद से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य पर्यन्त अठारह पाप का त्याग, औत्पातिकी यावत् परिणामिकी चार बुद्धि, अवग्रह आदि मतिज्ञान के चार भेद उत्थान, बल, वीर्य, कर्म, पुरुषाकार-पराक्रम, नैरयिकत्व, असुरकुमारत्व यावत् वैमानिकत्व, ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म, कृष्णादि छः लेश्या, सम्यग्दृष्टि आदि ३ दृष्टि, चक्षु दर्शनादि ४ दर्शन, आभिनीबोधिक आदि पाँच ज्ञान, मति अज्ञान आदि तीन अज्ञान, आहार आदि चार संज्ञाएँ, औदारिक आदि पांच शरीर, मन, वचन एवं काय योग, साकार और अनाकार उपयोग, क्या ये सब पदार्थ आत्मा के परिणाम हैं ?

हाँ, गौतम! प्राणातिपात से लेकर अनाकार उपयोग तक कहे गए ये सब पदार्थ आत्मा के परिणाम है, अन्य के नहीं।"

प्रस्तुत पाठ मे प्राणातिपात से लेकर अनाकार उपयोग पर्यन्त प्रयुक्त सब बोलो को आत्मा के परिणाम कहे है। अत. व्यवहार नय की अपेक्षा से पुण्य, पाप एव बन्ध भी जीव है। इन्हे एकान्त रूप से अजीव कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

तत्त्व-अधिकार

नव तत्त्व : रूपी-अरूपी

जीव-अजीव

जीव के भेद

नव तत्त्व : रूपी-अरूपी

जैनागम मे जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, ये नव तत्त्व माने है। ये नव तत्त्व एक अपेक्षा से रूपी भी है और एक अपेक्षा से अरूपी भी। इसलिए इन्हे एकान्त रूपी या अरूपी कहना उचित नही है।

निश्चय नय की अपेक्षा से जीव अरूपी है और व्यवहार नय की दृष्टि से रूपी। कौए, बगुले आदि शरीरधारी प्राणियो को व्यवहार मे जीव कहते है, इसलिए व्यवहार नय से जीव रूपी है। सिद्ध रूप रहित है, इसलिए निश्चय नय की अपेक्षा से जीव निरजन एव रूप रहित है। स्थानाग सूत्र, स्थान २ मे जीव दो प्रकार के बताए है—ससारी और सिद्ध। ससारी जीव रूपी भी है और सिद्ध अरूपी भी।

अजीव भी दो प्रकार के है—रूपी और अरूपी। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल, ये अरूपी है और पुद्गल रूपी।

पुण्य-पाप भी दो तरह के हैं—रूपी और अरूपी। अन्न आदि का दान करने के लिए आत्मा का जो शुभ अध्यवसाय होता है, वह पुण्य है और हिंसा आदि करने का, जो अशुभ अध्यवसाय होता है, वह पाप है। शुभ या अशुभ अध्यवसाय अरूपी है, इसलिए पुण्य एव पाप अरूपी है। ४२ प्रकार की पुण्य प्रकृतियाँ अनन्त पुद्गलो के स्कध से उत्पन्न होती हैं और पाप की ८२ प्रकृतियाँ भी अनन्त पुद्गलो के स्कध से बनी है। इसलिए शुभ क्रिया से उत्पन्न पुण्य फल एवं अशुभ क्रिया से उत्पन्न पाप फल को भी क्रमश. पुण्य और पाप कहते है। इस अपेक्षा से पुण्य-पाप रूपी भी है।

आस्रव भी रूपी एवं अरूपी दोनो प्रकार का है। शुभाशुभ अध्यवसाय, ६ भावलेश्याएँ, मिथ्यात्व आदि जीव के परिणाम कर्म बन्ध के हेतु होने से आस्रव कहलाते हैं। ये सब रूपवान नही हैं, इसलिए आस्रव अरूपी है। कर्म, अजीव की २५ क्रियाएँ, मिथ्यात्व आदि कर्म प्रकृतियाँ, ये सब कर्म बन्ध के हेतु होने से आस्रव है। ये सब रूपवान हैं, इस अपेक्षा से आस्रव रूपी भी है।

सवर भी उभय रूप है—रूपी और अरूपी। सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और अयोग ये सब सवर कहलाते है। ये जीव के गुण है और रूप रहित है, इस अपेक्षा से सवर अरूपी है।

जीव रूपी तालाब में आनेवाले कर्म रूप पानी को रोकना सवर है। अवरुद्ध किए हुए कर्म रूपी है, इसलिए सवर भी रूपी है।

निर्जरा भी रूपी-अरूपी दोनो प्रकार की है। आत्म-परिणामो के द्वारा आत्मा के किसी एक देश से कर्मो का नष्ट होना और जिन परिणामो से कर्मो का एक देश आत्मा से हटता है, उससे आत्म प्रदेश का निर्मल होना निर्जरा है। वे परिणाम अरूपी है, इसलिए निर्जरा भी अरूपी है। आत्म प्रदेश से हटे हुए कर्म भी निर्जरा कहलाते है। वे कर्म रूपी है, इस अपेक्षा से निर्जरा भी रूपी है।

बन्ध भी रूपी-अरूपी उभय रूप है। शुभ और अशुभ कर्मो के बन्ध का हेतु, जो शुभ-अशुभ आत्म परिणाम है, उसे बन्ध कहते है, वह आत्म परिणाम अरूपी है, इस अपेक्षा से बन्ध भी अरूपी है। शुभ-अशुभ कर्म प्रकृतियो के बन्धन को भी बन्ध कहते है। कर्म प्रकृतियाँ रूपवान है, इस अपेक्षा से बन्ध रूपी भी है।

मोक्ष भी दो प्रकार का है—रूपी और अरूपी। आत्मा का कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त होकर अपने शुद्ध एव स्वाभाविक रूप मे स्थित होना मोक्ष है। वह आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप है। आत्मा अरूपी है, इसलिए मोक्ष भी अरूपी है। जो कर्म आत्मा से अलग किए जाते है, वे भी मुक्त कहलाते है। कर्म रूपी है, इस अपेक्षा से मोक्ष भी रूपी है।

इस प्रकार ये नव ही पदार्थ एकान्तत. न रूपी है और न अरूपी। एक अपेक्षा से वे रूपवान भी है, तो दूसरी अपेक्षा से रूप रहित भी।

भगवती श० १२, उ० ५ मे आठ कर्म, अठारह पापस्थानक, दो योग, कार्मण शरीर, सूक्ष्म स्कध, इन तीस बोलो मे पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और चार स्पर्श बताए है। घनोदधि, घनवात, तनुवात, चार शरीर, बादर स्कध, ६ द्रव्य लेश्याएँ और काय योग इनमे पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श कहे है। अठारह पापो से विरमण, बारह उपयोग, ६ भाव लेश्याएँ, चार सज्ञाएँ, औत्पादिकी आदि चार बुद्धि, चार प्रकार का मतिज्ञान, उत्थान आदि पाँच वीर्य, तीन दृष्टि, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल इनको वर्ण, रस, गन्ध, एव स्पर्श से रहित होने से अरूपी कहा है।

अत निश्चय नय की अपेक्षा से पुण्य, पाप एव बन्ध ये तीनो कर्म स्वरूप होने से रूपी है। छ द्रव्य लेश्याएँ, तीन योग, पाच शरीर, हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, और परिग्रह ये सब रूपी है और आस्रव है, इसलिए आस्रव भी रूपी है। यद्यपि छ भाव लेश्याएँ, मिथ्या दृष्टि और चार सज्ञाएँ आदि भी आस्रव है और वे अरूपी है, तथापि निश्चय नय की अपेक्षा ये रूपी माने जाते हैं। क्योकि आस्रव को त्यागने योग्य कहा है। और त्याग रूपी पदार्थ का ही होता है। आस्रव उदय भाव मे गिना गया है, इसलिए पर-गुण होने से वह रूपी है। मन और वचन को चार स्पर्शी और काय को अष्ट स्पर्शी माना है और वे भी आस्रव है। इसलिए निश्चय नय की अपेक्षा से आस्रव रूपी है, अरूपी नही।

अठारह पापो से निवृत्त होना सवर है और वह अरूपी है। निर्जरा और मोक्ष, आत्मा के स्वाभाविक गुण है, इसलिए अरूपी है। जीव निश्चय नय से रूप रहित है। इसलिए निश्चय नय की अपेक्षा से जीव, सवर, निर्जरा एव मोक्ष अरूपी है।

अजीव पदार्थ मे धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाशास्ति काय और काल ये चार अरूपी और पुद्गल रूपी है। इसलिए निश्चय नय की अपेक्षा से अजीव तत्त्व रूपी-अरूपी उभय रूप है।

जीव-अजीव

उक्त नव पदार्थ एक अपेक्षा से जीव है। एक अपेक्षा से एक जीव और आठ अजीव हैं। एक अपेक्षा से एक अजीव और आठ जीव हैं। एक अपेक्षा से चार जीव और पाँच अजीव हैं। परन्तु निश्चय नय की अपेक्षा से एक जीव, एक अजीव और सात पदार्थ जीव और अजीव दोनो की पर्याय है।

नव तत्त्व जीव है

जीव और अजीव आदि पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को 'तत्त्व' कहते है और उसके ज्ञान का नाम 'तत्त्व ज्ञान' है। वह तत्त्व ज्ञान जीव रूप है। अत तत्त्व ज्ञान की अपेक्षा मे नव ही पदार्थ जीव माने गए है। जैसे अनुयोग द्वार सूत्र मे शब्दादि तीन नय के मत मे आत्मा के उपयोग को "पायली" कहा है और आत्मा का उपयोग आत्म स्वरूप है। इसलिए "पायली" को भी आत्मा कहा है। उसी तरह नव तत्त्वो का जो उपयोग है, वही नव तत्त्व है और वह उपयोग जीव है। इसलिए शब्दादि त्रि-नय के विचार से नव ही तत्त्व जीव है।

एक जीव और आठ अजीव

अजीव तत्व अजीव स्वत. सिद्ध है। शेप सात पदार्थो का द्रव्य पुद्गल स्वरूप है, इसलिए वे भी अजीव है। इस अपेक्षा से एक जीव और आठ पदार्थ अजीव हैं।

एक अजीव और आठ जीव

उक्त नव तत्वो में एक जीव स्वत सिद्ध है। शेप आठ पदार्थों मे अजीव के अतिरिक्त अन्य सब जीव है। क्योकि प्रज्ञापना सूत्र के पाँचवे पद मे ३६ बोलो को आत्मा का पर्याय कहा है। भगवती श० १३,उ० ७ मे काय को आत्मा, सचेतन एव सचित्त कहा है। भगवती श०२०,उ०२ मे ११६ बोलो को जीव-आत्मा कहा है–अठारह पाप, अठारह पाप का त्याग, चार बुद्धि, मतिज्ञान के चार भेद, पाँच वीर्य, चौवीस दण्डक, आठ कर्म, छ लेश्या, तीन दृष्टि,चार दर्शन,पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान, चार सज्ञा,पाँच शरीर, तीन योग और दो उपयोग। इनमें पुण्य, पाप,आस्रव, सवर, निर्जरा, वध और मोक्ष सव शामिल हैं, इसलिए ये आठ जीव है।

स्थानांग सूत्र के दूसरे स्थान मे काल को जीव-अजीव उभय रूप माना है। टीकाकार ने जीव के साथ सम्बन्ध रखने वाले काल, धूप, छाया, भवन, विमान आदि को एक अपेक्षा से जीव कहा है और अजीव से सम्बन्वित काल आदि उपरोक्त पदार्थो को अजीव। ससारी जीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये आठ पदार्थ, कर्म और काया के साथ रहते है। इस अपेक्षा से कहा है—आठ पदार्थ जीव है और एक अजीव।

चार जीव और पाँच अजीव

पुण्य, पाप, आस्रव एव बन्ध जीव के स्वगुण नही हैं, किन्तु कर्म के परिणाम रूप होने से परगुण है। अत निश्चय नय की अपेक्षा से चारो अजीव है। सवर, निर्जरा और मोक्ष आत्मा के स्वगुण है, अत गुण-गुणी के अभेद न्याय से निश्चय नय की अपेक्षा से ये जीव है। आगम मे भी कहा हैं—

"जीवगुणप्पमाणे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—नाणगुणप्पमाणे, दंसणगुणप्पमाणे, चरित्तगुणप्पमाणे।"

—अनुयोगद्वार सूत्र

"ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये तीनों आत्मा के स्वगुण है। अतः गुण-गुणी का अभेद होने से ये भी जीव हैं।"

जीव का लक्षण बताते हुए आगम मे कहा है—

"जीव उवओग लक्खणं।"

"नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं॥"

—उत्तराध्ययन सूत्र २८, ११

"जीव का उपयोग लक्षण है।"

"ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग, ये जीव के लक्षण हैं। अतः गुण-गुणी का अभेद होने से ये भी जीव हैं।"

"जे आया से विन्नाया।"

—आचाराग सूत्र १,५

"जो आत्मा है, वही विज्ञान है। इसलिए विज्ञान भी आत्मा है।"

"आयाणं अज्जो! सामाइए। आयाणं अज्जो! सामाइयस्स अट्ठो।"

—भगवती सूत्र १, ९

"हे आर्यो! आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का प्रयोजन है।"

इसी तरह आगम मे सयम, प्रत्याख्यान, चारित्र और व्युत्सर्ग को भी आत्मा कहा है। इस अपेक्षा से सवर, निर्जरा और मोक्ष आत्मा के अपने गुण होने से जीव हैं। निश्चय नय की अपेक्षा से आगम मे पुण्य, पाप, आश्रव और बन्ध को कही भी आत्मा का निज गुण नही बताया है, परन्तु कर्म सापेक्ष होने के कारण ये वैभाविक गुण कहे जाते है। अत. जीव, सवर, निर्जरा एव मोक्ष ये चार जीव और अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव एव बन्ध, ये पाँच अजीव है। इस अपेक्षा से नव तत्त्व में से चार जीव एव पाँच अजीव है।

एक जीव, एक अजीव और सात दोनों के पर्याय

प्रज्ञापना सूत्र के पाँचवे पद में कहा है—'द्रव्य, प्रदेश, पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध, आठ स्पर्श, बारह उपयोग, पुद्गल जनित शरीर का अवगाहन और आयुष्य की स्थिति ये ३६ बोल जीव के पर्याय हैं। किसी मे जीव की और किसी मे अजीव की प्रधानता होने के कारण किसी को जीव और किसी को अजीव कहा है। इनमे कुछ सवर, निर्जरा एव मोक्ष स्वरूप हैं और कुछ पुण्य, पाप आस्रव, एव बन्ध रूप है। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि जीव और अजीव के अतिरिक्त शेष सातो पदार्थ जीव और अजीव दोनो के पर्याय हैं।

प्रस्तुत प्रकरण मे कई नयो का आश्रय लेकर सक्षेप से तत्वो का विचार किया हैं। क्योकि किसी एक नय का आश्रय लेकर शेष नयो की अवहेलना करना आगम से विरुद्ध हैं। एकान्तवाद की स्थिति मे वह नय सम्यक् नही, मिथ्या नय, या नयाभास मानी गई है। अत किसी नय को मुख्य और किसी को गौण मानकर पदार्थ के स्वरूप का निरूपण करना जैन धर्म का उद्देश्य रहा है। इसलिए बुद्धिमान-विचारको को साम्प्रदायिक पक्षपात को त्याग कर अनेकान्त दृष्टि से, नय की अपेक्षा से इन तत्त्वो के यथार्थ स्वरूप का बोध करना चाहिए। यदि किसी मन्द बुद्धि वाले व्यक्ति को उक्त तत्त्व समझ मे न आएँ, तो उसे निष्पक्ष भाव मे आगम आज्ञा के अनुसार अपनी आत्मा को श्रद्धा-निष्ठ बनाना चाहिए—

"तमेव सच्चं निसंकं जं जिणेहि पवेइयं।"

—भगवती सूत्र

"जिनेश्वर भगवान ने जो कहा है, वही सत्य है, उसमें थोड़ी भी शंका नहीं है।"
ऐसी भावना रखने से भी व्यक्ति भगवान की आज्ञा का आराधक हो सकता है।

जीव के भेद

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३३६ पर लिखते है—

"केतला एक अज्ञानी भवनपति, बाणव्यन्तर मे अने प्रथम नरक मे जीवरा तीन भेद कहे।" इनके कहने का अभिप्राय यह है-प्रथम नारकी, भवनपति और व्यन्तर देवो मे जीव के दो ही भेद होते है, असन्नी का अपर्याप्त नामक तीसरा भेद नही होता।"

आगम मे भवनपति, व्यन्तर एव प्रथम नारकी मे जीव के तीन भेद बताए है—

"जीवा णं भन्ते ! कि सन्नी, असन्नी, नो सन्नी नो असन्नी ?
गोयमा ! जीवा सन्नी वि, असन्नी वि, नो सन्नी नो असन्नी वि।
नेरइयाणं पुच्छा ?
गोयमा ! नेरइया सन्नी वि, असन्नी वि, नो सन्नी नो असन्नी वि।"

—प्रज्ञापना सूत्र ३१,३१५

"हे भगवन् ? जीव सन्नी होते हैं, असन्नी होते हैं, या सन्नी-असन्नी से भिन्न ?
हे गौतम ! जीव सन्नी भी होते हैं, असन्नी भी होते हैं और इनसे भिन्न भी होते हैं।
हे भगवन्। नारकी के विषय में प्रश्न है ?
हे गौतम ! नारकी के जीव सन्नी-असन्नी दो प्रकार के होते हैं, इनसे भिन्न नहीं होते।"

इस पाठ के आगे व्यन्तर और असुर कुमार से लेकर स्तनित कुमार पर्यन्त भवनपति देवो के सम्बन्ध मे भी यही बात कही है। इससे भवनपति, व्यन्तर एव प्रथम नरक मे असन्नी का भेद आगम से सिद्ध होता है, तथापि उस भेद को नही मानना आगम की आज्ञा को ठुकराना है।

भगवती सूत्र मे इस विषय मे लिखा है—

गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावास-सय सहस्सेसु संखेज्जावित्थडेसु नरयेसु संखेज्जा णेरया पण्णत्ता, संखेज्जा काउलेस्सा पण्णत्ता एवं जाव संखेज्जा सन्नी पण्णत्ता, असन्नी सिय

अत्थि, सिय नत्थि। जइ अत्थि एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्को-
सेणं संखेज्जा पण्णत्ता।"

—भगवती सूत्र १३,१,४७०

"हे गौतम! रत्नप्रभा नामक पृथ्वी में कुल तीस लाख नारकी जीवो के निवास-स्थान हैं। उनमें कुछ संख्यात योजन और कुछ असंख्यात योजन विस्तृत हैं। सख्यात योजन विस्तृत नरकावासो में सख्यात नारकी एवं कापोत लेशी जीव रहते हैं। संख्यात नारकी जीव सन्नी होते हैं। इनमें असन्नी जीव कभी होते हैं और कभी नहीं होते। यदि होते हैं, तो १,२,३ और उत्कृष्ट संख्यात होते हैं।"

प्रस्तुत पाठ में प्रथम नरक के जीवो में जघन्य १,२,३ और उत्कृष्ट सख्यात असन्नी जीव वताए है और असख्यात योजन वाले नरकावास मे असख्यात असन्नी जीव माने हैं। भगवती श० १३, उ० २ मे भवनपति एव व्यन्तर देवो के लिए भी ऐसा ही पाठ आया है। इस-लिए प्रथम नरक, भवनपति एव व्यन्तर देवो मे असन्नी का अपर्याप्त भेद नही मानना उपयुक्त नही है। उक्त पाठ मे प्रयुक्त "सिय अत्थि सिय नत्थि" शब्द असन्नी के विषय मे कहे है। इसका अभिप्राय स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

"असज्ञिभ्य उद्‌धृत्य ये नारकत्वेनोत्पन्नास्तेऽपर्य्याप्तावस्थायामसज्ञिनो भूत-भावत्वात्तेचाल्पा इति कृत्वा 'सिय अत्थि' इत्याद्युक्तम्।"

"जो जीव असंज्ञी से निकलकर नरक में जाते हैं, वे अपर्याप्त अवस्था में असंज्ञी ही रहते हैं, वे जीव बहुत अल्प संख्या में होते हैं।"

यहाँ टीकाकार ने मूल पाठ के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए वताया है कि नारकी जीवो मे असज्ञी का अपर्याप्त भेद पाया जाता है। अत उसमे असज्ञी का अपर्याप्त भेद नही मानना आगम एव टीका से विरुद्ध है।

भगवती श० १ उ० ४ मे सज्ञी नारकी और देवता में काल-देश के ६ भग वताए है और जीवाभिगम सूत्र मे प्रथम नरक, भवनपति एव व्यन्तर देवो मे सज्ञी-असज्ञी दोनो भेदो का उल्लेख किया है—

"तेसि ण अन्ने जीवा कि सन्नी-असन्नी?
गोयमा! सन्नी वि असन्नी वि।"

—जीवाभिगम सूत्र

प्रस्तुत पाठ मे प्रथम नरक के जीवो को सज्ञी-असज्ञी उभय रूप कहा है। इसी आगम में नारकियो के ज्ञान के सम्बन्ध मे पूछे गए प्रश्न के उत्तर में लिखा है—

"जे अन्नाणी ते अत्थे गइया दु अण्णाणी, अत्थे गइया ती अण्णाणी।
जेय दु अण्णाणी ते णियमा मइ अण्णाणी, सुय अण्णाणी।"

—जीवाभिगम सूत्र

"ये नारका असंज्ञीनस्तेऽपर्याप्तावस्थाया द्वि अज्ञानिन. पर्याप्तावस्था-यान्तु त्रि-अज्ञानिन.।"

"नरक के जो जीव असंज्ञी हैं, वे अपर्याप्त अवस्था में दो अज्ञान युक्त और पर्याप्त अवस्था में तीन अज्ञान युक्त होते हैं। दो अज्ञान वाले निश्चित रूप से मति और श्रुत अज्ञान वाले होते हैं।"

प्रस्तुत पाठ मे नारकी जीव को दो अज्ञान युक्त भी कहा है। टीकाकार ने स्पष्ट लिखा है कि असज्ञी नारकी अपर्याप्त अवस्था मे दो अज्ञान वाले होते है। यहाँ पर टीकाकार ने नारकी जीवों मे असंज्ञी के अपर्याप्त भेद का प्रतिपादन किया है।

प्रस्तुत पाठ के आगे भवनपति एव व्यन्तर देवो के लिए भी ऐसा ही पाठ आया है। इसलिए उनमे भी असज्ञी के अपर्याप्त भेद का होना सिद्ध होता है। तथापि प्रथम नरक, भवनपति एव व्यन्तर देवो मे असज्ञी को नही मानना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

संज्ञी-असंज्ञी

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३३७ पर प्रज्ञापना पद १५, उद्देशक १ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"इहाँ कह्यो—मनुष्य ना दो भेद, सन्नीभूत ते विशिष्ट अवधिज्ञान सहित।" इत्यादि लिखकर इसके आगे लिखते हैं—"ते अवधिज्ञान रहित ने असन्नीभूत कह्यो। पिण असन्नी रो भेद नही पावे, तिम नेरइया ने असन्नी भूत कह्या, पिण असन्नी रो भेद नही पावे। ए नेरइया अने देवता ने असज्ञी कह्या। ते सज्ञा वाची छै। जे अवधि-विभग रहित नेरइया नो नाम असज्ञी छै, जिम विशिष्ट अवधि रहित मनुष्य निर्जर्या पुद्गल न देखे। तेहने पिण असन्नी भूत कह्यो।"

आगम मे स्थान-स्थान पर गर्भज मनुष्य को सज्ञीभूत कहा है, परन्तु प्रज्ञापना सूत्र मे उसे असज्ञीभूत कहा है। इससे यह सशय होना स्वाभाविक है कि जब आगम मे सर्वत्र गर्भज मनुष्यो को सज्ञीभूत कहा है, तब प्रज्ञापना सूत्र मे उसे असज्ञीभूत क्यो कहा? इसका समाधान यह है कि प्रज्ञापना में जो गर्भज मनुष्य को असज्ञीभूत कहा है, उसका अभिप्राय अवधिज्ञान से रहित होना है, परन्तु सज्ञी के विरोधी असज्ञी से नही। क्योकि ऐसा मानने से प्रज्ञापना सूत्र एव अन्य आगमो के कथन मे विरोध पडता है। अत विशिष्ट अवधिज्ञान से रहित होने की अपेक्षा से प्रज्ञापना सूत्र में गर्भज मनुष्य को असज्ञीभूत कहा है। परन्तु यह दृष्टान्त असज्ञी से मरकर प्रथम नरक, भवनपति एवं व्यन्तर देवों मे उत्पन्न होने वाले जीवो मे घटित नही होता। क्योकि उन जीवों को आगम मे सर्वत्र असज्ञी ही कहा, उन्हे कही भी सज्ञी नही कहा है। यदि आगम मे कही पर भी उन्हे सज्ञी कहा होता, तो मनुष्य के विषय मे कथित प्रज्ञापना सूत्र के उक्त पाठ का दृष्टान्त देकर प्रथम नरक, भवनपति एव व्यन्तर देवो मे असज्ञी के भेद का निषेध कर सकते थे। परन्तु असज्ञी मे मरकर प्रथम नरक, भवनपति एव व्यन्तर देवो मे उत्पन्न होने वाले जीवों को कही भी सज्ञी नही कहा है। अत प्रज्ञापना का प्रमाण देकर उनमे असज्ञी के अपर्याप्त भेद को नहीं मानना आगम मे सर्वथा विपरीत है।

बालक-बालिका

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३३९ पर प्रज्ञापना सूत्र, पद ११ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ अठे पिण कह्यो—न्हाना वालक-वालिका मन पटुता न पाम्या। विशिष्ट ज्ञान रहित नें सन्नी न कह्यो। पिण जीव रो भेद तेरमो छै। तिण मे ,असन्नी रो भेद नथी। तिम नेरइया नें असन्नी भूत कह्या। पिण असन्नी रो भेद नथी।"

वालक-वालिका मन युक्त होते है, मन से रहित नही। इसलिए वस्तुत वे संज्ञी ही है, असज्ञी नही। परन्तु प्रज्ञापना सूत्र मे विशिष्ट ज्ञान से रहित होने की अपेक्षा से उन्हे असन्नी कहा है। अत आगम में नन्हे वालक-वालिकाओ को संज्ञी कहा है। परन्तु असज्ञी से मरकर नरक, भवनपति एव व्यन्तर देवो मे उत्पन्न हुए जीवो को आगम मे कही भी संज्ञी नहीं कहा है, अत छोटे वालक -वालिकाओ का दृष्टान्त देकर उक्त जीवो मे असन्नी के भेद का निषेध करना अनुचित है।

यदि आगम मे कही भी असज्ञी से मरकर नरकादि मे उत्पन्न होने वाले जीव के लिए संज्ञी होने का उल्लेख किया होता, तो वालक-वालिका के विषय मे प्रयुक्त प्रज्ञापना के पाठ का प्रमाण देकर उक्त जीवो मे असज्ञी के भेद का निषेध कर सकते थे। परन्तु आगम में कही भी असंज्ञी से मरकर नरक आदि मे जन्म लेने वाले जीवों को संज्ञी नही कहा है, अत उनमें असन्नी के भेद का निषेध करना आगम से सर्वथा विपरीत है।

आठ प्रकार के सूक्ष्म

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३४० पर दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ८, गाथा ५ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"अथ इहाँ आठ सूक्ष्म कह्या—१ धुंवर प्रमुखनी सूक्ष्म स्नेह, २. न्हाना फल, ३ कुंथुआ, ४. उतिंग—कीडी नगरा, ५. नीलण-फूलण ६ वीज—खसखस आदिकना, ७. न्हाना अकुर ८. कीडी प्रमुखना अण्डा। ते न्हाना माटे सूक्ष्म छै। पिण सूक्ष्म रो जीव रो भेद नहीं। तिम नेरइया अने देवता ने असन्नी कह्या, पिण असन्नी रो भेद नही।"

आगम मे चीटी आदि को सर्वत्र त्रस जीव मे गिना है, सूक्ष्म के भेद मे नही। इसलिए छोटा होने के कारण दशवैकालिक सूत्र मे उन्हे सूक्ष्म कहा है। परन्तु यह दृष्टान्त असन्नी से मरकर प्रथम नरकादि मे उत्पन्न होने वाले असज्ञी जीवो मे घटित नही होता। क्योंकि असंज्ञी से मरकर नरक,भवनपति एव व्यन्तर देवो में जन्म ग्रहण करने वाले जीव को कही भी सन्नी नही कहा है। उसे आगम मे सर्वत्र असन्नी कहा है। अत. दशवैकालिक सूत्र का प्रमाण देकर नरक, भवनपति एव व्यन्तर देवो मे असंज्ञी के अपर्याप्त भेद को स्वीकार नही करना सर्वथा अनुचित है।

पर्याप्त-अपर्याप्त

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३४२ पर अनुयोगद्वार सूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ इहाँ विशेष-अविशेष ए वेनाम कह्या। तिण मे अविशेष थी तो मनुष्य, विशेष थी समूर्च्छिम, गर्भज। अने अविशेष थी तो समूर्च्छिम मनुष्य, अने विशेष थी पर्याप्तो, अपर्याप्तो कह्यो। इहाँ समूर्च्छिम मनुष्य ने पर्याप्त-अपर्याप्तो कह्यो। ते केतलीक पर्याय वाधी ते पर्याय आश्री पर्याप्तो कह्यो। अने सम्पूर्ण न वांधी ते न्याय अपर्याप्तो कह्यो। समूर्च्छिम

मनुष्य ने पर्याप्तो कह्यो। पिण पर्याप्ता मे जीव रा सात भेद पावे, ते मांहिलो भेद नथी। जे देवता ने असन्नी कह्या माटे असन्नी रो जीव रो भेद कहे तिण रे लेखे समूर्च्छिम मनुष्य ने पिण पर्याप्त कह्या माटे पर्याप्ति रो भेद कहिणो। अने समूर्च्छिम मनुष्य मे पर्याप्त रो भेद नथी कहे, तो देवता मे पिण असन्नी रो भेद न कहिणो।"

समूर्च्छिम मनुष्य का दृष्टान्त देकर प्रथम नरक, भवनपति एव व्यन्तर देवो मे असंज्ञी के भेद का निषेध करना युक्ति सगत नही है। आगम मे सर्वत्र समूर्च्छिम मनुष्य मे पर्याप्तपने का निषेध किया है, उसमे पर्याप्त का भेद नही माना जा सकता। नरक मे असज्ञी के अपर्याप्त भेद का कही निषेध नही किया है। अत. असज्ञी के अपर्याप्त भेद का निषेध करना गलत है।

यदि यह कहे कि जब आगम मे समूर्च्छिम मनुष्य मे पर्याप्त के भेद का निषेध किया है, तब अनुयोगद्वार मे उसे पर्याप्त कैसे कहा? इसका समाधान यह है कि जैसे अनुयोगद्वार मे उदयादि भावो के २६ विकल्प मात्र दिखाने के लिए किए है, परन्तु सब विकल्पो के उदाहरण नही मिलते, उसी तरह समूर्च्छिम मनुष्यो के दो भेद भी सभावना मात्र से किए है, परन्तु समूर्च्छिम जीवो मे पर्याप्त भेद के होने से नही। परन्तु यह बात प्रथम नारकी, भवनपति और व्यन्तर देवो के सम्बन्ध मे घटित नही होती। क्योकि आगम मे कही भी उनमें असज्ञी के भेद का निषेध नही किया है।

भगवती श० १३, उ० २ के पाठ मे लिखा है—"असुर कुमार देव मे नपुसक वेद नही पाया जाता है।" यदि भवनपति मे असज्ञी का अपर्याप्त भेद होता है, तब नपुसक वेद भी पाया जाना चाहिए। परन्तु यह बात भगवती सूत्र के उक्त पाठ से विरुद्ध है। इसलिए भवनपति और व्यन्तर देवो मे असज्ञी के अपर्याप्त भेद को मानना अनुचित है।"

प्रथम नरक, भवनपति एव व्यन्तर देवो मे असज्ञी का अपर्याप्त भेद का आगम मे स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इसलिए उनमे असज्ञी का अपर्याप्त भेद है और इसका सद्भाव होने से उनमे नपुसक वेद भी पाया जाता है। परन्तु वह अवस्था अन्तर्मुहूर्त्त की होती है। इसलिए उसकी विवक्षा न करके भगवती सूत्र मे असुरकुमार मे नपुसक वेद का निषेध किया है। जैसे भगवती सूत्र श०३०, उ० १ मे सम्यग्दृष्टि द्वीन्द्रिय,त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव को विशिष्ट सम्यक्त्व का अभाव होने से क्रियावादी एव विनयवादी होने का निषेध किया है, परन्तु सम्यक्त्व का सर्वथा अभाव होने से नही। उसी तरह भगवती सूत्र मे भवनपति एवं व्यन्तर देवो मे विशिष्ट असज्ञी का अपर्याप्त भेद नही होने से उसमे नपुसक वेद का निषेध किया है, परन्तु असज्ञी के अपर्याप्त का सर्वथा अभाव होने से नही।

असज्ञी से मरकर प्रथम नरकादि मे जन्म लेने वाले जीवो मे असज्ञी का अपर्याप्त भेद होता है। क्योकि आगम मे सर्वत्र उन्हे असज्ञी कहा है। यदि आगमकार को उनमे असज्ञी का भेद मानना इष्ट नही होता, तो जैसे छोटे बालक-बालिका को असज्ञी कहकर भी सज्ञी कहा है। उसी तरह असज्ञी से मरकर प्रथम नरक, भवनपति एव व्यन्तर देवो मे जन्म लेने वाले जीवो को अवश्य ही सज्ञी कहते। परन्तु आगम मे उन्हे कही भी सज्ञी नही कहा है। कुछ टीकाकारो ने तो स्पष्ट रूप से उनमे असज्ञी के भेद का उल्लेख किया है। इसलिए पूर्वोक्त दृष्टान्तो के आधार पर प्रथम नरक, भवनपति एव व्यन्तर देवो मे असज्ञी के अपर्याप्त भेद के होने का निषेध करना आगम ज्ञान से अनभिज्ञता प्रकट करना है।

आगम-अध्ययन अधिकार

स्वाध्याय के अतिचार

श्रावक आगम पढ़ सकता है

आगम-वाचना का क्रम

श्रावक अधिकारी है

स्वाध्याय के अतिचार

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३६१ पर लिखते है—

"केतला एक कहे—गृहस्थ सूत्र भणे तेहनी जिन आज्ञा छै, ते सूत्रना अजाण छै। अनें भगवन्त नी आज्ञा तो साधु नें इज छै। पिण सूत्र भणवा री गृहस्थ ने आज्ञा दीधी नथी।"

समुच्चय गृहस्थ का नाम लेकर श्रावक को भी आगम का अध्ययन एव वाचन करने का निषेध करना युक्ति सगत नही है। क्योकि आगम मे साधु एव श्रावक दोनो के लिए आगम स्वाध्याय के चवदह अतिचार कहे है। यदि श्रावक को आगम पढने का अधिकार ही नही है, तो फिर उसके लिए आगम वाचन के अतिचारो का उल्लेख करने की क्या आवश्यकता थी ? आगम मे शास्त्रो के भेद करके उनके चवदह अतिचार बताए है—

"अहवा तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—अग पविट्ठं, अंग बाहिरं च।

से किं तं अंग बाहिरं ?

अंग बाहिरं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—आवस्सयं च, आवस्सय वइरित्तं च।

से किं तं आवस्सय ?

आवस्सयं छव्विहं पण्णत्तं तं जहा—सामाइयं जाव पच्चक्खाण से तं आवस्सयं।

से कि तं आवस्सय वइरित्तं ?

आवस्सय वइरित्तं दुविहं पण्णत्त तं जहा—कालिय च उक्कालियं च।"

—नन्दी सूत्र

"प्रकारान्तर से आगम के दो भेद हैं—अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य।

अंग बाह्य क्या है ?

अंग बाह्य भी दो प्रकार का है–आवश्यक और आवश्यक से भिन्न।

आवश्यक क्या है ?

आवश्यक के ६ भेद हैं——सामायिक से लेकर प्रत्याख्यान पर्यन्त।

आवश्यक से भिन्न क्या है ?

वह भी दो प्रकार का है–कालिक और उत्कालिक।"

जो आगम प्रात, मध्याह्न,सन्ध्या काल एव अर्धरात्रि के दो घडी—४८ मिनट के समय को छोडकर शेष सब समय मे पढे जा सकते है, वे उत्कालिक और जो दिन एव रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर मे ही पढे जाते है, वे कालिक सूत्र कहलाते हैं। अत आगम मे इन सबका स्वाध्याय करने मे चवदह प्रकार के अतिचारो का त्याग करने का कहा है—

"जं वाइद्धं, वच्चामेलियं, हीणक्खरियं, अच्चक्खरियं, पयहीणं, विणयहीणं, घोसहीणं, जोगहीणं, सुटठ्वदिन्नं, दुट्ठुपडिच्छियं, अकाले कओ सज्झाओ, काले न कओ सज्झाओ, असज्झाए सज्झाइयं, सज्झाए न सज्झायं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।"

—आवश्यक सूत्र

आगम स्वाध्याय के चवदह अतिचार होते हैं–१. व्याविद्ध–विपरीत गुंथी हुई रत्नमाला की तरह क्रम का त्याग करके व्युत्क्रम से स्वाध्याय करना, २. व्यत्याम्रेडित—बार-बार पुनरुक्ति करके पढ़ना,३. हीनाक्षर–अक्षरो को कम करके पढ़ना, ४. अत्यक्षर–अक्षर बढ़ाकर पढ़ना ५. पदहीन–किसी पद को छोड़कर पढ़ना, ६.विनयहीन–विनय का त्याग करके स्वाध्याय करना, ७. घोषहीन–उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि घोष से रहित स्वाध्याय करना। ८. योगहीन–अच्छी तरह योगोपचार करके नही पढ़ना, ९. सुष्ठुवदत्त—गुरु से पाठ लिए बिना पढ़ना, १०. दुष्टु प्रतीच्छित्त–दुष्ट अन्तःकरण से पाठ का स्वाध्याय करना, ११. अकाले कृत स्वाध्याय–जिस आगम को पढ़ने का जो काल नहीं है, उसमें उसे पढ़ना, १२. काले न कृत स्वाध्याय–जिस समय में जिस आगम को पढ़ने का काल है, उसमें उसे नहीं पढ़ना, १३. अस्वाध्याये स्वाध्यायित–अनाध्याय–अस्वाध्याय के समय में स्वाध्याय करना और १४. स्वाध्याये न स्वाध्यायित—स्वाध्याय के समय में स्वाध्याय नहीं करना।"

उक्त चवदह अतिचार साधु की तरह श्रावक के भी कहे है, श्रावक के कुल ९९ अतिचार होते है, उनमे उक्त चवदह भी सम्मिलित है। आचार्य भीषणजी ने भी बारह व्रत की ढ़ाल मे लिखा है—

"चौदह अतिचार ज्ञान रा पांच समकित ना जाण।"

इसमे आचार्य भीषणजी ने आगम स्वाध्याय के चवदह अतिचार श्रावको के भी स्वीकार किए है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक को भी आगम पढने एव उसका स्वाध्याय करने का अधिकार है। यदि उन्हे आगम पढने का अधिकार नही होता, तो उनके उक्त चवदह अतिचार क्यो कहते ? क्योकि ये अतिचार आगम का स्वाध्याय करने वाले व्यक्ति को ही लग सकते है और उसे ही इनसे बचने के लिए कहा गया है। अस्तु श्रावक के लिए आगम पढने का सर्वथा निषेध करना आगम सम्मत नही है।

श्रावक आगम पढ़ सकता है

भ्रमविध्वसनकार का मत है कि श्रावको को प्रतिक्रमण सूत्र पढने का अधिकार है, परन्तु अन्य आगम पढने का अधिकार नही है। इसलिए ये चवदह ज्ञान के अतिचार श्रावको के कहे है।

भ्रमविध्वसनकार का उक्त कथन युक्तिसगत नही है। क्योकि उक्त चवदह अतिचारो मे काल मे स्त्राध्याय न करने और अकाल मे स्त्राध्याय करने का भी उल्लेख है। ये अतिचार आवश्यक सूत्र के पढने मे नही लगते। क्योकि वह कालिक और उत्कालिक से भिन्न है, इस-लिए उसके पढ़ने मे काल विशेप का नियम नही है। अत. जिनका स्वाध्याय करने मे काल विशेप का नियम है, उनके स्त्राध्याय मे ही ये अतिचार लगते है। यदि श्रावक को आवश्यक से भिन्न आगमो का स्त्राध्याय करने का अधिकार ही नही है, तो उसे उक्त अतिचार कैसे लगेगे ? आचार्य भीपणजी ने भी श्रावक के लिए अकाल मे स्वाध्याय करने और काल मे न करने रूप अतिचार को स्वीकार करते हुए लिखा है—

"अकाले करें सज्झाय हो श्रावक, काले सज्झाय करे नहीं।
असज्झाय में करें सज्झाय हो श्रावक, सज्झाय वेला आलस करे।
जब ज्ञान थारो मेलो थाय हो श्रावक, अतिचार लागे ज्ञान ने।"

—बारह व्रत की ढाल

आचार्य श्रीभीपणजी के उक्त कथन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक को काल विशेप मे पढे जाने वाले आवश्यक से भिन्न आगमो का स्त्राध्याय करने का अधिकार है। अन्यथा श्रावक को अकाल मे स्वाध्याय करने और काल मे स्वाध्याय न करने रूप अतिचार कैसे होगा ? नन्दी और समवायाग सूत्र एवं उसकी टीका में श्रावक के लिए लिखा है—

"सुय परिग्गहा तपोवहाणाइ।"

"श्रुत परिग्रहास्तप उपधानानि प्रतीतानि।"

"श्रावक आगम का अध्ययन करने वाले एवं उपधान तप करने वाले होते हैं।"

प्रस्तुत पाठ एव टीका मे श्रावक को 'आगम पढने वाला' कहा है। यदि श्रावक को आगम पढने का अधिकार ही नही है, तो वह श्रुत परिग्रही कैसे हो सकता है ? अत आगम के

प्रमाणो से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक को आवश्यक से भिन्न आगम पढने का भी अधिकार है। अत. उक्त बात को नही मानना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

आगम प्रमाण

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३६९ पर लिखते हैं—

"जे नन्दी, समवायाग साधा ने 'सुय परिग्गहिया' कह्या ते तो सूत्र श्रुत अनें अर्थ श्रुत बिहूना ग्रहण करवा थकी कह्या छै। अने श्रावको ने 'सुय परिग्गहा' कह्या ते अर्थ श्रुत ना हिज ग्रहण करणहार माटे जाणवा।"

नन्दी और समवायाग सूत्र में साधु और श्रावक दोनो के लिए एक समान 'सुय परिग्गहा' पाठ आया है। अत. यह कदापि नही हो सकता कि साधु के लिए इसका भिन्न अर्थ हो और श्रावक के लिए भिन्न। उक्त पाठ की टीका एवं टब्बा अर्थ मे भी यह नही लिखा है कि साधु तो सूत्र और अर्थ दोनो पढता है और श्रावक केवल अर्थ ही पढ़ता है। अत. इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक को सूत्र और अर्थ दोनो पढने का अधिकार है। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया है—"पालित श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचन—आगम का कोविद—विद्वान् या पण्डित था।"

"निग्गंथे पावयणे सावए से वि कोविए।"

—उत्तराध्ययन सूत्र २१, २

यदि श्रावक को आगम पढने का अधिकार ही नही होता, तो पालित श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचन का विद्वान् कैसे हो सकता था। और उत्तराध्ययन में राजमती के लिए लिखा है—"राजकन्या राजमती बडी शीलवती और बहुश्रुत थी।"

"सीलवंता बहुस्सुया।"

—उत्तराध्ययन सूत्र २२, ३२

इस विषय मे बुद्धिमान विचारक स्वय सोचे कि जब श्रावक को आगम पढने का निषेध है, तब राजमती बहुश्रुत कैसे बनी ? उववाई एव सूत्रकृतांग सूत्र में श्रावको के वर्णन में यह पाठ आया है—

"आस्सव, संवर, निज्जर किरिया अहिगरण बन्ध-मोक्ख कुसला।"

प्रस्तुत पाठ मे श्रावक को द्वादशविध निर्जरा मे कुशल होना कहा है, निर्जरा का दसवाँ भेद स्वाध्याय है। और स्वाध्याय के पाँच भेद हैं—१. वाचना, २. पुच्छणा, ३. पर्यटना, ४. अनुप्रेक्षा और ५. धर्मकथा। इन पाँच प्रकार के स्वाध्याय मे वही व्यक्ति कुशल हो सकता है, जो सूत्र और अर्थ दोनो का ज्ञाता हो। परन्तु जो सूत्र पढने का अधिकारी नही है, वह पाँच प्रकार के स्वाध्याय मे कुशल नही हो सकता। स्वाध्याय मे अकुशल होने से वह द्वादशविध निर्जरा में भी कुशल नही हो सकता। परन्तु श्रावक को द्वादशविध निर्जरा में कुशल कहा है। इसलिए वह पंचविध स्वाध्याय में कुशल होता है। अत वह आगम पढने का अधिकारी है।

ज्ञाता सूत्र में बताया है—"सुबुद्धि प्रधान ने जितशत्रु राजा को विचित्र प्रकार से केवली प्रणीत धर्म का उपदेश दिया।" यदि श्रावक आगम नही पढते, तो सुबुद्धि प्रधान बिना आगम सीखे राजा को जिन प्ररूपित धर्म का उपदेश कैसे दे सकता था ? आगम में स्थान-स्थान पर

श्रावक को "धम्मक्खाइ"—धर्म का यथार्थ प्रतिपादन करने वाला कहा है। आगम का बोध प्राप्त किए विना वह धर्माख्यायी कैसे कहा जाता। इसलिए श्रावक को आगम पढने का निषेध करना भारी भूल है।

सत्य की प्रशंसा

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३६१ पर प्रश्नव्याकरण सूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ इहाँ कह्यो—उत्तम महर्षि साधु ने इज सूत्र भणवारी आज्ञा दीधी, ते साधु सिद्धान्त भणी ने सत्य वचन जाणे भाषे। अने देवेन्द्र-नरेन्द्रादिक ने भाष्या अर्थ ते साभली सत्य वचन जाणे। ए तो प्रत्यक्ष साधु ने इज सूत्र भणवारी आज्ञा करी। पिण गृहस्थ ने सूत्र भणवारी आज्ञा नही। ते माटे श्रावक सूत्र भणे ते आपरे छादे, पिण जिन आज्ञा माही नही।"

प्रश्नव्याकरण सूत्र उक्त पाठ एव उसकी टीका लिखकर समाधान कर रहे है—

"तं सच्चं भगव तित्थयर सुभासियं दसविहं चोद्दस पुव्वीहि पाउडत्थ विदितं महरिसीणयसमयप्पदिन्नं देविन्द-नरिन्द भासियत्थं वेमाणियसाहियं महत्थं मंतोसहि विज्जासाहणत्थं।"

—प्रश्नव्याकरण सूत्र, दूसरा सवरद्वार

"तमिति यस्मादेव सत्य द्वितीय महाव्रत भगवद् भट्टारक तीर्थ कर सुभाषितं जिनै सुष्टूक्तं दशविधं दशप्रकार जनपदसम्मत सत्यादि भेदेन दशवैकालिकादि प्रसिद्ध चतुर्दशपूर्विभि. प्राभृतार्थं वेदित पूर्वगत्तांश-विशेषाभिधेयतया ज्ञात, महर्षीणा च समयेन सिद्धान्तेन 'पइन्नं' त्ति प्रदतं समय प्रतिज्ञा वा समाचाराभ्युपगम.। पाठान्तरे 'महरिसी समय पइन्न चिन्न' त्ति महर्पिभि समय प्रतिज्ञा सिद्धान्ताभ्युपगम.। समाचाराभ्युपगमोवेति चरितं यत् तत्तथा। अथवा देवेन्द्र-नरेन्द्रै. भासित. प्रतिभासितोऽर्थं प्रयोजन यस्य तत्तथा। अथवा देवेन्द्रादीना भाषिता: अर्था जीवादयो जिनवचनरूपेण येन तत्तथा। तथा वैमानिकानां साधितं प्रतिपादितमुपादेयतया जिनादिभिर्यत्तत्तथा। वैमानिकैर्वा साधित कृतमासेवितं समर्थितं वा यत्तत्तथा। महार्थं महाप्रयोजनं एतदेवाह मन्त्रौषधि विद्यानां साधनमर्थ प्रयोजनं यस्य तद्विना तस्याभावात्तत्तथा।"

सत्य दूसरा महाव्रत है। तीर्थंकरो ने इसे दस प्रकार का कहा है। जनपद सम्मत सत्यादि के भेद से दस प्रकार का सत्य दशवैकालिकादि आगमों में प्रसिद्ध है। चतुर्दश पूर्वधरो ने इसको पूर्वान्तरगत प्राभृत श्रुत विशेष से जाना है। महर्षियो के सिद्धान्त से यह सत्य दिया गया है, या महर्षियों ने सत्यभाषण की प्रतिज्ञा की है। अथवा पाठान्तर के अनुसार महर्षियो ने सत्य भाषण की प्रतिज्ञा की या सत्य भाषण किया। देवेन्द्र और नरेन्द्रों ने सत्य भाषण का धर्मादि रूप प्रयोजन मनुष्यों को बताया। उनके द्वारा सत्य भाषण का प्रयोजन प्रतिभासित हुआ। सत्य ने ही उनको जिनवचन रूप से जीवादि पदार्थो का बोध कराया। वैमानिक

देवो ने इस सत्य को स्वीकार किया। उन्होने सत्य का सेवन एवं समर्थन किया। यह सत्य महान् प्रयोजनो को सिद्ध करता है। सत्य के अभाव में मंत्र, औषधि एवं विद्याएँ सिद्ध नहीं होतीं।"

प्रस्तुत पाठ मे सत्य महाव्रत के महत्व को वताया है, इसमे आगम के पढने, न पढ़ने की कही चर्चा ही नही है। इसलिए इस पाठ का नाम लेकर श्रावक को आगम पढने का निषेध करना गलत है। यहाँ सत्य की प्रगसा करते हुए "महरिसीणय समय पइन्नं देविन्दनरिन्दभासियत्थं" जो पाठ दिया है, इसका टीकाकार ने यह अर्थ किया है—

"महर्षीणा च समयेन सिद्धान्तेन प्रदत्तं, देवेन्द्र-नरेन्द्राणां भासितोऽर्थ. प्रयोजनं यस्य तत्तथा।"

प्रस्तुत पाठ एव उसकी टीका मे सत्य महाव्रत की प्रगसा की है। परन्तु इसमे आगम पढने के सम्बन्ध मे कुछ नही कहा है। तथापि भ्रमविध्वसनकार यह बताते है—"उत्तम ऋषि-महर्षियो को ही शास्त्र पढने का अधिकार है, देवेन्द्र एव नरेन्द्रो को सूत्र का अर्थ जानने का ही अधिकार है।" परन्तु टीकाकार ने 'महर्षीणां समयेन प्रदत्तं' ऐसा तृतीया तत्पुरुप समास दिखाकर यह स्पप्ट कर दिया कि सत्य वचन महर्षियो के सिद्धान्त से प्रदत्त है। अत. इसका "महर्पियो को ही सिद्धान्त दिया गया" अर्थ करना सर्वथा गलत एव व्युत्पत्ति से विरुद्ध है। इसी तरह दूसरे विशेपण का यह अभिप्राय वताना भी उपयुक्त नही है कि देवेन्द्र और नरेन्द्र को सिर्फ अर्थ जानने का ही अधिकार है। क्योकि टीकाकार ने स्पप्ट कर दिया है कि यहाँ अर्थ शब्द का प्रयोजन अर्थ है, शब्द का या सूत्र का अर्थ नही। अत. उक्त दोनो विशेपणो का व्युत्पत्ति विरुद्ध अर्थ करके श्रावक को आगम पढने का निपेध करना नितान्त असत्य है।

आगम वाचना का क्रम

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३६२ पर व्यवहार सूत्र का प्रमाण देकर लिखते है—

"दश वर्प दीक्षा लिया साधु नें कल्पे भगवती सूत्र भणिवो। ए साधु नें पिण मर्यादा सूत्र भणवारी कही। जे तीन वर्प दीक्षा लिया पछे निगीथ सूत्र भणवो कल्पे। अने तीन वर्प दीक्षा लिया पहिला तो साधु नें पिण निगीथ सूत्र भणवो न कल्पे। अने तीन वर्प पहिला साधु निशीथ सूत्र भणे तेहनी जिन आज्ञा नही। ते गृहस्थ सूत्र भणे तेहनी आज्ञा किम देवे?"

व्यवहार सूत्र में दीक्षा लेने के तीन वर्प वाद निगीथ और दस वर्प वाद भगवती सूत्र पढने का विघान है। परन्तु यह सवके लिए नही। क्योकि इसी आगम मे विगिप्ट योग्यतावाले मुनि को तीन वर्प की दीक्षा के वाद ही आगम मे जघन्य आचाराग, निगीथ सूत्र और उत्कृप्ट द्वादशाग का अध्ययन करने वाला वहुश्रुत कहा है।

"तिवासपज्जाए समणे-निग्गंथे आयारकुसले, संजमकुसले, पवयणकुसले, पण्णत्तिकुसले, संग्गहकुसले, उवग्गहकुसले, अक्खयायारे, असबलायारे, अभिन्नायारे, असंकिलिट्ठायारचरित्ते, वहुस्सुए, वव्हागमे जहण्णेणं आयारकप्पधरे कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।"

—व्यवहार सूत्र ३

"तीन वर्ष की दीक्षा पर्यायवाला श्रमण-निर्ग्रन्थ, जो आचार-कुशल, संयम, प्रवचन, प्रज्ञप्ति, संग्रह एवं उपग्रह कुशल, अक्षताचार—अखण्डित आचार वाला, असवलाचार, अभिन्नाचार, असक्लिष्टाचार, वहुश्रुत और वहु्वागम है, जघन्य आचारांग, निशीथ और उत्कृप्ट द्वादशांगघर है, उसे उपाघ्याय पद देना कल्पता है।"

वहुश्रुत की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

"तथा वहुश्रुतं सूत्रं यस्यासौ वहुश्रुत. तथा वहुरागमोऽर्थरूपोयस्य स वहु्वागम। जघन्येनाचारकल्पधरो-निशीथाध्ययनसूत्रार्थधर इत्यर्थ। जघन्यत आचारकल्पग्रहणात् उत्कृप्टतो द्वादशांग विदिति।"

"जिसने बहुत आगमों का अध्ययन किया है, वह बहुश्रुत है और जो बहुत अर्थ रूप आगम का ज्ञाता है, वह बह्वागम कहलाता है। तात्पर्य यह है कि तीन वर्ष की दीक्षा पर्यायवाला, जो साधु जघन्य आचारांग, निशीथ सूत्र का अर्थ जानता हो और उत्कृष्ट द्वादशांगी का ज्ञाता हो, वह उपाध्याय बनाया जा सकता है।"

प्रस्तुत पाठ एव टीका मे तीन वर्ष की दीक्षा वाले साधु को उत्कृष्ट द्वादशाग का ज्ञाता कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि व्यवहार सूत्र मे तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय के बाद निशीथ और दस वर्ष के बाद भगवती सूत्र पढने का विधान किया है, वह एकान्त नियम नही है। विशेप योग्यता वाला साधु तीन वर्प मे द्वादशाग का भी अध्ययन कर सकता है। अत व्यवहार सूत्र का नाम लेकर श्रावक को आगम पढने का निषेध करना नितान्त असत्य है।

श्रावक वाचना ले सकता है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३६४ पर निशीथ सूत्र, उ० १९ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"जे आचार्य, उपाध्याय नी अणदीधी वाचणी आचरे, तथा आचरता ने अनुमोदे, तो चोमासी दण्ड आवे। तो गृहस्थ आपरे मते सूत्र भणे, ते तो आचार्य नी अणदीधी वाचणी छै। तेहनी अनुमोदना किया दड आवे, तो जे अणदीधा वाचणी गृहस्थ आचरे तेहने धर्म किम कहिए?"

गुरु से अध्ययन किए बिना अपने मन से आगम का वाचन करने पर 'सुष्ठवदिन्न' ज्ञान का अतिचार लगता है। अत उसकी निवृत्ति के लिए निरतिचार शास्त्र अध्ययन करने वाले श्रावक को गुरु से अध्ययन करने के बाद स्वाध्याय करना चाहिए। क्योकि "सुष्ठवदिन्न" नामक अतिचार साधु की तरह श्रावक का भी कहा है। अत इससे यह सिद्ध होता है कि श्रावको को गुरु से आगम पढने का अधिकार है। यदि श्रावक को आगम पढने का अधिकार ही नही होता, तो उसे 'सुष्ठवदिन्न' अतिचार कैसे लगता? अत निशीथ सूत्र मे गुरु से वाचना लिए बिना आगम अध्ययन करने से प्रायश्चित्त बताया है। अत जो श्रावक गुरु से वाचना लेकर आगम का स्वाध्याय करता है, उसके स्वाध्याय का अनुमोदन करने से प्रायश्चित्त नही आता। अत निशीथ सूत्र का नाम लेकर श्रावक को आगम पढने का अनधिकारी बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

श्रावक सूत्र पढ़ सकता है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३६५ पर स्थानाग सूत्र स्थान ३, उ० ४ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"इहाँ कह्यो—ए तीन वाचणी देवा योग्य नही—१ अविनीत, २. विगेना लोलपी, ३ क्रोधी खमावी बली-बली उदेरे। ए तीन साधु ने पिण वाचणी देनी नही, तो गृहस्थ तो क्रोधी, मानी पिण हुवे, अविनीत पिण हुवे। विगे नो गृद्ध, स्त्री आदिक नो गृद्ध पिण हुवे। ते भाटे श्रावक ने वाचणी देणी नही।"

स्थानाग स्थान तीन का नाम लेकर सभी श्रावको को अविनीत, लोलुप और क्रोधी आदि बताकर उन्हे आगम पढने का अनधिकारी बताना गलत है। जैसे साधुओ मे कोई साधु अवि-

नीत, लोभी और क्रोधी होता है, उसी तरह श्रावको में भी कोई श्रावक अविनीत, लोलुपी एव क्रोधी हो सकता है। अत स्थानाग सूत्र मे ऐसे साधु एव श्रावक को आगम पढने का निषेध किया है। परन्तु जो श्रावक अविनीत, लोलुपी एव क्रोधी नही है, उसको आगम पढने का निषेध नही है।

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३६६ पर उववाई और सूत्रकृताग सूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ इहाँ कह्यो–अर्थ लाधा छै, अर्थ ग्रह्या छै, अर्थ पूछ्या छै, अर्थ जाण्या छै, इहाँ श्रावको ने अर्था रा जाण कह्या। पिण इम न कह्यो 'लद्ध सुत्ता' जे लाधा भण्या छै सूत्र इम न कह्यो। ते माटे सिद्धान्त भणवा नी आज्ञा साधु ने इज छै, पिण श्रावक ने नही।"

जैसे उववाई एव सूत्रकृताग सूत्र मे श्रावक को अर्थ का ज्ञाता कहा है, उसी तरह समवायाग एव नन्दी सूत्र मे उसे सूत्र का भी ज्ञाता कहा है—

"सुय परिग्गहिया तवोवहाणाइं।"

"श्रावक सूत्र का अध्ययन और उपधान नामक तप करने वाले होते हैं।"

प्रस्तुत पाठ मे श्रावक को आगम का अध्ययन करने वाला कहा है। अस्तु उववाई एव सूत्रकृतांग सूत्र मे श्रावक को जो अर्थ का ज्ञाता कहा है, उसका यह अभिप्राय नही है कि वह अर्थ जानने का ही अधिकारी है, सूत्र पढने का नही। क्योकि समवायाग सूत्र मे श्रावक सूत्र पढने का और सूत्रकृताग सूत्र से अर्थ जानने का अधिकारी सिद्ध होता है।

इसी तरह सूत्रकृताग अ० ११, गाथा २४ का प्रमाण देकर भ्रमविध्वसनकार ने जो यह लिखा है–"आत्मगुप्त साधु इज धर्मनो प्ररूपणहार छै" वह भी सर्वथा गलत है। क्योकि उक्त गाथा में श्रावक के धर्मोपदेशक होने का निषेध नही किया है। उववाई सूत्र मे श्रावक को 'धम्मक्खाई'—'धर्मोपदेष्टा' कहा है। और भ्रमविध्वसनकार ने भ्रमविध्वसन पृष्ठ २३४ पर श्रावक को धर्मोपदेशक स्वीकार किया है—"श्रुत–चारित्र रूप धर्म सभलावे ते–धर्मख्याता कह्या जे" तथापि सूत्रकृताग सूत्र की गाथा का नाम लेकर श्रावक के धर्मोपदेशक होने का निषेध करना आगम एव स्व-कथन से विरुद्ध है।

श्रावक अधिकारी है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३६८ पर सूर्यप्रज्ञप्ति पाहुड २० गाथा तीन–चार की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ इहा कह्यो–ए सूत्र अभाजन नें सिखावे ते कुल, गण, सघ बाहिरे ज्ञानादिक रहित कह्यो। अरिहन्त, गणधर, स्थविर नी मर्यादा नो लोपनहार कह्यो। जो साधु अभाजन नें पिण न सिखावणो तो गृहस्थ तो प्रत्यक्ष पच आश्रव नो सेवणहार अभाजन इज छै। तेहनें सिखाया धर्म किम हुवे ?"

सूर्यप्रज्ञप्ति मे अभाजन को आगम पढाने का निषेध किया है। वहाँ यह नही बताया है कि श्रावक अभाजन होता है, इसलिए उसे आगम नही पढना चाहिए। अत सूर्यप्रज्ञप्ति की गाथा का नाम लेकर श्रावक को आगम पढने का अनधिकारी बताना भारी भूल है। वस्तुत श्रावक अभाजन नही है। क्योकि वह चतुर्विध तीर्थ मे सम्मिलित है। आगम मे श्रावक को गुण रूपी रत्न का पात्र कहा है। इसलिए श्रावक अभाजन नही, भाजन है। जैसे कई साधु आगम मे आगम पढने के अभाजन–अयोग्य कहे गए है, वैसे कतिपय श्रावक भी अयोग्य हो सकते है। ऐसे अयोग्य साधु एव श्रावक को आगम पढाने का निषेध किया है। परन्तु यहाँ सभी श्रावको को अयोग्य बताकर आगम पढने का निषेध नही किया है।

स्थानाग सूत्र के स्थान दो मे धर्म के दो भेद–श्रुत और चारित्र धर्म बताकर श्रावक को श्रुत धर्म एव देश चारित्र वाला बताया है, तथा साधु को श्रुतवान एव सम्पूर्ण चारित्र वाला। इससे स्पष्ट होता है कि श्रावक भी आगम पढने का अधिकारी है। क्योकि आगम पढे बिना वह श्रुत सम्पन्न कैसे होगा। स्थानाग सूत्र स्थान चार मे लिखा है—

"सुय सम्पन्ने नाममेगे, नो चरित्त सम्पन्ने।"

——स्थानाग सूत्र ४, ३,३२०

कोई पुरुष श्रुत सम्पन्न होता है, चारित्र सम्पन्न नहीं होता। चारित्र सम्पन्न होता है, श्रुत सम्पन्न नही होता। कोई श्रुत और चारित्र उभय सम्पन्न होता है। कोई श्रुत और चारित्र उभय सम्पन्न नहीं होता।"

यहाँ चारित्र रहित पुरुप को श्रुत सम्पन्न कहा है। यदि साधु से भिन्न व्यक्ति को आगम पढने का अधिकार नहीं है, तो चारित्र रहित पुरुप श्रुत सम्पन्न कैसे हो सकता है?

प्रस्तुत पाठ में शील रहित को श्रुत सम्पन्न कहा है। यदि साधु के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति आगम पढ़ने का अधिकारी नहीं है, तब शील रहित पुरुप श्रुत सम्पन्न कैसे होगा? अत श्रावक को आगम पढ़ने का अनधिकारी बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

पार्श्वस्थ को वाचना न दे

निशीथ सूत्र उ० १९ मे लिखा है—

"जे भिक्खू पासत्थं वायइ-वायं तं वा साइज्जइ।
जे भिक्खू पासत्थं पडिच्छइ-पडिच्छं तं वा साइज्जइ।"

"जो साधु पासत्थाको पढ़ाता है या पढ़ाते हुए को अच्छा समझता है और जो पासत्थ से पढ़ता है, या पढ़ते हुए को अच्छा समझता है, उसे प्रायश्चित आता है।"

इसी तरह उसन्न, कुशील आदि के लिए भी पाठ आया है। इन पाठों के अनुसार जब परिग्रह रहित स्त्री आदि के त्यागी पासत्थ आदि को भी आगम पढने का निषेध है तब फिर श्रावक तो परिग्रही है, स्त्री को रखता है, वह आगम पढने का अधिकारी कैसे हो सकता है?

पार्श्वस्थ, उसन्न, कुशील आदि केवल साधु ही नहीं, श्रावक भी होते हैं। अत निशीथ सूत्र के उक्त पाठो मे जो श्रावक पार्श्वस्थ आदि हैं, उन्हे आगम पढने का निषेध किया है, सभी श्रावको को नहीं। भगवती सूत्र मे श्रावक को भी पार्श्वस्थ, कुशील आदि कहा है—

"तए णं ते तायत्तिसं सहाया गाहावइ समणोवासगा पुव्विं उग्गा-उग्गविहारी, संविग्गा-संविग्गविहारी भवित्ता तओपच्छा पासत्था-पासत्थविहारी, ओसन्ना-ओसन्नविहारी, कुसीला-कुसीलविहारी, अहाच्छंदा-अहाच्छन्दविहारी वहूइं वासाइं समणोवासग परियायं पाउणंति।"

—भगवती सूत्र १०,४,४०४

"इसके अनन्तर परस्पर सहयोगी वे त्रायतीस कुटुम्ब नामक श्रावक पहले उग्र-उग्र-विहारी, संविग्न-संविग्न विहारी होकर पीछे पार्श्वस्थ-पार्श्वस्थ विहारी, उसन्न-उसन्न विहारी, कुशील-कुशील विहारी, यथाच्छन्द-यथाच्छन्द विहारी होकर रहने लगे और बहुत वर्षो तक श्रमणोपासक पर्याय का पालन करते रहे।"

प्रस्तुत पाठ मे श्रावक को भी पार्श्वस्थ उसन्न कुशील आदि कहा है। इसलिए जो श्रावक पार्श्वस्थ आदि है, उन्हें आगम पढने का निशीथ सूत्र मे निषेध किया है। अत निशीथ का नाम लेकर श्रावक मात्र को आगम पढ़ने का निषेध बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

पार्श्वस्थ का स्वरूप

पार्श्वस्थ किसे कहते हैं?

आगम मे ज्ञानादि आचार के आठ भेद बताए है। उनमे दोष लगाने वाले को पार्श्वस्थ कहा है।

"काले, विणए, बहुमाणे, तहय अनिह्णवणे।
वंजन अत्थ तदुभये, अट्ठविहो नाणमायारो॥"

—आचाराग सूत्र टीका

"१. यथाकाल कालिक आगमों का स्वाध्याय करना, २ विनय पूर्वक अध्ययन करना, ३. बहुमान के साथ अध्ययन करना, ४ उपधान तप करते हुए अध्ययन करना, ५. आगम की वांचना देने वाले के नाम को नहीं छुपाना, ६ सूत्र, ७ अर्थ और ८. उन दोनों का अध्ययन करना।"

उक्त ज्ञानाचारो मे दोष लगाने वाले को पार्श्वस्थ कहते है। भगवती सूत्र मे श्रावको को भी पार्श्वस्थ कहा है। यदि श्रावक को आगम पढने का अधिकार ही नही है, तब वह ज्ञानाचार मे दोष लगाकर पार्श्वस्थ कैसे होगा ? अत इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक भी आगम पढने का अधिकारी है।

उत्तराध्ययन सूत्र मे लिखा है–"जो व्यक्ति आगम का स्वाध्याय करते हुए आचाराग आदि अग और अगबाह्य–उत्तराध्ययन आदि के द्वारा सम्यक्त्व का लाभ प्राप्त करता है उसे 'सूत्र रुचि' कहते है"—

"जे सुत्त महिज्जंतो, सुएण ओगाहइउ संमत्तं।
अंगेण बाहिरेण य सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो॥"

—उत्तराध्ययन सूत्र २८, २१

प्रस्तुत गाथा मे बताया है–जो पुरुष साधु नही है, परन्तु आगमो को पढ़कर सम्यक्त्व का लाभ प्राप्त करता, वह 'सूत्ररुचि' है। इससे स्पष्टत. सिद्ध होता है कि साधु से भिन्न व्यक्ति को भी आगम पढने का अधिकार है। अत साधु के अतिरिक्त सबको आगम पढने का अनधिकारी बताना नितान्त असत्य है।

अल्प-पाप और बहु-निर्जरा

अल्प-पाप और बहु-निर्जरा

अल्प का अर्थ : अभाव नहीं

अल्प-आयुष्य का अर्थ

आधाकर्मी : एकान्त अभक्ष्य नहीं है

अल्प-पाप और बहु-निर्जरा

भगवती सूत्र श० ८, उ० ६ मे साधु को अप्रासुक एवं अनेषणिय आहार देने से अल्पतर पाप और वहुतर निर्जरा होना लिखा है, उसकी व्याख्या करते हुए भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४४९ पर लिखते है—"तेहने अल्प पाप, ते पाप तो नहिंज छै। अने हर्ष थी दीधा वहुत घणी निर्जरा हुवे।"

भगवती सूत्र का उक्त पाठ एव उसकी टीका लिखकर इसका समाधान कर रहे है—

"समणोवासए णं भन्ते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं, अणेसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ?

गोयमा ! बहुतरिया से निज्जरा कज्जइ, अप्पतराए से पाव कम्मे कज्जइ।"

—भगवती सूत्र ८, ६, २३२

"हे भगवन् ! तथाविध के श्रमण-माहण को अप्रासुक, अनेषणीय आहार देने वाले श्रमणोपासक को क्या फल होता है ?

हे गौतम ! बहुत निर्जरा और अल्पतर पाप होता है।"

'वहुतरिया त्ति पापकर्मापेक्षया 'अप्पतराए' त्ति अल्पतरं निर्जरापेक्षया। अयमर्थो गुणवते पात्रायाप्रासुकादि द्रव्यदाने चारित्रकायोपप्टभो, जीवघातो व्यवहारतस्तच्चारित्रवाधा च भवति। ततश्च चारित्रकायोपप्टंभान्निर्जरा जीवघातादेश्च पापं कर्म तत्र च स्वहेतुसामर्थ्यात् पापापेक्षया वहुतरा निर्जरा, निर्जरापेक्षया चाल्पतरं पापं भवति। इह च विवेचका: मन्यन्ते असंस्तरणादि कारणतए वा प्रासुकादि दाने वहुतरा निर्जरा भवनि। नाकारणे, यदुक्तं—

"संथरणम्मि असुद्धं दोण्ह, विगेण्हंत दितयाण हियं।
आउर दिट्ठं तेण, तं चेव हियं असंथरणेत्ति॥"

अन्येत्वाहुरकारणेऽपि गुणवत्पात्राया प्रासुकादि दाने परिणामवशात् बहुतरा निर्जरा भवति, अल्पतर च पाप कर्मेति निर्विशेषणत्वात्सूत्रस्य परिणामस्य च प्रमाणत्वात् । आह च—

"परम रहस्समिसीणं समत्तगणि पिडग किरियं साराण ।
परिणामिय पमाण निच्छयमवलंबमाणाण ॥"

यच्चोच्यते 'सथरणमि असुद्ध' इत्यादिनाऽशुद्धं द्वयोरपि दातृग्रहीत्रोरहित्तायेति तद् ग्राहकस्य व्यवहारत संयमविराधनाद्दायकस्य च लुब्धक दृष्टान्त भावित्वेन वा ददत शुभाल्पायुष्कता निमित्तत्वात् । शुभमपि चायुरल्पमहितं विवक्षया, शुभाल्पायुष्कता निमित्तं चोप्रासुकादिं दानस्य अल्पायुष्कताफल प्रतिपादक सूत्रे प्राक् चर्चितम् । यत्पुनरिहतत्त्व तत्केवलिगम्यम् ।"

"पाप कर्म की अपेक्षा बहुत अधिक निर्जरा होती है और निर्जरा की अपेक्षा पाप कर्म बहुत थोड़ा होता है । इसका अभिप्राय यह है कि गुणवान पात्र को अप्रासुक अन्नादि का दान देने से उनके चारित्र एवं शरीर को सहायता मिलती है । और व्यवहार से चारित्र में विघ्न एवं जीवों की विराधना होती है । अतः चारित्र एव शरीर की सहायता होने से निर्जरा होती है और जीव विराधना आदि होने से पाप होता है । चारित्र एवं शरीर की सहायता बहुत अधिक होती है और जीव विराधना बहुत थोड़ी, इसलिए अपने कारण के अनुरूप बहुत निर्जरा और निर्जरा की अपेक्षा से अल्पतर पाप होता है। इस विषय में विवेचक विचारकों का कहना है—'निर्वाह नहीं होने आदि कारणों से अप्रासुक वस्तु का दान करना बहुत निर्जरा का हेतु होता है, अन्यथा नहीं।' जैसे एक आचार्य का मत-है—'निर्वाह होने पर अशुद्ध आहार देना और लेना दाता एव साधु दोनो के लिए अहितकर है । परन्तु रोगी की अपेक्षा से निर्वाह न होने पर-प्रासुक वस्तु न मिलने पर वह दान दोनो के लिए हितकर होता है ।' इस विषय में अन्य विचारको का कहना है—'कारण नहीं होने पर भी गुणवान पात्र को अप्रासुकादि आहार देने से बहुत निर्जरा और अल्पतर पाप होता है । ' क्योंकि मूल सूत्र में कारण विशेष का उल्लेख नहीं किया है तथा गुणवान पात्र को श्रद्धापूर्वक अप्रासुक आहार देनेवाले श्रमणोपासक का परिणाम शुद्ध है । इस परिणाम की शुद्धि के कारण बहुत निर्जरा और अन्न अशुद्ध होने के कारण अल्पतर पाप होता है ।' जैसे आचार्यों ने कहा—'परम रहस्य के ज्ञाता, सम्पूर्ण द्वादशांग के सार के ज्ञाता, निश्चय नय का अवलम्बन करने वाले ऋषियों ने पुण्य-पाप आदि के विषय में परिणाम को ही प्रमाण माना है । अतः बिना कारण भी गुणवान पात्र को अप्रासुक-अनेषणीय आहार देने से बहुत निर्जरा एवं अल्पतर पाप होता है । ऐसा समझना चाहिए ।' 'संथरणम्मि असुद्धं' गाथा में अप्रासुक दान देने एवं लेने वाले दोनों के लिए जो अहित कहा है, वह इसलिए कहा है कि अशुद्ध आहार लेने से व्यावहारिक रूप से सयम की विराधना होती है । और लुब्धक के दृष्टान्तवत् दाता की शुभ अल्प आयु बन्धती है । यद्यपि वह आयु शुभ है, तथापि थोड़ी होने से उसके लिए अहितकर कही है । उक्त सूत्र में यह पहले ही बता दिया है कि अप्रासुक आदि का दान शुभ आयु बन्ध का कारण होता है । इस विषय में जो तत्त्व—यथार्थ बात है, वह केवली गम्य है ।"

प्रस्तुत टीका मे अल्पतर पाप शब्द का अर्थ—निर्जरा की अपेक्षा थोडा पाप और बहुतर निर्जरा का अर्थ—पाप की अपेक्षा बहुत अधिक निर्जरा होना किया है। परन्तु अल्पतर पाप का अर्थ—पाप का अभाव या बिल्कुल पाप नही होना, नही कहा है। अत अल्पतर पाप का अर्थ-पाप का अभाव बताना गलत है।

प्रस्तुत टीका मे विवेचक एव अन्य विचारको के विचार से उक्त पाठ के दो अभिप्राय बताए है—प्रथम मत के अनुसार—सकारण अप्रासुक आहार के दान का फल अल्पतर पाप एव बहुतर निर्जरा होती है और दूसरे विचारको के अनुसार—अकारण भी अप्रासुक आहारादि का दान देने से अल्प पाप एव बहुत निर्जरा का फल होता है। परन्तु उभय विचारको का अल्पतर पाप शब्द के अर्थ मे कोई मतभेद नही है। दोनो ने इसका अर्थ—निर्जरा की अपेक्षा से अल्प पाप होना स्वीकार किया है। अत अल्पतर पाप शब्द का पाप का अभाव अर्थ करना नितान्त असत्य है।

अल्प पाप का अर्थ

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४४८ पर 'यत्पुनरिहतत्त्व तत्केवलिगम्यम्' का प्रमाण देकर लिखते है—

"अथ इहाँ पिण टीका मे ए पाठ नो न्याय केवली ने भलायो, ते माटे अशुद्ध लेवारी थाप करणी नही।"

'अल्पतर पाप एव बहुतर निर्जरा' शब्द के अर्थ के विषय मे टीकाकार ने केवली पर न्याय करना नही छोड़ा है। टीकाकार ने उक्त शब्दो का स्पष्ट अर्थ किया है—"निर्जरा की अपेक्षा अल्प पाप होना 'अल्पतर पाप' और पाप की अपेक्षा बहुत अधिक निर्जरा होना 'बहुतर निर्जरा' है। अत अल्पतर पाप का अर्थ—पाप का अभाव नही, बल्कि निर्जरा की अपेक्षा थोड़ा पाप होना है। परन्तु उक्त टीका मे टीकाकार ने जो दो तरह के विचारकोके परस्पर भिन्न विचारो को उद्धृत किया है—१. सकारण अप्रासुक आहार का दान देने से अल्प पाप और बहुत निर्जरा होती है और २. विना कारण अप्रासुक आहार का दान देने पर भी अल्प पाप और बहुत निर्जरा होती है। इन दोनो मे से कौन-सा मत उपयुक्त है? इसका निर्णय टीकाकार ने स्वय न करके यह लिख दिया—"यत्पुनरिहतत्त्वं तत्केवलीगम्यम्"—"उक्त दोनो मे से कौन-सा मत श्रेष्ठ है, यह बात केवली जाने।"

परन्तु टीकाकार को अल्पतर पाप शब्द के अर्थ के विषय मे किसी तरह का सशय नही है। अतः इस टीका का प्रमाण देकर अल्पतर पाप शब्द का अर्थ—पाप का अभाव करना, टीका के अर्थ को नही समझने का परिणाम है।

अल्प का अर्थ : अभाव नहीं

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४४९ पर उक्त पाठ का यह अभिप्राय बताते हुए लिखते है—"जो आहार असूझता होगया है, परन्तु श्रावक और साधु को इसका ज्ञान नही हैं। साधु सूझता समझकर ले रहा है और श्रावक उसे सूझता समझकर दे रहा है, इस पाठ मे उस दान का फल अल्पतर पाप एव बहुतर निर्जरा होना बताया है। क्योकि श्रावक उस आहार को सूझता समझकर देता है, इसलिए इसमे उसका कोई दोष नही है। इसलिए श्रावक को उस दान से अल्प पाप—थोडा भी पाप नही होता और बहुत निर्जरा होती है।"

श्रावक जिस आहार को असूझता—अकल्पनीय नही, कल्पनीय जानकर साधु को देता है, वह आहार अप्रासुक नही, प्रासुक ही है। अत इस दान का फल उक्त पाठ के पूर्व के पाठ मे एकान्त निर्जरा और थोडा भी पाप नही होना बताया है। उस बात को उक्त पाठ मे पुन' दोहराना अनावश्यक है। अत उक्त पाठ मे अप्रासुक आहार देने का फल बताया है। टीकाकार ने भी स्पष्ट लिखा है कि साधु के चारित्र और शरीर की सहायता होती है, इसलिए अप्रासुक आहार देने से श्रावक को बहुत निर्जरा होती है और व्यवहार से चारित्र मे विघ्न एव हिंसा होती है, इसलिए अप्रासुक आहार देने से थोडा-सा पाप भी होता है। यदि श्रावक प्रासुक समझकर ही साधु को दे, तो टीकाकार ऐसा क्यो लिखते ? सकारण अप्रासुक आहार देने का फल अल्पतर पाप एव बहुतर निर्जरा तथा अन्य विचारको के अनुसार बिना कारण देने पर भी उक्त फल है, ऐसा लिखने का क्या प्रयोजन था ? अत यह नि.सन्देह कहा जा सकता है कि उक्त पाठ एव उसकी टीका मे साधु को अप्रासुक आहार देने का ही फल बताया है, प्रासुक आहार देने का नही।

भ्रमविध्वसनकार ने अल्पतर पाप शब्द का गलत अर्थ किया है। टीकाकार ने इसका अर्थ—निर्जरा की अपेक्षा अल्प—थोडा पाप किया है, परन्तु पाप का अभाव नही। आगमो मे अन्य स्थानो पर भी अल्प और बहुत शब्दो का प्रयोग हुआ है, वहाँ अल्प का अर्थ निषेध या अभाव न होकर थोडा होता है।

बहुपएसगओ, अप्पपएसगओ पकरेइ।

—उत्तराध्ययन सूत्र

अप्पपएसगाओ, बहुपएसगाओ ।

—भगवती सूत्र १, ९

अप्पं वा बहुं वा ।

—दशवैकालिक सूत्र

चउव्विहे अप्पा-बहुए पण्णत्ते ।

—स्थानाग सूत्र स्थान ४

कयरे कयरेहि तो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा ।

—भगवती सूत्र १९, ३, २५, ३

अप्पा वा बहुया वा ।

—पन्नवणा सूत्र ३, ८७

अप्पतरो वा भुज्जतरो वा ।

—उववाई सूत्र

इस तरह आगमो मे अनेक स्थानो पर 'बहु' शब्द के साथ 'अल्प' शब्द का प्रयोग हुआ है और सर्वत्र उसका अर्थ-'थोडा' ही होता है, अभाव या निषेध नही । परन्तु जहाँ अल्प शब्द बहु के साथ नही, स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त हुआ है, वहाँ कही-कही उसका अभाव अर्थ भी होता है, सर्वत्र नही । किन्तु बहु शब्द के साथ प्रयुक्त अल्प शब्द का कही भी अभाव अर्थ नही होता हैं । भगवती सूत्र श० ८, उ० ६ मे बहु शब्द के साथ अल्प शब्द प्रयुक्त हुआ है और उस पर भी उसके उत्तर मे तरप् प्रत्यय लगा है । अत. उक्त पाठ मे प्रयुक्त अल्प शब्द का पाप का अभाव अर्थ करना नितान्त असत्य है ।

भ्रमविध्वसनकार ने अल्प-पाप—बहु-निर्जरा प्रकरण के प्रथम बोल मे अप्रासुक-अनेषणीय का अर्थ सचित्त जीव-वाले पदार्थ किया है । यह अर्थ करके लोगो को यह बताने का प्रयत्न किया है कि श्रावक साधु को सचित्त वस्तु अर्थात् कच्चा पानी आदि कैसे दे सकता है ?

भगवती सूत्र श० ८, उ० ६ के मूल पाठ मे "अफासुयं अणेसणिज्जं" शब्द प्रयुक्त हुआ है । यहाँ अकल्पनीय पदार्थ को अप्रासुक एवं अनेषणीय कहा है, परन्तु सचित्त पदार्थ को नही । अत. यहाँ अप्रासुक-अनेषणीय का सचित्त अर्थ करना गलत है । क्योकि भ्रमविध्वसनकार अन्य जगह अप्रासुक का अकल्पनीय अर्थ करते है । भ्रमविध्वसनकार ने आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कध के टब्बा अर्थ मे "अफासुअं" का यह अर्थ किया है—"अप्रासुक ए अण कल्पनिक माटे सचित्त तुल्य, जिम उत्तराध्ययन अ० १, गाथा ५ अवनीत ने कह्यो-'दुसीले रम्मइ मिए' भूडा-आचार ने विषे रमे, मिए कहिता मृग सरीखो अजाण ते माटे मृग कह्यो । तिम सचित्त पिण अकल्पनिक छै अने जिहा बीजो आहार-वस्त्रादिक सचित्त तेहने अफासुक कह्यो अकल्पता माटे सचित्त सरीखो । इमहीज 'अणेसणिज्ज' ते अकल्पता माटे असूझता सरीखो जाणवो ।"

भ्रमविध्वसनकार ने प्रस्तुत टब्बा मे 'अफासुअ' का सचित्त तुल्य अकल्पनीय अर्थ किया है । अत उक्त पाठ मे प्रयुक्त अप्रासुक का सचित्त अर्थ करना अपने द्वारा कृत अर्थ मे भी विरुद्ध है । वस्तुत इस पाठ मे अकल्पनीय वस्तु को ही अप्रासुक-अनेषणीय कहा है, सचित्त पदार्थ को नहीं ।

अल्प आयुष्य का अर्थ

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४४४ पर भगवती सूत्र श० ५, उ० ६ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते है—"अथ इहाँ तो साधु ने अप्रासुक-अनेषणीक आहार दीधा अल्पायुप बाधे कह्यो। इहा तो जे असूजतो देवे ते जीव हिंसा अने झूठ रे बरोबर कह्यो छै। अल्प आऊखो तो निगोद रो छै। ते जीव हण्या, झूठ बोल्याँ, साधु नें अशुद्ध अशनादिक दीधां बधतो कह्यो। इमहिज ठाणाग ठाणा ३ अशुद्ध दिया अल्प आयुप बधतो कह्यो। तो अशुद्ध दिया थोड़ो पाप, घणी निर्जरा किम हुवे ?"

भगवती श० ५, उ० ६ के पाठ मे साधु को अप्रासुक-अनेषणीय आहार देने से अल्प आयु का बध होना लिखा है। वहाँ दीर्घ आयु की अपेक्षा से उसे अल्प आयु कहा है, परन्तु क्षुल्लक भव-ग्रहण रूप निगोद की आयु नही। अत भगवती सूत्र के उक्त पाठ का नाम लेकर साधु को अप्रासुक अनेपणीय आहार देने से निगोद का आयु बन्ध बताना गलत है। क्योकि इससे यहाँ शुभ अल्प आयु का बध होना लिखा है और भगवती सूत्र की टीका मे भी यही लिखा है—

"शुभाल्पायुष्कतानिमित्तत्वं चाप्रासुकादिदानस्याल्पायुष्कता फलप्रतिपादक सूत्रे प्राक् चर्चितम् ।"

—भगवती सूत्र ८, ६, ३३१ टीका

"साधु को अप्रासुक-अनेषणीय आहार देने से शुभ अल्प आयु का बन्ध होता है, यह पहले बता दिया है।"

"अथवेहापेक्षिकी अल्पायुष्कता ग्राह्या, यत. किल जिनागमाभि संस्कृत-मतयो मुनय: प्रथमवयस भोगिनं कचन मृत दृष्टवा वक्तारो भवन्ति-नूनमनेन भवान्तरे किंचिदशुभं प्राणिघातादिचासेवित अकल्पय वा मुनिभ्यो दत्त येनाय भोग्यप्यल्पायु संवृत इति।"

—भगवती सूत्र ५, ६, २०४ टीका

"मुनि को अप्रासुक-अनेषणीय आहार देने से जो अल्प आयुष्य प्राप्त होना कहा है, वह दीर्घ आयु की अपेक्षा से अल्प समझना चाहिए। क्योकि जिनागम से संस्कृत—बुद्धिमान मुनि, किसी

भोगी पुरुष को पहली अवस्था—छोटी उम्र में मरा हुआ देखकर कहते हैं कि इसने जन्मान्तर में प्राणिवध आदि दुष्कर्म का आचरण किया था या मुनियो को अकल्पनीय आहार दिया था, जिससे भोगी होकर—सम्पन्न घर में जन्म लेकर भी अल्प आयु का वन्ध किया।"

"कण्हं भन्ते ! जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति ?

गोयमा ! तीहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति, तं जहा—पाणे अइवाइत्ता, मुस वदित्ता, तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं-अणेसणिज्जेणं असणं, पाणं खाइमं, साइमं, पडिलाभित्ता भवइ। एवं खलु जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेति।"

—भगवती सूत्र ५, ६, २०४

"हे भगवन् ! जीव अल्प आयु कैसे बाधता है ?

हे गौतम ! तीन कारणो से जीव को अल्प आयु का वन्ध होता है—१ जीव हिंसा करने से, २ झूठ बोलने से और ३ मुनि को अप्रासुक-अनेषनीय आहार देने से।"

यहाँ जो अल्प आयु का वन्ध होना कहा है, वह क्षुल्लक भव ग्रहण रूप नही, वल्कि दीर्घ आयु की अपेक्षा अल्प है। यहाँ जो प्राणातिपात एव मृषावाद है, वह सव प्रकार से नही लिया है। किन्तु मुनियो को आहार देने के लिए जो आधाकर्मी आहार वनाया जाता है, उसमे जो प्राणातिपात होता है,उस प्राणातिपात को और उस सदोप आहार को देने के लिए जो मिथ्या भाषण किया जाता है, उस मृषावाद को यहाँ ग्रहण किया है। स्थानाग सूत्र की टीका मे इसका स्पष्टीकरण किया है—

"तथाहि-प्राणानतिपात्याद्या कर्मादिकरणतो मृषोक्त्वा यथा—अहो साधो ! स्वार्थसिद्धमिदं भक्तादि कल्पनीय वो न शका कार्येत्यादि।"

—स्थानाग सूत्र १, १२५ टीका

"प्राणियो का नाश करके आधाकर्मी आहार वनाकर झूठ बोलकर साधु को देना। जैसे—हे साधुओ ! हमने यह आहार अपने लिए वनाया है, अतः यह आपके कल्प के योग्य है। इस प्रकार जो झूठ बोलता है और आधाकर्मी आहार वनाने हेतु हिंसा करता है, उसी से शुभ अल्प आयु का बन्ध होता है।"

यदि कोई यह कहे कि उक्त पाठ मे सामान्य रूप से प्राणातिपात एवं मृषावाद का फल अल्प आयु का वन्ध होना लिखा है। आधाकर्मी आहार वनाने मे होनेवाले प्राणातिपात एव उसे साधु को देने के लिए जो झूठ वोला जाता है, उससे अल्प आयु का वन्ध होना नही लिखा है। अत. आप यह किस प्रमाण से कहते हैं ? इसका समाधान यह है कि भगवती सूत्र मे उक्त पाठ के निकटवर्ती पाठ मे लिखा है—"प्राणातिपात एव मृषावाद से अशुभ दीर्घ आयु का वन्ध होता है। परन्तु एक ही कारण से परस्पर विरुद्ध दो कार्य नही हो सकते हैं। अत टीकाकार ने इसे स्पष्ट कर दिया कि आधाकर्मी आहार वनाने मे होने वाली हिंसा एव उसे देने के लिए वोले जाने वाले झूठ से शुभ अल्प आयु का वन्ध होता है।

"यो जीवो जिनसाधुगुणपक्षपातितया तत्पूजनार्थं पृथिव्याद्यारंभेण स्वभाण्डासत्योत्कर्पणादिनाऽधाकर्मादि करणेन च प्राणातिपातादिषु वर्तते तस्य वधादि विरति

निरवद्यदाननिमित्तायुष्का पेक्षयेयमल्पायुष्कतासमवसेया। अथ नैव निर्वि-शेषणत्वात्सूत्रस्य अल्पायुष्कत्वस्य च क्षुल्लकभवग्रहणरूपस्यापि प्राणातिपातादि हेतुलो युज्यमानत्वादतः कथमभिधीयते सविशेषण प्राणातिपातादिवतो जीवस्य आपेक्षिकी चाल्पायुष्कतेति ? उच्यते—अविशेषणत्वेऽपि सूत्रस्य प्राणातिपातादे-र्विशेषणमवश्यं वाच्यम्। यत इतस्तृतीय सूत्रे प्राणातिपातादितएव अशुभ दीर्घायुष्कतां वक्ष्यति नहि सामान्य हेतौ कार्य्य वैषम्यं युज्यते सर्वत्रानाश्वास प्रस-गात् तथा—'समणोवासएणं भन्ते ! तहारूवं समणं-माहण वा अफासुएण असणं ४ पडिलाभ माणस्स किं कज्जइ ? बहुतरिया निज्जरा कज्जइ, अप्पतरे से पावकम्मे कज्जइ।' इति वक्ष्यमाण वचनादवसीयते नैवेय क्षुल्लक भव ग्रहणरूपा अल्पायु-ष्कता नहिस्वल्पपाप बहुनिर्जरा निवन्धनस्यानुष्ठानस्य क्षुल्लकभवग्रहण निमित्तता सभाव्यते।"

—भगवती सूत्र ५, ६, २०४ टीका

"जो व्यक्ति जैन साधु के गुण के पक्षपात से उनकी पूजा-सत्कार करने के लिए पृथ्वीकाय आदि का आरंभ करके, अपने पात्र आदि को अयत्ना पूर्वक रखकर और उठाकर आधाकर्मी आहार बनाता है। जो आधाकर्मी आहार बनाकर प्राणातिपात करता है, उस पुरुष की प्राणातिपात रहित निरवद्य दान से बन्ध होने वाली आयु की अपेक्षा अल्प आयु बंधती है। यदि यह कहें कि इस सूत्र में प्राणातिपात एवं मिथ्या भाषण से अल्प आयु का बन्ध होना कहा है। परन्तु यह नहीं कहा कि अमुक प्राणातिपात एवं अमुक मृषावाद से अल्प आयु का बन्ध होता है। तथा यह भी नहीं कहा कि दीर्घ आयु की अपेक्षा अल्प आयु बंधता है, क्षुल्लक भवग्रहण रूप अल्प आयु नहीं। यद्यपि इस सूत्र में सामान्यतः प्राणातिपात एवं मृषावाद से अल्प आयु का बन्ध कहा है। तथापि आधाकर्मी आहार बनाने के लिए की जानेवाली हिंसा एवं आधा-कर्मी आहार देने के लिए बोले जाने वाले झूठ से अल्प आयु बंधने का विशेषण लगाना होगा। क्योंकि उक्त उद्देशक के तृतीय सूत्र में प्राणातिपात एवं मृषावाद से अशुभ दीर्घ आयु का बन्ध होना कहा है। और एक ही कारण से परस्पर विरुद्ध दो कार्य हो, यह संभव नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर सर्वत्र अव्यवस्था हो जाएगी। भगवती सूत्र श० ८, उ० ६ के पाठ में इसी अकल्पनीय अहार के दान से अल्पतर पाप एवं बहुतर निर्जरा होना कहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उक्त पाठ में कथित अल्प आयु का बन्ध क्षुल्लक भव ग्रहण रूप नहीं है। क्योंकि जिस कार्य से अल्पतर पाप और बहुतर निर्जरा होती है, उस कार्य से क्षुल्लक भव ग्रहण रूप अल्प आयु का बन्ध होना संभव नहीं है।"

प्रस्तुत टोका मे यह स्पष्ट कर दिया है कि आधाकर्मी आहार बनाने मे जो प्राणातिपात होता है और उस आहार के देने के लिए जो मृषावाद बोला जाता है, उस प्राणातिपात एव मृषावाद से अल्प आयु का बन्ध होना कहा है, सब तरह के प्राणातिपात एवं मृषावाद से नही। अत. इस पाठ से सब तरह के प्राणातिपात, मृषावाद ग्रहण करना, अल्प आयु से निगोद की आयु का वन्ध बताना तथा अल्पतर पाप का अर्थ पाप का अभाव करना आगम से विरुद्ध है।

आधाकर्मी : एकान्त अभक्ष्य नहीं

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४४६ पर भगवती श० १८, उ० १० के पाठ का प्रमाण देकर लिखते हैं—"ते अभक्ष्य आहार साधु नें दीधां वहुत निर्जरा किम हुवे ?"

भगवती श० १८, उ० १० के पाठ में उत्सर्ग मार्ग में साधु के लिए अनेपणीय आहार अभक्ष्य कहा है, अपवाद मार्ग में नही। इसलिए सूत्रकृतांग सूत्र में आधाकर्मी आहार खाने वाले साधु को एकान्त पापी कहने का निषेध किया है—

"अहा कम्माणि भुंजंति, अण्ण-मण्णे सकम्मुणा।
उवलित्तेति जाणिज्जा, अणुवलित्तेति वा पुणो॥
ए-एहिं दो हिं ठाणेहिं, ववहारो न विज्जइ।
ए-ए हिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए॥"

—सूत्रकृताग सूत्र २, ५, ८-९

साधुं च प्रधानकारणमाश्रित्य कर्माण्याधाकर्माणि तानि च वस्त्रभोजन-वसत्यादीनि उच्यन्ते। एतान्याधाकर्माणि ये भुंजंते एतैरुपयोगं ये कुर्वन्ति अन्योऽन्यं परस्परं तान् स्वकीयेन कर्मणा उपलिप्तान् विजानीयादित्येवं नो वदेत्, तथा अनुपलिप्तानिति वा नो वदेत्। एतदुक्तं भवति—आधाकर्माऽपि श्रुतोपदेशेन शुद्धमिति कृत्वा भुंजानः कर्मणा नोपलिप्यते, तदाधाकर्मोपभोगेनावश्यं कर्मबन्धो भवतीत्येव नो वदेत्। तथा श्रुतोपदेशमन्तरेणाहारगृद्धयाऽऽधाकर्म-भुंजानस्य तन्निमित्त कर्मबन्ध सद्भावात् अतोऽनुपलिप्तानपि नो वदेत्। यथावस्थित मौनेन्द्रागमज्ञस्य त्वेव युज्यते वक्तुम—आधाकर्मोपभोगेन स्यात्कर्म-बन्धः स्यान्नेत्ति। यदुक्तम्—

किंचिच्छुद्ध कल्प्यमकल्प्य वा स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्।
पिण्ड. शय्या-वस्त्रं-पात्र वा भेपजाद्यं वा॥

तथाऽन्यैरप्याभिहितम्—

> उत्पद्यतेहि साऽवस्था, देशकालमयान् प्रति !
> यस्यामकार्य्यं कार्य्यं स्यात्कर्मं, कार्य्यं च - वर्जयेत् ॥

किमित्येव स्याद्वाद प्रतिपाद्यते इत्याह—आभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यामश्रिताभ्यामनयोर्वा स्थानयोराधाकर्मोपभोगेन कर्मबन्धभावाभावभूतयोर्व्यवहारो न विद्यते। तथाहि यद्यवश्यमाधाकर्मोपभोगेनैकान्तेन कर्मबन्धोऽभ्युपगम्यते एव चाहार भावेनापि क्वचित्सुतरामनर्थोदय स्यात्। तथाहि क्षुत्पीडितो न सम्यग् इर्यापथ शोधयेत् ततश्च व्रजन् प्राण्युपमर्दमपि कुर्य्यात्। मूर्च्छादि सद्भावतया च देहपाते सत्यवश्यम्भावी त्रसादि व्याघातोऽकालमरणे चाविरतिरङ्गीकृता भवत्यार्त्तध्यानापत्तौ च तिर्य्यग्गतिरिति। आगमश्च—'सव्वत्थ संजम संजमाओ अप्पाणमेव रक्खेज्जा' इत्यादिनाऽपि तदुपभोगे कर्मबधाऽभाव इति। तथाहि आधाकर्मण्यापि निष्पाद्यमाने षड्जीवनिकायवध तद्वधे च प्रतीत कर्मबन्ध इत्यनयो स्थानयोरेकान्तेनाश्रीयमाणयोर्व्यवहरण व्यवहारो न युज्यते तथाऽऽभ्यामेव स्थानाभ्या समाश्रिताभ्यां सर्वमनाचार विजानीयादितिस्थितम्।"

"मुख्य रूप से साधु के निमित्त जो कर्म किया जाता है, उसे आधाकर्म कहते हैं, साधु के निमित्त वस्त्र, भोजन, मकान, आदि जो बनाए जाते हैं, वे सब आधाकर्मी कहलाते हैं। जो साधु इनका उपभोग करता है, उसे एकान्त रूप से कर्म से उपलिप्त अथवा एकान्त रूप से कर्म से अनुपलिप्त नहीं कहना चाहिए। इसका कारण यह है कि जो साधु शास्त्रोक्त रीति से आधाकर्म का उपभोग करता है, उसको कर्मबन्ध नहीं होता। जो शास्त्र विधि का उल्लंघन करके आहार के लोभ से आधाकर्म का उपभोग करता है, उसको कर्म बन्ध होता है। इस विषय में जैनागम के तत्व को जानने वाले पुरुषों को यह कहना चाहिए कि आधाकर्म के उपभोग से कथंचित् कर्मबन्ध होता है और कथंचित् नहीं भी होता है।

पूर्वाचार्यों ने कहा है—पिण्ड, शय्या, वस्त्र, पात्र और भोजन आदि शुद्ध और कल्पनीय होकर भी कदाचित् अशुद्ध और अकल्पनीय हो जाते हैं। तथा अशुद्ध और अकल्पनीय होकर भी कदाचित् शुद्ध और कल्पनीय हो जाते हैं।

एक आचार्य का यह भी कथन है—कभी ऐसी अवस्था आ जाती है, जिसमें कार्य तो अकार्य और अकार्य ही कार्य हो जाता है। अतः हरएक दशा में आधाकर्म आहार करना वर्जित नहीं है।

यदि सभी समय में आधाकर्मी आहार करना अनुचित माना जाए तो, महान अनर्थ हो सकता है। क्योकि क्षुधा से पीड़ित साधु यदि मूर्छित होकर गिर पड़े, तो उससे अवश्य ही त्रस आदि प्राणियो की घात हो सकती है। और आर्त्त ध्यान वश उसकी तिर्यंच गति होती है। अतः सब अवस्थाओ में आधाकर्मी आहार करने का निषेध करना अनुचित है।

आगम में कहा है—'साधु को सर्वत्र संयम की रक्षा करनी चाहिए और संयम से भी अपनी आत्मा की रक्षा करनी चाहिए।' इसलिए आगम भी कारणवश आधाकर्मी आहार करने पर कर्म-बंध का अभाव बताता है। यद्यपि आधाकर्मी आहार बनाने में छ काय का आरंभ होता है। आरंभ होने से कर्म-बन्ध होना भी प्रसिद्ध है। अतः आधाकर्मी आहार करने से कर्म-बन्ध नहीं होता एकान्त रूप से यह कहना भी अनुचित है, और कर्म-बन्ध होता है, एकान्ततः ऐसा कहना भी अनुचित है। इसी तरह अन्य सब अनाचारों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।"

प्रस्तुत गाथाओं एवं उनकी टीका में आधाकर्मी आहार करने वाले को एकान्ततः कर्मों से लिप्त या अलिप्त कहने का निषेध किया है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवती सूत्र श० १८, उ० १० में अनेषणीय आहार को जो अभक्ष्य कहा है, वह उत्सर्ग मार्ग में कहा है, अपवाद में नहीं। क्योंकि आगम में सदोष आहार को एकान्ततः अभक्ष्य नहीं कहा है।

"निग्गंथेण वा गाहावइ कुलं पिण्डवाय पडियाए अणुप्पविट्ठेणं अण्णयरे, अचित्ते, अणेसणिज्जे पाणभोयणे पडिगाहित्तए सिया। अत्थिया इत्थ केइ सेहत्तराए अणुवट्ठावित्तए कप्पइ से तस्स दाऊं वा अणुप्पदाऊं वा णत्थि या इत्थ केइ सेहत्तराए अणुवट्ठाविए सिया तं णो अप्पणा भुजेज्जा, णो अण्णेसिं अणुप्पदेज्जा एगंते बहु फासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिठ्ठवेयव्वे सिया।"

—बृहत्कल्प सूत्र ४, १३

"यदि भिक्षार्थ गए हुए साधु को कोई गृहस्थ अचित्त अनेषणिक आहार लाकर दे, तो साधु उसे नव दीक्षित शिष्य—सामायिक चारित्र वाले को खाने के लिए दे दे। यदि नव दीक्षित साधु न हो, तो वह उस अन्न को न स्वयं खाए, न अन्य को दे, किन्तु एकान्त स्थान पर भूमि का प्रति-लेखन करके उसे परठ दे।"

प्रस्तुत पाठ में सदोष आहार नव दीक्षित साधु के खाने योग्य कहा है। अतः उसे एकान्ततः अभक्ष्य कहना गलत है। जब सदोष आहार एकान्ततः अभक्ष्य नहीं है, तब उस आहार को देने से श्रावक को एकान्त पाप कैसे होगा? भ्रमविध्वंसनकार ने भी आधाकर्मी आहार नवदीक्षित शिष्य के खाने योग्य कहा है। बृहत्कल्प सूत्र की पद्य रचना की चौथी ढाल में लिखा है—

"इमहिं बे-कोस उपरंत लेगयो, आधाकर्मादि अचित्त लह्यो।
नव दीक्षित तो तसु दीजे, नहीं तर साहू परिठण कह्यो॥"

अस्तु आधाकर्मी आहार को एकान्त रूप में अभक्ष्य कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

उत्सर्ग और अपवाद

भ्रमविध्वंसनकार कारण पड़ने पर नित्य पिण्ड लेना कल्पनीय बताते हैं, परन्तु कारण होने पर भी आधाकर्मी आहार को त्यागने योग्य बताते हैं, वे प्रश्नोत्तर सार्ध शतक के प्रश्न ५६ में लिखते हैं—

"साधु ने कारण पड़या आधाकर्मी-उद्देशिक न लेणो तो कारणे नित्य पिण्ड भोगववो कि नहीं?

आधाकर्मी-उद्देशिक तो वस्तु अशुद्ध छै, अने नित्यपिण्ड वस्तु अशुद्ध नही, ते भणी कारण पड़यां दोष नही।

कोई कहे ए तो अनाचार छै, ते कारणे किम लेवे ?

तो अनाचार तो स्नान किया पिण कह्यो, सुगध सुग्या, वमन, गले हेठेना केश कापे, रेच, मजन, ए सब अनाचार छै। पिण जित-व्यवहार थी कारणे दोष न कह्यो।"

आगम मे उद्दिष्ट भक्त एव नित्यपिण्ड को एक समान दुर्गति का कारण कहा है—

"उद्देसियं कीयगडं नियागं, न मुंचइ किंचि अणेसणिज्जं।
अग्गीविवा सव्व भक्खी भवित्ता, इतो चुए गच्छइ कट्टु पावं॥"

—उत्तराध्ययन सूत्र २०, ४७

"जो आहार साधु के लिए बनाया है, खरीदा है, वह तथा एक ही घर से नित्यपिण्ड लेना, इन आहारो का त्याग न करके जो साधु अग्निवत् सर्व भक्षी हो जाता है। वह पाप कर्म का उपार्जन करता है और उसकी दुर्गति होती है।"

इस गाथा मे उद्दिष्ट एव नित्यपिण्ड दोनो को दुर्गति का कारण बताया है। अत सकारण अवस्था मे नित्यपिण्ड की स्थापना और उद्दिष्ट का निषेध करना सर्वथा गलत है। वस्तुत. उत्सर्ग मार्ग मे दोनो का निषेध है, अपवाद मे नही। एक ही व्यक्ति के आहार को प्रतिदिन लेना नित्यपिण्ड है। परन्तु कुछ साधु क्षेत्र भेद बताकर एव रास्ते की सेवा का अत्यधिक लाभ बताकर गृहस्थो के साथ विहार करते है और प्रतिदिन प्रत्येक पडाव पर उनसे आहार लेकर विहार करते हैं। उस आहार को कल्पनीय एव शुद्ध बताते हैं। उनकी यह प्ररूपणा आगम से विरुद्ध है। आगम मे उत्सर्ग मार्ग मे आधाकर्मी, उद्देशिक एव नित्यपिण्ड आदि लेने का निषेध किया है, परन्तु अपवाद मार्ग मे इनका सर्वथा निषेध नही किया है।

द्वार-उद्घाटन अधिकार

द्वार खोलना : कल्प है

जिन-कल्प और स्थविर-कल्प

साधु कैसे मकान में ठहरें।

द्वार खोलना : कल्प है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४५६ पर लिखते है—"कोई पाखण्डी, साधु नाम धराय ने पोते हाथ थकी किंवाड जडे-उघाडे अने सूत्र ना झूठा नाम लेई ने किमाड जड़वानी अने उघाडवानी अणहुन्ती थाप करे छै।"

सर्व प्रथम तो भ्रमविध्वसनकार के मतानुयायी साधु-साध्वी ही कपाट खोलने एव वन्द करने मे सकोच नही करते। वे अपने हाथ से द्वार खोलते एव वन्द करते है और इस कार्य को आगम के अनुकूल बताते हैं। परन्तु यदि कोई दूसरा साधु विवेक पूर्वक यह कार्य करे, तो उसे बुरा बताते है। यह इनका सिर्फ द्वेष भाव है। यदि यह कहे कि हम खिडकी के द्वार खोलते एव वन्द करते है, दरवाजे के नही, तो आगमिक भाषा मे इस कथन को मायाचार कहा है। क्योकि आगम मे कही भी ऐसा आदेश नही दिया है कि साधु को खिडकी के द्वार खोलने और वन्द करने कल्पते हैं, परन्तु दरवाजा खोलना एव वन्द करना नही कल्पता। अत खिडकी के द्वार खोलना एव बन्द करना बुरा न बताकर, दरवाजे को खोलने एव बन्द करने का निषेध करना, साम्प्रदायिक द्वेष बुद्धि के सिवाय और कुछ नही है। क्योक स्वय आचार्य श्री भीषण जी ने खिडकी के द्वार खोले थे। भ्रमविध्वसनकार ने भिक्खु यशरसायन पृष्ठ ११८ पर इस बात को स्वीकार किया है—

"पंचावने वर्ष पूज्यजी शहर कांकरोली सार।
सेहलोतारी पोल में उतरिया तिणवार ॥१॥
प्रत्यक्ष बारी पोल री जड़ी हुन्ती तिणवार।
ऋषि भिक्खू रहिता थका एक दिवस अवधार ॥२॥
बारी खोली बारणे दिशा जायवा देख।
निसरिया भिक्खू निशा पूछे हेम सवेख ॥३॥
स्वामी बारी खोलण तणो नहीं कोई अटकाव ?
तब भिक्खू बोल्या तुरत प्रत्यक्ष ते प्रस्ताव ॥४॥
पूज कहे पूछे इसी इणरो नहीं अटकाव।
अटकाव हुवे तो एहने म्हें खोला किण न्याय ॥५॥"

इसके अतिरिक्त भ्रमविध्वसनकार कुमति विहडन ग्रथ मे लिखते है—"सवत् १८५९ सोजत मे वर्जूजी, नाथाजी सात आर्या ने भीषणजी स्वामी साथ आय छत्री आगलकानी उपासरा री आज्ञा लीधी, गृहस्थ और वास थी कूची ल्यायो, आर्या माहे उतरी जितरे स्वामीजी कने ऊभा। आर्या उपासरा मे गया पछे स्वामीजी ठिकाणे आया, ए बात नाथाजी रे मुहडा थी सुनी तिम लिख्यो। सम्वत् १८९४ चैत्र सुदी १५ वार सोमवार खेरवा मे नाथाजी कने बैठा पूछने लिखियो छै।"

इसमें भ्रमविध्वसनकार ने स्पष्ट लिखा है कि आचार्य श्री भीषणजी के समक्ष गृहस्थ ने कुजी लाकर द्वार का ताला खोला और सतीजी को अन्दर प्रवेश कराया। तथा पूर्व लिखित पद्यो मे आचार्य श्री भीषणजी का खिडकी के द्वार खोलकर बाहर जाना और हेमजी के पूछने पर उसे आगम के अनुकूल बताना स्पष्ट लिखा है। यदि द्वार खोलने मे दोष था, तो आचार्य श्री भीषण जी के समक्ष फाटक का ताला एव उसके द्वार खोलकर सतियो को उसमे प्रवेश क्यो कराया? और खिडकी के द्वार खोलकर रात को बाहर कैसे गए? अत. विवेक पूर्वक द्वार खोलने मे साधुता का विनाश मानना आगम एव उनके स्वय के आचरण के विरुद्ध है।

द्वार-युक्त मकान कल्पनीय है

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४५६ पर उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३५ गाथा ४ की समालोचना करते हुए लिखते है—"अथ अठे इम कह्यो—किमाड़ सहित स्थानक मन करी वाछणो नही, तो जड़वो किहा थकी?"

जब द्वार युक्त मकान की इच्छा करना ही बुरा है, तब वैसे मकान मे ठहरना तो और अधिक बुरा होगा। फिर भ्रमविध्वसनकार के मतानुयायी साधु द्वार युक्त मकान मे क्यो ठहरते है? इससे उनकी साधुता कैसे रह सकती है? ये शब्दो मे कहते है—साधु को कपाट युक्त मकान की मन से भी इच्छा नही करनी चाहिए, परन्तु उसी कार्य को ये शरीर से करते है। ये द्वार युक्त मकान मे उतरते हैं। वहाँ ठहरने मे जरा भी परहेज नही करते। अत. कथनी और करनी मे रात-दिन जैसा अन्तर हो, तो उनका कथन सत्य एव यथार्थ कैसे हो सकता है? यह बुद्धिमान पाठक स्वयं सोच सकते है।

उत्तराध्ययन सूत्र की उक्त गाथा में द्वार युक्त मकान मे ठहरने का सर्वथा निषेध नही किया है। उसमे एव उसके आगे की गाथा मे बताया है कि साधु को कैसे मकान मे ठहरने की इच्छा नही करनी चाहिए और वह क्यो नही करनी चाहिए?

"मनोहरं चित्तघरं मल्ल धूवेण, वासियं।
सकवाडं पांडुरुल्लोयं मनसा वि न पत्थए॥
इन्दियाणि उ भिक्खुस्स तारिसंमि उवस्सए।
दुक्कराइं निवारेउं कामराग विवड्ढणे।"

—उत्तराध्ययन सूत्र ३५, ४–५

"मनोहर चित्र एवं माल्य युक्त, धूप से वासित, कपाट युक्त और श्वेत वस्त्र से आवृत मकान की साधु को मन से भी कामना नहीं करनी चाहिए।

ऐसे मकान में स्थित साधु की इन्द्रियाँ चंचल होकर अपने विषयो में प्रवृत्त होंगी, तब उनका

निरोध करना कठिन होगा। क्योंकि पूर्वोक्त गाथा में कथित मकान काम-राग की अभिवृद्धि करने वाला है।"

प्रस्तुत गाथाओ मे साधु को इन्द्रिय निग्रह के लिए मनोहर चित्रो मे युक्त, सुवासित, सकपाट एव श्वेत चादर से आवृत मकान मे ठहरने का निषेध किया है, द्वार खोलने या वन्द करने के भय से नही। क्योकि पाँचवी गाथा मे यह स्पष्ट कर दिया है कि ऐसे मकान मे ठहरने मे काम-राग एव विषय-विकार की अभिवृद्धि होगी। यदि द्वार खोलने-बन्द करने मे दोष होता, तो आगमकार काम-राग की वृद्धि की तरह यह भी लिख देते कि ऐसे मकान में ठहरने पर द्वार खोलना एव बन्द करना पड़ता है, इसलिए साधु ऐसे मकान मे न ठहरे। परन्तु आगम में ऐसा नही लिखा है। आगमकार ने केवल काम-राग वढने के भय से ऐसे विकारी चित्र युक्त मकान में ठहरने का निषेध किया है। आजकल व्यवहार में भी ऐसा ही देखा जाता है—"साधु द्वार युक्त मकान मे तो ठहरते है, परन्तु अश्लील एव विकारी चित्र, माल्य एव धूप मे सुवासित मकान मे नही उतरते।" इसलिए द्वार खोलने एव वन्द करने के भय मे साधु कपाट युक्त मकान मे नही उतरते, ऐसा कहना गलत है।

यदि कपाट खोलने एव बन्द करने मे दोष नही है, तो फिर आवश्यक सूत्र मे द्वार खोलने का मिच्छामि दुक्कड देने का क्यो लिखा ? क्योकि भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४५७ पर आवश्यक सूत्र का प्रमाण देकर लिखते है—

"अथ अठे कह्यो-थोडे उघाडणो पिण किंवाड घणो उघाडयो हुए तेहनो पिण मिच्छामि दुक्कड देवे, तो पूरो जडणो-उघाडनो किहाँ थकी ?"

आवश्यक सूत्र में जो मिच्छामि दुक्कड का उल्लेख किया है, वह प्रमार्जन किए विना द्वार खोलने का वताया है, विवेक पूर्वक प्रमार्जन करके द्वार खोलने का नही।

"उघाड कवाड उघाडणाए।"

इस पाठ की टीका मे टीकाकार न स्पष्ट रूप से लिखा है—"विना प्रमार्जन किए द्वार खोलने से यह अतिचार लगता है"—

"इह च अप्रमार्जनादिभ्योऽतिचार.।"

प्रस्तुत टीका से यह स्पष्ट होता है कि विवेक पूर्वक प्रमार्जन करके या देखकर द्वार खोलने से अतिचार नही लगता। अत उत्तराध्ययन एव आवश्यक सूत्र का नाम लेकर द्वार युक्त मकान में ठहरने एव द्वार खोलने एव वन्द करने में साधुता का विनाश बताना नितान्त असत्य है।

जिन कल्प और स्थविर कल्प

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४५८ पर सूत्रकृतांग सूत्र की गाथा की समालोचना करते हुए लिखते है—

"अथ अठे इम कह्यो और जगा न मिले तो सूना घर ने विषे रह्यो साधु पिण किमाड जड़े-उघाडे नही, तो ग्रामादिक मे रह्यो किवाड जड़े-उघाडे, ए तो मोटो दोष छै।"

सूत्रकृताग सूत्र मे एकाकी विचरने वाले जिनकल्पी साधु के लिए द्वार खोलने एव बन्द करने का निषेध किया है, स्थविरकल्पी के लिए नही। उसमे स्पष्ट लिखा है—

"एगे चरे ठाणमासणे, सयणे एगे समाहिए सिया।
भिक्खू उवहाण वीरिए, वइगुत्ते अज्झत्त संवुडे ॥
णो पीहे णाव पंगुणे, दारं सुन्न-घरस्स संजए।
पुट्ठेण उदाहरे वयं ण, समुच्छे णो संथरे तणं ॥"

—सूत्रकृताग सूत्र १, २, १३-१३

"द्रव्य से एकाकी और भाव से राग-द्वेष रहित विहार करने वाला साधु अकेला ही कायोत्सर्ग करने, बैठने, शयन करने एवं उठने आदि की क्रिया करे। वह धर्म-ध्यान से युक्त होकर अपने पराक्रम का तप में पूरा प्रयोग करे, किसी के पूछने पर विचार पूर्वक बोले, अपने मन को गुप्त रखे।

यदि उसे किसी कारणवश शून्य गृह में ठहरना पड़े, तो वह उसके दरवाजे बन्द न करे, न खोले, न उस मकान के कचरे को साफ करे और न शयन करने के लिए तृण आदि की शय्या ही बिछाए।"

प्रस्तुत गाथाओ मे 'एगेचरे' का प्रयोग करके ये सब नियम अकेले विचरने वाले जिनकल्पी साधु के लिए बताए है, स्थविरकल्पी साधु के लिए नही। क्योकि इस गाथा मे उस मकान के कचरे को साफ करने एव शयन करने हेतु तृण शय्या आदि बिछाने का भी निषेध किया है। यदि इस गाथा के अनुसार स्थविरकल्पी साधु के लिए द्वार बन्द करना एव खोलना दोष युक्त है, तो फिर भ्रमविध्वसनकार के अनुयायी साधु अपने निवास स्थान का कचरा क्यो साफ करते है? शयन करने हेतु तृण आदि की शय्या क्यो बिछाते है? यदि यह कहे कि वह नियम जिनकल्पी

का है, स्थविर कल्पी का नही, तो इसी सरलता एवं सत्यता के साथ यह भी स्वीकार करना चाहिए कि जैसे कचरा साफ नही करने एव तृण शय्या नही बिछाने का नियम जिनकल्पी का है, उसी तरह मकान के द्वार खोलने एव वन्द नही करने का नियम भी जिनकल्पी का है, स्थविरकल्पी का नही। यदि कोई व्यक्ति दुराग्रह वश उक्त गाथा के तीन चरण स्थविरकल्पी के लिए और चौथा चरण जिनकल्पी के लिए कहे जाने का कहे, तो उसका यह कथन सत्य नहीं है। यह कथन आगम शैली से विरुद्ध है। क्योकि उक्त गाथाओ के आरभ एवं समाप्ति मे जिनकल्पी के नियमो का ही उल्लेख है। अत. उसके मध्य मे स्थविरकल्पी के कल्प का उल्लेख किए विना, उनके नियमो का कैसे उल्लेख कर सकते है ? दूसरी वात यह है कि स्थविर कल्प मे साध्वी भी सम्मिलित है। अत भ्रमविध्वसनकार के मत मे उन्हे भी द्वार वन्द नही करने चाहिए, परन्तु जब साध्वियो को द्वार वन्द करने मे पाप नही लगता, तब साधु को उसमें पाप क्यो लगेगा ?

द्वार खोलने का विधान

क्या आगम मे कही साधु को कपाट खोलने एव वन्द करने का विधान किया है ?

आगम मे कपाट खोलने एव वन्द करने का अनेक जगह विधान किया है—

"साणी पावर पिहियं, अप्पणा ना व पंगुरे।
कवाडं नो पणुलिज्जा, उग्गहंसि अजाइया।।"

—दशवैकालिक सूत्र ५, १, १८

"सण के पर्दे आदि से आवृत्त मकान एवं उसके वन्द कपाट को गृह स्वामी की आज्ञा के विना न खोले।"

प्रस्तुत गाथा मे गृह स्वामी की आज्ञा लेकर वन्द द्वार खोलने का विधान किया है। इसी तरह आचाराग सूत्र मे भी लिखा है—

"से भिक्खू वा भिक्खूणी वा गाहावइ कुलस्स दुवारवाहं कटंक वूंदियाए परिपिहियं पेहाए तेसिं पुव्वामेव उग्गह अणणुन्नविय अपडिलेहिय अप्पमज्जिय णो अवगुणिज्ज वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा तेसि पुव्वामेव उग्गहं अणुन्नविय पडिलेहिय२ पमज्जिय तओ सजयामेव अवगुणेज्ज वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा।"

—आचाराग सूत्र २, १, ५ २८

"भिक्षा के निमित्त गया हुआ साधु गृहस्थ के मकान को कांटो की शाखा से ढ़का हुआ देखकर, गृहस्थ की आज्ञा के विना, विना देखे एवं रजोहरणादि से प्रमार्जन किए विना उस द्वार को खोलकर न घर के अन्दर प्रविष्ट हो और न वाहर निकले। क्योकि इससे गृह स्वामी का क्रोधित होना संभव है। अतः उसकी आज्ञा लेकर भली-भाँति देखकर एव प्रमार्जन करके द्वार खोलकर प्रवेश करने एवं निकलने में दोष नहीं है।"

इस पाठ मे गृहस्वामी की आज्ञा लेकर एव प्रमार्जन करके वन्द द्वार को खोलने का विधान किया है। अत द्वार खोलने मे एकान्तत सयम का नाश वताना गलत है। जव साधु विधि पूर्वक गृहस्थ के वन्द द्वार को खोलकर उसके घर में प्रविष्ट होने पर भी सयम का विराधक नही होता, तव वह अपने निवास स्थान के द्वार को विवेक पूर्वक खोलने एव वन्द करने मे संयम का विराधक कैसे हो सकता है ? अत. कपाट खोलने एव वन्द करने मात्र मे साधुता का विनाश वताना आगम ज्ञान मे अनभिज्ञता प्रकट करना है।

साधु कैसे मकान में ठहरे ?

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४६१ पर आचाराग मूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

"रात्रि ने विपे अथवा विकालने विपे आवाघा पीडतां किमाड खोलना पड़े। ते खुलो देखी माहे तस्कर आवे, वताया, न वताया अवगुण उपजता कह्या। सर्व दोपो मे प्रथम दोप किवाड खोलवा नो कह्यो। तिण कारण थी, साधु ने किमाड खोलणो पडे, एहवे स्थानके रहिवो नही।"

आचाराग सूत्र के उक्त पाठ मे साधु और साध्वी दोनो को गृहस्थ के ससर्ग वाले मकान मे रहने का निषेध किया है। यदि यह निषेध कपाट खोलने एव वन्द करने के भय से किया गया हो, तो फिर साध्वी को अपने निवास स्थान के द्वार वन्द नही करने चाहिए। यदि साध्वी को कपाट खोलने या वन्द करने का निपेध नहीं है, तो साधु को भी नही है। वास्तव मे आचाराग मूत्र के पाठ का अभिप्राय यह है कि यदि साधु गृहस्थ के सदर्भ—ससर्ग युक्त मकान मे ठहरता है, तो उस मकान का द्वार खुला देखकर यदि उसमे चोर प्रविष्ट हो जाए, तो उसे वताने एव न वताने दोनो स्थिति मे साधु को दोप लगता है। अत उस दोप की निवृत्ति के लिए साधु-साध्वी को गृहस्थ के संसर्ग वाले मकान मे ठहरने का निषेध किया है।

"से भिक्खू वा भिक्खूणी वा उच्चारपासवणेण उवाहिज्जमाणे राओ वा वियाले वा गाहावइ कुलस्स दुवारवाढं अवंगुणिज्जा तेणेय तस्संधीचारी अणुप्पविसिज्ज। तस्स भिक्खूस्स णो कप्पइ एवं वइतए अयं तेणो पविसइ वा, णो वा पविसइ, उवल्लियइ वा, णो वा उवल्लियइ, आवइ वा णो वाआवइ, वयइ, वा णो वा वयइ, तेण हडं, अन्नेन हडं, तस्स हडं, अन्नस्स हडं, अयं तेणे, अयं उवचारी, अयं हंता, अयं इत्थमकासी तं तवस्सिं भिक्खूं अतेणं तेणंति संकइ अह भिक्खूणं पूव्वोवदिट्ठा जाव णो चेतेज्जा।"

—आचारांग सूत्र २, २, २, ७५

"साधु-साध्वी गृहस्थ के संसर्ग वाले मकान में रहते हुए लघुनीत या बड़ीनीत के लिए बाहर जाते हुए उस मकान का द्वार खोले और कपाट खुलने की प्रतीक्षा में बैठा हुआ चोर यदि उस मकान में घुस जाए, तो साधु को यह कहना नहीं कल्पता कि यह चोर अन्दर घुस रहा है या नहीं घुस रहा है; छिप रहा है या नहीं छिप रहा है; बोलता है या नहीं बोलता है; इसने यह वस्तु चुराई है या नहीं चुराई है; यह चोर है या उसका परिचारक है; यह हथियार से युक्त है या बिना हथियार के है, यह मारेगा या इसने अमुक कार्य किया है। ऐसा कहने से चोर पर आपत्ति आएगी या वह चोर क्रोधित होकर साधु को मार सकता है। और नहीं कहने पर कदाचित वह गृहस्थ साधु को भी चोर समझले, तो महा अनर्थ हो सकता है। अत: साधु-साध्वी को गृहस्थ के संसर्ग वाले मकान में नहीं ठहरना चाहिए।"

प्रस्तुत पाठ में गृहस्थ के मकान मे चोर प्रविष्ट होने पर उससे होने वाले अनर्थ के भय से साधु को गृहस्थ के ससर्ग वाले मकान में ठहरने का निषेध किया है, द्वार खोलने या बन्द करने के भय से नही। क्योंकि इस पाठ मे स्पष्ट लिखा है कि द्वार खुला देखकर यदि चोर उसमे घुस जाए तो साधु को उसके सम्बन्ध में—वह घुस रहा या नही या वह क्या कर रहा है आदि कुछ भी कहना नही कल्पता। परन्तु इसमे यह नही लिखा कि साधु को द्वार खोलना या बन्द करना नही कल्पता। इस पाठ से तो यह स्पष्ट होता है कि साधु को द्वार खोलना एव बन्द करना कल्पता है। यदि वह द्वार खोलता ही नही है, तो चोर के अन्दर प्रविष्ट होने तथा उससे होने वाले अनर्थ की सभावना कैसे हो सकती है? अत गृहस्थ के ससर्ग वाले मकान मे ठहरने से मकान मे चोर आदि के प्रविष्ट होने से होने वाले अनर्थ से बचने के लिए साधु-साध्वी को ऐसे मकान मे ठहरने का निषेध किया है।

द्वार खोलने का कारण

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४६२ पर बृहत्कल्प सूत्र के पाठ का प्रमाण देकर लिखते है—

"साध्वी ने उघाडे बारणे रहणो नही। किमाड न हुवे तो चिलमिली पछेडी बांधी ने रहिणो। पिण उघाडे बारणे रहिवो न कल्पे, तिणरो ए परमार्थ शीलादिक राखवा किमाड जडनो। पिण शीलादिक कारण बिना जडनो-उघाडनो नही। अने साधु ने नो उघाडे द्वारे इज रहिवो कल्पे, इम कह्यो।"

बृहत्कल्प सूत्र का उक्त पाठ लिखकर समाधान कर रहे है—

"नो कप्पइ निग्गंथीणं अवंगुय दुवारए उवस्सए वत्थए एग पत्थारं अंतो किच्चा, एगं पत्थारं बाहिं किच्चा, ओहाडिय चिलमिलियागसिए वहणं कप्पइ वत्थए। कप्पइ निग्गंथाण अवंगुय दुवारए उवस्सए वत्थए।"

—बृहत्कल्प सूत्र १, १८-१५

"साध्वी को खुले द्वार वाले मकान में रहना नहीं कल्पता, यदि सकारण खुले द्वार वाले स्थान में रहना पडे, तो उसे बाहर और भीतर चद्दर या चिलमिली आदि मे दो पर्दे बांधकर रहना चाहिए। परन्तु साधु को खुले द्वार वाले मकान में रहना कल्पता है।"

इस पाठ मे लिखा है कि साधु को खुले मकान मे रहना कल्पता है। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि वह खुले मकान में ही रहे, जिसका द्वार वद किया जा सके उस मकान मे न रहे। क्योंकि वृहत्कल्प सूत्र मे यह भी लिखा है—

"नो कप्पइ निग्गंथीणं अह आगमणगिहंसि वा वियडगिहंसि वा वंसिमूलंसि वा रुक्खमूलंसि वा अभावगासियंसि वा वत्थए। कप्पइ-निग्गंथाणं अह आगमणगिहंसि वा, वियडगिहसि वा, वंसिमूलंसि वा रुक्खमूलंसि वा अभावगासियंसि वा वत्थए।"

—बृहत्कल्प सूत्र २, ११–१२

"जहाँ पथिक लोग आकर ठहरते हैं, वहाँ तथा खुले मकान में, बाँस के नीचे या अन्य वृक्ष के नीचे, कुछ खुले कुछ ढके मकान में साध्वी को रहना नहीं कल्पता, परन्तु साधु को उक्त स्थानों में रहना कल्पता है।"

प्रस्तुत पाठ मे उल्लिखित स्थानो मे साध्वी को ठहरना नही कल्पता और साधु को उक्त स्थानो मे ठहरना कल्पता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नही है कि साधु इन स्थानो मे ही ठहरे, अन्य मे नही। इसी प्रकार पूर्व पाठ का भी यह अभिप्राय नही है कि साधु खुले द्वार वाले मकान में ही ठहरे, वन्द द्वार मे नही।

यदि कोई व्यक्ति साम्प्रदायिक हठाग्रह के कारण पूर्व पाठ का यही अर्थ करे—"साधु को खुले द्वार वाले मकान मे ही ठहरना कल्पता है, वन्द द्वार वाले मकान मे नही, तो उनके मत से दूसरे पाठ का यह अर्थ होना चाहिए—"जहाँ पथिक आकर ठहरते हो, वहाँ या बाँस के तथा अन्य वृक्ष के नीचे और कुछ खुले, कुछ ढके मकान मे ही ठहरना चाहिए, अन्यत्र नही।" फिर भ्रमविध्वंसनकार के साधु इनके अतिरिक्त अन्य मकानो में क्यो ठहरते हैं? और ऐसे मकान मे भी कैसे ठहरते हैं—जिसके द्वार वन्द किए जा सके या उनके साम्प्रदायिक अनुरागी भक्त सर्दी के समय उनके निवास स्थान के द्वार वन्द करते तथा गर्मी के समय खोलते है?

इसके अतिरिक्त आगम में साधु को अटवी एव विकट स्थानो पर विचरना भी कहा है। फिर वे सदा-सर्वदा अटवी एव विकट स्थानो मे क्यो नही विचरते? गाँवो एव शहरो मे क्यो विचरते हैं?

यदि यह कहे कि यह आदेश एकान्त रूप से नही है। साधु अटवी एव विकट स्थानो के अतिरिक्त भी विचर सकता है, उससे उसके सयम मे कोई क्षति नही आती। इसी तरह सरल एवं सम्यक् हृदय से इस सत्य को भी स्वीकार करना चाहिए कि साधु को खुले द्वार वाले मकान मे रहने का एकान्त रूप से नही कहा है। अत यदि वह वन्द द्वार के मकान मे भी रहता है, तो उसके सयम मे कोई दोप नही लगता। वस्तुत साध्वी की अपेक्षा साधु मे यह विशेपता वताई है कि साध्वी खुले मकान मे नही रह सकती, परन्तु साधु खुले द्वार वाले मकान में भी रह सकता है।

वृहत्कल्प उ० १, सूत्र १४-१५ के भाष्य मे साधु को द्वार वन्द करने का उल्लेख किया है—

"पडिणीय तेण सावय उब्भामग गोण साणऽणप्पज्झे।
सीयं च दुरधियासं दीहा पक्खी व सागरिए।"

—बृहत्कल्प भाष्य २३५८

"उद्घाटिते द्वारे प्रत्यनीक. प्रविश्य आहननमपद्रापण वा कुर्य्यात्। 'स्तेना:' शरीरस्तेना. उपधिस्तेना. वा प्रविशेयु. एव श्वापदा. सिंह-व्याघ्रादय. 'उद्भ्रामका:' पारदारिका: गौ. बलीवर्दा. 'श्वान्' प्रतीता. श्वे वा प्रविशेयु. 'अणप्पज्झे' त्ति अनात्सवश. क्षिप्तचित्तादि स द्वारेऽपिहिते सति निर्गच्छेत्। शीत वा दुरधिसह हिमकणानुसक्त निपतेत्। 'दीर्घा.' वा सर्पा. 'पक्षिणो' वा काक-कपोत प्रभृतय: प्रविशेयु.। सागारिको वा कश्चित् प्रतिश्रयमुद्घाटद्वार दृष्टवा तत्र प्रविश्य शयीत वा विश्रामं वा गृण्हीयात्।"

"एक्केक्कम्मि उ ठाणे, चउरो मासा हवंति उग्घाया।
आणाइणो य दोसा, विराहणा संजमाऽऽयाए॥"

—बृहत्कल्प भाष्य २३५९

"द्वारमस्थगयतामन्तरोक्ते 'एकैकस्मिन्' प्रत्यनीक प्रवेशादौ स्थाने चत्वारो मासा। 'उद्घात्ता' लघव. प्रायश्चित भवति, आज्ञादयश्चात्रदोषा., विराधना च संयमाऽऽत्मविषया भावनीया। यदुक्तम्—'चत्वारो मासा उद्घाता, इति तदेतद् बाहुल्यमङ्गीकृत्य द्रष्टव्यम्।' अतोऽपवदन्नाह—

"अहि-सावय-पच्चत्थिसु गुरुगा सेसेसु होंति चउ लहुगा।
तेणे गुरुगा लहुगा, आणाइ विराहणा दुविहा॥"

—बृहत्कल्प भाष्य २३६०

"अहिषु श्वपदेषु प्रत्यर्थिषु च प्रत्यनीकेषु द्वारेऽपिहिते सत्युपाश्रयं प्रविशत्सु प्रत्येक चत्वारो गुरुका। 'शेषेषु' उद्भ्रामकादिषु सागारिकान्तेषु चतुर्लघुका.। स्तेनेषु गुरुका-लघुकाश्च भवन्ति। तत्र शरीरस्तेनेषु चतुर्गुरुका, उपाधिस्तेनेषु चतुर्लघुका। आज्ञादयश्च दोषा.। विराधना च द्विविधा—सयम विराधना, आत्म विराधना च। तत्र सयम विराधनास्तनैरुपधावयहृते तृण ग्रहणमग्नि सेवन वा कुर्वन्ति, सागरिकादयो वा तसायोगोलकल्पा प्रविष्टा. सन्तो निपदन—शयनादि कुर्वाणा बहूनाप्राणिजातीयानामुपमर्दं कुर्यु:। आत्म विराधना तु प्रत्यनीकादिषु परिस्फुटैवेति।

आह-ज्ञातामस्माभिर्द्वारपिधान कारण पर काऽत्र यतना इति नाद्यापि वय जानीम। उच्यते—

"उवओग हेट्ठुवरि, काऊण ठवितऽवंगुरते अ।
पेहा जत्थ न सुज्झइ, पमज्जिउं तत्थ सारिति॥"

—बृहत्कल्प भाष्य २३६१

नेत्रादिभिरिन्द्रियैरघस्तादुपरि चोपयोग कृत्वा द्वार स्थगयन्ति वा अपावृण्वन्ति वा। यत्र चान्धकारे 'प्रेक्षा' चक्षुपा निरीक्षण न शुद्धयति तत्र रजो-

हरणेन दारुदण्डकेन वा रजन्यां प्रमृज्य 'सारयन्ति' द्वारं स्थगयन्तीत्यर्थः, उपलक्षण-त्वादुद्घाटयन्तीत्यपि दृष्टव्यम् ।"

—वृहत्कल्प भाष्य, भाग ३, पृष्ठ ६६८-६९

"साधु अपने निवासस्थान के द्वार बन्द क्यो करता है ? इसका कारण बता रहे हैं कि द्वार खुला रहने पर शत्रु आदि मकान में प्रवेश कर के मार-पीट और उपद्रव कर सकते हैं। चोर, सिंह, व्याघ्र, पारदारिक, गौ, बैल और कुत्ते आदि स्थानक में प्रविष्ट हो सकते हैं। पागल साधु मकान के बाहर निकल सकता है। हिम कण से मिश्रित दुःसह शीत मकान में प्रवेश कर सकता है। बड़े-बड़े सर्प और काक-कबूतर आदि पक्षी उस मकान में आ सकते हैं। धन सहित कोई गृहस्थ उस मकान में आकर सो सकता है। इत्यादि कारणों से साधु अपने स्थानक के द्वार वन्द करता है।

द्वार खुला रहने पर पूर्वोक्त शत्रु आदि से किसी भी एक के प्रवेश करने पर चौमासी—अनुद्घात नामक प्रायश्चित आता है। आज्ञा उल्लंघन रूप दोष भी होता है, और संयम की भी विराधना होती है। यहाँ जो चौमासी—अनुद्घात प्रायश्चित कहा है, वह उसको बहुलता से समझना चाहिए। खुले द्वार वाले मकान में सर्प, जानवर और चोर के प्रवेश करने पर चतुर्गुरुक प्रायश्चित आता है। उपधि का अपहरण करने वाले के प्रवेश करने पर चतुर्लघुक प्रायश्चित आता है। और आज्ञा भंग, संयम एवं आत्मा की विराधना भी होती है।

यदि चोर उपधि को चुरा ले या कोई मनुष्य उस मकान में प्रवेश करके तृण ग्रहण या अग्नि-सेवन करे या कोई मलेच्छ मनुष्य के समान वहाँ आकर बैठ जाए, तो संयम की विराधना होती है और शत्रु आदि के द्वारा आत्म विराधना प्रसिद्ध ही है। इसलिए साधु अपने निवास स्थान के द्वार बन्द करते हैं।

द्वार बन्द करने का कारण बताने के बाद उसकी यतना करने का कारण बताते हैं—

आँख से ऊपर एवं नीचे के भाग का अवलोकन करके साधु द्वार बन्द करते एवं खोलते हैं। रात्रि के समय अन्धकार में रजोहरण या पूंजनी से प्रमार्जन करके द्वार खोलते एवं बन्द करते हैं।"

प्रस्तुत भाष्य की गाथा में साधु को कारण वश यतना पूर्वक द्वार खोलने एव वन्द करने का स्पष्ट विधान किया है। वृहत्कल्प के मूलपाठ में बताया है—"धान आदि की राशि से युक्त तथा घृत आदि के ढके हुए पात्रो से युक्त मकान मे साधु को एक मास ठहरना कल्पता है। और जिस मकान में घृत आदि क पात्र खुले हुए रखे हो, उसमे भी स्थानाभाव की स्थिति में एक-दो रात ठहरने का विधान है।" ऐसे मकान में ठहरा हुआ साधु यदि उस मकान के द्वार बद न करे, तो चोर एव कुत्ते आदि के द्वारा घृत आदि का नुकसान होने पर साधु के लिए महान् अपवाद का कार्य हो सकता है। अत. ऐसे अवसर पर एव सर्दी आदि के अन्य कारणो से यतना पूर्वक द्वार बन्द करने एव खोलने मे कोई दोप नही है।

पारिभाषिक-शब्दावली

पारिभाषिक-शब्दावली

अकाम-निर्जरा	=	अज्ञान तप से होने वाली क्रिया विशेष
अक्रियावादी	=	ज्ञान के साथ क्रिया को मोक्ष-मार्ग नहीं मानने वाले
अकुशल-योग	=	मन, वचन और शरीर को अशुभ कार्यों मे लगाना
अतिचार	=	स्वीकार की हुई प्रतिज्ञा को तोडने के लिए कदम उठाना
अतीन्द्रियार्थदर्शी	=	इन्द्रिय एव मन की सहायता के विना पदार्थों के स्वरूप को जानने-देखने वाला
अधर्मास्तिकाय	=	वह द्रव्य जो जीव और पुद्गल की स्थिरता में सहायक होता है।
अध्यवसाय	=	मनोभाव, विचार
अनन्त-संसारी	=	जिसके ससार परिभ्रमण का अन्त न हो
अनन्तानुबंधी	=	जिस कषाय के बन्धन का अन्त न हो
अनाकार-उपयोग	=	दर्शन, सामान्य ज्ञान
अनाचार	=	स्वीकार किये हुए व्रत-प्रत्याख्यान को तोड देना
अनाशातना	=	अपने से गुणो मे श्रेष्ठ व्यक्ति का आदर नहीं करना
अनित्यानुप्रेक्षा	=	पदार्थों एव ससार की अनित्यता का चिन्तन करना
अनुकम्पा	=	दुःखी के प्रति मन मे सवेदना होना
अनुत्तरविमान	=	विजय, विजयन्त, जयन्त, अपराजित एव सर्वार्थ-सिद्ध निवास स्थान,
अनुमोदन	=	समर्थन
अन्तराय	=	बाधा, रुकावट
अन्तराय-कर्म	=	जिसके उदय मे दान लाभ, भोग-उपभोग पदार्थ एव शक्ति का उपलब्ध नहीं होना
अन्य-तीर्थी	=	जैनेतर धर्मावलम्बी
अन्य-यूथिक	=	जैनेतर धर्म को माननेवाले साधु एव गृहस्थ

अनाचार	=	जो कार्य साधु के करने योग्य नही है
अप्रासुक	=	सदोष आहार-पानी
अपर्याप्त	=	आहार, शरीर आदि पर्यायो को जिसने पूर्णत नही बाधा है।
अपरिमित ज्ञानी	=	पूर्ण ज्ञानी, ज्ञान-संपन्न, सब कुछ जाननेवाला
अपवाद	=	कठिन परिस्थिति, सकट काल
अप्रतिसेवी	=	दोष का सेवन नही करने वाला साधु
अप्रत्याख्यानिकी-क्रिया	=	त्यागरहित व्यक्ति को लगने वाली क्रिया.
अप्रमादी	=	मिथ्यात्व—अज्ञान, अव्रत, कषाय, आलस्य एव अशुभ वृत्ति का परित्याग करने वाला श्रमण—साधु
अप्रशस्त	=	बुरा, दूषित
अभयदान	=	भयभीत व्यक्ति को भय मुक्त करना, निर्भय बनाना
अभिग्रहधारी	=	किसी वस्तु की प्रतिज्ञा ग्रहण करनेवाला साधु
अवग्रह	=	वस्तु के सामान्य ज्ञान का बोध होना
अवधिज्ञान	=	आत्म शक्ति से मर्यादित क्षेत्र मे स्थित रूपी-पदार्थों को जानने-देखने की शक्ति
अवर्ण बोलना	=	निन्दा करना
अव्रत	=	थोडा भी त्याग प्रत्याख्यान नही करना
अव्रती	=	त्याग-पथ को स्वीकार नही करनेवाला
अवाय	=	वस्तु के स्वरूप का निश्चय होना
असंक्लिष्ट परिणामी	=	क्लेश एव दुर्भावनाओ के विकल्पो से रहित
असंज्ञी-असन्नी	=	मन रहित प्राणी
असंयति	=	सयम से रहित व्यक्ति
अशरणानुप्रेक्षा	=	कोई किसी को शरण नही देता, इस भावना का चिन्तन करना
अष्टम गुणस्थान	=	साधना का वह स्थान जहाँ साधक कषायो को क्षय या उपशान्त करके आगे बढता है
अष्टस्पर्शी	=	मृदु-कठोर, हल्का-भारी, शीत-उष्ण और रुक्ष-स्निग्ध इन आठ स्पर्शो से युक्त पदार्थ
आगम	=	शास्त्र, तीर्थंकरों का उपदेश
आगम-व्यवहार	=	साधना के लिए शास्त्र-मर्यादा नही, केवल-ज्ञान मन:पर्यव, अवधिज्ञान, चवदह एव दस पूर्व का विशिष्ट ज्ञान
आगम-व्यवहारी	=	केवल ज्ञान, मन:पर्यवज्ञान, अवधिज्ञान चवदह या दस पूर्व का विशिष्ट ज्ञान रखने वाला साधक
आगमिक भाषा	=	शास्त्र की भाषा मे

आज्ञा-रुचि = वीतराग-वाणी के अनुसार प्रवृति करने की अभिलाषा

आज्ञा-व्यवहार = आगम में सर्वज्ञ द्वारा दी गई आज्ञा के अनुसार साधना करना

आचारधर = आचारांग, निशीथ आदि आगमो का ज्ञाता

आत्मारंभी = अपनी आत्मा को विषय, कषाय, प्रमाद आदि मे प्रवृत्त करने वाला

आधाकर्मी = साधु के निमित्तसे बनाए जानेवाला आहार-पानी आदि

आधिकरणिकी क्रिया = तलवार, पिस्तौल आदि शस्त्रो का प्रयोग करने से लगने वाली क्रिया

आरंभिकी क्रिया = हिंसा आदि प्रवृत्ति करते समय लगनेवाली क्रिया।

आराधक = साधना में दोष नहीं लगानेवाला या आलोचना के द्वारा दोषो की शुद्धि करने वाला

आर्त्त-ध्यान = इष्ट वस्तु के वियोग एव अनिष्ट वस्तु के संयोग से उत्पन्न होनेवाले दुःख मे निमज्जित रहना

आर्य-क्षेत्र = जिस क्षेत्र मे अहिंसा, सत्य, प्रामाणिकता आदि आर्य-कर्म किए जाते है

आर्हत मत = जैन धर्म

आस्तिकता = आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक आदि के अस्तित्व पर विश्वास करना

आस्रव-निरोध = कर्मो के आगमन को रोकना

आशंसा = अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा

आहारक-लब्धि = एक विशिष्ट शक्ति, जिससे अपने स्थान पर बैठा हुआ साधु दूर स्थित सर्वज्ञ से अपनी शका का समाधान प्राप्त कर सके

ईहा = मतिज्ञान का एक भेद

उत्कालिक सूत्र = अकाल—कुसमय को छोडकर किसी भी समय में जो पढे जा सके

उत्तरगुण = अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के अतिरिक्त त्याग-प्रत्याख्यान की भावना

उत्सर्ग = जो साधना बिना किसी रुकावट के की जाती है

उदय = कषायो का उपस्थित रहना पूर्व कृत कर्म का फल देने का समय

उदय भाव = कषायो एव कर्मो का अपने रूप मे प्रकट होना

उपस्थापनाचार्य = वह आचार्य, जो साधक को निर्दोष साधना में स्थापित करता है

उपशम	=	कषायों को उपशान्त करना, दबा देना
उभयारंभी	=	अपनी एवं दूसरे की हिंसा करनेवाला, स्व और पर दोनों की हानि पहुँचानेवाला
उपासक-प्रतिमा	=	श्रावक—गृहस्थ के द्वारा स्वीकृत प्रतिज्ञाएँ
ईर्यापथिक-क्रिया	=	वीतराग साधक को गमनागमन आदि प्रवृत्ति से लगनेवाली क्रिया
एकानुप्रेक्षा	=	अपने आपको एकाकी अनुभव करना
एषणिक	=	निर्दोष आहार, साधु मर्यादा के योग्य पदार्थ
कर्मादान	=	महारंभ का कार्य, जिससे संसार को बढानेवाले कर्मों का लाभ होता है
कल्प	=	मर्यादा, कार्य करने की एक सीमा
कल्पातीत	=	शास्त्रीय मर्यादाओं के बन्धन से मुक्त विशिष्ट ज्ञानी
कल्पातीत देव	=	नव ग्रैवेक और पाँच अनुत्तरविमान के देव
कषाय	=	जिससे संसार की अभिवृद्धि हो; क्रोध, मान, माया और लोभ
कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ	=	महाव्रत एवं अन्य साधना में दोष नहीं लगानेवाला साधक
कषाय-प्रतिसंलीनता	=	क्रोध, मान, माया और लोभ की वृत्ति को रोकना, उपशान्त करना
कायिकी क्रिया	=	शरीर की प्रवृत्ति से लगने वाली क्रिया
कारित	=	किसी कार्य को दूसरे से करवाना
कालिक सूत्र	=	दिन और रात्रि के प्रथम एवं अन्तिम प्रहर में पढे जानेवाले शास्त्र
कुशल-योग	=	मन, वचन और शरीर को शुभ कार्य में प्रवृत्त करना
कापोत-लेश्या	=	व्यक्ति के सामान्य रूप से क्रूर विचार एवं दुर्भावना
कुपात्रदान	=	हिंसक, चोर, व्यभिचारी आदि को बुरे कार्य करने के लिए दान देना।
कृत	=	किसी कार्य को स्वयं करना
कृष्ण-लेश्या	=	व्यक्ति के अति क्रूर परिणाम, अत्यधिक दुर्भावना
केवलज्ञान	=	पूर्ण ज्ञान, इन्द्रिय एवं मन की सहायता के बिना समस्त पदार्थ एवं उनकी पर्यायों को जानने-देखने वाला ज्ञान
क्षय	=	नष्ट करना
क्षयोपशम	=	कुछ कर्म-प्रकृतियों को क्षय—नष्ट कर देना और कुछ को उपशान्त कर देना—दबा देना
क्षुल्लक भव	=	निगोद, वनस्पति एवं एकेन्द्रिय आदि के भव

क्षीण मोह = मोह कर्म को पूर्णत या अशत नष्ट कर देना

क्षेमकर = कल्याण करनेवाले, सबका हित करनेवाला

गणधर = तीर्थंकरो के प्रवचन को आगम का रूप देने एव शासन की व्यवस्था करनेवाले

गर्भज = गर्भ से उत्पन्न होनेवाले जीव

गवेषण = आहार की निर्दोषता का अन्वेषण करना

गीतार्थ = आगमो के रहस्य को जाननेवाला

गुणस्थान = आत्म-विकास की श्रेणियाँ

ज्ञानावरणीय = आत्मा को ज्ञान शक्ति को आवृत्त करनेवाला कर्म

ग्यारह-प्रतिमाएँ = श्रावक–गृहस्थ की ग्यारह प्रतिमाएँ

ग्यारहवीं प्रतिमा = श्रावक का वह साधना, जिसमे वह मर्यादित समय के लिए साधु की तरह जीवन व्यतीत करता है

चतुर्थ गुणस्थान = साधना का प्रथम सोपान, वीतराग वाणी एवं तत्त्वो पर श्रद्धा होना, सम्यक्त्व को प्राप्त करना

चतुर्दश-पूर्वधर = चवदह पूर्व को जानने वाला

चतुःस्पर्शी = चार स्पर्श—कठोर, भारी, शीतल और रूक्ष, या मृदु, हल्का, गर्म और स्निग्ध से युक्त पदार्थ

चरम-शरीरी = इसी भव मे मुक्त होनेवाला

चार-ज्ञान = मति, श्रुति, अवधि और मन पर्यव ज्ञान

चौथा-आश्रव = अब्रह्मचर्य मैथुन

छद्मस्थ = राग-द्वेष एव काम-क्रोध आदि से युक्त व्यक्ति, अपूर्ण ज्ञानी

छःकाय = पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस–द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय प्राणी

जित-व्यवहार = आचार्यों द्वारा बनाई हुई मर्यादाएँ

जिन-कल्प = साधना की एक मर्यादा, वीतराग पुरुषो जैसी उत्कृष्ट साधना

जिनेन्द्र-प्रवचन = तीर्थंकरो द्वारा दिया गया उपदेश

जीवनाशसा = चिरकाल तक जीने की अभिलाषा रखना

टब्बा = शास्त्रो का गुजराती एव राजस्थानी में किया गया शब्दार्थ एव भावार्थ

तथारूप = यथारूप तथा आचार, वेश के अनुरूप आचार

तिर्यंच = पशु-पक्षी

तीर्थ = साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका

तीर्थंकर नामकर्म = तीर्थंकर–तीर्थ (सघ) के सस्थापक पद को प्राप्त करानेवाला कर्म

तेजो-लेश्या या लब्धि	=	शुभ विचार, एक ऐसी शक्ति जिसके द्वारा साधक अपने विरोधी को जलाकर भस्म कर सकता है।
त्रस	=	त्रास से बचने के लिए सुरक्षित स्थान पर आने-जाने वाले जीव
दण्डक	=	जिन स्थानो मे रहकर जीव अपने कर्मों का फल भोगता है
दर्शन	=	श्रद्धा, सम्यक्त्व, सामान्य ज्ञान
दर्शन-विनय	=	अपने से अधिक गुणसंपन्न सम्यक्त्वी का आदर-सम्मान करना
दर्शनावरणीय	=	आत्मा के दर्शन—सामान्य ज्ञान गुण को आवृत्त करने वाला कर्म
दशम गुणस्थान	=	जहाँ साधक अत्यल्प लोभ को छोड़कर शेष सब कषायो को क्षय—नाश या उपशान्त कर देता है
दशवैकालिक	=	एक आगम, जिसमे साध्वाचार का वर्णन है
दुर्लभबोधी	=	जिस जीव को कठिनता से प्रतिबोध प्राप्त होता है
दुर्लभ बोधित्व कर्म	=	वह कर्म जिससे जीव को बोध की प्राप्ति न हो या कठिनता से हो।
दुष्प्रणिधान	=	दुरुपयोग
देश-आराधक	=	एक अश से जिन-आज्ञा का पालन करनेवाला
देश विराधक	=	एक अश से जिन-आज्ञा का पालन नही करनेवाला
द्रव्य-क्रिया	=	ज्ञान एव विवेक पूर्वक क्रिया नही करना
द्वादश-गुणस्थान	=	जहाँ साधक राग-द्वेष एव कषायो का पूर्णत. क्षय कर देता है
द्वादश व्रतधारी	=	बारह व्रत स्वीकार करने वाला
धर्माचार्य	=	जो साधना के मार्ग पर गति करने का उपदेश देता है
धर्मास्तिकाय	=	वह द्रव्य जो जीव, पुद्गल की गति मे सहायक होता है
धारणा	=	पदार्थ के विशेष ज्ञान को स्मृति मे रखना
धारण व्यवहार	=	आचार्यों की चली आ रही परपरा
ध्यान	=	अपनी दृष्टि एक वस्तु या विषय पर एकाग्र करना, आत्म-चिन्तन मे लगना
नरकावास	=	नरक मे नारकीय जीवो के रहने का स्थान
नास्तिक	=	आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक के अस्तित्व को स्वीकार नही करनेवाला
निरवद्य	=	जिस कार्य मे किसी तरह की हिंसा एव पाप न हो
निर्ग्रन्थ	=	राग-द्वेष एव परिग्रह की ग्रन्थि—गाठ का छेदन करने वाले साधु

निर्ग्रन्थ-श्रमण = सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट श्रमण—जो संयम मे थोड़ा भी दोष नही लगाता

निर्जरा = पूर्व मे आवद्ध कर्मों को एक देश—अंश से क्षय करना

निर्युक्ति = आगमो की प्राकृत मे की गई विस्तृत व्याख्या

निसर्ग रुचि = आत्म ज्ञान एव सम्यक् श्रद्धा की ओर स्वत. अभि-रुचि पैदा होना

नील-लेश्या = कठोर एव क्रूर स्वभाव

पंचम गुणस्थान = एक अश से हिंसा आदि का त्याग करने वाला

पण्डित = साधु, पापकारी कार्यों का सर्वथा त्याग करनेवाला

पण्डितापण्डित = श्रावक

पद्म लेश्या = आत्मा के शुभतर परिणाम

पर-गृहीत तीर्थ = जैनेतर धर्म, वे तीर्थ—सघ जो अन्य धर्म को स्वीकार कर चुके है

पर-यूथिक = जैनेतर साधु-सन्यासी

परानुकंपक = दूसरे पर अनुकम्पा करनेवाला

परारंभी = अन्य प्राणियो की हिंसा करनेवाला

परित्त-संसारी = ससार का अन्त करनेवाला

प्रज्ञप्तिधर = आचाराग, छेदसूत्र आदि के ज्ञाता

पर्याप्ति = आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, और मन, इनमे से जिसकी जितनी योनि है, उतनी पर्यायो को जिसने पूर्णत बाध लिया है

परिव्राजक = सन्यासी

परोपकारार्थ = दूसरे का उपकार करने के लिए

प्रणिधान = किसी वस्तु का प्रयोग करना

प्रतिक्रमण = विषय-कषाय में प्रवृत्तमान आत्मा को स्व-स्वरूप मे वापिस लौटाना

प्रतिलेखन = वस्त्र-पात्र, स्थान आदि का भली-भाँति अवलोकन करना

प्रतिसेवना-निर्ग्रन्थ = मूल गुण और उत्तर गुण मे दोष लगानेवाला साधक

प्रतिसेवी = सयम में दोष लगानेवाला साधक

प्रत्याख्यान = त्याग

प्रत्युत्पन्न विनाशी अन्तराय = किसी व्यक्ति के मिलने वाले लाभ में बाधक बनने मे बंधनेवाला कर्म

प्रत्येक-बुद्ध = स्वय बोध को प्राप्त करनेवाला साधक

प्रथम-गुणस्थान = मिथ्यात्व

प्रव्रजनाचार्य	=	साधना की दीक्षा देनेवाला
प्रमार्जनिका	=	स्थान एव शरीर आदि का प्रमार्जन करने के लिए ऊन के धागो से बनी हुई वस्तु
पाँच-आश्रव	=	कर्मों के आने के पाँच रास्ते—मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद और योग
पाँचवाँ-आश्रव	=	परिग्रह, वस्तु पर ममत्व भाव रखना
पापानुबन्धी-पुण्य	=	जो पुण्य भविष्य मे अशुभ कर्म की ओर प्रवृत्त करे
पारिग्रहिकी-क्रिया	=	पदार्थ पर ममत्व भाव रखने से लगनेवाली क्रिया
पारितापनिकी-क्रिया	=	किसी को परिताप—सताप देने के भाव मे की जाने वाली क्रिया
पासत्था	=	पार्श्वस्थ, शिथिल आचारवाला
पार्श्वस्थ	=	शिथिलाचारी
पाषण्डी	=	पापो के नाश करने का मार्ग अपनानेवाला,
प्राणातिपात	=	प्राणो का नाश करना, हिंसा
प्राणातिपातिकी-क्रिया	=	किसी के प्राणो का हरण करने के भाव मे की जाने-वाली क्रिया
प्राद्वेषिकी-क्रिया	=	द्वेष बुद्धि से की जानेवाली क्रिया
प्रायश्चित	=	दोषो की आलोचना करके आत्म-शुद्धि करने की प्रक्रिया
प्रासुक	=	दोष रहित, निर्जीव
पिहितागामी पथ अन्तराय	=	किसी के भविष्य मे मिलनेवाले लाभ मे बाधक बनने से बधनेवाला कर्म
पुण्यानुबंधी-पुण्य	=	वह पुण्य जो अनागत काल मे आत्मा को पुण्य—शुभ-कर्म की ओर प्रवृत्त करता है
पुद्गल	=	जड पदार्थ, अणु-परमाणु एव उनके समूह से निर्मित पदार्थ
पुलाक-निर्ग्रन्थ	=	धर्म एव सघ की रक्षा के लिए चक्रवर्ती की सेना को नष्ट करने की शक्ति रखनेवाला साधक
पौषध	=	उपवास करके एक दिन आत्म-साधना मे सलग्न रहना, आत्मा को परिपुष्ट करना
बकुस-निर्ग्रन्थ	=	उत्तर गुण मे दोष लगानेवाला साधु
बाण-व्यन्तर	=	देवो की एक सामान्य जाति, भूत-प्रेत आदि
बाल-तप	=	अज्ञान तप
बाल-तपस्वी	=	ज्ञान एव विवेक पूर्वक तप नही करनेवाला
बाल-पण्डित	=	श्रावक
बाल-वीर्य	=	अज्ञानी, मिथ्यात्वी

भण्डोपकरण	=	पात्र-रजोहरण आदि सामग्री
भव-बीज	=	जिस कर्म—कार्य से भव-भ्रमण बढ़ता हो राग-द्वेष युक्त परिणाम
भव्य-जीव	=	जो मोक्ष प्राप्त करने के योग्य है
भाव-क्रिया	=	कार्य करते समय मन में चलनेवाला चिन्तन
भुवनवासी	=	देवो की एक जाति
भूतिकर्म	=	यन्त्र-मन्त्र के द्वारा जीवन-यापन करना
भ्रमविध्वंसन	=	तेरह पथ के चतुर्थ आचार्य जीतमलजी द्वारा रचित ग्रन्थ
मति-अज्ञान	=	मिथ्यादृष्टि के द्वारा मन एव इन्द्रियो के द्वारा पदार्थो का किया जानेवाला बोध
मति-ज्ञान	=	मन एवं इन्द्रियो की सहायता से किया जानेवाला ज्ञान
मनः पर्यवज्ञानी	=	आत्म-ज्ञान के द्वारा सन्नी पचेन्द्रिय के मन के भावो को जानना
माया-प्रत्यया क्रिया	=	छल-कपट युक्त भाव से कार्य करने से लगनेवाली क्रिया
मार्गणा	=	एक भव को छोडकर दूसरे भव मे जाने के बीच के समय मे की जानेवाली गति
माहण	=	श्रावक, ब्राह्मण
मिच्छामि दुक्कडं	=	मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो
मिथ्यादर्शन-प्रत्यया क्रिया	=	अज्ञान पूर्वक काय करने से लगनेवाली क्रिया
मिथ्यादृष्टि	=	जिसके सोचने-समझने की दृष्टि विपरीत है, अज्ञानी
मूलगुण	=	महाव्रत और अणुव्रत
मोक्षार्थी	=	मोक्ष की अभिलाषा रखनेवाला व्यक्ति
मोह-कर्म	=	जिसका उदय रहने पर आत्मा न सम्यक् श्रद्धा कर सकता है, न सही सोच-विचार सकता है और न त्याग-विराग के पथ पर बढ सकता है
योग-निरोध	=	मन, वचन और काय योग को रोकना
योग-प्रतिसंलीनता	=	मन, वचन और शरीर को बुरे कार्यो से हटाना
योजन	=	चार कोस, आठ मील
रौद्र ध्यान	=	क्रूरतम विचारो मे अपने-आपको एकाग्र करना
लब्धि	=	शक्ति
लेश्या	=	विचार, भावना
लौकिक	=	सासारिक
लोकोत्तर धर्म	=	मोक्ष एव आत्म शुद्धि के लिए की जानेवाली साधना

विज्ञान	=	विशेष ज्ञान
विद्या	=	सम्यग्ज्ञान, आत्म-ज्ञान
विधिवाद	=	जिस कार्य को करने का आगम में आदेश दिया गया है
विपर्यय	=	वस्तु स्वरूप का विपरीत रूप से आभास होना
विभंग-ज्ञान	=	इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना सीमित क्षेत्र में स्थित रूपी पदार्थो को अस्पष्ट रूप से जानने-देखने की शक्ति
विरमण	=	त्याग, व्रत-प्रत्याख्यान
विराधक	=	साधना मे लगे दोषो की आलोचना नही करनेवाला
वीतराग	=	राग-द्वेष से रहित
वैक्रिय-शरीर	=	जिसके द्वारा अपनी इच्छा के अनुरूप एव आकृति बनाई जा सके
सक्लिश्यमान	=	आर्त्त-रौद्र ध्यान एव दुर्भावनाओ मे निमज्जित रहनेवाला
संज्ञी	=	मन युक्त प्राणी
सचित्त	=	सजीव पदार्थ
संथारा	=	जीवन पर्यन्त के लिए अनशन करना
संयति	=	साधु, सम्यक्तया इन्द्रिय विषयो पर विजय प्राप्त करनेवाला साधक
संयमासंयम	=	श्रावक, जिसने एक अश से असयम का त्याग किया है
संवर	=	आते हुए कर्म प्रवाह को रोकने के लिए की जाने वाली साधना
संसरणानुप्रेक्षा	=	ससार की परिवर्तनशीलता का चिन्तन
सकाम-निर्जरा	=	सम्यग्ज्ञान पूर्वक की जानेवाली क्रिया से होनेवाला कर्मो का क्षय
समवशरण	=	तीर्थंकर भगवान के प्रवचन के लिए देवो द्वारा निर्मित प्रवचन सभा
सम्मूर्च्छिम	=	गर्भ के बिना जन्म लेनेवाले प्राणी
सम्यक् चारित्र	=	ज्ञान एव विवेक पूर्वक की जाने वाली क्रिया, आचार धर्म
सम्यग्ज्ञान	=	वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानना
सम्यग्दर्शन	=	तत्वो—पदार्थो के यथार्थ स्वरूप पर श्रद्धा रखना
सराग-संयम	=	राग-द्वेष से युक्त साधना
श्रमण	=	साधु, स्वय के श्रम से कर्मो का क्षय करके मुक्ति प्राप्त करनेवाला
श्रमणोपासक	=	श्रावक—सद्गृहस्थ

सर्व-आराधक	= साधना मे थोड़ा भी दोष नही लगानेवाला .
सर्वज्ञ	= पूर्णज्ञानी
सर्व-विराधक	= संयम की पूर्णतः विराधना करनेवाला, दोष लगाकर भी आलोचना नही करनेवाला
सहधर्मी	= आचार एवं विचार में समानता रखनेवाले साधक
साभोगिक-साधु	= जिनके साथ आहार-पानी, वन्दन-व्यवहार आदि चालू है
सार्धमिक	= समान धर्मवाले
सामायिक	= सम भाव को जीवन मे उतारने के लिए की जाने वाली साधना
साम्परायिकी क्रिया	= क्रोधादि भावो से किए जानेवाले कार्य से लगने वाली क्रिया
सावद्य	= पाप युक्त, जिस कार्य मे जीवो की हिंसा हो
सिद्ध	= सपूर्ण कर्मो एव कर्म जन्य साधनो से मुक्त शुद्ध-आत्मा
सुप्रणिधान	= पात्र आदि का विवेक पूर्वक प्रयोग करना
श्रुत-अज्ञान	= विषय-वासना को बढ़ानेवाले मिथ्या शास्त्रो, पुस्तको एव विचारको से प्राप्त होनेवाला ज्ञान
श्रुत-ज्ञान	= आगमो का अध्ययन करने एव महापुरुषो का उपदेश श्रवण करने से होनेवाला ज्ञान
श्रुत-धर्म	= ज्ञान-साधना, ज्ञान और दर्शन का आराधन
श्रुत-व्यवहार	= आगम के अनुसार क्रिया करना
श्रुत-व्यवहारी	= आगम के अनुसार क्रिया करनेवाला
श्रुत-सपन्न	= ज्ञानयुक्त, ज्ञानवान
सुलभ बोधी	= जिसे सरलता से बोध प्राप्त हो
सुलभ बोधित्व कर्म	= वह कर्म जिसके द्वारा सहज भाव मे बोध—ज्ञान की प्राप्ति हो
सूझता-आहार	= दोषो मे रहित आहार-पानी
सूत्र-रुचि	= शास्त्रो का स्वाध्याय एव चिन्तन-मनन करने की अभिलाषा
स्थविर	= ज्ञान, वय एव साधना मे वयोवृद्ध, परिपक्व बुद्धि-वाले साधक
स्थावर	= एक स्थान पर स्थिर रहनेवाले एकेन्द्रिय-पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति जीव
स्नातक-निर्ग्रन्थ	= वीतराग साधक
स्वाध्याय	= आत्म-चिन्तन, स्व—अपने स्वरूप का अध्ययन करना

शाक्यपुत्र	= तथागत बुद्ध
शिथिलाचारी	= जिसका आचार शिथिल है
शुक्ल-ध्यान	= निर्विकल्प चिन्तन, वीतराग पुरुषो का ध्यान
शुक्ल-लेश्या	= विचारो की परम विशुद्ध धारा
शुभ-अनुष्ठान	= निर्दोष साधना, शुभ कार्य
शील-संपन्न	= आचार युक्त, चारित्रवान
षट्-द्रव्य	= धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव और पुद्गल—जड छ. पदार्थ
षष्ठम गुणस्थान	= प्रमत्त साधक की साधना
षट् द्रव्यात्मक लोक	= धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव एव पुद्गल इन छः पदार्थो से युक्त ससार